स्वावलम्बन

स्वाध्याय

स्वमन्थन

उ० प्र० राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

(उत्तर प्रदेश सरकार द्वारा निर्मित अधिनियम संख्या 10, 1999 द्वारा स्थापित)

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGSY-04
सामाजिक स्तरीकरण

प्रथम खण्ड : सिद्धान्त तथा संकल्पनाएँ
द्वितीय खण्ड : समाजों में स्तरीकरण
तृतीय खण्ड : सामाजिक गतिशीलता
चतुर्थ खण्ड : भारतीय समाज में स्तरीकरण
पंचम खण्ड : भारत में जाति अध्ययन के उपागम
षष्टम खण्ड : भारतीय वर्ग संरचना
सप्तम खण्ड : शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन

शान्तिपुरम् (सेक्टर-एफ), फाफामऊ, इलाहाबाद - 211013

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGSY - 04
सामाजिक स्तरीकरण

खंड
1
सिद्धांत तथा संकल्पनाएँ

इकाई 1
सामाजिक स्तरीकरण-I 7

इकाई 2
सामाजिक स्तरीकरण-II 17

इकाई 3
प्रस्थिति तथा वर्ग की संकल्पनाएँ 25

इकाई 4
वर्ग तथा शक्ति की संकल्पनाएँ 33

इकाई 5
शक्ति, प्रजाति, लिंग तथा स्तरीकरण 43

संदर्भ ग्रन्थ सूची 55

पाठ्यक्रम परिचय : सामाजिक स्तरीकरण

समाजशास्त्र के इस ऐच्छिक पाठ्यक्रम (ई.एस.ओ.-04) में सामाजिक स्तरीकरण की विवेचना की गई है। इसमें सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न सिद्धांत और संकल्पनाएँ, विभिन्न प्रकार के समाज में स्तरीकरण का विभिन्न प्रारूप, भारतीय समाज में स्तरीकरण, जाति, वर्ग और शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन पर प्रकाश डाला गया है। पाठ्यक्रम में दो वीडियो और चार आडियो पाठ भी शामिल किए गए हैं। इस पाठ्यक्रम का उद्देश्य विद्यार्थियों को सामाजिक स्तरीकरण के कार्यात्मक और संघर्षात्मक दृष्टिकोणों की व्यापक जानकारी देना है। इसके साथ-साथ इस पाठ्यक्रम में सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधारों, जैसे पद, वर्ग, अधिकार और वंश की भी जानकारी दी गई है। खंड 1 की पाँच इकाइयों में, सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांतों के सन्दर्भ में इन अवधारणाओं (संकल्पनाओं) के आपसी संबंधों की चर्चा की गयी है।

खंड 2 में चार इकाइयाँ हैं। ये हैं पूर्व-आधुनिक समाज में स्तरीकरण, आधुनिक समाजों में स्तरीकरण, व्यावसायिक वर्गीकरण और विचारधारा तथा स्तरीकरण: पदानुक्रम तथा समानता। इस खंड का मुख्य उद्देश्य विभिन्न समाजों में सामाजिक स्तरीकरण का तुलनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करना है। इस विश्लेषण में विभिन्न समाजों के वैचारिक और संरचनात्मक आधारों को ध्यान में रखा जाएगा। सामाजिक स्तरीकरण समाजशास्त्रीय अनुसंधान (खोजबीन) का एक संवेदनशील क्षेत्र है, चूंकि इसमें व्यक्ति और समूह की प्रतिष्ठा, शक्ति सत्ता, सामाजिक प्रतिष्ठा और सम्मान की छानबीन की जाती है। इनके माध्यम से प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों स्तरों पर लोगों के विभिन्न जीवन पद्धतियों को अभिव्यक्ति मिलती है। सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था से मानव समाज के विकास की अवस्था की भी सूचना मिलती है। इससे अर्थव्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था और विभिन्न पदों और भूमिकाओं के संदर्भ में समाज के विकास का संकेत मिलता है। सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के क्रम में होने वाले विचार-विमर्श में व्यावसायिक वर्गीकरण और समानता के लिए उठाए जा रहे कदमों की चर्चा एक महत्वपूर्ण विषय बन गया है।

खंड 3 में सामाजिक गतिशीलता पर प्रकाश डाला गया है। सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में एक व्यक्ति या समूह एक स्तर से दूसरे स्तर पर स्थानांतरित हो जाता है। इसे ही गतिशीलता के नाम से जाना जाता है। इन गतिविधियों की विशेषताओं को पहचाना जा सकता है। इन गतिविधियों को लंब और समतल गतिशीलता के रूप में पहचाना जा सकता है। लंब या ऊर्ध्व गतिशीलता में व्यक्ति अथवा समूह समाज में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाना चाहता है। इस प्रकार की गतिशीलता को ऊँचे पदों पर बैठे व्यक्ति और समूह पर नीचे के व्यक्तियों और समूहों के आक्रमण के रूप में भी देखा जाता है। सामाजिक गतिशीलता के प्रयत्न मुख्य रूप से समाज के स्वरूप और हैसियत के विभिन्न स्तरों पर निर्भर करते हैं। लेकिन इसके साथ-साथ व्यक्ति और समूह की आकांक्षाओं के कारण भी सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में महत्वपूर्ण बदलाव होते हैं। आधुनिक समाज में शिक्षा का प्रसार हुआ, संचार और यातायात के नये साधन विकसित हुए। फलस्वरूप आधुनिक समाज में गतिशीलता के क्षेत्र में भी एक प्रकार का खुलापन आ गया और एक स्तर से दूसरे तक लोगों के जाने की प्रक्रिया भी बढ़ गयी। अतः हमने इस इकाई में सामाजिक गतिशीलता में रोजगार और शिक्षा की भूमिका पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है।

खंड 4 में सामाजिक स्तरीकरण की एक व्यवस्था के रूप में जाति की चर्चा की गयी है। हालाँकि कबीलाई समाजों में सामाजिक स्तरीकरण वंश, वर्ग और शक्ति पर अधिक आधारित होता है, हिन्दू समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा (पक्ष) का आधार जाति और समूह है। यहाँ जाति का संबंध स्थानीय सगोत्रीय पहचान से है, जो वर्ग से बिलकुल भिन्न है। वर्ग का अस्तित्व अखिल भारतीय स्तर पर है, जबकि जाति एक गाँव, गाँवों के समूह, या किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित होती है। समाज का चार वर्णों में व्यापक विभाजन किया गया था। आज के समाज में इस वर्ण व्यवस्था का महत्व कम होता जा रहा है। अब केवल इसकी चर्चा अखिल भारतीय वर्ण संरचना के संदर्भ में की जा सकती है।

स्थानीय संदर्भ में जाति एक समुदाय से भिन्न चीज है, पर राजनीतिक और आर्थिक दृष्टि से इसके सदस्यों में अनिवार्य रूप से समानता नहीं होती है। कबीलाई समाजों में विभिन्न जातीय समूहों के समान एक तरह की सहयोगी और वैवाहिक नियम और व्यवस्था नहीं होती है। अंत में, हमने इस खंड में एक विचार पद्धति, विचारों और मूल्यों की व्यवस्था के रूप में जाति की चर्चा की है। इस मत के अनुसार एक विचार पद्धति के रूप में जाति रोजगार (व्यवसाय), शिक्षा, शक्ति पुरुष और स्त्री की ऊँची और नीची स्थिति, शुद्ध और अशुद्ध हैसियत का समुच्चय होता है। इस मत की विभिन्न जाति समूहों के वास्तविक संबंधों के विश्लेषण के आधार पर आलोचनात्मक चर्चा की गयी है, जो जाति व्यवस्था को एक विचार के रूप में स्वीकार करने से इनकार करती है।

खंड 5 और 6 में जाति और वर्गों के अध्ययन के विभिन्न दृष्टिकोणों पर विचार किया गया है। इसमें जाति के अध्ययन में गुणवाचक और अंतःक्रिया संबंधी दृष्टिकोणों पर विशेष बल दिया गया है और इस क्रम में अलगाव, अस्पृश्यता और सामाजिक गतिशीलता को भी ध्यान में रखा गया है। गुणवाचक दृष्टिकोण के अन्तर्गत समान गुणवत्ता के आधार पर जाति के वर्गीकरण का प्रयास किया गया है। अंतःक्रिया संबंधी दृष्टिकोण में विभिन्न जाति समूहों के आपसी संबंधों का अध्ययन किया गया है। गुणवत्ता पर विचार करने के क्रम में सामाजिक गतिशीलता पर प्रकाश पड़ता है, क्योंकि अन्तरजातीय संबंधों के मान्य तरीके को चुनौती दी गई है और इन्हें अब विभिन्न जातियों के कार्यात्मक अंतर्संबंध के आधार के रूप में स्वीकार नहीं किया जाता है।

खंड 6 में भारतीय ग्रामीण और शहरी वर्ग संरचना का विस्तार से विश्लेषण किया गया है. इसमें कुलीन वर्ग का भी अध्ययन किया गया है। भूमिपतियों, खेतिहरों, खेतिहर मजदूरों, शहरी मजदूरों, मध्य वर्ग और उद्यमी वर्ग का भी विस्तार से विश्लेषण किया गया है। इससे भारत में सामाजिक एवं आर्थिक विकास के स्वरूप पर भी प्रकाश पड़ता है।

अन्त में सामाजिक स्तरीकरण की चर्चा केवल शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन के संदर्भ में ही नहीं की गयी है, बल्कि इसके सिद्धांत, विचारधारा और वास्तविक यथार्थ पर भी विचार किया गया है। सामाजिक संबंधों की संरचना के विश्लेषण के अभाव में सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन अधूरा रहेगा। इन सब तथ्यों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा की भूमिका और आर्थिक तथा सामाजिक बदलाव का विश्लेषण सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न प्रतिमान के रूप में किया गया है। यह समजाति गतिशीलता ऊपर की ओर, नीचे की ओर, लंब या उर्ध्व और समतल भी हो सकती है। हमारा उद्देश्य छात्रों को समग्र रूप में सामाजिक स्तरीकरण से परिचित कराना है। इसके तहत विभिन्न दृष्टिकोणों, विचारधाराओं, सामाजिक परिवर्तन और सामाजिक गतिशीलता की विस्तार से चर्चा की जाएगी।

खंड परिचय : सिद्धांत तथा संकल्पनाएँ

इस खंड का मुख्य लक्ष्य सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन संबंधी कार्यात्मक और संघर्षात्मक दृष्टिकोणों से आपको परिचित कराना है। इन दृष्टिकोणों के अलावा, सामाजिक स्तरीकरण (खासकर भारतीय संदर्भ में) के विभिन्न आयामों जैसे प्रतिष्ठा, वर्ग शक्ति और वंश अवधारणाओं की भी चर्चा की गयी है। इस खंड में पाँच इकाइयाँ हैं, इन सभी इकाइयों में भारतीय समाज का हवाला दिया गया है।

इकाई 1 में इस तथ्य पर प्रकाश डाला गया है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज का अनिवार्य पक्ष ही नहीं है, बल्कि यह सर्वत्र विद्यमान भी है। सभी समाजों में विभिन्न प्रकार की योजनाओं और गुणों वाले लोगों की जरूरत होती है। सभी सदस्य सभी कामों को एक समान दक्षता से नहीं कर सकते और समाज में सभी कामों का एक सा महत्व नहीं होता। अतः काम की महत्ता के आधार पर लोगों को पारिश्रमिक और उपहार भी मिलता है। कार्यात्मक दृष्टिकोण व्यक्ति की भूमिका को महत्व नहीं देता है। इस दृष्टिकोण के प्रतिपादकों का मानना है कि महत्व दी गयी भूमिकाओं, पदों और प्राप्त उपहारों का होता है न कि व्यक्ति का।

इकाई 2 में सामाजिक स्तरीकरण के संघर्षात्मक दृष्टिकोण की चर्चा की गयी है। यह दृष्टिकोण कार्यात्मक दृष्टिकोण का बिलकुल विपरीत है। इस दृष्टिकोण के तहत सामाजिक असमानता एक दुष्क्रिया मानी गयी है। क्योंकि यह स्रोतों और अवसरों के असमान वितरण पर आधारित होती है। कार्ल मार्क्स ने इस दृष्टिकोण की चर्चा वर्ग संरचना के सन्दर्भ में की है, जिसमें बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग शामिल होता है। हालाँकि कुछ संघर्षात्मक सिद्धांतकारों ने ऊँचे और निम्न पदों के लिए "शक्ति" को प्रमुख तत्व माना है।

इकाई 3 में प्रस्थिति और वर्ग की अवधारणाओं पर प्रकाश डाला गया है। इन्हें सामाजिक स्तरीकरण के भिन्न आयामों के रूप में भी देखा जाता है। "प्रस्थिति" सामाजिक सम्मान और हैसियत का माप दंड है, जबकि वर्ग का निर्धारण अर्थ से होता है। कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर ने विशेषकर वर्ग और प्रस्थिति के नये आयामों को प्रस्तुत किया है। वर्ग को एक विषयनिष्ठ तथ्य के रूप में भी देखा जाता है और इसे एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ भी माना जाता है। वर्ग को उच्च और निम्न वर्गों के आपसी लेन-देन का पर्याय भी माना जाता है।

इकाई 4 में वर्ग और शक्ति के आपसी संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। उच्च और निम्न वर्गों के बीच का संबंध भी उच्चस्थ और अधीनस्थ का होता है। मार्क्स के अलावा, वेबर, पैरेटो, मोस्का और मीचेल आदि विद्वानों ने भी कुलीन वर्ग की शक्ति की भूमिका पर अपने महत्वपूर्ण विचार प्रकट किए हैं। इसके तहत वर्ग और प्रतिष्ठा से अलग शक्ति के परिणामों को समझने के लिए विकसित और विकासशील देशों के उदाहरण प्रस्तुत किए गये हैं।

इकाई 5 में सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधारों, शक्ति, प्रजाति और लिंग के अंतर्संबंधों की चर्चा की गयी है। हालाँकि ये सभी समाजों में एकसमान प्रभावी नहीं होते। वर्ग औद्योगीकृत विकसित समाजों की विशेषता है, जबकि जाति भारतीय समाज में और खासकर हिन्दुओं में सामाजिक श्रेणिबद्धता का आधार रहा है। दूसरी ओर दक्षिण अफ्रीका में प्रजाति सामाजिक स्तरीकरण का आधार रहा है। लगभग सभी समाजों में वंश सामाजिक स्तरीकरण एवं ऊँच-नीच के भेदभाव का आधार रहा है। इन सारी सामाजिक विषमताओं के बावजूद किसी भी समाज में सामाजिक स्तरीकरण के पीछे केवल एक ही तत्व कार्यरत नहीं रहे हैं।

इकाई 1 सामाजिक स्तरीकरण-I

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण
1.3 टालकोट् पारसन्स, किंग्स्ले डेविस और विल्बर्ट ई. मूर के कार्यात्मक सिद्धांत
1.3.1 टालकोट् पारसन्स का दृष्टिकोण
1.3.2 किंग्स्ले डेविस और विल्बर्ट ई.मूर के दृष्टिकोण
1.4 डेविस-मूर के सिद्धांत की मेल्विन ट्यूमिन द्वारा आलोचना
1.5 बहस के अन्य मुद्दे
1.6 कार्यात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.9 उपयोगी पुस्तकें
1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

1.0 उद्देश्य

इस इकाई में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन संबंधी कार्यात्मक दृष्टिकोण पर प्रकाश डाला गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण के प्रमुख तत्वों को पहचान सकेंगे,
- टालकोट् पारसन्स, के. डेविस और डब्ल्यू.ई.मूर के सामाजिक स्तरीकरण संबंधी कार्यात्मक दृष्टिकोण का वर्णन कर सकेंगे,
- कार्यात्मक दृष्टिकोण की आलोचनात्मक व्याख्या कर सकेंगे, और
- कार्यात्मक दृष्टिकोण के प्रभाव का उल्लेख कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण श्रेणीबद्ध प्रतिष्ठा की उस व्यवस्था को कहते हैं जिसमें समाज के सदस्यों को ऊँचे और नीचे स्तरों पर स्थापित किया जाता है। इस सामाजिक श्रेणीबद्धता में रोजगार आय, शिक्षा, जाति और रंग को आधार बनाया जाता है।

"स्तरीकरण" शब्द भूविज्ञान से लिया गया है। यह विभिन्न स्तरों की ओर इशारा करता है। सामाजिक स्तरीकरण के अन्तर्गत समाज के विभिन्न तबकों की चर्चा की जाती है। समाज में कुछ लोग ऊँचे पदों पर आसीन होते हैं, जिनका ज्यादा सम्मान होता है। इसी प्रकार समाज में नीचे के पदों और हैसियतों वाले लोग भी होते हैं, जिनकी प्रतिष्ठा अपेक्षाकृत कम होती है। अतः सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा के अन्तर्गत रोजगार, पद और हैसियत का मूल्यांकन किया जाता है। लोगों की हैसियत और प्रतिष्ठा के कुछ मानदंड बने होते हैं। इसके कुछ नियम होते हैं, जिनके आधार पर सदस्यों को समाज में ऊँचा और नीचा स्थान प्राप्त होता है।

समग्र रूप में, सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के दो दृष्टिकोण हैं (1) कार्यात्मक और (2) संघर्षात्मक दृष्टिकोण। कार्यात्मक दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण समाज का एक व्यावहारिक और सकारात्मक पक्ष है। इससे समाज में सौहार्द और एकता स्थापित होती है। इसके माध्यम से समाज के सदस्यों को उनकी योग्यता और जरूरत के अनुसार

काम मिलता है और समाज की आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहती है। इस दृष्टिकोण के प्रमुख अधिवक्ता टालकोट् पारसन्स, किंग्स्ले डेविस और विल्बर्ट मूर हैं। संघर्षात्मक दृष्टिकोण सामाजिक स्तरीकरण में वर्ग, वर्ग-संघर्ष और वर्ग-चेतना की भूमिका पर बल देता है। इस इकाई में हम सामाजिक स्तरीकरण के कार्यात्मक दृष्टिकोण की चर्चा करने जा रहे हैं।

1.2 सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण

अनन्त काल से विद्वान सामाजिक असमानता की समस्या पर विचार करते आये हैं। वस्तुतः असमानता के अध्ययन की शुरुआत यूनानी दार्शनिक प्लेटो और अरस्तू से मानी जा सकती है। प्लेटो (देखिए ट्यूमिन 1969) ने समाज की अवधारणा और वर्ग विभाजन का तथ्य सामने रखा। उसके अनुसार किसी व्यक्ति की हैसियत का निर्धारण उसकी प्राकृतिक योग्यता मसलन कुशलता, बुद्धिमत्ता और शारीरिक शक्ति पर निर्भर करता है। अरस्तू (देखिए डैहरेन्डौर्फ 1966) का मानना था कि व्यक्ति प्रकृति से ही असमान होते हैं। हालाँकि, प्लेटो और अरस्तू सामाजिक असमानता की नहीं बल्कि प्राकृतिक असमानता की बात कर रहे थे। समाजशास्त्र के विद्यार्थी होने के नाते हमें प्राकृतिक असमानता जैसे सौंदर्य कुशलता, शक्ति आदि और सामाजिक असमानता के बीच का अंतर स्पष्ट करना चाहिए।

असमानता की उत्पत्ति की पहली समाजशास्त्रीय व्याख्या जे.जे. रूसो (डैहरेन्डौर्फ 1968) ने प्रस्तुत की थी। उसके अनुसार व्यक्तिगत सम्पत्ति मिल्कियत के सिद्धांत के कारण असमानता पैदा हुई। व्यक्तिगत सम्पत्ति के सन्दर्भ में असमानता की यह व्याख्या रूसो से लेकर कार्ल मार्क्स तक मान्य रही। कार्ल मार्क्स (बेंडिक्स और लिपसेट (सं.) 1967 पृ. 6-12) ने सम्पत्ति की मिल्कियत के सन्दर्भ में वर्ग की उत्पत्ति की व्याख्या कर सामाजिक स्तरीकरण के सामाजशास्त्र को एक नया रूप प्रदान किया। सम्पत्ति के अतिरिक्त मार्क्स श्रम विभाजन को भी सामाजिक स्तरीकरण का आधार मानते हैं। अन्य लोगों के अलावा एमिल डर्खिम (1933) ने "श्रम विभाजन" पर बहुत काम किया और इस पर एक शोध भी प्रस्तुत किया। हालाँकि डर्खिम श्रम विभाजन को आधुनिक वर्ग संरचना और वर्ग संघर्ष का आधार है और इससे समाज दो प्रमुख वर्गों (बुर्जुआजी और सर्वहारा) में विभक्त हो जाता है।

डर्खिम का मानना है कि आदिम समाज में श्रम विभाजन बिलकुल कम था। व्यक्ति और किसी समूह के सदस्य समान मूल्यों और भावनाओं से बंधे थे और वे उन्हें समान रूप से पवित्र मानते थे। यह एक एकीकृत समाज था क्योंकि इसमें समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच किसी प्रकार की असमानता नहीं थी। डर्खिम का मानना है कि जनसंख्या का दबाव बढ़ने और समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच सामाजिक लेन-देन बढ़ने के कारण सरल समाजों की एकीकृत संरचना में दरार पड़ने लगे। सामाजिक भेदभाव के कारण प्रतियोगिता और असमानता जैसे तत्व भी सामने आये। लेकिन डर्खिम के मत में लोगों के विभिन्न कार्यों में लगे होने के कारण आपसी निर्भरता बढ़ी इससे प्रतिद्वंद्विता और प्रतियोगिता पर अंकुश लगा। दूसरे शब्दों में, श्रम विभाजन के कारण अंतहीन प्रतियोगिता को सव्यवस्थित किया गया, अन्यथा सामाजिक जीवन नष्ट हो जाता। इस प्रकार डर्खिम के मतानुसार समाज के लिए श्रम विभाजन व्यावहारिक है।

डर्खिम ने धर्म और श्रम विभाजन का अध्ययन करने के क्रम में कार्यात्मक दृष्टिकोण की शुरुआत की। पारसन, डेविस और मूर ने सामाजिक स्तरीकरण में जिस कार्यात्मक दृष्टिकोण को अपनाया, उसका मूल डर्खिम के प्रयत्नों में ढूंढा जा सकता है। इन विद्वानों ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में पाया जाता है और वह उसके अस्तित्व और कार्यान्वयन के लिए आवश्यक है। ऊपर जिन मुद्दों की चर्चा की गयी है, उसे संक्षेप में निम्नलिखित ढंग से समझा जा सकता है:

1) हालाँकि अरस्तु और प्लेटो ने असमानता का हवाला दिया, पर उनका जोर प्राकृतिक असमानताओं, जैसे व्यक्तिगत कुशाग्रता, शक्ति और बुद्धिमत्ता पर था।
2) रूसो और कार्ल मार्क्स ने असमानता की समाजशास्त्रीय व्याख्या की। उनके अनुसार समाज के सदस्यों की सम्पत्तिगत मिल्कियत के कारण असमानता पैदा होती है।

सामाजिक एकता के लिए श्रम विभाजन भी आवश्यक है। सरल समाजों में श्रम विभाजन बहुत कम था और आन्तरिक भेदभाव न रहने के कारण सामाजिक एकता कायम रही। समाज का ढाँचा जैसे-जैसे पेचीदा होता गया, वैसे-वैसे कार्यों की विशेषज्ञता भी बढ़ी। ऐसे समाजों में श्रम विभाजन की सहायता से सामाजिक एकता कायम की गयी। श्रम विभाजन से लोगों की आपसी निर्भरता और सहयोग बढ़ा।

इस दृष्टि से कार्यात्मक सिद्धांत के पक्षधरों का मानना है कि सामाजिक स्तरीकरण व्यावहारिक है, क्योंकि श्रम विभाजन, कार्य विभाजन, पारिश्रमिक की व्यवस्था और प्रतिष्ठा और सम्मान से समाज में एक सौहार्द कायम होता है, और इसमें बिखराव नहीं आता है।

1.3 टालकोट् पारसन्स, किंग्सले डेविस और विल्बर्ट ई. मूर के कार्यात्मक सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण एक नाजुक मुद्दा है और विभिन्न विद्वानों ने इसकी विस्तार से चर्चा की है। सामाजिक स्तरीकरण की बहस शुरू करने वालों में अमेरिका के टालकोट् पारसन्स का नाम प्रमुख है।

1.3.1 टालकोट् पारसन्स का दृष्टिकोण

उनके अनुसार सर्वसम्मति से समाज कुछ मूल्य स्थापित करता है, जिसके आधार पर अच्छे और बुरे का निर्धारण होता है। इससे समाज में व्यवस्था, स्थायित्व और सहयोग बना रहता है। पारसन्स के अनुसार स्तरीकरण व्यवस्था सामाजिक ढाँचे की आम विशेषता है और इसकी दिशा-निर्देश सामाजिक मूल्यों द्वारा होती है।

पारसन्स का मानना है कि प्रत्येक समाज के कतिपय विशेष आचार और मूलभूत मूल्य होते हैं। लोग इन मूल्यों को मानदंड मानते हैं और खुद को उसी पैमाने से मापने लगते हैं। मूल्यांकन की इस प्रक्रिया में व्यक्ति और समूह को विभिन्न श्रेणियों में विभक्त किया जाने लगता है। दूसरे शब्दों में, जो सामाजिक आचार और मूल्यों के जितने अनुकूल होते हैं, उनका स्तर उतना ऊँचा होता है उनकी प्रतिष्ठा और सम्मान समाज के अन्य लोगों से ज्यादा होता है। अन्य लोग, जो उस स्तर तक नहीं पहुंच पाते, निचली श्रेणी में पंक्तिबद्ध किए जाते हैं। अतः विभिन्न समाजों में सदस्यों की श्रेणीबद्धता सम्मान और प्रतिष्ठा के मानदंड और तरीकों में फर्क होता है। पारसन्स के अनुसार, अमेरिकी समाज में व्यक्तिगत उपलब्धि, योग्यता और कार्यक्षमता पर समाज में सदस्यों का स्थान निर्धारित होता है। उदाहरण के लिए, अपनी योग्यता कुशाग्रता और उद्यम से सफलता प्राप्त करने वाला व्यापारी समाज में अधिक सम्मान और पारिश्रमिक पाता है। जिस प्रकार अमेरिकी समाज उपलब्धि को मानदंड मानता है, उसी प्रकार दूसरे समाजों में उम्र, लिंग, रंग, जाति आदि स्तरीकरण का मानदंड रहा है। उदाहरण के लिए, परम्परागत हिंदू समाज की सामाजिक श्रेणीबद्धता में जाति मुख्य मानदंड था।

पारसन्स सामाजिक स्तरीकरण को समाज के लिए वांछनीय और कार्यात्मक मानता है। यह वांछनीय है क्योंकि समाज के विभिन्न कार्यों को सम्पन्न करने के लिए विभिन्न योग्यता और दक्षता वाले लोगों की आवश्यकता होती है। यह कार्यात्मक है क्योंकि यह समाज के विभिन्न समुदायों को जोड़ता है और उन्हें आश्वस्त करता है कि उन्हें उनकी योग्यता और दक्षता के अनुरूप काम मिला है। ये सभी बातें आधुनिक जटिल समाज की एकता और कुशल संचालन के लिए जरूरी हैं।

पारसन्स का यह कार्यात्मक सिद्धांत अमेरिकी समाजशास्त्रियों के बीच तेजी से फैला और उस पर बहस होने लगी। किंग्स्ले डेविस और विल्बर्ट मूर ने इस बहस को आगे बढ़ाया और अमेरिकी समाजशास्त्र में स्तरीकरण के मुद्दे पर गहन विचार-विमर्श आरम्भ हुआ। उनके विचार से कोई समाज "वर्ग हीन" या "बिना स्तरीकरण" के नहीं है। सामाजिक स्तरीकरण और कुछ नहीं बल्कि एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें विभिन्न कार्यों के लिए असमान पारिश्रमिक दिया जाता है। ये विभिन्न कार्य सभी समाजों में पाये जाते हैं, अतः किसी भी जटिल समाज के लिए सामाजिक स्तरीकरण अति आवश्यक है। अगर कोई समाज असमानता दूर करना चाहता है, तो उसे जटिल समाज की कुछ विशेषताएँ त्यागनी पड़ेंगी। पर किसी सामाजिक सांस्कृतिक विकास और परिवर्तन का मनमाने ढंग से रुख परिवर्तन असंभव है।

1.3.2 किंग्स्ले डेविस और विल्बर्ट ई. मूर के दृष्टिकोण

प्रत्येक समाज की सामाजिक स्थितियाँ भिन्न होती हैं। किसी भी समाज के सही संचालन के लिए कार्यों का विभाजन इस प्रकार होना चाहिए कि कार्य अपनी पूर्ण क्षमता के साथ सम्पन्न हो और लोगों की आपसी सहमति कायम रहे। सभी काम एक समान कार्यात्मक नहीं होते और न ही उनमें समान दक्षता और योग्यता की आवश्यकता ही होती है। दूसरे शब्दों में, समाज को चलाने के लिए कई प्रकार की योग्यताओं की आवश्यकता होती है, जैसे प्रशासनिक योग्यता, उद्यम संबंधी योग्यता, सैनिक और अकादमिक दक्षता आदि। समाज में कुछ ऐसे भी कार्य क्षेत्र होते हैं, जहाँ विशेष दक्षता की जरूरत होती है। साधारण कार्य करने के लिए लोगों की कमी समाज में नहीं होती, पर विशेषज्ञता पूर्ण कार्य तो कुछ विशेषज्ञ ही कर सकते हैं। इस प्रकार कार्यों का बँटवारा सामाजिक व्यवस्था का एक अंग बन जाता है और स्तरीकरण का मार्ग प्रशस्त करता है।

किसी भी स्तरीकरण व्यवस्था का मुख्य कार्य योग्य और दुर्लभ लोगों को उनकी योग्यता के अनुरूप काम दिलवाना है। इन पदों में प्राप्त होने वाले पारिश्रमिक से लोग आकर्षित होते हैं और इन पदों को प्राप्त करने के लिए आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। विशेषज्ञतापूर्ण कार्य के लिए व्यक्ति को प्रशिक्षित होना पड़ता है। इसमें समय, ऊर्जा और पैसा तीनों ही खर्च होते हैं। अविशेषज्ञतापूर्ण कार्यों के लिए इनकी जरूरत नहीं होती। अतः इन विशेषज्ञतापूर्ण पदों से प्राप्त होने वाली सुविधाएँ और पारिश्रमिक एक तरह से प्रशिक्षण प्राप्त करने की प्रेरणा देती है। दूसरे, प्रशिक्षण प्राप्त करने के समय किए गए "त्याग" की यह एक जगह की भरपाई भी होती है।

अतः डेविस और मूर का मानना है (बेंडिक्स और लिपसेट 1967) कि स्तरीकरण समाज के महत्वपूर्ण पदों पर योग्य व्यक्तियों के स्थापन का एक उपाय है। पर यहाँ प्रश्न यह है कि हम यह कैसे जान सकते हैं कि कौन सा पद कार्यात्मक तौर पर अधिक महत्वपूर्ण है। डेविस और मूर के अनुसार किसी पद को कार्यात्मक तौर पर महत्वपूर्ण मानने के दो मानदंड हो सकते हैं:

1) कोई पद कार्यात्मक रूप में कितना महत्वपूर्ण है, इसका फैसला उस काम की विशेषता पर निर्भर करता है। अगर कोई काम इतना ज्यादा विशेषज्ञतापूर्ण है कि दूसरा कोई उस काम को कर ही नहीं सकता है, तो वह कार्यात्मक तौर पर अधिक महत्वपूर्ण काम होगा। मसलन, कोई डॉक्टर किसी नर्स की अनुपस्थिति में उसका कार्य कर सकता है, पर कोई नर्स डॉक्टर की अनुपस्थिति में उसका कार्य नहीं कर सकती है। अतः अस्पताल में डॉक्टर का पद अधिक महत्वपूर्ण होगा।

2) दूसरा मानदंड किसी पद की दूसरे पर निर्भरता है। इस मानदंड से प्रबंधक या मैनेजर का पद कार्यालय के अन्य कर्मचारियों से महत्वपूर्ण होता है, क्योंकि कर्मचारी अपने काम के लिए और कारखाने या कार्यालय के संचालन के लिए प्रबंधक के निर्देश पर निर्भर रहते हैं।

हालाँकि डेविस और मूर का मानना है कि किसी पद के कार्यात्मक रूप से महत्वपूर्ण मात्र होने से ही उच्च श्रेणी प्राप्त नहीं हो जाती। अगर कोई पद समाज के लिए महत्वपूर्ण है, पर उस पद के लिए लोग सुलभ रूप में उपलब्ध हैं, तो उसका पारिश्रमिक अधिक नहीं होगा। दूसरी तरफ अगर कुछ पद ऐसे हैं, जिनके लिए ऐसे विशेषज्ञ और योग्य व्यक्तियों की जरूरत है, जिनकी समाज में कमी है, तो उनका पारिश्रमिक काफी अधिक हो जाएगा।

डेविस-मूर के दृष्टिकोण को निम्नलिखित ढंग से संक्षेप में प्रस्तुत किया जा सकता है:

1) समाज में विभिन्न पद होते हैं, इनमें से कुछ दूसरों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं।

2) उन पदों के लिए, जो समाज के लिए महत्वपूर्ण भी होते हैं और उस पद के लिए योग्य व्यक्ति की भी कमी होती है, पारिश्रमिक काफी अधिक होता है।

3) महत्वपूर्ण पदों के लिए अपेक्षित विशेषज्ञता और प्रशिक्षण की जरूरत होती है। जो लोग प्रशिक्षण लेते हैं, वे एक प्रकार का त्याग भी करते हैं और इसकी भरपाई बतौर पारिश्रमिक और सम्मान होता है।

4) समाज इन कार्यों को सम्पन्न करने के लिए अपने पदधारियों को उचित पारिश्रमिक देता है।

5) डेविस और मूर के सिद्धांत से यह स्पष्ट है कि महत्वपूर्ण पदों के लिए दक्षता और योग्यता की आवश्यकता होती है। अतः इन पदों पर योग्यता और प्रतियोगिताओं के आधार पर नियुक्तियाँ होनी चाहिए।

बोध प्रश्न 1

1) सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन संबंधी दो प्रमुख दृष्टिकोण कौन-कौन से हैं?

.....

.....

2) कार्यात्मक दृष्टिकोण के दो प्रमुख अध्येताओं का उल्लेख करें।

3) अरस्तु और प्लेटो द्वारा प्रस्तावित असमानता के विचारों की व्याख्या करें।

4) टालकोट् पारसन्स के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण के क्या कारण हैं?

5) डेविस और मूर के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण के क्या कारण हैं?

6) डेविस-मूर के सामाजिक स्तरीकरण संबंधी दृष्टिकोण की प्रमुख विशेषताएँ क्या-क्या हैं?

1.4 डेविस-मूर के सिद्धांत की मेल्विन ट्यूमिन द्वारा आलोचना

अन्य सभी सामाजिक सिद्धांतों के समान डेविस और मूर के कार्यात्मक सिद्धांत की कई विद्वानों ने आलोचना की है। मेल्विन ट्यूमिन (बेंडिक्स और लिपसेट 1967) ने कई आधारों पर इस सिद्धांत की भर्त्सना की है। उसने अपनी बात एक प्रश्न से आरंभ की कि क्या किसी समाज के सही संचालन के लिए सामाजिक स्तरीकरण या असमान पारिश्रमिक की व्यवस्था आवश्यक है? ट्यूमिन के अनुसार डेविस-मूर का सिद्धांत गलत अवधारणाओं पर आधारित है। उन्होंने पद के कार्यात्मक महत्व का अनुमान किया है, पर उनके महत्व को मापने का कोई तरीका नहीं है। उदाहरण के लिये, एक कारखाने में इंजीनियर और अप्रशिक्षित मजदूर दोनों काम करते हैं और दोनों की कारखाना चलाने के लिये समान रूप से आवश्यकता होती है।

किसी भी पद या सामाजिक स्थिति को महत्वपूर्ण या कम महत्वपूर्ण मानना एक प्रकार के नजरिए पर निर्भर करता है। दूसरे शब्दों में वकीलों, डॉक्टरों को मुंशियों और नर्सों से अधिक महत्वपूर्ण मानना अपने-अपने सोच का परिणाम है। ट्यूमिन इस अनुमान की भी आलोचना करता है कि समाज में प्रशिक्षित और योग्य व्यक्तियों की कमी होती है। डेविस और मूर का मानना है कि समाज में प्रशिक्षित और योग्य व्यक्तियों की कमी होती है। डेविस और मूर का मानना है कि कार्यात्मक तौर पर अधिक महत्वपूर्ण पदों के लिए जरूरी प्रशिक्षण प्राप्त करने की क्षमता कुछ लोगों में ही होती हैं। ट्यूमिन के अनुसार कोई भी समाज अभी तक पूर्ण रूप से दक्षता और योग्यता को मापने का मानदंड विकसित नहीं कर सका है। मसलन, जहाँ शिक्षा माता-पिता के पैसे और सामाजिक पृष्ठभूमि के बल पर दी जाती है, वहाँ गरीब बच्चों को अपनी योग्यता प्रदर्शित करने का मौका ही नहीं मिल पाता। समाज के सभी सदस्यों को प्रशिक्षण और नियुक्ति का समान अवसर मिलने के बाद ही पारिश्रमिक को कार्यात्मक माना जा सकता है। ट्यूमिन इस तथ्य पर भी प्रश्नचिन्ह लगाता है कि महत्वपूर्ण पद प्राप्त करने के लिए प्रशिक्षार्थियों को "त्याग" करना पड़ता है, अतः इसकी भरपाई अधिक पारिश्रमिक के रूप में की जाती है।

ट्यूमिन का मानना है कि प्रशिक्षार्थियों को कोई खास त्याग नहीं करना पड़ता है। प्रशिक्षण के दौरान उन्हें केवल वेतन नहीं मिलता है और प्रशिक्षण का खर्च उठाना पड़ता है। आमतौर पर, प्रशिक्षण का खर्च माता-पिता वहन करते हैं, जो समाज के समृद्ध व्यक्ति होते हैं। अगर प्रशिक्षणार्थी कोई त्याग भी करते हैं, तो वे मनोवैज्ञानिक रूप से कार्यात्मक तौर पर महत्वपूर्ण पद पाने के लिए तैयार रहते हैं। उदाहरण के लिए, आम मजदूरों की अपेक्षा इंजीनियरिंग और मेडिकल छात्रों का सम्मान अधिक होता है।

डेविस-मूर का दृष्टिकोण इस तर्क पर आधारित है कि असमान पारिश्रमिक व्यवस्था के अभाव में विशेषज्ञतापूर्ण कार्यों के लिए कुशल व्यक्तियों की प्राप्ति मुश्किल हो जाएगी।

विभिन्न पदों पर लोगों की नियुक्ति के लिए अन्य प्रेरणा शक्तियों का भी उपयोग किया जा सकता है। ट्यूमिन का मानना है कि कार्यरत मजदूर अपने काम से जितना अधिक जुड़ाव महसूस करेगा अपने काम के प्रति वह उतना ही ज्यादा जिम्मेदार होगा और ऐसा असमान पारिश्रमिक व्यवस्था के अभाव में भी हो सकता है।

अन्त में, टयूमिन सामाजिक एकता के लिए सामाजिक स्तरीकरण की भूमिका पर भी प्रश्नचिन्ह लगाता है। सामाजिक स्तरीकरण के संबंध में एक बात स्पष्ट है कि यह उच्च पदों पर आसीन व्यक्तियों को अधिक पारिश्रमिक और विशेषाधिकार देता है। अधिसंख्यक लोगों को, जो ऊँचे पदों पर नहीं होते, आधारभूत जरूरतों को पूरा करने लायक पारिश्रमिक भी नहीं मिलता। इस प्रकार सामाजिक स्तरीकरण वस्तुतः विशेषाधिकार प्राप्त लोगों और विशेषाधिकारहीन लोगों के बीच संदेह, द्वेष, और अविश्वास पैदा करता है, जिससे सामाजिक एकीकरण में बाधा पड़ती है। अतः सामाजिक स्तरीकरण का निषेधात्मक पक्ष हर समाज में पाया जाता है।

बोध प्रश्न 2

1). क्या टयूमिन और डेविस-मूर के विचार एक हैं?

- क्या किसी पद के कार्यात्मक महत्व को आँका जा सकता है?
- प्रशिक्षित व्यक्तियों के लिए अधिक पारिश्रमिक को कैसे न्यायोचित ठहराया जाता है?
- सामाजिक स्तरीकरण के निषेधात्मक पक्ष कौन-कौन से हैं?

1.5 बहस के अन्य मुद्दे

ट्यूमिन की आलोचना का जवाब डेविस ने तुरंत दिया। वह अपनी अवधारणा पर अडिग रहा कि सामाजिक स्तरीकरण एक महत्वपूर्ण कार्य करता है। यह पद विशेषकर अनुकूल व्यक्ति का चयन करने में सहायता करता है। डेविस का मत है कि हालाँकि किसी भी पद के कार्यात्मक महत्व का पता लगाना एक मुश्किल काम है, पर यह असंभव काम नहीं है। इस बात में कोई सन्देह नहीं है कि एक कारखाने में इंजीनियर और मजदूर दोनों की जरूरत पड़ती है, पर इंजीनियर का काम अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। इसका कारण यह है कि उसके प्रशिक्षण पर अधिक पैसा खर्च हुआ है और वह शारीरिक तौर पर भी काम कर सकता है, जबकि एक साधारण मजदूर इंजीनियर के तकनीकी कार्य सम्पन्न नहीं कर सकता।

डेविस का दूसरा तर्क यह है कि कभी-कभी सामाजिक स्तरीकरण योग्यता, ऊँचे पारिश्रमिक, और सम्मान की उपलब्धि में बाधा बन सकता है, पर वह लोगों को पद प्राप्त करने के लिए प्रेरणाशक्ति भी प्रदान करता है। इसके आगे डेविस कहता है कि प्रशिक्षणार्थियों को प्रशिक्षण के दौरान अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अगर उन्हें उस कड़ी मेहनत के अनुकूल पारिश्रमिक नहीं मिलेगा, तो लोग लम्बी अवधि का प्रशिक्षण प्राप्त करने से कतराएँगे।

ट्यूमिन के इस तर्क से कि पारिश्रमिक के अलावा पद प्राप्त करने के लिए अन्य प्रेरणा शक्तियाँ भी समाज में मौजूद हैं, डेविस-मूर सहमत नहीं है। उनका मानना है कि अगर समाज के सभी लोगों को उनकी मनमर्जी के मुताबिक काम करने के लिए छोड़ दिया जाए, तो समाज में असंतुलन आ जाएगा और समाज सही ढंग से नहीं चल पाएगा। अतः लोगों को किसी काम के प्रति आकर्षित करने के लिए समाज पारिश्रमिक की व्यवस्था करता है।

अन्त में, डेविस कहता है कि सामाजिक स्तरीकरण के कुछ निषेधात्मक पक्ष हो सकते हैं, पर मूल बात यह है कि यह लगभग सभी समाजों में व्याप्त है और सभी समाजों के लिए अपरिहार्य है।

प्रश्न यह है कि क्या सभी समाजों के लिए डेविस-मूर सिद्धांत सार्वभौम सत्य है? परम्परागत समाज में आय और सम्मान किसी पद की प्राप्ति के लिए जरूरी नहीं होते, वहाँ प्रतिष्ठा आरोपित होती है। डेविस-मूर सिद्धांत आधुनिक औद्योगिक समाजों पर लागू होती है। पर इस सिद्धांत में कुछ खामियाँ हैं, मसलन यह मानव स्वभाव और मूल्यों की संरचना

का गलत अनुमान लगाता है। किसी व्यक्ति के स्वभाव के पीछे उसकी सारी संस्कृति होती है। हरेक संस्कृति में मूल्य भौतिक लाभ और सम्मान का मानदण्ड अलग-अलग होता है। डेविस-मूर का सिद्धांत प्राधिकार की भूमिका को नजरअंदाज करता है और भौतिक लाभों और सम्मान को अत्यधिक तरजीह देता है। जबकि सामाजिक स्तरीकरण में "प्राधिकार" अपेक्षाकृत अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। सामाजिक जीवन की एक महत्वपूर्ण कार्यात्मक जरूरत सामाजिक संगठन है। लेकिन कोई भी सामाजिक संगठन अधीनस्थता और उच्चस्थता से रहित नहीं होता। सभी समाज की एक सत्तात्मक संरचना होती है, जिसमें कुछ लोग ऊँचें पदों पर होते हैं, और कुछ लोग नीचे ओहदों पर काम करते हैं। पदों की इस व्यवस्था का मूल कारण समाज को व्यवस्थित रूप में चलाना होता है न कि किसी को भौतिक सुख या सम्मान प्रदान करना। समाज में सौहार्द और आपसी प्रेम बनाए रखने के लिए आपसी मेल-मिलाप और लेन-देन नितांत आवश्यक है। इसके लिए समाज में पदानुक्रम व्यवस्था को स्थापित करना जरूरी है, क्योंकि अस्तित्व के लिए प्राधिकार और आदेश की व्यवस्था का होना होता है।

बोध प्रश्न 3

1) समाज के पदों के कार्यात्मक महत्व पर प्रकाश डालें।

.....

.....

.....

.....

2) क्या डेविस और मूर का सिद्धांत सभी समाजों पर सार्वभौम रूप से लागू हो सकता है?

.....

.....

.....

.....

3) डेविस और मूर ने असमानता के किस पक्ष को नजरअंदाज कर दिया है?

.....

.....

1.6 कार्यात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग

कई अमेरिकी समाजशास्त्रियों ने सामाजिक स्तरीकरण पर बहस की और कार्यात्मक विश्लेषण पर विचार विमर्श किया। संभवतः डब्ल्यू. ल्वायड वारनर और उसके सहयोगियों (1949) द्वारा संपादित ग्रंथ में इस पक्ष का बृहद अध्ययन किया गया है। कई अमेरिकी समुदायों की "सामाजिक वर्ग" (प्रतिष्ठा) व्यवस्था पर रपट तैयार करने के क्रम में वार्नर दिखाता है कि वर्ग विभाजन से सामाजिक स्थायित्व में सहायता मिलती है। कई सामाजिक स्तर अपेक्षाकृत भिन्न प्रकृति के समूहों में विभक्त हो जाते हैं, इन समूहों की संस्कृति कमोबेश संतुलित और एकीकृत होती है। वार्नर ने ख्याति आधारित विश्लेषण का सहारा लिया। इसमें उसने समुदाय के लोगों से एक दूसरे की प्रतिष्ठा और श्रेणीबद्धता की जानकारी हासिल की। इस प्रक्रिया के माध्यम से उसके सामने यह स्पष्ट हो गया कि कौन किसे अपने स्तर का मानता है। इसके आधार पर उसने उच्च-निम्न से निम्न-निम्न तक छह सामाजिक वर्गों पर प्रकाश डाला।

प्रत्येक सामाजिक स्तर में अनेक विभिन्न वर्ग विशेषताएँ होती हैं, मसलन विभिन्न परिवारों का आपसी व्यवहार, संगठनात्मक सदस्यता और विभिन्न मुद्दों पर दृष्टिकोण आदि। वार्नर स्पष्ट करता है कि समाज के निचले तबके के सदस्य ऊपरी तबके के सदस्यों का सम्मान करते हैं और कई मामलों में उनकी बराबरी भी करना चाहते हैं। हालाँकि, लगभग सभी समाजशास्त्री वार्नर के इस मत से सहमत हैं कि समाज में स्तरीय सामूहिकता होनी है, पर

यह किस हद तक होता है और उनकी स्थिति क्या होती है, के संबंध में कई विद्वान वार्नर से असहमत हैं। वार्नर के आलोचक पदानुक्रम व्यवस्था में निहित तनाव और संघर्ष की ओर भी इशारा करते हैं। कार्यात्मक पद्धति ने न केवल अमेरिकी समाजशास्त्रियों के कार्यों को प्रभावित किया बल्कि भारत में जातिगत स्तरीकरण के अध्ययन में भी इसका उपयोग किया गया है। जातिगत स्तरीकरण संबंधी आरंभिक अध्ययन में जातक निरंतर्य और लचीलापन पर प्रकाश डाला गया था। कार्यात्मक पद्धति ने इस अध्ययन को और भी पुष्ट किया। रिजले (1891), हटन (1961) और घूर्ये (1932) ने जाति के विश्लेषण के क्रम में समग्र रूप से इसके कार्य पर जोर दिया। उनका मुख्य जोर जाति, समुदायों के सहयोगपूर्ण संबंध, अन्तरजातीय सौहार्द और अनुशासन पर रहा।

हटन के अनुसार जाति व्यवस्था के तीन कार्य हैं: (1) व्यक्तिगत सदस्यों के लिए कार्य (2) सामुदायिक कार्य और (3) राज्य और समाज के लिए कार्य।

तीसरे कार्य का जिक्र करते हुए हटन बताता है कि जाति भारतीय को जोड़ने, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था को स्थायित्व प्रदान करने और धार्मिक रूप से स्वीकृत सभी आचारों को सम्पन्न करने का काम करती आयी है। इसी प्रकार घूर्ये जाति व्यवस्था की छह विशेषताएँ बताता है और इन्हें समाज में सौहार्द स्थापित करने में सहायक मानता है।

1.7 सारांश

इस इकाई में हमने सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के कार्यात्मक दृष्टिकोण का विश्लेषण किया है।

सभी समाजों में सामाजिक असमानता पाई जाती है। प्रत्येक समाज अपनी सीमित वस्तुओं और सेवाओं को अपने सदस्यों के बीच वितरित करता है। इससे सामाजिक असमानता पैदा होती है और योग्य तथा प्रशिक्षित व्यक्तियों को प्रतियोगिता के आधार पर कम उपलब्ध सम्मानजनक पदों की प्राप्ति होती है। समाज की जटिलता के कारण स्रोतों का यह बँटवारा कभी भी पूर्णरूपेण न्यायोचित नहीं हो सकता, पर सम्पूर्ण समाज को चलाने के लिए यह आवश्यक है।

इस दृष्टिकोण के मुख्य प्रवर्तक पारसन्स, डेविस और मूर हैं। पारसन्स का मानना है कि किसी समाज में उनके सदस्यों के बीच श्रेणीबद्धता इसलिए पाई जाती है, क्योंकि वे अपने समाज की मूल्य व्यवस्था के अनुसार अपनी हैसियत का मूल्यांकन करते हैं। सामाजिक स्तरीकरण के सामने हमेशा एक आदर्श समाज का उद्देश्य होता है। डेविस और मूर के अनुसार समाज में विभिन्न सामाजिक पद होते हैं, जिनमें से कुछ दूसरे पदों से अधिक महत्वपूर्ण होते हैं। समाज को सही ढंग से चलाने के लिए इन सभी पदों पर नियुक्तियाँ होनी चाहिए।

पर ये सभी पद समान रूप से महत्वपूर्ण नहीं होते और इसके अनुरूप उनकी माँग भी समान रूप से नहीं होती। सभी महत्वपूर्ण पदों के लिए कुछ खास योग्यता की आवश्यकता होती है। समाज में इन पदो के प्रति लोगों को आकर्षित करने के लिए आकर्षक पारिश्रमिक की व्यवस्था की जाती है। ये पारिश्रमिक वस्तुत: सामाजिक श्रेणीबद्धता के वास्तविक आधार होते हैं। ट्यूमिन सामाजिक स्तरीकरण के कार्यात्मक सिद्धांत पर प्रश्नचिन्ह लगाता है। उसके अनुसार डेविस और मूर द्वारा बताये गये स्तरीकरण के कार्य सही नहीं हैं। वस्तुत: सामाजिक स्तरीकरण समाज को एकीकृत करने के बदले तोड़ भी सकता है। यह ऊँचे और नीचे पदों और हैसियत के लोगों के बीच कटुता, मनमुटाव और संघर्ष पैदा कर सकता है। यह मनमुटाव कम उपलब्ध पदों को लेकर पैदा हो सकता है। इसके अतिरिक्त डेविस और मूर ने भौतिक सुख और सम्मान पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया है और शक्ति तथा प्राधिकार को नजरअन्दाज किया है, जो सामाजिक स्तरीकरण के अधिक महत्वपूर्ण तत्व हैं।

1.8 शब्दावली

कार्यात्मक : सकारात्मक, उपयोगी, समाज के एकीकरण के लिए आवश्यक।

प्राकृतिक असमानता : जन्म से असमानता या व्यक्तिगत भेदभाव। मसलन कोई कद से लम्बा कोई छोटा।

श्रम विभाजन : कार्य का बँटवारा। ई. डर्खिम ने इसी शीर्षक से एक पुस्तक भी लिखी है।

सामाजिक असमानता : विकास के क्रम में समाज द्वारा लोगों के बीच स्थापित स्तरीकरण या असमानता। मसलन समाज का एक समूह गरीब है और एक समूह अमीर है।

सामाजिक एकता : एमिले डर्खिम ने इस शब्द का उपयोग समाजशास्त्र में किया, इसका अर्थ है, मूल्यों की सामूहिक एकता।

1.9 उपयोगी पुस्तकें

बेन्डिक्स, आर. एवं एस. लिपसेट् (सम्पादित) 1967. **क्लास, स्टैटस एण्ड पावर : सोशल स्ट्राटीफिकेशन इन कम्पेरेटिव पर्सपेक्टिव.** लंदन: राउटलेड्ज एण्ड केगेन पॉल।

हारलाम्बोस एम. एवं आर. हील्ड. 1980. **सोसिओलॉजी: थीम्स एण्ड पर्सपेक्टिव्स.** दिल्ली: आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

हटन, जे.एच. 1961. **कास्ट इन इंडिया : इट्स नेचर, फंकशन एण्ड ऑरीजिन.** बम्बई: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

1.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के दो प्रमुख सिद्धांत हैं (क) कार्यात्मक दृष्टिकोण और (ख) द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण।

2) टालकोट् पारसन्स, और किंग्सले डेविस और डब्ल्यू.ई. मूर कार्यात्मक दृष्टिकोण के मुख्य प्रवर्तक हैं।

3) प्लेटो और अरस्तू ने मुख्य रूप से स्वाभाविक क्षमताओं जैसे–कुशाग्रता, सौंदर्य, बुद्धिमत्ता और शक्ति आदि, से संबंधित असमानता की बात की है। समाजशास्त्र प्रतिष्ठा, शक्ति, और धन को असमानता का आधार मानता है। असमानता का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण सर्वप्रथम रूसो ने रखा था।

4) पारसन्स के अनुसार प्रत्येक समाज के कुछ नियम और मूल्य होते हैं, जिनकी स्थापना समाज के सदस्यों की सर्वसम्मति से होती है। लोग इन मूल्यों और आदर्शों के अनुरूप काम करते हैं और अपना मूल्यांकन करते हैं। जो इन सामाजिक मूल्यों और आदर्शों के निकट जितना ज्यादा पहुंचता है, उसका सम्मान उतना अधिक बढ़ता है। परन्तु जो इस आदर्श तक पहुंचने में असफल होता है, उसका सम्मान समाज में कम होता है। इससे सामाजिक स्तरीकरण पैदा होता है।

5) डेविस और मूर का मानना है कि समाज में विभिन्न सामाजिक पद होते हैं। इन पदों की ओर लोगों को आकर्षित करने के लिए आकर्षित पारिश्रमिक की व्यवस्था की जाती है। अधिक महत्वपूर्ण पदों का पारिश्रमिक अधिक होता है। ये पारिश्रमिक सामाजिक स्तरीकरण के आधार बन जाते हैं। सामाजिक स्तरीकरण का मुख्य कार्य यह देखना है कि सबसे योग्य व्यक्ति को सबसे महत्वपूर्ण पद मिले।

6) डेविस मूर दृष्टिकोण के सिद्धांत की मुख्य विशेषता यह है कि इससे सामाजिक पदों को मापने के दो मानदंड मिले। पहला मानदंड है, विलक्षणता और दूसरा मानदंड है, दूसरे पदों पर निर्भरता।

बोध प्रश्न 2

ट्यूमिन, डेविस और मूर से सहमत नहीं है और वह उनके उस आधारभूत अनुमान पर ही प्रहार करता है, जिसके अनुसार समाज को सही ढंग से चलाने के लिए असमान पारिश्रमिक व्यवस्था आवश्यक है।

2) अभी किसी भी समाज में पदों के महत्व को मापने का सर्वथा उपयुक्त तरीका विकसित नहीं हो सका है। एक कारखाने में एक इंजीनियर और एक साधारण मजदूर महत्वपूर्ण हैं और यह सोचने के तरीके पर निर्भर करता है कि किसे अधिक महत्वपूर्ण माना जाए।

3) प्रशिक्षणार्थियों को अपने प्रशिक्षण के दौरान वेतन के अलावा किसी अन्य चीज का त्याग नहीं करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त प्रशिक्षण का खर्च भी माता-पिता वहन करते हैं, जो समाज में वित्तीय तौर पर समृद्ध होते हैं। अगर प्रशिक्षणार्थी कोई त्याग भी करते हैं, तो इससे उन्हें मिलने वाला सम्मान कहीं अधिक होता है।

4) स्तरीकरण का निषेधात्मक पक्ष है: (क) यह योग्यता की खोज को बाधित करता है, (ख) इन पदों पर काम करने वाले लोग दूसरों को अपना सहभागी नहीं बनाना चाहते हैं, और (ग) समाज में निम्न स्तर पर स्थापित लोगों को महत्वपूर्ण पद की प्राप्ति के लिए हतोत्साहित किया जाता है।

बोध प्रश्न 3

1) ट्यूमिन की आलोचना का जवाब देते हुए डेविस-मूर ने स्पष्ट किया कि हालाँकि किसी पद के कार्यात्मक महत्व को मापना मुश्किल है, पर यह असंभव नहीं है। एक कारखाने में इंजीनियर का काम अधिक महत्व रखता है, क्योंकि यह काम कोई अदना/साधारण मजदूर नहीं कर सकता है। दूसरी तरफ एक इंजीनियर साधारण मजदूर का काम भी कर सकता है।

2) डेविस-मूर का दृष्टिकोण परम्परागत समाज पर लागू नहीं हो सकता। यह औद्योगिक रूप से विकसित समाज पर ही लागू हो सकता है, जहाँ प्रतियोगिता का दौर शुरू हो गया है।

3) डेविस और मूर ने शक्ति और प्राधिकार की भूमिका को नजरअंदाज किया।

इकाई 2 सामाजिक स्तरीकरण-II

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 संघर्षात्मक सिद्धांत के आधारभूत तत्व और कार्यात्मक सिद्धांत
2.3 स्तरीकरण के संघर्षात्मक सिद्धांत के प्रवर्त्तक
  2.3.1 कार्ल मार्क्स
  2.3.2 आर. डैहरेन्डौर्फ
  2.3.3 सी.राइट मिल्स
  2.3.4 जी. लेंस्की
2.4 भारतीय समाज के अध्ययन में संघर्षात्मक सिद्धांत की उपयोगिता
2.5 सारांश
2.6 शब्दावली
2.7 उपयोगी पुस्तकें
2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- सामाजिक स्तरीकरण की संघर्षात्मक सिद्धांत के साथ तुलना कर सकेंगे,
- संघर्षात्मक सिद्धांत की कार्यात्मक सिद्धांत के साथ तुलना कर सकेंगे,
- संघर्षात्मक सिद्धांत के प्रवर्त्तकों के योगदान को रेखांकित कर सकेंगे, और
- भारतीय समाज के विश्लेषण के लिए स्तरीकरण के संघर्षात्मक सिद्धांत की प्रासंगिकता पर प्रकाश डाल सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

इस इकाई में सामाजिक स्तरीकरण के संघर्षात्मक सिद्धांत पर प्रकाश डाला गया है। इसके पहले वाली इकाई में आपने सामाजिक स्तरीकरण के कार्यात्मक दृष्टिकोण की जानकारी प्राप्त की। इस इकाई में आप देखेंगे कि संघर्षात्मक दृष्टिकोण कार्यात्मक दृष्टिकोण की आलोचना करता है और सामाजिक स्तरीकरण का एक विकल्प भी प्रस्तुत करता है।

प्रथम भाग में हम संघर्षात्मक सिद्धांत के आधारभूत तत्वों का वर्णन करेंगे और फिर कार्यात्मक सिद्धांत से उसकी तुलना करेंगे।

दूसरे भाग में संघर्षात्मक सिद्धांत के प्रमुख प्रवर्त्तकों की भूमिका और योगदान पर विचार किया जाएगा। उन पर अलग से विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया जाएगा।

तीसरे भाग में स्तरीकरण के संघर्षात्मक सिद्धांत का आलोचनात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है।

अन्त में, भारतीय समाज को समझने में इस सिद्धांत की उपयोगिता पर भी विचार किया जाएगा।

2.2 संघर्षात्मक सिद्धांत के आधारभूत तत्व और कार्यात्मक सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण के संघर्षात्मक सिद्धांत का उद्भव कार्यात्मक सिद्धांत के विरोध में हुआ। संघर्षात्मक सिद्धांत एक भिन्न दृष्टिकोण है और स्तरीकरण के कार्यात्मक सिद्धांत के बिलकुल विपरीत है। मसलन, कार्यात्मक सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण समाज की जरूरत की उपज है न कि किसी खास व्यक्ति की जरूरत या इच्छा का प्रतिफलन है। इस मान्यता के ठीक विपरीत संघर्षात्मक सिद्धांत के समर्थक सामाजिक असमानता की इस समस्या को समाज के विभिन्न वर्गों और समुदायों की स्थिति के नजरिए से देखते हैं। इन वर्गों और समुदायों की जरूरत के कारण सामाजिक असमानता पैदा होती हैं, यह असमानता पूरे समाज की जरूरत की उपज नहीं होती। संघर्षात्मक सिद्धांतकारों का मानना है कि कुछ लोगों द्वारा समाज की वस्तुओं और सेवाओं पर कब्जा कर लेने से सामाजिक असमानता पैदा होती है। समाज में वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन पर पूंजीपतियों का कब्जा रहता है।

समाज के परिवर्तन और स्थायित्व के सवाल पर भी सामाजिक स्तरीकरण के संघर्षात्मक सिद्धांत और कार्यात्मक सिद्धांत में मतभेद है। कार्यात्मक सिद्धांत के समर्थक स्तरीकरण को न्यायोचित ठहराते हैं और उसे समाज को चलाने के लिए आवश्यक और व्यावहारिक मानते हैं। इसका कारण यह है कि सामाजिक स्तरीकरण समाज में कुछ सकारात्मक भूमिकाएँ अदा करता है। अतः सामाजिक स्तरीकरण सभी मानवीय समाजों के लिए वांछनीय ही नहीं, बल्कि समाज के स्थायित्व के लिए भी जरूरी है। दूसरी तरफ, संघर्षात्मक सिद्धांतकार सामाजिक असमानता और वर्ग पदानुक्रम को सामाजिक परिवर्तन का मुख्य स्रोत मानते हैं।

कार्यात्मक सिद्धांतकार यह भी मानते हैं कि सामाजिक व्यवस्था का संतुलन स्थिर नहीं होता। सामाजिक स्तरीकरण के कई पक्ष होते हैं, जैसे वर्ग, शक्ति और प्रतिष्ठा और सामाजिक संबंधों की "व्यवस्था"; इस कारण सामाजिक स्तरीकरण का प्रमुख उद्देश्य सामाजिक स्थायित्व हो जाता है। दूसरी ओर, संघर्षात्मक सिद्धांत का मानना है कि समाज अपने अन्तर्भूत अन्तर्विरोधी और वर्ग-प्रतिद्वंद्विता के कारण स्वभावतः अस्थिर होता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सामाजिक असमानता से संघर्ष का जन्म होता है और इससे समाज में परिवर्तन आता है।

कार्यात्मक दृष्टिकोण का अंतिम उद्देश्य यह जानना होता है कि समाज के विभिन्न पक्ष आपस में कैसे जुड़े हैं और कैसे इससे व्यवस्था में सौहार्द और स्थायित्व आता है। जहाँ तक सामाजिक स्तरीकरण का सवाल है समाज की आवश्यकता और पदधारी की योग्यता के अनुसार पदों का आबंटन किया जाता है। पदों के लिए दिए गये पारिश्रमिक से समाज में व्यक्ति की हैसियत स्थापित होती है। दूसरी ओर, संघर्षात्मक दृष्टिकोण के समर्थकों का मानना है कि इससे समाज में अन्तर्विरोध पैदा होता है, जिससे वर्ग-संघर्ष होता है और अन्ततः सामाजिक परिवर्तन होता है।

संक्षेप में, कार्यात्मक सिद्धांतकार समाज के सदस्यों के आम उद्देश्य पर जोर डालते हैं, जबकि संघर्षात्मक सिद्धांतकार उन आधारभूत तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं, जिनके कारण समाज अमीर और गरीब लोगों के बीच विभाजित हो जाता है। कार्यात्मक सिद्धांतकार सामाजिक संबंधों से उत्पन्न आम फायदों पर जोर डालते हैं, संघर्षात्मक सिद्धांतकार सर्वहारा पर बुर्जुआ वर्ग के आधिपत्य पर प्रकाश डालते हैं। इसके अलावा, जहाँ कार्यात्मक सिद्धांतकार सर्वसम्मति और अमन को सामाजिक एकता का आधार मानते हैं, वहीं संघर्षात्मक सिद्धांतकार अमीरों द्वारा गरीबों के दमन को सामाजिक असमानता का आधार मानते हैं। अन्ततः जहाँ कार्यात्मक सिद्धांतकार मानव समाज को एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में देखते हैं, वहीं संघर्षात्मक सिद्धांतकार इसे शक्ति और विशेषाधिकार प्राप्त करने के संघर्ष के एक चरण के रूप में देखते हैं। पर इसका मतलब यह नहीं है कि सभी संघर्षात्मक सिद्धांतकार कार्यात्मक दृष्टिकोण की वैधता को पूर्णतः अस्वीकार करते हैं। इसी प्रकार कुछ कार्यात्मक सिद्धांतकार मानव समाज में संघर्ष के महत्व को भी स्वीकार करते हैं। वस्तुतः "एकता" के उदय में संघर्ष की भूमिका बतौर पृष्ठभूमि है, और इसी प्रकार "एकता" को संघर्ष के आधार के रूप में देखा जाता है, जिसमें एक प्रकार का निरन्तर्य और अन्तर्विरोध होता है।

बोध प्रश्न 1

1) सही वक्तव्य का चुनाव करें।

   क) संघर्षात्मक सिद्धांत सर्वसम्मति पर बल देता है।

   ख) संघर्षात्मक सिद्धांत प्रतिद्वंद्विता पर बल देता है।

   ग) संघर्षात्मक सिद्धांतकारों के लिए न तो सर्वसम्मति का महत्व है, न ही प्रतिद्वंद्विता का।

2) सही वक्तव्य के आगे √ का निशान लगाएँ।

   क) संघर्षात्मक सिद्धांत के अनुसार सामाजिक असमानता समाज के लिए कार्यात्मक है।

   ख) समाज के अस्तित्व के लिए सामाजिक असमानता निषेधात्मक है।

   ग) सामाजिक असमानता कार्यात्मक है।

3) इनमें से कौन सही है।

   क) सामाजिक स्तरीकरण का संघर्षात्मक सिद्धांत यथापूर्व स्थिति (स्टेटस को) पर बल नहीं देता है।

   ख) संघर्षात्मक सिद्धांत मानव समाज में यथापूर्व स्थिति की बात करता है।

   ग) यह समाज में यथापूर्व स्थिति का न तो समर्थन करता है न ही विरोध करता है।

2.3 स्तरीकरण के संघर्षात्मक सिद्धांत के प्रवर्त्तक

संघर्षात्मक दृष्टिकोण के अनुसार संघर्ष मानव समाज का आधारभूत तत्व है। हम लोग अपनी व्याख्या को इस दृष्टिकोण के कुछ प्रमुख व्याख्याताओं तक सीमित रखेंगे। कार्ल मार्क्स, रैल्फ डैहरेन्डौर्फ जी इ. लेंस्की और सी. राइट मिल्स सामाजिक स्तरीकरण के संघर्षात्मक दृष्टिकोण के कुछ प्रमुख व्याख्याता हैं, हालाँकि इन समाजशास्त्रियों के विचार बिलकुल एक से नहीं है। मार्क्स आर्थिक असमानता को "संघर्ष" का आधार मानते हैं, अन्य विद्वान "शक्ति" और "असमानता" को सामाजिक संघर्ष का मूल कारण मानते हैं।

2.3.1 कार्ल मार्क्स

कार्ल मार्क्स (मार्क्स एंगिल्स 1963) दो प्रतिद्वंद्वी वर्गों के संघर्ष के ऐतिहासिक विकास को व्याख्यायित करते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक समाज का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास है। मार्क्स सामाजिक विकास के कई चरणों की ओर इशारा करते हैं, मसलन, प्राचीन सभ्यता, सामंतवाद और पूंजीवाद। उनका मानना है कि सामाजिक विकास के प्रत्येक चरण में दो प्रतिद्वंद्वी वर्गों (शोषक और शोषित) का सह-अस्तित्व होता है। मार्क्स के अनुसार इन वर्गों के बीच संघर्ष के परिणामस्वरूप सामाजिक परिवर्तन होता है।

मानव समाज का वर्गों में विभाजन मनुष्य के आर्थिक उद्देश्य के अंतर से ही उत्पन्न होता है। शोषक या सम्पन्न वर्ग हावी रहता है, क्योंकि उत्पादन के साधनों पर उसका अधिकार होता है। गरीब लोगों के पास सम्पत्ति नहीं होती और अपने जीवन-यापन के लिए वे मजदूरी करते हैं। अतः उत्पादन की प्रक्रिया के दौरान ही लोग दो प्रतिद्वंद्वी वर्गों में विभक्त हो जाते हैं। इसके अलावा उत्पादन के साधनों पर अधिकार होने के कारण पूँजीपति वर्ग सामाजिक जीवन के अन्य क्षेत्रों जैसे राजनीति, कला, साहित्य आदि पर भी अपना वर्चस्व स्थापित कर लेता है।

मार्क्स के अनुसार, वर्ग संघर्ष से क्रांति हो सकती है और पूँजीवाद का खात्मा किया जा सकता है। उनका मानना है कि पूँजीवाद अपनी जड़ खुद खोदता है। यह वर्ग आधारित "स्तरीकृत समाज" का अंतिम अध्याय होता है। बुर्जुआ और सर्वहारा वर्ग के बीच संघर्ष होने के परिणामस्वरूप समाज में बदलाव आता है। गरीबों की जीत का परिणाम व्यक्तिगत सम्पत्ति की समाप्ति भी हो सकती है। अतः समाजवादी समाज में, जो पूँजीवादी समाज की जगह लेगा, कोई भी प्रतिद्वंद्वी वर्ग और असमानता नहीं होगी।

2.3.2 आर. डैहरेन्डौर्फ

डैहरेन्डौर्फ भी सामाजिक स्तरीकरण के संघर्षात्मक सिद्धांत का समर्थक है। इसके बावजूद कार्ल मार्क्स से उसका मतभेद है। उसके मतानुसार मार्क्सवादी विचार निस्सन्देह मात्र पूँजीवाद को समझने के लिए प्रासंगिक है। पर आधुनिक औद्योगिक या पूँजीवादोत्तर समाज में सामाजिक स्तरीकरण का स्वरूप भिन्न है। परिणामतः समाज नियंत्रित करने वाले लोगों और अधीनस्थ लोगों में विभक्त है। उच्चस्थ पदों और अधीनस्थ पदों से लोगों की हैसियत निर्धारित होती है।

डैहरेन्डौर्फ के अनुसार निम्नलिखित कारणों से पूँजीवादोत्तर समाज में मार्क्स के आर्थिक आधार अप्रासंगिक हो गये हैं:

1) **पूँजी का अपघटन :** तकनीकी विकास और ज्वायंट स्टॉक कम्पनियों के विकास के कारण उत्पादन के साधन (पूँजी) की "मिल्कियत" और "नियंत्रण" में अंतर हो गया है। "आधुनिक औद्योगिक पूँजीवादी वर्ग का स्वरूप एक जैसा नहीं रहा है। इसमें उद्योग के मालिक और हिस्सेदार तथा वेतनभोगी प्रबंधक भी शामिल हैं। इन दोनों कोटियों की भूमिकाएँ अलग-अलग हैं।

2) **परिश्रम का अपघटन** पूँजीवादोत्तर समाज में पूँजीपतियों की तरह मजदूरों का स्वरूप भी एक जैसा नहीं रह गया है। दक्ष और अदक्ष मजदूरों की संख्या में अपेक्षाकृत गिरावट आयी है। अतः उनकी वर्ग चेतना में भी समरूपता नहीं रही है और मजदूर तेजी से अपने बीच के अंतर को समझने लगे हैं।

3) **नये मध्य वर्ग का उदय :** पूँजीवादोत्तर समाज में नये मध्य वर्ग का उदय हुआ है। नये मध्य वर्ग के रूप में प्रतिष्ठित मजदूरों जैसे पेशेवर और प्रशासनिक अधिकारियों का जन्म हुआ। अतः पूँजीवादोत्तर समाज में समाज दो प्रतिद्वंद्वी वर्ग (बुर्जुआ और मजदूर, मार्क्स के अनुसार) में ही विभाजित नहीं रह गया, बल्कि कई वर्गों का उदय हुआ है, जो अनिवार्यतः एक दूसरे के प्रतिद्वंद्वी नहीं है।

4) **सामाजिक गतिशीलता :** ऊपर बतायें गये परिवर्तन के कारण बड़े पैमाने पर सामाजिक गतिशीलता आयी। यह अभूतपूर्व सामाजिक गतिशीलता आधुनिक औद्योगिक समाज में कस के बाधित हुई, जिसे मार्क्स दो प्रतिद्वंद्वी वर्गों का ध्रुवीकरण कहते हैं। सामाजिक गतिशीलता के अतिरिक्त "राज्य" द्वारा शुरू की गयी राजनीति और कार्यक्रमों के कारण सामाजिक और आर्थिक असमानता कम हुई। राज्य ने न केवल गरीब और कमजोर तबके के लिए जनकल्याण कार्यक्रम शुरू किए, बल्कि अमीरों और ऊँचे वेतन पाने वालों को भी सहारा दिया। अतः औद्योगीकरण के कारण सामाजिक गतिशीलता आयी और समाज के विभिन्न तबकों की असमानता दूर हुई।

इस प्रकार डैहरेन्डौर्फ अपने तर्कों से मार्क्सवादी सिद्धांत की कमजोरियों की ओर इशारा करता है। उसमें पूँजीवादोत्तर समाज की जटिलता को समझने की दृष्टि से मार्क्सवादी सिद्धांत में कुछ सुधार भी सुझाए गए हैं। डैहरेन्डौर्फ के अनुसार मार्क्सवादी दृष्टिकोण की सबसे बड़ी कमजोरी यह है कि इसमें आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक कारकों को उत्पादन के साधन की मिल्कियत तक सीमित कर दिया जाता है। उसका तर्क है कि:

1) सामाजिक वर्ग अनिवार्यतः और अपरिहार्य रूप में आर्थिक वर्ग नहीं होते,

2) सामाजिक संघर्ष का कारण अनिवार्यतः सम्पत्तिगत संबंध नहीं होता, और

3) राज्य की नीतियाँ कार्यवाइयाँ अनिवार्य रूप में आर्थिक मसलों पर निर्भर नहीं होती।

डैहरेन्डौर्फ का निष्कर्ष यह है कि सभी जगह सामाजिक संबंधों में प्राधिकार संरचना का समावेश होता है। कुछ लोग जिनके हाथ में अधिकार और सत्ता होती है, अपने अधीनस्थों पर नियंत्रण रखते हैं। वे अपने अधीनस्थों को आदेश दिया करते हैं। समान हित से बंधे आदेश देने वाले और आदेश का पालन करने वाले लोगों को "अर्ध-समुदाय" कहा जा सकता है। हालाँकि यदि हितों को सप्रयत्न एक निश्चित दिशा दी जाती है तो इनकी प्रकृति प्रत्यक्ष या स्पष्ट हो जाती है। डैहरेन्डौर्फ सामाजिक वर्गों को असंगठित और संगठित कोटियों में विभक्त करता है, जिनके हित स्पष्ट और एक होते हैं। ये आम हित प्राधिकार संरचना में लोगों के पदों के अनुरूप निर्धारित होते हैं। अतः डैहरेन्डौर्फ के अनुसार वर्ग संघर्ष मात्र प्राधिकार संरचना के विभिन्न समुदायों के आपसी संबंध से उत्पन्न होता है।

डैहरेन्डौर्फ के अनुसार समाज में केवल सम्पत्तिगत संबंधों के कारण ही लोगों की बीच मनमुटाव नहीं पैदा होता है। सामाजिक संरचना में हाल में हुए परिवर्तनों के कारण कई वर्गों का जन्म हुआ है, अतः संघर्ष के मुद्दे भी कई हो गये हैं। वह मार्क्स के इस दृष्टिकोण को भी नकारता है कि वर्ग की समाप्ति से समाज का संघर्ष समाप्त हो जाएगा।

अतः डैहरेन्डौर्फ ने सामाजिक स्तरीकरण संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत को संशोधित करने का प्रयत्न किया है। डैहरेन्डौर्फ के दृष्टिकोण को भी अनेक विद्वानों ने चुनौती दी है। वेस्टरगार्ड (1965) के अनुसार कुछ परिवर्तनों के अतिरिक्त आधुनिक औद्योगिक समाज पूँजीवादी समाजों से मूलतः भिन्न नहीं है। अभी भी व्यवस्था उत्पादन के साधन के स्वामित्व और मजदूरों पर आधारित है।

2.3.3 सी. राइट मिल्स

सी. राइट मिल्स (1956) ने अमेरिकी समाज में संभ्रांत वर्ग की भूमिका पर विचार करते हुए संघर्ष के तत्वों पर प्रकाश डाला है। मिल्स का मानना है कि अमेरिकी समाज में शक्तिशाली संभ्रांत वर्ग का वर्चस्व है, जिसमें सेना, व्यापार संगठन और राजनीति से जुड़े लोग शामिल हैं। वह औद्योगिक सन्दर्भ में अमेरिका में संभ्रांत शासन को व्याख्यायित करता है। संगठनों की संरचना इस प्रकार की है कि संगठनात्मक पदानुक्रम में ऊपर बैठे लोगों का शक्ति पर एकाधिकार होता है और इन संगठनों में ऊपर बैठे लोगों को संभ्रांत माना जाता है। मिल्स के अनुसार संयुक्त राज्य अमेरिका में इस प्रकार के तीन संगठन हैं: प्रमुख औद्योगिक प्रतिष्ठान, सेना, और संघीय सरकार।

अपनी सामाजिक और शैक्षणिक पृष्ठभूमि की समानता के कारण शक्तिशाली संभ्रांत वर्ग की इन तीन इकाइयों में काफी समानता है। मिल्स के अनुसार इस शक्तिशाली संभ्रांत वर्ग के पास असीम शक्ति होती है। इस शक्तिशाली संभ्रांत वर्ग का निर्णय अमेरिकी समाज के प्रत्येक व्यक्ति को प्रभावित करता है। इसके बावजूद वे अपने कार्यों के प्रति जिम्मेदार नहीं होते हैं। शक्तिशाली संभ्रांत वर्ग के उदय के कारण राजनीति अब वैकल्पिक व्यवस्था देने में सक्षम नहीं है। मिल्स के अनुसार यह बात 'डेमोक्रेट्स' और 'रिपब्लिकन्स' दोनों के लिए समान रूप से सही है। परिणामतः जनता के पास वैकल्पिक नीति के चुनाव का कोई रास्ता नहीं हैं। जनता को एक निष्क्रिय चीज समझ लिया गया है, जिसे शक्तिशाली संभ्रांत वर्ग नियंत्रित और नियमित करते हैं।

मिल्स ने अमेरिका के लिए शक्तिशाली संभ्रांत वर्ग का विश्लेषण किया है, उससे दो स्थितियाँ सामने आती हैं। पहला, शक्तिशाली संभ्रांत वर्ग की तीनों इकाइयों में संघर्ष है, और संघर्ष का दूसरा स्तर संभ्रांत वर्ग और जनता के बीच का है। अमेरिका में संभ्रांत शासन के इस सिद्धांत पर राबर्ट ए डैहल (1961) और एफ. हंटर ने प्रश्नचिन्ह लगाया है। उनके विचार में अमेरिका में सत्ता के केंद्र में संभ्रांत नहीं हैं, बल्कि इसमें कई प्रकार के लोग शामिल हैं।

2.3.4 जी. लेंस्की

इस भाग के अंत में हम गेरहार्ड लेंस्की के सैद्धांतिक दृष्टिकोण पर विचार करने जा रहे हैं। लेंस्की ने कार्यात्मक और संघर्षात्मक दृष्टिकोण का मिला-जुला रूप प्रस्तुत किया है। हालाँकि उसके दृष्टिकोण में वितरण व्यवस्था खासकर शक्ति और विशेषाधिकार की द्वन्द्वात्मक पद्धति पर अधिक बल दिया गया है।

लेंस्की के अनुसार वितरण के दो नियम प्रचलित हैं, एक नियम आदिम समाज पर लागू होता है और दूसरा नियम विकसित समाज पर। आदिम समाज में जरूरत से ज्यादा उत्पादन नहीं किया जाता है। विकसित समाज में अधिशेष उत्पादन होता है, अपनी जरूरत से ज्यादा उत्पादन होता है।

आदिम समाज में, सामाजिक असमानता, न के बराबर होती है। इस समाज में बिलकुल अपनी जरूरत के मुताबिक उत्पादन होता है। उत्पादन की प्रक्रिया में इस प्रकार के समाज के सदस्य आपस में प्रतिद्वंद्विता नहीं करते बल्कि एक दूसरे को सहयोग प्रदान करते हैं। अपने विकास के क्रम में, जब समाज अधिशेष उत्पादन करने लगता है, तब असमानता पैदा होती हैं। तब समाज के सदस्यों के बीच उत्पादन के अधिक से अधिक हिस्से को हथियाने की होड लगती है। इस संघर्ष में विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग नफे में रहता है और

वह अधिक से अधिक भाग पर अपना अधिकार जमाता है। वस्तुतः अधिक शक्तिशाली समुदाय ही विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग होता है।

लेंस्की का दृष्टिकोण निम्नलिखित मुद्दों को सामने रखना है:

1) शक्तिशाली लोग अधिशेष के अधिकांश हिस्से प्राप्त करने में सफल होते हैं।
2) सामाजिक असमानता के आनुपातिक रूप में बढ़ने पर उत्पादन और अधिशेष में वृद्धि होती है।
3) आर्थिक रूप से विकसित समाजों में सामाजिक असमानता अपेक्षाकृत ज्यादा होती है और कम विकसित समाजों में अपेक्षाकृत कम होती है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य कारणों से भी सामाजिक असमानता पैदा होती है। लेंस्की इन अन्य कारणों में भौतिक पर्यावरण, युद्ध, महामारी आदि को महत्वपूर्ण मानता है।

लेंस्की ने कार्यात्मक और संघर्षात्मक दृष्टिकोण का तथाकथित मिला-जुला जो रूप प्रस्तुत करने की कोशिश की है, वह बहुत सुसंगत प्रतीत नहीं होता। उसका दृष्टिकोण वस्तुतः 'संघर्षात्मक दृष्टिकोण' है, जिसमें शक्ति को आधार बनाया गया है। इसमें कार्यात्मक सिद्धांत काफी दबे हुए रूप में प्रकट हुआ है। लेंस्की के दृष्टिकोण की सबसे बड़ी खामी यह है कि यह इस बात को नजरअन्दाज कर देता है कि राजनीतिक शक्ति से स्रोतों पर अधिकार प्राप्त नहीं होता, बल्कि जिनका इन सामरिक महत्व के स्रोतों पर अधिकार होता है, वे ही राजनीतिक शक्ति भी प्राप्त करते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित विद्वानों में से कौन स्तरीकरण को आर्थिक कारक (वर्ग) के नजरिए से देखता है:
   क) पैरेटो
   ख) वेबर
   ग) मार्क्स
   घ) डर्खिम
2) पूँजीवादी समाज में असमानता का आधार 'प्राधिकार-सम्बंध' है। यह किस विद्वान का विचार है:
   क) काल मार्क्स
   ख) आर. डैहरेन्डौर्फ
   ग) लेंस्की
   घ) मिल्स
3) निम्नलिखित में से 'शक्तिशाली संभ्रांत' के प्रवर्त्तक कौन हैं?
   क) कार्ल मार्क्स
   ख) आर. डैहरेन्डौर्फ
   ग) मिल्स
   घ) वेबर
4) कौन विद्वान यह मानता है कि सामाजिक असमानता शक्ति और विशेषाधिकार के बँटवारे में निहित है:
   क) आर. डैहरेन्डौर्फ
   ख) सी. राइट मिल्स
   ग) जी. लेंस्की
   घ) कार्ल मार्क्स

2.4 भारतीय समाज के अध्ययन में संघर्षात्मक सिद्धांत की उपयोगिता

इस भाग में हम भारतीय समाज के अध्ययन के लिए संघर्षात्मक सिद्धांत की उपयोगिता पर विचार-विमर्श करेंगे। हमने गौर किया है कि मार्क्स के लिए सामाजिक स्तरीकरण का

मुख्य आधार आर्थिक है। हमने इस बात पर भी गौर किया है कि डैहरेन्डौर्फ, मिल्स और लेंस्की शक्ति को असमानता का मूल आधार मानते हैं।

डी.पी. मुखर्जी (1958), ए.आर. देसाई (1959), चार्ल्स बेटेलहाइम (1967), वी.आई. पौवलोव (1964) और आर.पी. दत्त (1986) आदि विद्वानों ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण को अपनाया। इस बात की बार-बार चर्चा की जाती है कि भारत की जाति व्यवस्था वर्ग व्यवस्था से मिलती-जुलती चीज है। उच्च जाति शक्तिशाली वर्ग है, क्योंकि उनका भूमि (उत्पादन के साधन) पर अधिकार है। अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति मजदूरों का वर्ग है।

भारतीय समाज के सामाजिक स्तरीकरण से संबंधित अनेक अध्ययन हुए हैं। इन अध्ययनों में भारतीय शक्तिशाली संभ्रांत की विशेषताओं का जिक्र किया गया है। योगेन्द्र सिंह (1980)का मानना है कि भारतीय संभ्रांत वर्ग की बनावट में समय-समय पर परिवर्तन होता रहा है। स्वातंत्र्योत्तर काल में उच्च वर्ग के शहरी-पेशेवर संभ्रांत वर्ग के प्रभुत्व में कमी आई। खासकर 1967 के बाद, मध्यवर्गीय कृषक जाति का राजनीतिक और सत्ता में वर्चस्व बढ़ा। उन्होंने स्वतंत्रता के आरंभिक वर्षों में अपने आर्थिक मुद्दों को मजबूती के साथ उठाया और राजनीति पर अपनी पकड़ मजबूत की। बेते (1981) का कहना सही है कि अपनी संख्या के बल पर उन्होंने मजबूती हासिल की और संसदीय प्रजातंत्र में शक्तिशाली रूप में उभर कर सामने आये। इस प्रकार नवोदित मध्यवर्गीय कृषक वर्ग लगातार उच्च वर्ग के परम्परागत राजनीतिक वर्चस्व को चुनौती देता आ रहा है।

बोध प्रश्न 3

1) निम्नलिखित में से किस विद्वान ने मार्क्सवादी दृष्टिकोण अपनाया?

   क) एम.एन. श्रीनिवास
   ख) एस.सी. दुबे
   ग) ए.आर. देसाई
   घ) टी.एन. मदान

2) मार्क्स दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में कौन-सा कथन सही है?

   क) भारत में जाति और सामाजिक स्तरीकरण का कोई तालमेल नहीं है।
   ख) ग्रामीण भारत में जाति और वर्ग एक दूसरे के काफी करीब हैं।
   ग) भारत में वर्ग की कोई भूमिका नहीं है।

3) कौन-कौन विद्वान भारत के वर्ग स्तरीकरण को अधिक मूलभूत मानते हैं?

   क) एम.एन. श्रीनिवास, एस.सी. दुबे, योगेन्द्र सिंह
   ख) ए.आर. देसाई, डी.पी. मुखर्जी, आर.पी. दत्त
   ग) ए. बेते

2.5 सारांश

इस इकाई में आपने जानकारी प्राप्त की कि संघर्षात्मक दृष्टिकोण कार्यात्मक दृष्टिकोण के बिलकुल विपरीत है। आपने महसूस किया होगा कि कार्यात्मक सिद्धांतकार सामाजिक असमानता को समाज के लिए अनिवार्य ही नहीं, बल्कि अपरिहार्य और कार्यात्मक मानते हैं। दूसरी तरफ संघर्षात्मक दृष्टिकोण असमानता निषेधात्मक के पक्ष की ओर इशारा करता है।

आपने संघर्षात्मक सिद्धांत के कुछ व्याख्याओं की भूमिकाओं का भी अध्ययन किया। आपने गौर किया होगा कि जहाँ मार्क्स आर्थिक असमानता पर अधिक बल देता है, वहीं डैहरेन्डौर्फ, मिल्स और लेंस्की शक्ति को सामाजिक असमानता का मुख्य आधार मानते हैं।

अन्त में हमने भारतीय समाज के अध्ययन के लिए संघर्षात्मक सिद्धांत की प्रासंगिकता पर भी विचार किया। हमने यह पाया कि संघर्षात्मक सिद्धांत भारतीय समाज के अध्ययन के लिए उपयोगी तरीका है।

2.6 शब्दावली

उत्पादन के साधन : उत्पादन में सहयोग देने वाले तत्व, जैसे भूमि, पूंजी, तकनीक आदि।

निर्धन : मजदूर (सर्वहारा), जो मजदूरी लेकर काम करते हैं और जिनके पास अपनी कोई सम्पत्ति नहीं होती है।

पूंजीवादोत्तर : सामाजिक विकास के क्रम में पूंजीवाद के बाद आने वाला चरण।

शक्तिशाली संभ्रांत : अत्यधिक प्रभावशाली लोगों का दल जो प्रमुख राजनीतिक निर्णय लेता है।

सम्पन्न : पूँजीपति (बुर्जुआ) : उत्पादन के साधन के मालिक।

सर्वहारा : कामगार वर्ग, मजदूर।

2.7 उपयोगी पुस्तकें

अब्राहम, एम. फ्रांसिस. 1982. **मॉडर्न सोसिओलॉजिकल थ्योरी**. नयी दिल्ली : ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस ।

कफ्फ, ई.सी. और जी.सी.एफ. पेने (सं.). 1979. **परस्पेक्टिव इन सोसिऑलोजी**, लंदन : ज्योर्ज एलेन एंड उनवीन।

डिसूजा, विक्टर. 1981. **इनइक्वेलिटी एंड इट्स परस्पेक्टिव**. नयी दिल्ली : मनोहर।

हैमिल्टन, एम. और एम. हिरस्जोविक. 1987. **क्लास एंड इनइक्वेलिटी इन प्री इंडस्ट्रीयल कैपिटलिस्ट एंड कम्युनिस्ट सोसाइटीज**. न्यूयार्क : सेंट मार्टिन'स प्रेस।

सिंह, योगेन्द्र. 1988. **सोशल स्ट्राटिफिकेशन एंड सोशल चेंज इन इंडिया**. नयी दिल्ली : मनोहर।

2.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ख
2) ख
3) क

बोध प्रश्न 2

1) ग
2) ख
3) ग
4) ग

बोध प्रश्न 3

1) ग
2) ख
3) ख

इकाई 3 प्रस्थिति तथा वर्ग की संकल्पनाएँ

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 "प्रस्थिति" और "वर्ग" की अवधारणाएँ
  3.2.1 प्रस्थिति का अर्थ
  3.2.2 वर्ग का अर्थ
3.3 राज्य और वर्ग : दो परंपराओं का बोध
3.4 प्रस्थिति और वर्ग पर समकालीन पश्चिमी परिप्रेक्ष्य
3.5 भारतीय समाज में प्रस्थिति (जाति) और वर्ग
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 उपयोगी पुस्तकें
3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको इस योग्य होना चाहिए कि :

- "प्रस्थिति" और "वर्ग" के बीच अंतर कर सके।
- "प्रस्थिति" और "वर्ग" पर मार्क्स और वेबर के विचारों के अंतर को समझा सकें।
- "प्रस्थिति" और "वर्ग" पर अमेरिका और यूरोपीय दृष्टिकोणों का मूल अंतर बता सकें।
- "जाति" (प्रस्थिति) और वर्ग की दृष्टि से भारतीय जनसंख्या की संरचना को जान सकें।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में "प्रस्थिति" (हैसियत) और "वर्ग" की अवधारणाओं पर चर्चा की गयी है। आपने दैनिक जीवन में इन शब्दों को सुना होगा। लेकिन क्या आपको इनके सामाजिक अर्थ के बारे में पता है? यहाँ हमारा उद्देश्य इन अवधारणाओं के अर्थ को समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से समझाना है। इस इकाई को हमने चार अनुभागों में बाँटा है।

पहले अनुभाग में इन अवधारणाओं का समाजशास्त्रीय अर्थ दिया गया है।

दूसरे अनुभाग में "प्रस्थिति" और "वर्ग" पर मार्क्स और वेबर के विचारों पर चर्चा है।

तीसरे अनुभाग में हमने "वर्ग" और "स्थिति" के अध्ययन के "नामवादी" और "यथार्थवादी" दृष्टिकोणों को लिया है।

चौथे अनुभाग में भारतीय संदर्भ में इन अवधारणाओं के आशय को महत्व देकर बताया गया है। हमने भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन के मुख्य दृष्टिकोणों को ध्यान में रखते हुए जाति (प्रस्थिति) और 'वर्ग' पर संक्षेप में चर्चा की है।

3.2 "प्रस्थिति" और "वर्ग" की अवधारणाएँ

"प्रस्थिति" और "वर्ग" सामाजिक स्तरीकरण के दो अहम आयाम है। सामाजिक स्तरीकरण का अर्थ समूहों और व्यक्तियों को विभिन्न ऊँची और नीची स्थितियों में दर्जा

देने से होता है। व्यक्तियों और समूहों को एक दूसरे से श्रेष्ठ या निकृष्ट मानने के कई मापदंड हो सकते हैं। उदाहरण के तौर पर, वर्ग व्यवस्था के आधार पर हिंदू समाज को ऊँची-नीची श्रेणी के क्रम में चार समूहों में बाँटा गया है। इस व्यवस्था में ब्राह्मण सबसे ऊँची श्रेणी पर थे, क्षत्रिय उनसे नीचे, वैश्य उनसे भी नीचे और शूद्र सबसे नीचे। "अछूतों" को उन सबसे नीचे रखा गया था। दूसरी ओर, औद्योगिक समाजों में, मजदूरों को, चाहे उनकी जाति कुछ भी हो, तकनीकी, प्रबंधक और निरीक्षक कर्मचारियों से नीचे समझा जाता है। इस स्थिति में, दरजा देने का आधार व्यक्ति के काम की प्रकृति और आय होती है, उसकी जाति नहीं। फिर भी, सामाजिक स्तरीकरण या असमानता प्राकृतिक असमानता से भिन्न होती है। कोई व्यक्ति लंबा या छोटा, नाटा या मोटा, गोरा या काला और जवान या बूढ़ा हो सकता है—उसकी जाति या धर्म कोई भी हो। ये दरजा देने के गैर सामाजिक मापदंड हैं। ये न केवल सर्वव्यापी होते हैं बल्कि आम तौर पर ये सामाजिक संबंधों को आकार देने का काम भी नहीं करते हैं। फिर भी, सरल समाजों में आयु और लिंग को वितरण की प्रक्रिया और कार्य के विभाजन का आधार माना जाता है। इस तरह, जब हम "प्रस्थिति" और "वर्ग" की बात करते हैं तो हमारा इशारा सामाजिक असमानता की ओर होता है।

अब हम सामाजिक स्तरीकरण के स्पष्ट स्वरूपों के तौर पर "स्थिति" और "वर्ग" पर अलग-अलग चर्चा करेंगे।

3.2.1 प्रस्थिति का अर्थ

सामाजिक प्रस्थिति, सम्मान और प्रतिष्ठा का आंकलन होता है। स्थिति के संदर्भ में स्तरीकरण का आशय होता है कुछ संस्थाबद्ध मापदंडों के आधार पर ऊँची और नीची श्रेणियों में व्यक्तियों को रखना। वास्तव में तो, सभी समाज कुछ मूल्यों और नियमों को वरीयता देते हैं और उनके आधार पर वे अपने सदस्यों को भूमिकाएँ और हैसियतें देते हैं। प्रस्थिति या श्रेणी की असमानता बनाने वाले कारक कई हो सकते हैं। इनमें आय, संपत्ति, पारिवारिक पृष्ठभूमि, शिक्षा, शक्ति और अधिकार भी शामिल हो सकते हैं। इन मापदंडों पर आधारित अंतरों को कभी-कभी व्यक्तियों की जीवन शैली के माध्यम से भी देखा जा सकता है। लेकिन इन तमाम कारकों के पीछे स्थिति के सामाजिक मूल्यांकन का सिद्धांत होता है। गरीब ब्राह्मणों को भी उन लोगों से श्रेष्ठ माना जाता था जो आर्थिक और राजनीतिक दृष्टि से उनसे ऊँचे थे। एक ही काम करने वाले व्यक्तियों को उनके अलग-अलग कार्यकलाप के आधार पर अलग-अलग सम्मान मिल सकता है। यह भी हो सकता है कि एक ही व्यवसाय और आर्थिक स्थिति के व्यक्तियों को शिक्षा, जीवन शैली और व्यक्तित्व में भिन्नता के आधार पर अलग-अलग इज्जत प्राप्त हो। आम तौर पर, हमारे समाज में अंग्रेजी बोलने वाले लोगों को उन लोगों से श्रेष्ठ माना जाता है जो अपनी भाषा या बोली बोलते हैं। इन लोगों को अच्छी नौकरियों और ओहदों में भी वरीयता दी जाती है, इसलिए वे स्वदेशी शिक्षा पाये लोगों से ऊँचे माने जाते हैं।

3.2.2 वर्ग का अर्थ

जहाँ प्रस्थिति सामाजिक सम्मान और प्रतिष्ठा से संबंधित है, वहीं वर्ग की परिभाषा व्यक्तियों के आर्थिक वर्गीकरण के अर्थ में की जाती है। व्यापक अर्थों में, वर्ग का निर्धारण व्यक्तियों की कृषि या उद्योग जैसे विभिन्न क्षेत्रों और दस्तकारी, तकनीकी और सफेद पोश नौकरियों जैसे अन्य व्यवसाओं में उनकी आर्थिक स्थिति के आधार पर होता है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार व्यक्तियों को उत्पादन की प्रक्रिया में उनकी स्थिति के आधार पर रख सकते हैं। मार्क्स ने उद्योग के मालिकों को बुर्जुआ या "धनी" या "पूँजीवादी" का नाम दिया है, और मजदूरों को सर्वहारा या "निर्धन" या मजदूर वर्ग कहा है। वर्ग को समाज का एक आर्थिक पहलू माना जाता है क्योंकि यह सामाजिक और राजनीतिक आयामों से भिन्न होता है। मैक्स वेबर आर्थिक व्यवस्था या आर्थिक स्तरीकरण को उस "बाजारी स्थिति" का परिणाम मानता है जिसमें व्यक्तियों के बीच अधिक से अधिक मुनाफा कमाने के लिए होड़ होती है। फिर भी आर्थिक शक्ति सामाजिक और राजनीतिक शक्ति से भिन्न होती है। इन तीनों में आपस में घनिष्ठ संबंध हो सकता है, लेकिन वेबर उन्हें अलग-अलग विश्लेषणकारी श्रेणियाँ मानता है। आधुनिक औद्योगिक समाज में "पूंजीपति" के अलावा व्यक्तियों के अन्य समूहों को अर्धकुशल/अकुशल (गैरहुनरमंद) कर्मचारियों, सफेदपोश (या बाबू किस्म के) कर्मचारियों और निरीक्षकों के रूप में जाना जाता है। इसी तरह कृषि

मजदूर, किसान और जमींदार ग्रामीण भारत के तीन मुख्य वर्ग हैं। इस तरह, संपत्ति, आय और व्यवसाय वर्ग के निर्धारण में मुख्य मापदंड होते हैं। एक और मत है जिसमें वर्ग के ढाँचे में व्यक्ति का प्रस्थिति के बारे में उसके बोध पर जोर दिया जाता है। इस मत के अनुसार व्यक्ति की आर्थिक प्रस्थिति नीची होते हुए भी वर्गीय ढाँचे में उसकी प्रस्थिति ऊँची/मध्यम हो सकती है और इसका उल्टा भी हो सकता है। वास्तव में, कुछ अमेरिकी समाजशास्त्रियों का मत है कि प्रस्थिति का आधार व्यवसाय, आय और संपत्ति जैसे वस्तुगत मापदंड होते हैं, जबकि वर्ग का निर्धारण व्यक्ति के व्यक्तिगत मापदंडों से होता है, जैसे उसके मानसिक स्तर रूझान और मूल्य। एक गरीब कलाकार भी यह महसूस कर सकता है कि उसके संबंध उसके समाज के ऊँचे वर्ग से हैं।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित में से जिसका संबंध प्रस्थिति से है उस पर निशान लगाइए:
   क) व्यक्तियों की आर्थिक स्थिति
   ख) व्यक्तियों की धार्मिक पृष्ठभूमि
   ग) व्यक्तियों से जुड़ी प्रतिष्ठा या सामाजिक सम्मान

2) निम्नलिखित में से जिसका संबंध वर्ग से है उस पर निशान लगाइए:
   क) व्यक्तियों की प्रतिष्ठा और पारिवारिक पृष्ठभूमि
   ख) व्यक्तियों का शैक्षिक स्तर
   ग) व्यक्तियों की आर्थिक पृष्ठभूमि

3) निम्नलिखित में से जो वक्तव्य सही है उस पर √ का निशान लगाइए:
   क) वर्ग का संबंध व्यक्तियों की पारिवारिक पृष्ठभूमि से होता है।
   ख) वर्ग का संबंध समाज में आर्थिक श्रेणी से होता है।
   ग) 'वर्ग' और 'प्रस्थिति' एक ही चीज है।

3.3 राज्य और वर्ग : दो परंपराओं का बोध

"प्रस्थिति" और "वर्ग" की अवधारणाओं का अर्थ समझ लेने के बाद, हम उन परिप्रेक्ष्यों की चर्चा कर सकते हैं जिनका प्रतिपादन कार्ल मार्क्स और मैक्स वेबर ने किया था। व्यापक अर्थों में, मार्क्स और वेबर दोनों के विचारों का व्यापक असर सामाजिक स्तरीकरण के समकालीन विश्लेषण पर पड़ा है।

कार्ल मार्क्स के अनुसार (मार्क्स एवं एंगेल्स, 1963) वर्ग और प्रस्थिति अलग-अलग श्रेणियाँ नहीं हैं। मार्क्स के अनुसार वर्ग सभी समाजों का मूल निर्माण-तत्व (या संघटक) है और पद जैसे अन्य सामाजिक घटक वर्गीय ढाँचे का प्रतिबिंब मात्र हैं। वह इस बात पर जोर देता है कि आर्थिक भिन्नता के अर्थ में बना वर्ग सभी समाजों का आधारभूत ढाँचा होता है। प्रस्थिति और शक्ति जैसे और कोई भी घटक वर्गीय ढाँचे से निकलने वाली अधिरचनाएँ हैं। मार्क्स के अनुसार वर्ग उन व्यक्तियों से बनता है जो उत्पादन की प्रक्रिया में एक जैसा काम करते हैं। जैसे, आधुनिक औद्योगिक समाज दो प्रतिद्वंद्वी वर्गों से मिलकर बना है—अर्थात् पूँजीपति और मजदूर। मजदूरों के पास क्योंकि कोई संपत्ति नहीं होती और वे मजदूरी पर निर्भर करते हैं, इसलिए उनसे एक समरूप वर्ग बनता है। पूँजीपति उत्पादन के साधनों के मालिक होते हैं, इसलिए वे मजदूरों की मेहनत से पैदा हुई अतिरिक्त पूँजी को हड़प लेते हैं। इसलिए व्यक्ति उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर (पूँजीपति और मजदूर के) वर्गों में बँट जाते हैं।

मैक्स वेबर (गर्थ एवं मिल्स, 1946) भी आर्थिक कारक को निर्णायक महत्व देते हैं। लेकिन साथ ही वह यह भी तर्क देते हैं कि प्रस्थिति (और शक्ति) सामाजिक स्तरीकरण का एक स्वाधीन आयाम है। वह इस बात पर जोर देते हैं कि वर्ग का घनिष्ठ संबंध प्रस्थिति और शक्ति से है लेकिन उनमें से किसी को भी दूसरे के माध्यम से पूरी तौर पर समझा नहीं जा सकता। मैक्स वेबर के अनुसार वर्ग, प्रस्थिति और शक्ति सामाजिक स्तरीकरण के तीन, विश्लेषण की दृष्टि से, भिन्न रूप है। वेबर के दृष्टिकोण को आम तौर से बहुआयामी भी माना जाता है जबकि मार्क्स का दृष्टिकोण एक आयामी या अखंडित माना जाता है। वेबर

"वर्ग" की अवधारणा के मामले में भी मार्क्स से भिन्न है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, अंतिम विश्लेषण में, मार्क्स वर्ग को संपत्ति के स्वामित्व के अर्थ में परिभाषित करता है। वेबर के अनुसार वर्ग का निर्धारण होड़ वाली बाजारी हालत में जीवन अवसरों से होता है। जीवन अवसरों का निर्धारण आय के लिए उनकी सामान निकालने की शक्ति और कौशलों से होता है। मार्क्स की तरह, वेबर का भी विश्वास है कि संपत्ति एक गुण होता है, लेकिन वह इसे अकेला मापदंड नहीं मानता। वेबर के अनुसार, वर्गीय स्थिति का अंतिम निर्णय "बाजारी स्थिति" से होता है।

बोध प्रश्न 2

1) यह किसका मत था कि आर्थिक भिन्नता समाज की सभी भिन्नताओं में आधारभूत हैं?

.....

2) किसके अनुसार 'प्रस्थिति और वर्ग' सामाजिक स्तरीकरण के अलग-अलग रूप हैं?

.....

3) क्या यह सही है कि मार्क्स और वेबर की 'वर्ग' की अवधारणा एक जैसी है?

.....

3.4 प्रस्थिति और वर्ग पर समकालीन पश्चिमी परिप्रेक्ष्य

अब आपको "प्रस्थिति" और "वर्ग" पर कुछ समकालीन पश्चिमी परिप्रेक्ष्यों के बारे में जानना चाहिए। व्यापक अर्थों में समकालीन पश्चिमी समाजशास्त्री इस मुद्दे पर दो वर्गों में बंटे हैं। यूरोपीय समाजशास्त्री सामाजिक स्तरीकरण को इसके वस्तुगत यथार्थ के अर्थों में देखते हैं। वे 'प्रस्थिति' की बनिस्पत 'प्रस्थिति' को अधिक महत्व देते हैं। अमेरिकी समाजशास्त्रियों का दृष्टिकोण सामाजिक स्तरीकरण को समझने के मामले में व्यक्तिनिष्ठ रहा है। उनके विश्लेषण में 'वर्ग' की बजाय 'प्रस्थिति' को वरीयता है। रेमंड आरन (बेटील, 1969) अमेरिकी दृष्टिकोण को 'नामवादी' और यूरोपीय दृष्टिकोण को 'यथार्थवादी' कहता है। "नामवादी" दृष्टिकोण में व्यक्तिनिष्ठ मापदंड की वस्तुनिष्ठता को वरीयता प्राप्त है, जबकि 'यथार्थवादी' दृष्टिकोण में वर्ग के निर्धारण के लिए आर्थिक (वस्तुनिष्ठ) मापदंड पर जोर है। इस तरह, यूरोपीय जिसे 'वर्ग' कहते हैं वह अमेरिकी विद्वानों के लिए 'प्रस्थिति' है, और जो अमेरिकी विद्वानों के लिए 'वर्ग' है वह यूरोपीय विद्वानों के लिए 'प्रस्थिति' है।

ओसोव्स्की (1956:18-25) वर्ग के विषय में 'श्रेणीबद्ध' और 'द्विविभाजनकारी' मतों में अंतर करता है। 'श्रेणीबद्ध' मत का संबंध अमेरिकी दृष्टिकोण से है और 'द्विविभाजनकारी' मत यूरोपीय मत से जुड़ा है। दोनों दृष्टिकोणों के मूल अंतर को 'पश्चिमी' दुनिया की प्रधान वैचारिक धाराओं ने आकार दिया है। जहाँ यूरोपीय विद्वान मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हुए हैं, वहीं अमेरिकियों को समानता के मत ने प्रभावित किया है। शायद इसीलिए, अमेरिकी विद्वान वर्ग-निर्धारण में वस्तुनिष्ठ मापदंडों पर कम जोर देते हैं। अमेरिकी विद्वानों के लिए वर्ग एक वास्तविक समष्टि नहीं होती, बल्कि व्यक्तियों का जमाव होता है। व्यक्तियों का स्तरीकरण अनेक मापदंडों के आधार पर होता है। वर्ग उन अनेक मापदंडों में से केवल एक है जिनका निर्धारण मूल रूप से व्यक्ति के व्यक्तिनिष्ठ स्वभाव के आधार पर होता है। व्यक्ति के वर्ग का निर्धारण इस आधार पर होता है कि दूसरे लोग समाज में उसके प्रस्थिति का क्या मूल्यांकन करते हैं। दूसरे शब्दों में, व्यक्ति किसी स्थिति विशेष में अपने प्रस्थिति के बारे में दूसरों के विचारों को बनाने की कोशिश करता है। इसी तरह, प्रस्थिति का निर्धारण व्यक्ति द्वारा उसके भौतिक सामान और साधनों के प्रदर्शन से होता है। रिचर्ड सेंटर्स (1949) सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक-मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण को महत्व देकर बताने के लिए वस्तुनिष्ठ घटक के रूप में वर्ग को नकारता हैं। सेंटर्स के अनुसार, ".... वर्ग के बारे में लोग सामूहिक रूप से जो सोचते हैं, वर्ग उससे कम नहीं है। यह एक मनोवैज्ञानिक संरचना करना है।" डब्ल्यू. लायड वार्नर (वार्नर एट.आल., 1949) ने यांकि सिटी के अपने अध्ययन में भी इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। वह व्यक्तियों को छह श्रेणियों में बाँटते हुए सामाजिक-आर्थिक मापदंडों के आधार पर वर्गीकरण प्रस्तुत करता

है। सेंटर्स और वार्नर समुदाय के सभी व्यक्तियों को सामाजिक दृष्टि से श्रेष्ठ और नीची स्थितियों में रखते हैं।

बहरहाल, 'यथार्थवादी' दृष्टिकोण स्तर (प्रस्थिति) और वर्ग में भेद करता है। यह 'वर्ग' को आर्थिक मापदंडों पर आधारित एक वास्तविक समष्टि मानता है। सामूहिक चेतना का निर्माण उन व्यक्तियों के भौतिक जीवन की सामान्यता के बाहर होता है जो स्पष्ट रूप से उत्पादन के संबंधों का एक हिस्सा होता हैं। वर्ग निर्माण का सार इसके सदस्यों की एकता होती हैं जिसका आधार एक वर्ग विशेष के सदस्यों के अस्तित्व की सामान्य दशाएं होती है। यह केवल वास्तविक ही नहीं होता बल्कि धर्म, सौंदर्यशास्त्र और राजनीति समेत सामाजिक जीवन के और दूसरे पहलुओं को भी निर्धारित करता है।

दोनों दृष्टिकोणों के तुलनात्मक अध्ययन से निम्न बातें सामने आती हैं:

1) 'नामवादी' सभी समाजों में सामाजिक वर्गों को मान्यता देते हैं। इसलिए उनका तर्क है कि वर्ग का त्याग कठिन है। दूसरी ओर, 'यथार्थवादी' वर्ग को एक वास्तविक वस्तु के रूप में परिभाषित करते हैं। वर्ग का सार क्योंकि संघर्ष होता है, इसलिए उनका पक्का विश्वास है कि समाज पर आधारित असमानता को भविष्य में न्यूनतम किया जा सकता है।

2) जहाँ 'नामवादी' मत व्यक्तियों और व्यक्ति से व्यक्ति के संबंधों को महत्व देता है, वहीं यथार्थवादी सामूहिकता को महत्व देते हैं।

3) नामवादी विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच संघर्षकारी संबंधों को नहीं मानते, इसलिए वे विभिन्न समूहों के बीच संघर्ष की संभावना से इंकार करते हैं। यथार्थवादी नामवादियों पर उनके दृष्टिकोण में सामूहिकता की उपेक्षा करने का आरोप लगाते हैं। नामवादी यथार्थवादियों पर वास्तविक जीवन की स्थितियों में 'सामूहिकता' की भूमिका को बढ़ा-चढ़ा कर बताने का आरोप लगाते हैं।

इन अंतरों के बावजूद, दोनों दृष्टिकोणों में कुछ समानताएँ भी हैं। उदाहरण के तौर पर, दोनों दृष्टिकोण यह स्वीकार करते हैं कि सभी समाजों में अनेक भेदभाव होते हैं। ये भेदभाव संपत्ति, आय, जीविका के स्रोतों और प्रस्थिति और जीवन शैली को लेकर होते हैं। उनका यह भी विश्वास है कि सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं के स्वरूप अत्यधिक जटिल होते हैं और इसलिए वर्ग और स्थिति के निर्धारण के मापदंड भी अनेक और जटिल होते हैं।

बोध प्रश्न 3

1) 'नामवादी' और 'यथार्थवादी' शब्द देने वाले समाजशास्त्री का नाम बताइये।

.....

2) क्या यह सही है कि 'नामवादी' सामाजिक स्थिति के वस्तुनिष्ठ मापदंडों पर जोर देते हैं?

.....

3) क्या यह सही है कि 'यथार्थवादी' मुख्य तौर पर स्थिति की असमानता पर जोर देते हैं?

.....

3.5 भारतीय समाज में प्रस्थिति (जाति) और वर्ग

पारंपरिक भारतीय समाज में प्रस्थिति के अंतरों पर आधारित सामाजिक असमानता व्याप्त थी। जाति ऊँची और नीची स्थिति के अर्थों में समूहों को श्रेणीबद्ध क्रम में रखने वाली विशिष्ट व्यवस्था रही है। इसके विचित्र चरित्र ने देश-विदेश के अनेक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई दुमो (1970) सामाजिक असमानता पर आधारित भारतीय समाज की तुलना पश्चिमी दुनिया से करता है जिसका आधार समानता का सिद्धांत है। उसके अनुसार जाति की श्रेणीबद्धता का आधार शुद्धता और अशुद्धता की

धारणा है। दुमों के अनुसार जाति की श्रेणीबद्ध व्यवस्था में श्रेणी का निर्धारण जन्म से मिली धार्मिक स्थिति से होता है। शुद्धता-अशुद्धता का सिद्धांत इतना व्यापक है कि न केवल स्त्री-पुरुषों को ऊँची और नीची श्रेणी में रखा जाता है, बल्कि व्यवसाय, खाना, कपड़े और बर्तन भी शुद्ध और अशुद्ध माने जाते हैं। पारंपरिक भारतीय समाज में कुछ हद तक धार्मिक स्थिति का संबंध सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्रों में 'शक्ति' से भी था। भारत में समाज की व्याख्या वर्गीय संबंधों पर आधारित श्रेणीबद्धता के अर्थों में भी की गयी है। डी.डी. कौशाम्बी (1956), डी.पी. मुखर्जी (1958) और ए.आर. देसाई ने वर्गीय स्तरीकरण के अध्ययन के लिए ऐतिहासिक-द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण का प्रयोग किया है। इस संदर्भ में एक नयी उपलब्धि साबित होने वाला एक अध्ययन डैनियल थार्नर (1981) ने किया था। थार्नर ग्रामीण या खेतिहर आबादी का एक तीन-स्तरीय वर्गीकरण प्रस्तुत करता है। ये हैं :

1) मालिक,
2) किसान और,
3) मजदूर

थार्नर के अनुसार, मालिक वे लोग हैं जिनके पास बड़ी-बड़ी जमीनें हैं। वे शारीरिक श्रम नहीं करते और भाड़े की मजदूरी पर निर्भर करते है। मालिक केवल जमीन को पट्टे पर देने से मिले किराये और अतिरिक्त मूल्य को हड़पने और निरीक्षण का काम करते हैं। भूमिहीन मजदूर श्रम पर निर्भर करते हैं। श्रेणीबद्धता के इन दोनों के बीच होता है किसान वर्ग। किसानों के पास छोटी-छोटी जमीनें होती हैं जिन्हें वे खुद जोतते हैं। वे आम तौर पर न तो मजदूर रखते हैं और न ही दूसरों के लिए काम करते हैं। व्यापक अर्थों में जमींदार वर्ग (या, मालिक वर्ग) ऊँची जाति से आते हैं। किसान अधिकतर मध्यम किसान जातियों के होते हैं। मजदूर अछूतों और दूसरी पिछड़ी जातियों से होते हैं।

बोध प्रश्न 4

1) भारत में जाति की श्रेणीबद्धता का अध्ययन करने के लिए शुद्धता/अशुद्धता का इस्तेमाल किसने किया है?

.....

2) ग्रामीण लोगों का मालिक, किसान और मजदूर वाला तीन-स्तरीय वर्गीकरण किसने किया है?

.....

3) कम से कम एक ऐसे समाजशास्त्री का नाम बताइये जिसने भारतीय समाज को समझने के लिए वर्ग विश्लेषण की विधि को अपनाया है।

.....

3.6 सारांश

इस इकाई में, हमने देखा कि 'प्रस्थिति' और 'वर्ग' सामाजिक वर्गीकरण के दो अलग-अलग पहलू हैं। आपने ध्यान दिया होगा कि सामाजिक सम्मान और 'प्रस्थिति' का आंकलन प्रतिष्ठा से जुड़ा होता है, और 'वर्ग' एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ होता है और इसका निर्धारण आर्थिक मापदंड करते हैं। हमने सामाजिक स्तरीकरण पर मार्क्स और वेबर के दृष्टिकोणों का भी अध्ययन किया। मार्क्स के लिए, आर्थिक आधार (वर्ग) दूसरे प्रकार की असमानताओं का मूलभूत स्रोत हैं। लेकिन वेबर स्थिति को सामाजिक स्तरीकरण का आधार मानता है, जो शक्ति पर आधारित असमानता और आर्थिक स्तरीकरण से भिन्न है। इस तरह मार्क्स और वेबर के विचारों में, वर्ग और सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में भिन्नता है।

यह बताया गया है कि वर्ग के अध्ययन के दो मुख्य दृष्टिकोण हैं। 'नामवादी' दृष्टिकोण वर्ग को एक व्यक्तिनिष्ठ घटक मानता है। 'यथार्थवादी' दृष्टिकोण वर्ग को एक वस्तुनिष्ठ यथार्थ के रूप में लेता है। 'नामवादी परिप्रेक्ष्य' में प्रस्थिति को वरीयता प्राप्त है, तो 'यथार्थवादी'

दृष्टिकोण में ऊँचे और निचले वर्गों के बीच प्रभुत्व और अधीनता के संबंधों के अर्थों में 'अंतरक्रियात्मक' संबंधों को विश्लेषण का आधार बनाया गया है।

अंत में, हमने भारतीय समाज में 'जाति' (प्रस्थिति) और 'वर्ग' को संक्षेप में समझाया है। यह बताया गया है कि सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में जाति को मुख्य तौर पर विचारों और मूल्यों के सिद्धांत के रूप में देखा जाता है। वर्ग को मुख्य तौर पर संबंधों की अंतरक्रियात्मक व्यवस्था के रूप में नहीं, एक श्रेणी के रूप में समझा जाता है। फिर, हाल के कुछ अध्ययनों में वर्ग को आर्थिक और राजनीतिक शक्तियों वाली सामाजिक बनावट के रूप में लिया गया है।

3.7 शब्दावली

आधार : बुनियाद, मूल।

उत्पादन के साधन : भौतिक उत्पादन में सहायक वस्तुएं जैसे भूमि, पूँजी, श्रम, प्रौद्योगिकी।

वस्तुनिष्ठ : ठोस पदार्थ, जैसे, भूमि, आय आदि।

अनेकवादी या बहुआयामी : उद्देश्यों की विविधता।

एकआयामी : एक कारक से निर्धारित।

अधिरचना : आधार से निकलने वाले ढाँचे।

अतिरिक्त मूल्य : (बूर्जुआ के मुनाफे समेत) उत्पादन की समूची लागत के अलावा मजदूर द्वारा उत्पादित सामान का मूल्य।

3.8 उपयोगी पुस्तकें

बेंडिक्स, आर. और एस.एम. लिपसेट (सं.). 1969. **क्लास, स्टेटस एंड पावर : सोशल स्ट्राटीफिकेशन इन कंपेरेटिव पर्सपेक्टिव**. लंदन।

बेते, आंद्रे (सं.). 1969. **सोशल इनिक्वलिटी**. हार्मड्सवर्थ. पेंग्विन।

..... 1972. **इनिक्वलिटी एंड सोशल चेंज**. दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

हेलर, सी.एस. 1969. **स्ट्रक्चर्ड सोशल इनिक्वलिटी : ए रीडर इन सोशल स्ट्राटीफिकेशन**. न्यूयार्क : मैकमिलन।

शर्मा, के.एल. 1980. **एसेज ऑन सोशल स्ट्राटीफिकेशन**. दिल्ली : रावत पब्लिकेशन।

सिंह, वाई. 1980. **सोशल स्ट्राटीफिकेशन एंड चेंज इन इंडिया**. नई दिल्ली : मनोहर।

3.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) स
2) स
3) ब

बोध प्रश्न 2

1) कार्ल मार्क्स
2) मैक्स वेबर
3) नहीं

बोध प्रश्न 3

1) रेमंड आरन
2) नहीं
3) नहीं

बोध प्रश्न 4

1) लुई दुमो
2) डैनियल थार्नर
3) ए.आर. देसाई

इकाई 4 वर्ग तथा शक्ति की संकल्पनाएँ

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 वर्ग और शक्ति की अवधारणाएं
  4.2.1 वर्ग का अर्थ
  4.2.2 शक्ति का अर्थ
4.3 'वर्ग' और 'शक्ति' पर पुरातनपंथी विचार : आर्थिक नियतिवादी बनाम राजनीतिक कुलीनवाद
  4.3.1 कार्ल मार्क्स : वर्ग और समाज
  4.3.2 शक्ति और कुलीन वर्ग
    4.3.2.1 विलफ्रेदो पैरेटो : कुलीनों का संचरण (परिश्रमण)
    4.3.2.2 गेतानो मोस्का : राजनीतिक वर्ग
    4.3.2.3 मैक्स वेबर : शक्ति और नौकरतंत्र (नौकरशाही)
    4.3.2.4 रॉबर्ट मिचेल्स : कुलीनतंत्र का लौह नियम
4.4 समकालीन समाजों में "वर्ग" और "शक्ति"
  4.4.1 विकसित समाज
    4.4.1.1 पूँजीवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था : अमेरिका
    4.4.1.2 समाजवादी अधिनायकवादी गुट : सोवियत संघ
  4.4.2 विकासशील समाज : भारत की मिसाल
4.5 सारांश
4.6 शब्दावली
4.7 उपयोगी पुस्तकें
4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

4.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको इस योग्य होना चाहिए कि आप:

- 'वर्ग' और 'शक्ति' (या सत्ता) की अवधारणाओं के बीच अंतर कर सकें,
- कार्ल मार्क्स ने आर्थिक कारक पर और उसके मैक्स वेबर, वी. पैरेटो, मोस्का और मिचेल्स जैसे आलोचकों ने "राजनीतिक कुलीनवाद" पर जो जोर दिया है उसे समझ सकें,
- अमेरिका, सोवियत संघ और विशेष तौर पर भारत जैसे विविध समकालीन समाजों में सामाजिक स्तरीकरण का वर्णन करने की दिशा में इन अवधारणाओं की प्रासंगिकता को बता सकें।

4.1 प्रस्तावना

यह इकाई 'वर्ग' और 'शक्ति' की अवधारणाओं के बारे में है। पिछली इकाई में, 'वर्ग' की अवधारणा की व्याख्या 'प्रस्थिति' को सापेक्ष रख कर की गयी थी। यहाँ, हम 'वर्ग' की व्याख्या 'शक्ति' के सापेक्ष में करेंगे। हमने इस इकाई को चार अनुभागों में बाँटा है।

पहले अनुभाग में हम सामान्यतः 'वर्ग' और 'शक्ति' की व्याख्या करेंगे।

दूसरे अनुभाग में हम विख्यात विद्वानों द्वारा महत्व देकर बताते हुए सैद्धांतिक व्याख्याओं पर चर्चा करेंगे। उदाहरण के तौर पर मार्क्स सामाजिक निर्माण के निर्धारण में वर्ग (आर्थिक कारक) की भूमिका को बताता है, जबकि कुछ व्यक्तियों के हाथों में शक्ति या 'राजनीतिक कुलीनवाद' की भूमिका को सभी समाजों में निर्णायक बल माना जाता है।

तीसरे अनुभाग में इन अवधारणाओं की उपयोगिता की चर्चा विभिन्न प्रकार के समाजों के परिप्रेक्ष्य में की गयी है। अंत में शक्ति को सामाजिक स्तरीकरण के एक पृथक आयाम के रूप में देखा गया है। शक्ति का महत्व दुनियाँ के तमाम आर्थिक दृष्टिकोण से भिन्न समाजों में देखा जा सकता है।

4.2 वर्ग और शक्ति की अवधारणाएँ

पिछली इकाई में, यह बताया गया था कि 'प्रस्थिति' और 'वर्ग' विश्लेषण की दृष्टि से सामाजिक स्तरीकरण के अलग-अलग रूप हैं, यद्यपि वास्तविक जीवन में वे एक दूसरे से घनिष्ठ रूप से संबंधित है। 'वर्ग' और 'शक्ति' का भी आपस में घनिष्ठ संबंध है। लेकिन 'प्रस्थिति' की तरह 'शक्ति' भी सामाजिक अंतर का एक स्पष्ट रूप है। 'वर्ग' और 'शक्ति' के बीच के अंतर को स्पष्ट करने के लिए, यह आवश्यक है कि अलग-अलग श्रेणियों के रूप में उनकी अलग-अलग चर्चा की जाए।

4.2.1 वर्ग का अर्थ

जैसा कि पिछली इकाई में आपको बतलाया गया था, वर्ग सामाजिक स्तरीकरण का एक पृथक रूप है। 'वर्ग' मूल रूप से ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जिनके आर्थिक और व्यवसायगत हित समान होते हैं। इस तरह से वर्गों को आय, व्यवसाय, संपत्ति और भूमि में अंतरों के आधार पर ठोस वस्तुओं के रूप में पहचाना जा सकता है। भारत में ग्रामीण वर्ग के ढाँचे में मालिक (जमींदार), किसान और मजदूर (खेतिहर) आते हैं। उद्योगपति, व्यावसायिक लोग, सफेदपोश कर्मचारी एवं वकील शहरी औद्योगिक वर्ग के ढाँचे में आते हैं।

'वर्ग' की अवधारणा मुख्य तौर पर कार्ल मार्क्स के नाम के साथ जुड़ी हुई है। वैसे, दूसरे विद्वानों ने भी इस पर जोर दिया है। वर्ग से कार्ल मार्क्स (मार्क्स और एंगेल्स, 1963) का आशय ऐसे व्यक्तियों के समूह से है जो उत्पादन की प्रक्रिया में एक सा काम करते हैं। आधुनिक औद्योगिक समाज में पूँजीपति समरूप वर्ग में आते हैं क्योंकि वे उत्पादन के साधनों के मालिक होते हैं। मजदूर मजदूरी या श्रम पर निर्भर करते हैं और उत्पादन संबंधी फैसलों में उनकी कोई भूमिका नहीं होती इसलिए वे सर्वहारा या 'निर्धन' वर्ग में आते हैं।

4.2.2 शक्ति का अर्थ

वेबर के अनुसार, शक्ति की परिभाषा किसी व्यक्ति या व्यक्ति समूह की दूसरों के विरोध के बावजूद अपनी इच्छा को पूरा कर लेने की क्षमता के रूप में की जा सकती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए अ और ब दो व्यक्ति हैं। अगर अ चाहता है कि ब उसकी आज्ञा का पालन करे और ब इच्छा न होते हुए भी उसका इसलिए पालन करता है क्योंकि अ उस पर अपना आदेश मानने के लिए हुक्म चला सकता है तो यह ब के ऊपर अ की शक्ति चलने का मामला है। इस तरह, शक्ति कभी-कभी एक किस्म का पाशविक बल भी हो सकता है। फिर शक्ति को 'वैधता', 'अधिकार' और 'दबाव' जैसी अन्य अवधारणाओं से अंतर करके देखना चाहिए। जब व्यक्तियों के एक निकाय या समूह को समाज की अनुमति या समर्थन मिल जाता है तो यह वैध हो जाता है। इसके अलावा, अगर यह वैध शक्ति समाज के व्यापक हित में किसी समूह को दे दी जाती है तो यह 'वैध अधिकार' हो जाता है। राज्य ने जिन वैधानिक प्रावधानों को लागू किया है उनके तहत बनी सभी संस्थाएँ व्यक्तियों पर नियंत्रण करने को वैध होंगी। फिर भी अधिकार और दबाव में कुछ अंतर है। अधिकार दबावपूर्ण भी हो सकता है और उदार भी। यह राज्य शक्ति की प्रकृति और इसके संस्थागत समूह की विवेचना पर निर्भर करता है।

बोध प्रश्न 1

1) निम्न में से जिनका संबंध शक्ति से है, उस पर निशान लगाइए:

   क) धन कमाकर अपनी स्थिति बढ़ाने वाला व्यक्ति।
   ख) एक व्यक्ति की दूसरों के द्वारा उनकी अनिच्छा के बावजूद मानी गयी आज्ञा।
   ग) अपना धर्म बदलने वाला व्यक्ति।

2) निम्न में से कौन वैध अधिकार का सबसे उपयुक्त उदाहरण है?
   क) भारतीय संसद
   ख) पुरोहित
   ग) बाजार

3) वर्ग की अवधारणा का घनिष्ठ संबंध निम्न में से किसकी कृति से है?
   क) मैक्स वेबर
   ख) विलफ्रेदो पैरेटो
   ग) कार्ल मार्क्स

4.3 'वर्ग' और 'शक्ति' पर पुरातनपंथी विचार : आर्थिक नियतिवाद बनाम राजनीतिक कुलीनवाद

इस अनुभाग में आपको यह जानकारी मिलेगी कि सामाजिक वर्ग की अवधारणा के विरोध में 'शक्ति' की अवधारणा मूल रूप में कैसे बनी। सामाजिक वर्ग की धारणा मार्क्स के नाम से जुड़ी हुई है। मार्क्स की दृष्टि में वर्ग सभी समाजों में सामाजिक स्तरीकरण का आधार है। बोटोमोर (1985) ने इस बात पर ठीक ही जोर दिया है कि 'राजनीतिक कुलीन' की अवधारणा लोकतंत्र की विरोधी नहीं बल्कि मार्क्स द्वारा प्रतिपादिक समाजवाद की विरोधी है।

4.3.1 कार्ल मार्क्स : वर्ग और समाज

मार्क्स के सिद्धांत को संक्षेप में इस तरह बताया जा सकता है:

1) सबसे आदिम समाज को छोड़कर, हरेक समाज में मुख्यत: दो वर्ग होते है:
   क) एक शासक वर्ग, और
   ख) एक या एक से अधिक शासित वर्ग।
2) शासक वर्ग का प्रभुत्व होने का कारण समाज में उत्पादन के साधनों (संपत्ति) पर उसका कब्जा होता है।
3) आर्थिक क्षेत्र में शासक वर्ग का प्रभुत्व होने के परिणामस्वरूप उसका प्रभुत्व राजनीतिक क्षेत्र समेत अन्य क्षेत्रों में भी हो जाता है।
4) दोनों प्रतिद्वंद्वी वर्गों, अर्थात् बुर्जुआ और सर्वहारा, में लगातार संघर्ष होता है। इस संघर्ष और उससे होने वाले बदलावों को उत्पादन की शक्तियों (प्रौद्योगिकी) से दिशा-निर्देश मिलता है।
5) आधुनिक पूँजीवादी (औद्योगिक) समाज में वर्ग-संघर्ष बहुत स्पष्ट हैं।

पूँजीवादी समाज के अंदर होने वाले संघर्ष का अंत मजदूर वर्ग की विजय के साथ होगा। इस विजय के बाद निजी संपत्ति का अंत हो जाएगा और एक वर्गहीन समाज का उदय होगा। इस तरह की हालत में कोई प्रभुता या अधीनता नहीं होगी और इसलिए कोई असमानता भी नहीं होगी।

4.3.2 शक्ति और कुलीन वर्ग

पैरेटो और मोस्का द्वारा विकसित (प्रतिपादित) कुलीनवादी सिद्धांत मार्क्स की वर्गहीन समतावादी समाज की धारणा को अस्वीकार करता है। यह सिद्धांत मार्क्सवादी सिद्धांत को केवल कोरी आदर्शवादी विचारधारा मानता है और इस बात पर जोर देता है कि समतावादी समाज वास्तविकता नहीं बल्कि भ्रांति है। कुलीनवादी सिद्धांत के अनुसार सभी समाज दो समूहों में बंटे हैं: 1) अल्पसंख्यक शासक, और 2) जनसाधारण। एक शासक कुलीन वर्ग जाता है तो उसकी जगह दूसरा कुलीन वर्ग आ जाता है और इस तरह से समाज का ढाँचा साबुत और स्थिर बना रहता है। समाज के ढाँचे से चाहे वह पूँजीवादी हो या साम्यवादी, कुलीन वर्ग के शासन को कोई डर नहीं होता। अपने गुणों के अलावा, कुलीन वर्ग की शक्ति या सत्ता का श्रेय संगठन को जाता है। असंगठित या विभाजित जनसाधारण की तुलना में उनका अल्पसंख्यक वर्ग संगठित और सुसंगत होता है।

4.3.2.1 विलफ्रेदो पैरेटो : कुलीनों का संचरण (परिभ्रमण)

पैरेटो (1935) की दृष्टि में हरेक समाज 'जनसाधारण' और 'कुलीन' दो वर्गों में बंटा होता है। अल्पसंख्यक होते हुए भी कुलीन 'शासक कुलीनों' और 'गैर शासक कुलीनों' में बंटे होते हैं। शासक कुलीनों में वे लोग आते हैं जो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से सरकारों पर नियंत्रण रखते हैं। 'गैर शासक कुलीन' या तो सत्ता से बाहर होते हैं या फिर समाज पर शासन करने का मौका पाने की प्रतीक्षा कर रहे होते हैं। पैरेटो कुलीनों के मनोवैज्ञानिक गुणों में बदलाव के आधार पर 'कुलीनों के संचरण' को समझाता है। इस तरह का बदलाव निचले स्तर (जन-साधारण) में बदलाव पर निर्भर करता है। इस तरह पैरेटो की कुलीनों के संचरण की अवधारणा का आशय 1) कुलीनों और गैर कुलीनों के बीच व्यक्तियों के संचरण से, और 2) कुलीनों के एक समूह की जगह पर एक नये कुलीन समूह के आ जाने से है। पैरेटो सत्ता के लिए होड़ करने वाले जनसाधारण और कुलीनों के मनोवैज्ञानिक चरित्र में बदलावों की व्याख्या करने के लिए 'अवशेष' और 'व्युत्पत्ति' की अवधारणाओं की मदद लेता है। संचरण की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए पैरेटो मुख्य तौर पर दो प्रकार के अवशेषों पर बल देता है। उसका तर्क है कि शासक कुलीनों का शासन दो प्रकार का हो सकता है। या तो इसके लिए चालाकी का सहारा लिया जाता है या बल (कुल योग के बने रहने की स्थिति के वर्चस्व) का। पैरेटो के द्वारा प्रतिपादित दो प्रकार के कुलीन-मिश्रण के अवशेषों और कुल योग के बने रहने के प्रतीक—जिन्हें 'सटोरिया' और वार्षिकी भोगी (जिन्हें भूमि, बांड आदि से निश्चित आय मिलती है) भी कहते हैं। यह मैकियावेली द्वारा प्रतिपादित 'लोमड़ियों' और 'शेरों' की अवधारणाओं से बहुत मिलते हैं।

पैरेटो के अनुसार अभिजात्य लोगों (शासक कुलीनों) की संख्या में ही कमी नहीं आती, उनकी गुणवत्ता में भी कमी आती है। कुछ अरसे बाद, शासक कुलीन अपनी शक्ति खो बैठते हैं। उनके उन अवशेषों के अनुपात में कमी आ जाती है जिन्होंने उन्हें सत्ता हथियाने और उस पर अपनी पकड़ बनाये रखने में मदद दी थी। इसका नतीजा यह होता है कि सत्ता पर उनकी पकड़ कमजोर पड़ जाती है और उनकी जगह नये कुलीन ले लेते हैं। नये कुलीन इसलिए सत्ता में आते हैं क्योंकि उनमें सर्वोच्चता के गुणों के तत्व बढ़ जाते हैं। इसलिए पैरेटो इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि सभी समाजों का इतिहास वर्ग-संघर्ष का इतिहास नहीं होता बल्कि अभिजात्यों का कब्रिस्तान होता है।

4.3.2.2 गेतानो मोस्का : राजनीतिक वर्ग

मोस्का (1939) कुलीनों के संचरण के विश्लेषण के लिए जो ढाँचा देता है वह पैरेटो के ढाँचे के बहुत करीब है। पैरेटो की तरह मोस्का भी मानता है कि हरेक समाज में एक अल्पसंख्यक वर्ग होता है जो जनसाधारण पर शासन करता है। वह पैरेटो की तरह इस विचार को भी मानता है कि 'शासक वर्ग' (जिन्हें वह खुद 'राजनीतिक वर्ग' कहना पसंद करता है) का स्थान नयी शक्तियाँ ले लेती हैं (कुलीनों का संचरण) फिर भी वह कई मुद्दों पर पैरेटो से अलग है। पैरेटो हरेक समाज में शासकों और शासितों के बीच अलगाव पर बहुत अधिक जोर देता है। वह इस विचार को भी नहीं मानता कि लोकतांत्रिक राज्यतंत्र किसी और प्रकार के शासन से भिन्न होता है।

पैरेटो का मानना है कि लोकतंत्र में जनता पर कुलीनों का शासन होता है। दूसरी ओर, मोस्का का यह विचार है कि अल्पसंख्यक शासक और बहुसंख्यकों के बीच एक अंतःक्रिया होती है। जनसाधारण पर अल्पसंख्यक शासकों का सरल प्रभुत्व नहीं होता। पैरेटो से भिन्नता रखते हुए वह आधुनिक लोकतंत्र और दूसरे प्रकार के राज्यतंत्रों के अंतर को भी मानता है। अंत में, पैरेटो की कुलीनों के संचरण की अवधारणा का आधार मनोवैज्ञानिक व्याख्या है, जबकि मोस्का समाजशास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दोनों कारकों पर जोर देता है। वह इस बात पर जोर देता है कि आर्थिक या सांस्कृतिक बदलाव के परिणामस्वरूप समाज में नये सामाजिक समूह बन सकते हैं। इस सिलसिले में, मोस्का मार्क्स के करीब आता है। 'कुलीन' की जगह 'राजनीतिक वर्ग' की अवधारणा का इस्तेमाल करने में भी मोस्का पर मार्क्स का प्रभाव दिखायी देता है।

4.3.2.3 मैक्स वेबर : शक्ति और नौकरतंत्र (नौकरशाही)

पैरेटो और मोस्का दोनों ही व्यापक स्तर पर कुलीन वर्ग के निर्माण की चर्चा करते हैं। परन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मैक्स वेबर और मिचेल्स ने संगठन के (व्यापक) स्तर पर एक अल्पसंख्यक शासन के परिणाम-संकेतों को दर्शाया है। वेबर की भिन्नता वहाँ

पर देखने में आती है जहाँ वह विश्लेषण की दृष्टि से सामाजिक स्तरीकरण के एक ऐसे आयाम के रूप में शक्ति पर जोर देता है जो 'पद' और 'वर्ग' दोनों से भिन्न है। आपने पिछली इकाई में देखा है कि कैसे वेबर वर्ग की अवधारणा के सिलसिले में मार्क्स से भिन्न है। वेबर बताता है कि जहाँ बाजार आर्थिक गतिविधि का केन्द्र होता है वहीं पार्टी (या संसद) शक्ति या सत्ता का केन्द्र होता है।

वेबर यह भी मानता है कि मार्क्स का यह विचार यथार्थवादी नहीं है कि निजी संपत्ति को समाप्त कर देने से एक समतावादी समाज का उदय होगा। उसका तर्क है कि सभी आधुनिक औद्योगिक समाजों में, चाहे वे पूँजीवादी हों या समाजवादी, सामाजिक असमानताएँ मिलती हैं, हाँ, उनका रूप भिन्न हो सकता है। वह बौद्धिक-वैधानिक अधिकार के साधन के रूप में इसकी आवश्यकता को महत्व देता है। बहरहाल, वेबर (गर्थ और मिल्स, 1946) नौकरतंत्र के दुष्क्रियात्मक परिणामों को लेकर बहुत चिंतित हैं जिसमें शीर्ष पर के कुछ व्यक्ति तमाम समाज पर शासन करते हैं। वह बढ़ते हुए नौकरतंत्रीकरण के अंतिम प्रभावों को भी लेकर चिंतित हैं जिससे लोकतंत्र और स्वतंत्रता के अवरुद्ध होने की आशंका है। यह शक्ति को सबसे पूर्ण और असरकारी तरीके से संस्था का रूप देने का प्रतीक है। वेबर के अनुसार, एक संस्थात्मक रूप के तौर पर नौकरतंत्रीकरण सभी आधुनिक समाजों में निहित है। वेबर समाजवादी समाज की मार्क्सवादी अवधारणा को नौकरशाही अधिकार के सम्पूर्ण समाज में विस्तार के रूप में देखता है। इसलिए उसका यह निष्कर्ष है कि समाजवाद का परिणाम भी 'नौकरशाहों की तानाशाही' होगी, 'सर्वहारा' की नहीं।

4.3.2.4 रॉबर्ट मिचेल्स : कुलीनतंत्र का लौहनियम

एक वास्तविक लोकतांत्रिक संगठन वाले समतावादी समाज की मार्क्स की परिकल्पना की पड़ताल इटली के समाजशास्त्री रॉबर्ट मिचेल्स (1949) ने भी की है। उसने 1911 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'राजनीतिक दल' में तथाकथित लोकतांत्रिक मूल्यों पर सवाल उठाया है। इस पुस्तक में यूरोपीय समाजवादी दलों और श्रमिक संघों का अध्ययन जर्मन समाजवादी दल के विशेष हवाले के साथ प्रस्तुत किया गया है। समाजवादी दलों और संगठनों का लक्ष्य पूँजीवादी राज्य और समाज को उखाड़ फेंकना था। सर्वहारा के हितों का सीधा प्रतिनिधित्व करके उन्होंने 'लोकतांत्रिक' या जनवादी होने का भी दावा किया था। लेकिन मिचेल्स के अध्ययन के अनुसार इन आदर्शों और वास्तविक हालात में कोई समानता नहीं थी।

मिचेल्स के अनुसार, संगठन के बिना लोकतंत्र की कल्पना ही नहीं की जा सकती लेकिन संगठन लोकतंत्र की मृत्यु का सूचक भी होता है। महत्वपूर्ण राजनैतिक निर्णय में जनता का शामिल होना और उनकी सीधी हिस्सेदारी संभव नहीं होती। प्रत्यक्ष लोकतंत्र का स्थान प्रतिनिधि व्यवस्था ले सकती है। लेकिन मिचेल्स की राय में, प्रतिनिधि व्यवस्था में नौकरतंत्र का जन्म होता है जो अपने आप में अलोकतांत्रिक होता है। एक बार नौकरतंत्र के शीर्ष पर नेतृत्व ने सबसे ऊपरी स्थान लिया नहीं कि इसकी सबसे पहली चिंता होती है अपनी शक्ति को बनाये रखना। नेता लोग समाज के हित को ताक में रखकर भी अपनी स्थिति और विशेषाधिकारों को बनाये रखना चाहते हैं। ये अपने जोड़तोड़ के कौशल से शक्ति पर अपनी पकड़ बनाये रखते हैं। संगठन का संरक्षण करना लक्ष्य प्राप्ति का साधन न रहकर स्वयं लक्ष्य बन जाता है। मिचेल्स के अनुसार यह प्रवृत्ति जर्मन समाजवादी दल के मामले में स्पष्ट होकर सामने आयी। पूँजीवादी राज्य को उखाड़ फेंकने की इसकी प्रतिबद्धता को धीरे-धीरे नजरअंदाज कर दिया गया। इसके नेता विद्यमान शासक कुलीनों में शामिल हो गये और राजनीतिक शक्ति के ढाँचे का एक अंग बन गये।

संक्षेप में, मिचेल्स यह संदेश देता है कि संगठन के स्तर पर लोकतंत्र की असफलता का अर्थ होता है कि इसके समाज के स्तर पर सफल होने की आशा नहीं की जा सकती। समाज पर कुलीन वर्ग का शासन होता है जिसमें विभिन्न संगठनों और दलों के नेता होते हैं। शासक कुलीनों की चिंता का सबसे प्रमुख विषय होता है उसकी अपनी शक्ति को बनाये रखना। इसी को मिचेल्स 'कुलीनतंत्र का लौह नियम' कहता है, जो पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों समाजों पर लागू होता है। मिचेल्स इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि संगठन ही चुनने वालों पर चुने हुओं के, जनादेश देने वालों पर जनादेश पाने वालों के, प्रतिनिधि बनाने वालों पर प्रतिनिधियों के प्रभुत्व को जन्म देता है। जो संगठन की बात करता है, वह कुलीनतंत्र की बात करता है।

बोध प्रश्न 2

1) 'शासक कुलीन' की अवधारणा किसने दी है?
   क) वेबर
   ख) पैरेटो
   ग) मोस्का
   घ) मार्क्स

2) निम्न में से किसने 'शासक वर्ग' शब्द का इस्तेमाल किया है?
   क) पैरेटो
   ख) मोस्का
   ग) मार्क्स

3) निम्न में से कौन सा वक्तव्य सही है?
   क) पैरेटो ने एक समाजशास्त्रीय यथार्थ के रूप में 'कुलीन के संचरण' की व्याख्या की है।
   ख) मोस्का ने धार्मिक आधार पर 'कुलीन के संचरण' की व्याख्या की है।
   ग) जहाँ पैरेटो मनोवैज्ञानिक आधार पर 'कुलीन के संचरण' का विश्लेषण करता है, वहीं मोस्का मनोवैज्ञानिक और समाजशास्त्रीय दोनों कारकों को महत्व देता है।

4) 'कुलीनतंत्र का लौह नियम' किसने प्रतिपादित किया है?
   क) पैरेटो
   ख) मोस्का
   ग) मिचेल्स
   घ) मार्क्स

4.4 समकालीन समाजों में 'वर्ग' और 'शक्ति'

इस अनुभाग में हम विभिन्न आर्थिक ढाँचों वाले विभिन्न समाजों में शक्ति के ढाँचे (अर्थात् शासक कुलीन) की प्रकृति पर संक्षेप में चर्चा करेंगे, इसके तहत हम दुनिया के विकासशील और विकसित दोनों समाजों की व्याख्या करेंगे। विकसित समाजों में वे देश आते हैं जिन्होंने विज्ञान, प्रौद्योगिकी और उद्योग के क्षेत्रों में उल्लेखनीय विकास किया है। लेकिन वे एक से नहीं हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका पूँजीवादी है और इसका राज्यतंत्र उदारवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था वाला राज्यतंत्र है। सोवियत संघ और दूसरे पूर्वी यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्था मुख्य तौर पर समाजवादी है। इसके अलावा, एक दलीय व्यवस्था होने के कारण इन देशों की राजनीतिक व्यवस्था को अक्सर अधिनायकवादी बताया जाता है। वैसे, सोवियत संघ और चीन समेत इन देशों में जो हाल में बदलाव आये हैं, उनसे इन देशों की अर्थव्यवस्था और राज्यतंत्र में उदारवाद की ओर झुकाव का पता चलता है। विकासशील समाज पर चर्चा के लिए हम भारत का उदाहरण लेंगे। भारत एक ऐसा विकासशील समाज है जिसमें मुख्य तौर पर मिश्रित अर्थव्यवस्था है, और संसदीय प्रणाली वाली सरकार है।

4.4.1 विकसित समाज

4.4.1.1 पूँजीवादी लोकतांत्रिक व्यवस्था : अमेरिका

ऐसे अनेक अध्ययन हुए हैं जिनके जरिये अमेरिकी समाज में शक्ति के वितरण की प्रकृति को समझाने की कोशिश की गयी है। इस दिशा में सी. राइट मिल्स (1956) की कृति महत्वपूर्ण है। मिल्स का यह तर्क है कि अमेरिकी समाज पर उस 'शक्ति कुलीन' का प्रभुत्व है जिसमें सेना, व्यापार और उद्योग और राजनीति से जुड़े लोग आते हैं। वह अमेरिका में कुलीन शासन की व्याख्या 'मनोवैज्ञानिक' अर्थों में नहीं, 'संस्थात्मक' अर्थों में करता है। उसके अनुसार, संस्थात्मक ढाँचा ऐसा होता है कि जो लोग संस्थात्मक श्रेणीबद्धता में सबसे ऊपर स्थित होते हैं उनका ही व्यापक तौर पर शक्ति पर एकाधिकार

होता है। इनमें कुछ संस्थाएँ 'केन्द्रीय स्थिति' में होती हैं। अमेरिका में, मिल्स तीन संस्थाओं का होना बताता है। ये हैं—प्रमुख निगम, सेना और संघीय सरकार।

शक्तिशाली कुलीनों की एकता के मजबूत होने का कारण होता है उनकी सामाजिक और शैक्षिक पृष्ठभूमि का एक सा होना, और तीनों कुलीन वर्गों के व्यक्तियों की एक से दूसरे वर्ग में पहुँच होना। परिणामस्वरूप उनके मूल्य और विचार एक से होते हैं, जिससे उन्हें आपसी भरोसे और सहयोग के लिए आधार मिल जाता है। मिल्स की राय में, अमेरिका में शक्ति कुलीन के पास अभूतपूर्व शक्ति और जिम्मेदारी होती है। इस तथ्य के बावजूद कि शक्ति-कुलीन के निर्णय समाज के सभी सदस्यों को प्रभावित करते हैं, वे प्रत्यक्ष या परोक्ष किसी भी रूप में जनता के प्रति जवाबदेही को नहीं समझते । मिल्स के अनुसार वैकल्पिक राजनीति और कार्यक्रम देने के बजाय शक्ति-कुलीन अपने बारे में जनसाधारण की राय बनाने के प्रति कहीं अधिक चिंतित होते हैं। 'डेमोक्रेट' और 'रिपब्लिकन' दोनों के मामले में यह बात सही उतरती है।

जो भी हो, मिल्स समाज की कोई आम अवधारणा नहीं देता है। वह केवल समकालीन अमेरिकी समाज का ही अध्ययन करता है, दूसरे पुरातपंथी कुलीन सिद्धांतों से हटकर, वह अमेरिका के कुलीन राज्य की एक संस्थात्मक व्याख्या करता है। इसके अलावा, पैरेटो और मोस्का की तरह, मिल्स भी यह मानता है कि आधुनिक लोकतांत्रिक समाज पर अंततः कुलीन वर्ग का शासन होता है। लेकिन मिल्स कुलीन शासन की निंदा करता है, इसे उचित नहीं ठहराता। विशेष तौर पर पैरेटो से भिन्नता रखते हुए, वह अमेरीकी लोकतंत्र में कुलीन शासन की कड़ी आलोचना करता है। अंत में, वह अमेरिका में 'कुलीन शासन' को 'शक्ति कुलीन' का शासन कहना अधिक पसंद करता है। वह 'शासक कुलीन' (पैरेटो) और 'शासक वर्ग' (मोस्का) दोनों को अस्वीकार करता है। ऐसा वह एक ओर पैरेटो और मोस्का के प्रभाव में और दूसरी ओर मार्क्स के प्रभाव में आकर करता है।

4.4.1.2 समाजवादी अधिनायकवादी गुट : सोवियत संघ

सोवियत संघ में कुलीन वर्ग की संरचना का एक अध्ययन मिलोवन जिलास (1957) ने प्रस्तुत किया है। जिलास की कृति को एक, एक दलीय समाज की सबसे स्पष्ट और विस्तृत समीक्षा माना जाता है। यह पुस्तक इसलिए महत्वपूर्ण है कि लेखक युगोस्लाविया की कम्युनिस्ट पार्टी का एक प्रमुख सदस्य और टीटो सरकार में उपराष्ट्रपति भी रह चुका है।

जिलास के अनुसार उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व का अंत हो जाने के बाद भी, सोवियत समाज में एक नया वर्ग उठ खड़ा हुआ है। देश पर शासन करने वाले इस 'नये वर्ग' की सभी विशेषताएँ उसकी अपनी हैं। यह वर्ग पहले के शासक वर्गों से इस मायने में भिन्न है कि इसकी शक्ति अपेक्षाकृत अधिक पूर्ण और अदम्य है। जिलास की राय में इस 'नये वर्ग' में वे लोग आते हैं जिनके पास प्रशासन (या सरकार) पर एकाधिकार होने के कारण विशेष विशेषाधिकार और आर्थिक प्राथमिकताओं के मालिक हैं। फिर भी, सही मायनों में यह प्रशासकों या नौकरशाहों का समूह नहीं है। नौकरशाहों का वह समूह जो प्रशासनिक अधिकारी नहीं हैं, 'नये वर्ग' में केन्द्रीय स्थान रखते हैं। कोई दल या राजनीतिक नौकरतंत्र और दूसरे अधिकारी मुख्य तौर पर इसी वर्ग के नियंत्रण में रहने वाले तंत्र हैं। यह नया वर्ग पेशेवर क्रांतिकारियों के एक छोटे समूह से धीरे-धीरे निकलकर आया है। ये कुलीन 'मालिक और शोषकों के एक वर्ग' में बदल जाते हैं। जिलास का तर्क है कि यह नया वर्ग उत्पादन के साधनों का असली मालिक है।

जर्मन समाजशास्त्री राल्फ डैहरेन्डौर्फ (1956) भी ऐसे ही विचार रखता है। वह 'आधुनिक-औद्योगिक' समाज को समझने के लिए मार्क्सवादी दृष्टिकोण की व्याख्या करता है। अपनी प्रसिद्ध कृति में, वह मार्क्सवादी सिद्धांत की आलोचना प्रस्तुत करता है। उसके अनुसार, मार्क्सवादी सिद्धांत समाज के पूँजीवादी विकास के चरण पर पहुँचने तक तो समाज को समझने के लिए प्रासंगिक है, परन्तु, 'पूँजीवादोत्तर' समाज को वर्ग या आर्थिक नियतिवाद के अर्थों में नहीं समझा जा सकता। डैहरेन्डौर्फ के अनुसार, प्रभुता और अधीनता के अर्थ में—वर्ग संबंध के अर्थ में नहीं—'अधिकार' आधुनिक औद्योगिक समाज में वर्ग और वर्ग-संघर्ष को समझने के लिए सूत्र प्रस्तुत करता है। औद्योगिक–उत्तर समाज में वर्गों का निर्माण शक्ति आधारित असमानता से होता है, आर्थिक अंतर के अर्थों में नहीं।

4.4.2 विकासशील समाज : भारत की मिसाल

पारंपरिक भारतीय समाज में 'वर्ग' और 'शक्ति' में अधिक अलगाव नहीं हो पाया। फिर भी, आजादी के बाद इस हालत में कुछ हद तक बदलाव आया है। इस सिलसिले में जिन दो कारकों का अहम योगदान रहा है, वे हैं-लोकतंत्र की संसदीय प्रणाली और ग्रामीण विकास के कार्यक्रम की संसदीय नीतियाँ। 'वर्ग' और शक्ति के रिश्ते में आये बदलावों को भारतीय कुलीन की संरचना में आये एक स्पष्ट परिवर्तन के अर्थ में देखा जा सकता है।

भारत में अंग्रेजी राज से पहले, आर्थिक और राजनीतिक दोनों क्षेत्रों में ऊँची जातियों का बोलबाला था। क्षत्रिय, ब्राह्मणों के समर्थन से समाज पर राज करते थे। मुगल कालीन भारत में, इन दोनों जातियों ने मुगल सरदारों के साथ मिलकर अपने प्रभुत्व को बनाये रखा। इस तरह, अंग्रेजी राज से पहले भारतीय कुलीन जाति और सामंती ढाँचे के सांठगांठ से निकली।

भारत में अंग्रेजी राज ने एक ओर तो पश्चिमी शिक्षा पर आधारित आधुनिक मूल्यों पर जोर दिया और दूसरी ओर पारंपरिक भारतीय समाजिक मूल्यों को बनाये रख कर दुहरी भूमिका निभायी। स्थायी बंदोबस्त (भूमि व्यवस्था) की अंग्रेजी नीति ने भी ऊँची जाति के जमींदारों की स्थिति को मजबूत बनाने में मदद दी। अंग्रेजी नीति ने वर्ग और शक्ति के बीच सांठगाठ को कमोबेश मजबूत ही किया। फिर भी, औपनिवेशिक राज द्वारा लाये गये उदारवादी मूल्यों और पश्चिमी शिक्षा ने भारतीय समाज की कुलीन संरचना को काफी बदल डाला। पारंपरिक 'शाही-सामंती' कुलीनों की जगह 'राष्ट्रवादी-उदारवादी' कुलीनों ने ली। नये कुलीन पश्चिमी शिक्षा में शिक्षित, आधुनिक और मध्यम वर्ग से आये लोग थे जिनका व्यवसाय वकालत, पत्रकारिता और अध्यापन था। गांधी और नेहरू समेत अधिकांश राष्ट्रीय नेता इन्हीं व्यवसायों से आये थे। 'राष्ट्रवादी कुलीन' एक रूप था और उसका संबंध कस्बों और शहरों से था।

वयस्कों को मतदान का अधिकार, चुनावों और शक्ति के विकेंद्रीकरण ने भी शक्ति और वर्ग के बीच अलगाव पैदा की है। इस तथ्य के बावजूद कि ऊँची जातियों का प्रभुत्व लगातार बना हुआ है, दूसरी, पिछड़ी जातियां (अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के साथ) एक जबरदस्त ताकत के रूप में उभर कर आयी हैं। विशेष तौर पर जमींदारी प्रथा के समाप्त होने और हरित क्रांति के लागू होने के बाद, कुछ अन्य पिछड़ी जातियों ने ग्रामीण क्षेत्रों में ऊँची जाति की जगह अपना प्रभुत्व कायम कर लिया है। 1967 के बाद, उनकी अहमियत को बार-बार महसूस किया गया है। 'जाति' और 'वर्ग' के बीच संगतता को झटका लगा है। इसने गाँव से केन्द्रीय स्तर तक विभिन्न स्तरों पर भारतीय कुलीन की संरचना को बदल डाला है। भारतीय कुलीन के सामाजिक और आर्थिक आधार भी व्यापक हो गये हैं। ऊँची जातियों और मध्यम वर्ग के पेशेवरों का शक्ति पर एकाधिकार कमजोर पड़ गया है। अब उनकी अधिकांश संख्या निचले सामाजिक स्तरों के व्यक्तियों से है। इसके अलावा पारंपरिक कुलीन में जो एकरूपता पायी जाती थी, वह अब नहीं रही।

बोध प्रश्न 3

1) मिल्स के अनुसार अमेरिका में शक्ति कुलीन में कौन-कौन लोग आते हैं?

   क) बुद्धिजीवी, सैनिक अधिकारी और पत्रकार।
   ख) शिल्पतंजीर (टेक्नोक्रैट), वैज्ञानिक और पुरोहित।
   ग) राजनीतिज्ञ, सैनिक अधिकारी और व्यापारी।

   'द न्यू क्लास' (नया वर्ग) नामक पुस्तक किसने लिखी है?

   क) सी. राइट मिल्स
   ख) मिलोवन जिलास
   ग) राल्फ डैहरेन्डौर्फ
   घ) मैक्स वेबर

3) डैहरेन्डौर्फ के अनुसार आधुनिक औद्योगिक समाज में वर्ग, निम्न में से, किसके अर्थ में बनते हैं?

   क) आर्थिक संबंध
   ख) धार्मिक कारक

ग) अधिकार संबंध
घ) व्यक्तिगत कारण

4) भारत में 'शक्ति' और 'वर्ग' के बीच सांठगांठ अच्छी तरह से कब टूटनी शुरू हुई?

क) उपनिवेशवाद के पहले।
ख) औपनिवेशिक राज के दौरान।
ग) आजादी के बाद।

4.5 सारांश

इस इकाई में, हमने 'वर्ग' और 'शक्ति' की अवधारणाओं पर, उनके अंतर-संबंधों के हवाले के साथ, चर्चा की। जहाँ 'वर्ग' का संबंध आर्थिक समूहों से है, शक्ति का संबंध प्रभुता और अधीनता से है। हमने शक्ति, वैधता और अधिकार के बीच अंतर भी किया है।

हमने 'वर्ग' और 'शक्ति' पर कुछ प्रसिद्ध विद्वानों के विचारों की भी चर्चा की। वर्ग के मार्क्सवादी सिद्धांत के विरोध में विकसित कुलीन सिद्धांत की व्याख्या की गयी। वेबर, पैरेटो, मोस्का, और मिचेल्स के विचारों को विशेष तौर पर महत्व देकर बताया गया।

अंत में, हमने आपको विभिन्न समाजों में 'आर्थिक' (वर्ग) अंतर होने के बावजूद उनमें 'शक्ति' के आशय को समझाया। दुनिया के विकसित (अमेरिका और सोवियत संघ) और विकासशील (भारत) देशों की विवेचना की गयी।

4.6 शब्दावली

पूँजीवादी-लोकतांत्रिक व्यवस्था : इस व्यस्था में स्वतंत्र बाजार की अर्थव्यवस्था, संपत्ति का निजी स्वामित्व और लोकतांत्रिक (संसदीय) राजनीतिक ढाँचा होता है। उदाहरण: अमेरिका।

व्युत्पत्ति : पैरेटो द्वारा प्रतिपादित इस शब्द का अर्थ होता है गैर-तार्किक या गैर-बौद्धिक कार्यों के लिये बौद्धिक व्याख्या। यह विचारधारा के समकक्ष है।

कुलीन : समाज का सबसे असरदार, प्रतिष्ठित और धनी तबका।

मिश्रित अर्थव्यवस्था : जहाँ कुछ आर्थिक क्षेत्रों पर राज्य का नियंत्रण होता है और अन्य क्षेत्रों में स्वतंत्र होड़ होती है। उदाहरण: भारत।

शाही-सामंती : राजसी, पारंपरिक, मध्ययुगीन।

कुलीन तंत्र : कुछ व्यक्तियों का शासन।

अवशेष : पैरेटो द्वारा प्रतिपादित इस शब्द का संबंध उस गुप्त भावना से है जो व्यक्ति के गैर-तार्किक या गैर-बौद्धिक कार्य को प्रेरित करती है।

समाजवादी-अधिनायकवादी : नियंत्रित अर्थव्यवस्था जिसमें संपत्ति का सामूहिक राज्य स्वामित्व और एक-दलीय व्यवस्था होती है। उदाहरण: सोवियत संघ।

4.7 उपयोगी पुस्तकें

अब्राहम, फ्रांसिस. 1982. **माडर्न सोशियोलॉजिकल थ्योरी : ऐन इंट्रोडक्शन**. दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

बोटोमोर, टी.बी. 1964. **इलीट ऐंड सोसायटी**. हार्मड्सवर्थ: पेंग्विन।

कफ इ.सी. और पेन जी.सी.एफ. **सोशियोलॉजी**. लंदन : जॉर्ज ऐलन और अनविन।

लिपसेट, एस.एम. 1973. **पॉलिटिकल मैन**. नई दिल्ली : अर्नोल्ड हाइमान।

सिंह, वाई. 1973. **मॉडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशन** . फरीदाबाद : थॉमसन प्रेस (इंडिया) लि.।

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ख) 2) क 3) ग

बोध प्रश्न 2

1) ख 2) ख 3) ग 4) ग

बोध प्रश्न 3

1) ग 2) ख 3) ग 4) ग

इकाई 5 शक्ति, प्रजाति, लिंग तथा स्तरीकरण

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य
5.1 प्रस्तावना
5.2 शक्ति और स्तरीकरण
  5.2.1 शक्ति का सैद्धांतिक दृष्टिकोण
  5.2.2 शक्तिः प्रतिफलों का निर्धारक
  5.2.3 शक्ति का संबंधात्मक स्वरूप
  5.2.4 शक्ति के संसाधन
  5.2.5 जाति, वर्ग, प्रजाति, लिंग और शक्ति की संरचना
5.3 प्रजातीय स्तरीकरण
  5.3.1 प्रजाति क्या है?
  5.3.2 प्रजातीय स्तरीकरण के दृष्टिकोण
  5.3.3 प्रजातीय स्तरीकरण का सामाजिक आधार
5.4 लैंगिक स्तरीकरण
  5.4.1 स्त्री-पुरुष के मध्य जैविक भेद की तुलना में लिंग
  5.4.2 अल्पसंख्यक समूह के रूप में महिलाएं
  5.4.3 व्यवसायगत पृथकता
  5.4.4 वर्ग विभाजन और लिंग
5.5 जाति, वर्ग, प्रजाति और लिंग : सामाजिक स्तरीकरण के आधार
5.6 सारांश
5.7 शब्दावली
5.8 उपयोगी पुस्तकें
5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

5.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपको इस योग्य होना चाहिए कि आप:

- व्यक्तियों को विभाजित और उप-विभाजित करने वाले सामाजिक स्तरीकरण के आयाम, उसकी संरचना का वर्णन कर सकें, और
- विभिन्न समाजों में शक्ति, प्रजाति और लिंग के स्पष्ट लक्षणों की व्याख्या कर सकें।

5.1 प्रस्तावना

इस इकाई में, हम सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न आयामों और संरचनाओं पर चर्चा करेंगे। इसकी शुरुआत सामाजिक स्तरीकरण के सबसे अलग अंग, अर्थात् शक्ति की परिभाषा और सामाजिक स्तरीकरण पर इसका प्रभाव के अनुशीलन से होती है। इस इकाइ में फिर, सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाओं के रूप में प्रजाति और लिंग पर ध्यान केन्द्रित किया गया है। हम सामाजिक स्तरीकरण की अन्य व्यवस्थाओं पर भी चर्चा करेंगे, जैसे जाति और वर्ग–हालाँकि इन पर सरसरी तौर पर ही चर्चा की जाएगी। इस इकाई में सामाजिक स्तरीकरण के आधारों के रूप में शक्ति, प्रजाति और लिंग पर गहराई से विचार किया जाएगा।

5.2 शक्ति और स्तरीकरण

शक्ति स्तरीकरण का एक निर्णायक आयाम है। इसका महत्व स्तरीकरण के और तमाम स्वरूपों के ऊपर है, चाहे वह वर्ग हो, जाति हो, प्रजाति हो या लिंग हो। नीचे हम इसी पर चर्चा करने जा रहे हैं।

5.2.1 शक्ति का सैद्धांतिक दृष्टिकोण

शक्ति सामाजिक स्तरीकरण का एक बहुत महत्वपूर्ण आयाम है। एक तरह से यह आर्थिक स्थिति और सामाजिक प्रतिष्ठा जैसे और तमाम दूसरे आयामों का और स्तरीकरण के जाति वर्ग, प्रजाति और लिंग जैसे स्वरूपों का आधार है। वास्तव में, शक्ति का हवाला दिये बिन सामाजिक स्तरीकरण की व्याख्या अधूरी ही रह जाएगी। मैक्स वेबर (1947:152) के अनुसार, शक्ति वह संभावना होती है कि एक सामाजिक संबंध के भीतर एक व्यक्ति या कर्त्ता प्रतिरोध के बावजूद अपनी इच्छा को पूरा कर लेने की स्थिति में होगा चाहे इस संभावना का आधार कुछ भी क्यों न हो। इस परिभाषा में निम्न बातें आ जाती हैं:

i) शक्ति का प्रयोग व्यक्ति करते हैं और इसलिए इसमें विकल्प, अभिकरण (व्यक्ति) और इरादा शामिल होते हैं,

ii) शक्ति का प्रयोग दूसरे व्यक्तियों पर होता है और इसमें प्रतिरोध और संघर्ष शामिल हो सकते हैं,

iii) शक्तिशाली और शक्तिहीनों के बीच हितों में अंतर होता है, और

iv) शक्ति नकारात्मक होती है और जिन पर शक्ति का प्रयोग होता है उन अधीनस्थ व्यक्तियों के लिए इसमें प्रतिबंध और वंचित रहना शामिल होता है।

वेबर के दृष्टिकोण से भिन्न दृष्टिकोण मार्क्स का है। इसका आधार व्यक्ति न होकर संरचनात्मक संबंध है। मार्क्सवादी दृष्टिकोण के अनुसार शक्ति व्यक्ति की इच्छा से मुक्त स्थिति में होती है। इस तरह, पॉलन्जास (1978) शक्ति की परिभाषा इस तरह करता है कि शक्ति दूसरे वर्गों के विरोध में एक वर्ग की अपने हितों को साधने की क्षमता का नाम है। इस परिभाषा के अनुसार शक्ति की विशेषतायें तीन हैं:

i) शक्ति को आर्थिक और वर्गीय संबंधों से अलग नहीं किया जा सकता,

ii) शक्ति में केवल व्यक्तियों के बीच संघर्ष ही नहीं, बल्कि वर्ग संघर्ष शामिल होते हैं, और

iii) शक्ति का विश्लेषण सामाजिक आर्थिक संबंधों की व्यवस्थाओं को समझे बिना नहीं किया जा सकता।

जैसा कि इस खंड की इकाई 1 में पहले ही बताया जा चुका है, मार्क्सवादी दृष्टिकोण का खंडन करने वाला पारसन्स का संरचनात्मक-कार्यात्मक दृष्टिकोण शक्ति को उस रूप में देखता है जिसमें संघर्ष और दबाव का शामिल होना आवश्यक नहीं है। पारसन्स शक्ति व परिभाषा समुदाय की बेहतरी को संभव बनाने की सकारात्मक सामाजिक क्षमता के रूप मे करता है, अर्थात्, शक्ति सामाजिक व्यवस्था की सार्वभौम क्षमता है और इसका प्रयोग सामूहिक लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए होता है; पारसन्स की दृष्टि में शक्ति धन की ही तरह एक सामाजिक व्यवस्था के सामान्य लक्ष्यों को प्राप्त करने की एक सामान्य क्षमता है।

5.2.2 शक्ति : प्रतिफलों का विधारक

माइकेल पैरेंन्टी (1978) बताता है कि समाजशास्त्रियों ने समाज में शक्ति की ओर काफी ध्यान दिया है क्योंकि जिन व्यक्तियों या समूहों के पास शक्ति होती है वे इसका प्रयोग अपने ही हितों को बढ़ाने के लिए करने में समर्थ होते हैं और ऐसा वे अक्सर दूसरों की कीमत पर करते हैं। शक्ति निर्णयों का स्वरूप तय करने और उन्हें लागू करने की सामर्थ्य का नाम है, इसमें उन व्यक्तियों की इच्छा हो भी सकती है और नहीं भी हो सकती है जिन पर इन निर्णयों का प्रभाव पड़ता है।

सभी मानव समूहों में ओहदा नापने का यह एक अहम तरीका है लेकिन समुदाय और समाज के स्तर पर यह विशेष तौर पर महत्वपूर्ण है, जहाँ शक्तिधारी व्यक्ति शक्तिहीन व्यक्तियों के जीवन अवसरों का निर्धारण कर सकते हैं। इस अवधारणा के अनुसार, शक्ति स्तरीकरण व्यवस्था का एक प्रतिफल भर नहीं है, बल्कि दूसरे प्रतिफलों के वितरण को निर्धारित करने का साधन है।

परंपरागत समाजों में, शक्ति, संपदा और स्थिति (हैसियत) के प्रतिफल आम तौर पर साथ-साथ विकसित हुए हैं। इस बात को 'स्वाभाविक' माना गया है कि धनी व्यक्तियों को शासन करना ही चाहिए और शासकों को धनी होना ही चाहिए और अन्य दूसरों को सेवा

करनी ही चाहिए, आज्ञा माननी ही चाहिए। भारत की जाति व्यवस्था इसकी एक मिसाल है, जिसकी चर्चा हम ई.एस.ओ.-02, खंड 5,इकाई 20 में कर चुके हैं। इन सिद्धांतों को अब विकासशील समाजों में चुनौती दी जा रही है, जहाँ एक असमान शक्ति वितरण को परंपरा और धार्मिक विश्वास का जबरदस्त समर्थन मिला है।

5.2.3 शक्ति का संबंधात्मक स्वरूप

पति-पत्नी की एक दूसरे पर घनिष्ठ निर्भरता से लेकर राष्ट्र राज्यों जैसी बृहत्तर इकाइयों की अंतरनिर्भरता तक, शक्ति सभी सामाजिक अंतरनिर्भरता के संबंधों का एक आयाम है। शक्ति हमेशा संबंधात्मक होती है: यह कहना आवश्यक होता है कि किसी व्यक्ति या समूह के पास किन्हीं दूसरे व्यक्तियों के संबंध में शक्ति है। शक्ति का प्रयोग करने के लिए यह आवश्यक होता है कि दूसरों पर कुछ नियंत्रण उनके पास हो जिससे वे उनकी जरूरत की वस्तुओं को रोकने में समर्थ हो।

यह आवश्यक होता है कि शक्ति को संतुलनों और असंतुलनों के अर्थ में सोचा जाए। इस तरह, जहाँ दो या दो से अधिक व्यक्ति या समूह एक दूसरे के लिए विशिष्ट कार्य करते हैं (श्रम विभाजन) तो हरेक की दूसरे पर कुछ शक्ति इस्तेमाल होती है, लेकिन उनके बीच शक्ति के संतुलन अपेक्षाकृत समान या असमान हो सकते हैं, अपेक्षाकृत स्थिर या निरंतर विचलित हो सकते हैं और वे लगातार शक्ति परीक्षण के जरिए बदलते और विकसित होते हैं।

5.2.4 शक्ति के संसाधन

शक्ति के प्रयोग में जिन संसाधनों का इस्तेमाल हो सकता है, उनके बारे में वेबर की परिभाषा स्पष्ट नहीं है। वास्तव में तो, दूसरे व्यक्ति जो चाहते हैं या उन्हें जिसकी जरूरत है उस पर किसी व्यक्ति या समूह को नियंत्रण सौंपने वाली कोई भी वस्तु 'शक्ति के संसाधन' के रूप में देखी जा सकती है। शक्ति के सबसे आम संसाधन हैं उत्पादन के साधनों का स्वामित्व, आय, प्रस्थिति-सम्मान, पुरोहिती, जादुई शक्तियाँ, दुर्लभ हुनर या ज्ञान और करिश्मा। शक्ति के संसाधन के रूप में कौन-सी चीज काम करती है यह समाज की किस्म पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, उत्पादन के साधनों का स्वामित्व आखेटक-संग्राहक समाज में उतना अहम नहीं होता जितना एक पूँजीवादी समाज में, जबकि धार्मिक या जादुई अनुष्ठानों का महत्व पूर्व-औद्योगिक समाजों की अपेक्षा आधुनिक औद्योगिक समाजों में कहीं कम होता है।

आर्थिक सफलता से शक्ति प्राप्त करने के अवसर बढ़ जाते हैं। उदाहरण के लिए, धनी व्यक्तियों के पास शक्ति होती है कि वे अपने पक्ष में करों, औद्योगीकरण, भूमि संबंधों आदि से संबंधित कानूनों और नीतियों को प्रभावित कर लें। लेकिन, यह आवश्यक नहीं कि आर्थिक सफलता और शक्ति एक दूसरे के अनुरूप हों। इस तर्क के कई आधार हैं। धन वह संसाधन है जिसका प्रयोग शक्ति बढ़ाने के लिए किया जा सकता है, लेकिन यह अनिवार्य है कि धन का उस इस्तेमाल के लिए एक निर्णय भी लिया जाये। उदाहरण के लिए, ऐसे धनी व्यक्ति हर समय में होते हैं जो अपने आर्थिक संसाधनों का इस्तेमाल राजनीतिक शक्ति पाने के लिए करते हैं। वे राजनीतिक उद्देश्यों के लिए अपने धन का उपयोग प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में कर सकते हैं।

धन और उत्पादन के संसाधनों का स्वामित्व ऐसे अकेले संसाधन नहीं हैं जिनका इस्तेमाल शक्ति के आधार के रूप में हो सकता है। विशेषज्ञता वाली जानकारी का इस्तेमाल भी शक्ति को बढ़ाने के लिए किया जा सकता है। उदाहरण के लिए, अनेक वकील अपने कानूनी ज्ञान का इस्तेमाल राजनीतिक क्षेत्र में अच्छी खासी शक्ति प्राप्त करने के लिए करते हैं। नानी ए. पालकीवाला, राम जेठमलानी और एल.एम. सिंघवी जैसे विख्यात वकीलों ने कानून के क्षेत्र में अपनी ऊँची स्थिति के साथ-साथ राजनीतिक शक्ति भी प्राप्त की। शक्ति प्राप्त करने के अन्य संभावित संसाधन हैं—वाकपटुता, जीवन शैली और कभी-कभी तिकड़म भी।

शक्ति प्रस्थिति से भी जड़ी है। पति को आम तौर पर पत्नी से अधिक शक्तिशाली माना जाता है। चुने हुए पदाधिकारियों के पास औरों की अपेक्षा अधिक शक्ति होती है। पेशेवरों के पास आम व्यक्तियों से अधिक और कभी-कभी तो बड़े से बड़े उद्योगपति से कहीं अधिक शक्ति होती है।

अंत में, व्यक्ति संगठन करने की सामर्थ्य जुटा कर और किसी विशेष समय पर लोगों को आकृष्ट कर सकने वाले मुद्दों को निपटा कर भी शक्ति प्राप्त कर सकता है। नेपोलियन, हिटलर, चर्चिल सभी ने इनमें से कुछ मापदंडों के आधार पर ही शक्ति प्राप्त की थी।

5.2.5 जाति, वर्ग, प्रजाति, लिंग और शक्ति की संरचना

इसलिए, शक्ति को स्तरीकरण के एक अलग आयाम के रूप में माना जाना चाहिए। क्योंकि केवल आर्थिक ही नहीं, बल्कि गैर-आर्थिक कारक भी, दूसरों पर नियंत्रण करने की सामर्थ्य को प्रभावित करते हैं। इसके अलावा, जैसा कि अमोस हॉले (1963:422) ने कहा है हरेक सामाजिक कार्य एक शक्ति समीकरण होता है और हरेक सामाजिक समूह या व्यवस्था शक्ति का एक संगठन होता है। इसलिए शक्ति स्तरीकरण का एक अहम और व्यापक आयाम होता है। समाज का स्तरीकरण करने वाले हरेक कारक में शक्ति का एक तत्व होता है। शक्ति के बिना स्तरीकरण का स्वरूप और तीखापन ही जाता रहेगा। जाति, रियासत, वर्ग, प्रजाति और लिंग सब शक्ति में ही शामिल हैं। इन सब के अपने शक्ति के ढाँचे होते हैं। प्रभुत्व की शक्ति दूसरों पर शासन करके उन्हें अल्पसंख्यक बनाने की शक्ति। शक्ति इस तरह से ही स्तरीकरण के विभिन्न रूपों में स्थित है।

जाति में, सामाजिक शक्ति का आधार जन्म, सांस्कृतिक विरासत मूल्य, परंपरा सहयोगिता, साथ-साथ खाने-पीने का संबंध रखने की स्थिति, सजातीय विवाह, विजातीय विवाह और प्रदूषण-शुद्धता होते हैं। वर्गीय ढाँचे में, शक्ति का आधार आर्थिक स्थिति, व्यवसाय, शिक्षा, संसाधनों तक पहुँच और जीवन शैली होते हैं। प्रजाति में शक्ति का आधार रंग, भेदभाव, शारीरिक अपमान, बहिष्कार आदि होते हैं। जहाँ तक लिंग का संबंध है शक्ति की अभिव्यक्ति स्त्री-पुरुषों के भिन्न अधिकारों, सामाजिक सैर-सपाटों, सामाजिक संपर्कों, सामाजीकरण, शिक्षा कानून, यौन-अपराधों और छेड़खानी, सती, दहेज, देवदासी जैसी कुप्रथाओं आदि में होती है।

आम तौर पर शक्ति दो प्रकार की होती है—व्यक्तिवादी और संगठनात्मक। जब शक्ति संबंधों का इस्तेमाल व्यक्ति करते हैं तो वे व्यक्तिवादी होते हैं और जब इनका आयोजन सामाजिक संगठन करते हैं तो वे संगठनात्मक होते हैं। शक्ति के इन दो पहलुओं को क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल (या बृहत) भी कहा जा सकता है। पति-पत्नी के व्यक्तिगत संबंध जहाँ पति अपनी पत्नी को सताता है, व्यक्तिवादी या शक्ति का सूक्ष्म रूप होंगे, जब कि अगर किसी महिला को सती होने पर मजबूर किया जाये तो यह संगठनात्मक या शक्ति का स्थूल रूप होगा।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिये स्थान का प्रयोग कीजिए।
2) इकाई के अन्त में दिये गये उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) निम्न वाक्यों में रिक्त जगहों को भरें:

i) ..... के अनुसार शक्ति को ..... और ..... संबंधों से अलग नहीं किया जा सकता।

ii) शक्ति हमेशा ..... होती है।

iii) हरेक सामाजिक ..... एक शक्ति ..... होता है और हरेक सामाजिक ..... या व्यवस्था ..... का एक ..... होता है।

iv) समाज का ..... करने वाले हरेक कारक में ..... का एक ..... होता है।

v) शक्ति के दो पहलुओं को ..... और ..... कहा जा सकता है।

5.3 प्रजातीय स्तरीकरण

प्रजाति (या नस्ल) स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था रही है, जिसमें शरीर संबंधी तर्क देकर लोगों के बीच असमानता बरकरार रखी गयी है, लेकिन, जैसा कि हम नीचे देखते हैं,

5.3.1 प्रजाति क्या है?

प्रजाति उन व्यक्तियों की एक स्पष्ट श्रेणी है जिन्हें जीववैज्ञानिक दृष्टि के अनुसार कुछ शारीरिक गुण विरासत में मिले हैं। चमड़ी के रंग, बालों के रंग और बनावट, चेहरे का नक्शा, खोपड़ी का आकार, आँखों के रंग और कद जैसे शारीरिक गुणों का इस्तेमाल प्रजातीय वर्गीकरण के लिए किया जाता है। आम तौर पर प्रजातीय वर्गीकरण में जिस व्यवस्था का इस्तेमाल होता है उसमें तीन प्रमुख प्रजातीय श्रेणियों–नीग्रोएड, मंगोलेएड और काकेसोएड–के अलावा कुछ और प्रजातीय समूह भी आते हैं।

समाजशास्त्रीय दृष्टि से प्रजाति एक सामाजिक अवधारणा है जिसके आधार पर समूह और व्यक्ति दूसरे समूहों और अपने आप में अंतर करते हैं। इस अंकितिकरण प्रक्रिया में शारीरिक हुलिया और सांस्कृतिक लक्षण मुख्य मानक हैं। प्रजाति शब्द का इस्तेमाल उद्देश्यपूर्ण है, इसका एक लक्ष्य होता है, अर्थात् श्रेष्ठता व हीनता की स्थितियों के शक्ति संबंध को स्पष्ट करना।

प्रजाति शब्द का पहले पहल इस्तेमाल 16वीं सदी के प्रारंभ में शुरू हुआ और तब से 19वीं सदी के प्रारंभिक वर्षों तक इसका इस्तेमाल प्रमुख तौर पर समान शारीरिक लक्षणों के संदर्भ में होता था। एक दूसरे प्रमुख अर्थ में प्रजाति शब्द का संबंध मानव 'प्रकार' से होता है, व्यक्तियों की एक ऐसी विशिष्ट श्रेणी जो शारीरिक लक्षण में अन्यों से स्पष्ट रूप से भिन्न होती हैं। लेकिन डार्विन प्रकृति में स्थायी आकार नहीं देखता। हरेक जाति प्राकृतिक चयन के आधार पर अपने परिवेश के साथ अनुकूलन कर लेती है, जिससे एक नये परिवेश में आ जाने वाले एक प्रजाति के लोगों में बदलाव आते हैं। डार्विन भौगोलिक प्रजातियों या उपजातियों को स्थानीय आकारों के रूप में मान्यता देता है और इस अर्थ में इस शब्द को आज भी जीवविज्ञान में प्रयुक्त किया जाता है, यह एक जाति के एक उप-विभाजन की बात करता है जिसके सदस्य उसी जाति के दूसरे उप-विभाजन के सदस्यों के साथ शारीरिक संबंध स्थापित करके संतान पैदा कर सकते हैं। फिर भी, भौगोलिक रूप से पृथक होने और अपनी सांस्कृतिक प्राथमिकताओं के कारण, आम तौर पर वे अपनी ही उपजाति के अंदर शारीरिक संबंध स्थापित करते हैं। सामाजिक जीवन में, प्रजातीय लक्षणों के बारे में 19वीं सदी के विचारों को आज भी शक्तिशाली समूहों के सदस्य लागू करते हैं, जिसका इस्तेमाल वे कमजोर समूह के सदस्यों को दूर रखने में करते हैं (जैसे, अमेरिका में अश्वेत)।

5.3.2 प्रजातीय स्तरीकरण के दृष्टिकोण

प्रजातीय वर्गीकरण के सिद्धांत की अभिधारणा (जिसे कभी-कभी वैज्ञानिक प्रजातिवाद या नस्लवाद भी कह दिया जाता है) का जन्म 19वीं सदी के मध्य में हुआ, इसके अनुसार (श्वेतों और अश्वेतों के बीच के) अंतरप्रजातीय संबंधों और (अश्वेतों और अश्वेतों या श्वेतों और श्वेतों के बीच के) अंतःप्रजातीय संबंधों में अंतर होता है। इस विचार के अनुसार हरेक व्यक्ति एक स्थायी रूप से स्पष्ट अंतर रखने वाले मानव प्रकार का प्रतिनिधित्व करता है, मानव के प्रकार का चरित्र और क्षमता विभिन्न प्रकारों के प्रतिनिधियों के बीच संबंधों का निर्धारण करते हैं। व्यक्तियों के गठन और व्यवहार में माने जाने वाले अंतर अधोस्थित स्थायी प्रकारों के बीच अंतर की अभिव्यक्ति होते हैं, जिनमें से हरेक का संबंध जीववैज्ञानिक प्रदेश के एक विशेष भाग से होता है। इसलिए एक राष्ट्र एक प्रजातीय प्रकार की अभिव्यक्ति होता है। किसी मानव प्रकार की प्रकृति ही यह निर्धारित करती है कि इसके प्रतिनिधि जो दूसरे समूह बना सकते हैं, उनके साथ इनके संबंध और संस्कृति किस किस्म की होगी।

प्रजातीय वर्गीकरण की पूर्वधारणा को डार्विन ने अवैध ठहराया है। हालाँकि डार्विन के सिद्धांत में भी प्रजाति को महत्व दिया गया है, फिर भी इस सिद्धांत में प्रजातियों को प्राकृतिक चयन के माध्यम से विकसित होने वाली आरंभिक जातियाँ माना गया है। प्राकृतिक चयन से उत्पन्न होने वाली विशिष्ट प्रजातियाँ स्पष्ट अंतर रखने वाले प्रकार बन जाती हैं और सामाजिक जीवन में अपने पूर्वग्रहों, प्राथमिकताओं, मिथकों (या भ्रांतियों) और रूढ़िबद्ध धारणाओं के साथ उभरती है।

इस तरह के सिद्धांतों का स्पष्ट रूप से समाजशास्त्रीय विकल्प सबसे पहले रॉबर्ट ई.पार्क (1950) ने दिया। पार्क ने एक पर्यावरणीय सिद्धांत दिया जिसके अनुसार समूह एक स्थान से दूसरे स्थान को प्रवास करते हैं और फिर, दूसरों के साथ होड़ में, उन पर्यावरणीय कोनों पर नियंत्रण करने की कोशिश करते हैं जिनका वे लाभ उठा सकते हैं। प्रजातीय चरित्रों का

विकास क्षेत्रीय पृथकता और चयन के परिणामस्वरूप होता है, लेकिन प्रजातीय चेतना एक अर्जित गुण होता है जो समूहों के बीच और उनके अंदर होड़ से पैदा होता है। पार्क के अनुसार, प्रजातीय संबंध विभिन्न प्रजातियों के व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले संबंध इतने नहीं होते, जितने कि उन व्यक्तियों के बीच पाये जाने वाले संबंध जो इन अंतरों के प्रति सचेत होते हैं।

भिन्न प्रजाति के माने जाने वाले व्यक्तियों के बीच के संबंध एक ही जाति के व्यक्तियों के बीच के संबंधों से किस तरह भिन्न होते हैं? इस आम सवाल का एक भिन्न जवाब उन लेखकों के दावे में मिलता है जिनका तर्क है कि अंतरप्रजातीय संबंध केवल इसलिए अंतःजातीय संबंधों से भिन्न होते हैं क्योंकि लोगों को यह सिखाया गया है कि वे एक दूसरे का प्रजाति के आधार पर वर्गीकरण करें। इस मत का प्रमुख विकसित रूप है वर्ग सिद्धांत। इस सिद्धांत के अनुसार प्रजाति के विचार का विकास 19वीं सदी में यूरोप और उत्तरी अमेरिका के शासक वर्गों ने इसलिए किया था ताकि वे गैर यूरोपीय मूल के लोगों के शोषण को उचित ठहरा सकें और श्वेत और अश्वेत मजदूरों के बीच सहयोग में रूकावट डाल सकें। इस नजरिये से, 'प्रजातिगत संबंधों' का कोई विशिष्ट क्षेत्र नहीं हो सकता और इन मसलों को सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन की उप-विभाजन की कोटि में रखा जाना चाहिए।

5.3.3 प्रजातीय स्तरीकरण का सामाजिक आधार

यह विश्वास किया जाता है कि सामाजिक असमानताओं का आधार जीववैज्ञानिक (या शारीरिक) है जैसा कि प्रजाति और लिंग के मामलों में है। उदाहरण के लिए, श्वेत जीववैज्ञानिक आधार पर अश्वेतों से श्रेष्ठ होने का दावा करते हैं और इसे अपनी प्रभुता के आधार के रूप में देखते हैं। ज्याँ-जेक्स रूसो का विश्वास है कि लोगों के बीच जीववैज्ञानिक आधार वाली असमानताएँ (जैसे आयु, स्वास्थ्य, शारीरिक शक्ति एवं लिंग भेद, आदि) छोटी और अपेक्षाकृत गौण होती हैं जबकि सामाजिक असमानता से सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्थाओं का प्रमुख आधार बनता है।

कुछ विद्वानों ने 19वीं सदी में और एडोल्फ हिटलर ने 20वीं सदी में, लोगों के बीच शारीरिक अंतरों को सहजात (या, जन्मजात) श्रेष्ठता और हीनता से जोड़ने की कोशिश की है। किसी कौम की वृद्धि की भिन्नताओं और उपलब्धि का श्रेय विरासत में मिले जीववैज्ञानिक लक्षणों को दिया गया है। इस तरह 'प्रजातिवाद' की परिभाषा एक ऐसी विचारधारा के रूप में की जा सकती है जो एक समूह के शारीरिक लक्षणों को उनकी मनोवैज्ञानिक या बौद्धिक श्रेष्ठता या हीनता के साथ जोड़ती है।

प्रजाति पर आधारित तर्क का सबसे हठी बचाव अश्वेतों और श्वेतों के बीच एक सामाजिक खाई बनाये रखने के लिए किया गया है। अमेरिका में, 12 प्रतिशत जनसंख्या वाले अश्वेत परंपरागत रूप से स्तरीकरण व्यवस्था के सबसे निचले स्तर पर बने हुए हैं। अधिकांश अश्वेत निचले किस्म का और दासता वाला काम करते हैं। 1960 के दशक के मध्य में, अश्वेत परिवारों की औसत आय श्वेत परिवारों की औसत आय का केवल 54 प्रतिशत थी। अश्वेतों के पास कोई राजनीतिक शक्ति नहीं थी क्योंकि उनका स्थानीय और राष्ट्रीय सरकार में न के बराबर प्रतिनिधित्व था। 1962 में दक्षिणी राज्यों में, केवल छह अश्वेत सरकारी पदों पर चुने गये थे। प्रजातीय स्तरीकरण की इस व्यवस्था को अक्सर, विशेषतौर पर अश्वेतों की, वंशानुगत हीनता के अर्थों में समझाया गया है। यह तर्क दिया गया है कि बुद्धि के अर्थों में अश्वेत जन्मजात रूप से श्वेतों से हीन हैं।

बहरहाल, अधिकांश समाजशास्त्रियों का यह तर्क है कि प्रजाती स्तरीकरण की व्यवस्थाओं का आधार जीववैज्ञानिक न होकर सामाजिक है। वर्तमान वैज्ञानिक प्रमाण इस विचार की पुष्टि नहीं करते कि वंशानुगत शारीरिक लक्षणों और जन्मजात श्रेष्ठता या हीनता के बीच कोई संबंध है। आज के समाजवैज्ञानिक यह भरपूर विश्वास करते हैं कि विभिन्न प्रजातीय समूहों के बीच बुद्धि के संदर्भ में कोई महत्वपूर्ण सहजात अंतर नहीं होते। अधिकांश समाजशास्त्री प्रजाति पर उस वक्तव्य का समर्थन करते हैं जिसे यूनेस्को के लिए समाजशास्त्रियों के एक जाने-माने समूह ने तैयार किया है: 'वर्तमान जानकारी के अनुसार इस बात का कोई प्रमाण नहीं है कि मानवजाति के समूहों में सहजात मानसिक गुणों को लेकर कोई अंतर है, चाहे वह बुद्धि का हो या स्वभाव का। वैज्ञानिक प्रमाण यह संकेत देते हैं कि सभी मानवजातीय (या प्रजातीय) समूहों में मानसिक क्षमताओं का क्षेत्र बहुत कुछ एक-सा होता है।' (क्लाइनबर्ग 1950: 466)

प्रजातियों के बीच बुद्धि और सामर्थ्य के वंशानुगत अंतर चाहे हों या न हों, उनके कथित जन्मजात प्रजातीय अंतरों के नतीजों का इस्तेमाल बहुसंख्यकों (श्वेतों) द्वारा श्रेष्ठता और हीनता का निश्चय करने के लिए और प्रजातीय अल्पसंख्यकों के खिलाफ पूर्वग्रह और भेदभाव को उचित ठहराने के लिए किया जाता है। इस कारण, हाल के वर्षों में अनेक समाजशास्त्री 'जीववैज्ञानिक' प्रजातियों की अपेक्षा 'सामाजिक' प्रजातियों में कहीं अधिक दिलचस्पी लेने लगे हैं। अश्वेत, मूल अमेरिकी, हीसपैनिक्स और एशियाई -अमेरिकी, अमेरिका की ऐसी प्रजातियों के उदाहरण हैं जिन्हें आज भी हीन माना जाता है।

अश्वेतों को ऊँची स्थिति के व्यवसायों से इसलिए बाहर रखा गया है क्योंकि उनका श्वेतों के साथ शक्ति या सत्ता में साझा नहीं है। ऐसी बात नहीं कि उनके वंशानुगत तत्व घटिया स्तर के हैं। 1960 के दशक के मध्य के वर्षों के दौरान अमेरिका में कानून पारित कर रोजगार, राजनीति और शिक्षा जैसे क्षेत्रों में प्रजातीय आधार पर भेदभाव पर प्रतिबंध लगा दिया गया था। अश्वेत अब भारी संख्या में सबसे निचले स्तर से निकल कर बाहर आ रहे हैं। 1971 तक, दक्षिणी राज्यों में 70 अश्वेतों का चुनाव सरकारी पदों पर हुआ। हालाँकि यह संख्या छोटी ही है, फिर भी यह महत्वपूर्ण वृद्धि की सूचक है। अश्वेत परिवारों की आय धीरे-धीरे श्वेत परिवारों की औसत आय के बराबर आती जा रही है। 1960 से 1970 तक व्यावसायिक, प्रबंधकीय और तकनीकी व्यवसायों में अश्वेतों का प्रतिशत लगातार बढ़ा है और कहीं-कहीं तो दुगुना भी हुआ है। इस प्रमाण में स्पष्ट किया गया है कि जैविक (जीववैज्ञानिक) तंत्रों के बजाए सामाजिक तंत्र संयुक्त राज्य अमेरिका में अश्वेतों के निम्न स्तर के लिए उत्तरदायी हैं।

यदि उपयुक्त सुविधा और अनुकूल सामाजिक स्थिति प्रदान की जाए तो सभी अल्पसंख्यक चाहे वे अश्वेत, परित्यक्त, महिलाएं आदि हों, सिद्ध कर सकते हैं कि क्षमताओं, प्रतिभाओं, और योग्यताओं में किसी अन्य समूह/समूहों की क्षमताओं, प्रतिभाओं और योग्ताओं से कम नहीं है। इसलिए किसी व्यक्ति में यह बात जन्मजात नहीं होती कि वह अन्य व्यक्तियों की तुलना में कमजोर है। बहुत कुछ सामाजिक स्थिति पर भी निर्भर करता है। यह सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था है, जो असमानता को प्रोत्साहित करती है।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : 1) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
2) इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से अपने उत्तर मिलाइए।

1) प्रजाति के अर्थ को संक्षेप में स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

5.4 लैंगिक स्तरीकरण

लैंगिक स्तरीकरण के विभिन्न आधारों में से एक है। ऐसा कोई समाज नहीं है जिसमें सामाजिक जीवन के कुछ पक्षों में पुरुषों के पास महिलाओं से अधिक धन-संपत्ति, हैसियत और प्रभाव न हो। (गिडेन्स 1989:225) विभिन्न समाजों में और विभिन्न कालावधियों में महिलाओं का एक ही रूप उभरकर आता है जो अस्तित्वहीनता का द्योत्तक है। (सिंह, 1988:1 और 1989:1) संयुक्त राष्ट्र रिपोर्ट (1980) में कहा गया है:

महिलाओं की जनसंख्या विश्व में आधी है, विश्व के पूरे काम का लगभग दो-तिहाई कार्य करती हैं, विश्व की आय का 1/10 भाग प्राप्त करती हैं और इनके पास विश्व की संपत्ति के सौवें हिस्से से भी कम का स्वामित्व है।

योगेन्द्र सिंह (1986:88) ठीक ही कहते हैं कि एक श्रेणी के रूप में महिलाएँ भारतीय समाज में एक वंचित और भेदभाव के पात्र वाले वर्ग में आती हैं। वास्तव में अपनी बोलचाल में हम जिन शब्दों का इस्तेमाल करते हैं उसके हिसाब से, महिलाएँ एक निहित

अस्मिता हैं जिनका विलय एक अधिक व्यापक समग्रता पुरुष में हो गया है। महिलाओं का इस पुरुष-प्रधान शब्दकोश में कहीं कोई स्थान नहीं है।

> प्रिय महोदय, पुरुष से पुरुष, मानवशक्ति, दस्तकार, कामकाजी आदमी, चिंतनशील आदमी, जनसाधारण, साथी देशवासी, मनुष्य जाति का इतिहास, एकजन प्रदर्शन, पुरुष की समझदारी, राजनेता, पूर्वज, पुराने उस्ताद, मनुष्य का भाईचारा। स्वतंत्रता, समानता, भाईचारा, स्वतंत्र मनुष्यों के पुत्र, धरती पुत्र, हमारे पूर्वजों का विश्वास, परम पिता परमेश्वर, ईश्वर पुत्र, बंधुत्व में आपका, आमीन।

5.4.1 स्त्री-पुरुष के मध्य जैविक भेद की तुलना में लिंग

स्त्री-पुरुष के मध्य जैविक भेद (नर/मादा) एक शारीरिक अंतर है, जबकि लिंग (पुल्लिग/स्त्रीलिंग) सामाजिक और सांस्कृतिक है। सामाजिक कारक अवसरों, प्रतिफलों और पुरुषों-स्त्रियों की सीमाओं से संबंधी वर्तमान अंतरों का निर्धारण करते हैं। परिवार, विवाह, नातेदारी, शिक्षा और प्रशिक्षण जैसी सामाजिक संस्थाओं और सामाजिक प्रक्रियाओं के माध्यम से ही लैंगिक कर्तव्यों का (जैसे स्त्रियों का घर का काम करना, बच्चों की देखभाल करना और पुरुषों का नौकरी करना आदि) स्वरूप तमाम मानव समाजों में बनता और फिर बनता है। 'लिंग कर्तव्य' शब्द मादा या नर होने की जीववैज्ञानिक स्थितियों का महत्व कम करता है और सामाजिक पहलुओं पर ध्यान केंद्रित करता है। इस तरह, लिंग कर्तव्य किसी व्यक्ति के स्त्री-पुरुष के मध्य जैविक भेद से सामाजिक तौर पर जुड़े रूझानों और व्यवहारों, अधिकारों और जिम्मेदारियों का कुल योग है। वैसे तो पुल्लिग या स्त्रीलिंग का संबंध आमतौर पर नर या मादा से जोड़ा जाता है, लेकिन यह एक पूर्ण सहसंबंध नहीं है। पुरुषों और स्त्रियों के बीच श्रम का विभाजन, विभिन्न समाजों में विशेषतौर पर स्त्री पुरुष के मध्य जैविक भेद पर नहीं बल्कि लैंगिक कर्तव्यों पर आधारित होता है, और उसका निर्धारण जीवविज्ञान (प्रकृति) के नहीं, बल्कि संस्कृति (पालन-पोषण) के आधार पर होता है। वस्तुतः सारा मानव व्यवहार अर्जित व्यवहार होता है। इसलिए आयु के साथ-साथ, लिंग भी एक ऐसा व्यापक रूप से प्रयुक्त होने वाला साधन है जिसके आधार पर समाजों में किसी प्रकार का श्रम विभाजन और विशिष्टीकरण की प्रक्रिया होती है।

मार्गरिट मीड (1971) ने उन मनोवैज्ञानिक और सांस्कृतिक लक्षणों के व्यापक क्षेत्र को सामने लाने की दिशा में महत्वपूर्ण काम किया जिन्हें लैंगिक कर्तव्यों के साथ जोड़ा जा सकता है। मार्गरिट मीड ने देखा कि एक संस्कृति में स्त्रियों के जो अहम गुण थे, वे ही गुण एक दूसरी संस्कृति में पुरुषों में प्रमुख थे। न्यू गिनी के एक अपेक्षाकृत छोटे क्षेत्र में, उसने तीन जनजातियों की छानबीन की। **अरपेश** जनजाति में दोनों स्त्री व पुरुष के व्यक्तित्व, हमारी धारणाओं को देखते हुए, 'स्त्रियोचित' होते हैं (जैसे घरेलू, दब्बू, सीधा, भावुक होना आदि)। इसके विपरीत, **मुंडुगूमोर** जनजाति में, दोनों स्त्री एवं पुरुष के व्यक्तित्व, हमारे समाज के मापदंडों के अनुसार, 'पुरुषोचित' होते हैं (जैसे धाकड़, दबंग, झगड़ालू, बहादुर, काम में साधक, व्यावहारिक होना आदि)। इन दोनों ही समाजों में से किसी भी समाज के लोग यह नहीं मानते कि व्यक्तित्व में स्त्री-पुरुष के मध्य जैविक भेद के हिसाब से भिन्नता होनी चाहिए, बल्कि सच में तो, भिन्नता होती ही नहीं, इसलिए लिंग कर्तव्यों का कोई सीमांकन यहाँ नहीं पाया जाता। तीसरी जनजाति **चांबुली** में, स्त्री पुरुष के मध्य जैविक भेद और व्यक्तित्व में एक संबंध देखने को मिलता है, लेकिन इस जनजाति में, आम नर में 'स्त्रियोचित' व्यक्तित्व के गुण देखने को मिलते हैं और आम स्त्री में 'पुरुषोचित' व्यक्तित्व के गुण देखने को मिलते हैं।

मीड इस निष्कर्ष पर पहुँचती है कि जीवविज्ञान नहीं, बल्कि सामाजिक अनुकूलन इन भिन्नताओं के लिए जिम्मेदार है। एक आम **अरपेश** इसलिए सीधा/सीधी और सहयोगी होता/होती है क्योंकि उसका पालन-पोषण एक ऐसे समाज में हुआ होता है जहाँ यही व्यवहार स्वीकार्य होता है। एक आम **मुंडुगूमोर** प्रकृति से हिंसक और झगड़ालू नहीं होता/होती है, बल्कि समाज की समाजीकरण की प्रक्रिया के कारण होता/होती है।

विभिन्न समाजों में पुरुषों और स्त्रियों के केवल रूझान ही नहीं, बल्कि वास्तविक संबंध और स्थिति भी भिन्न होते हैं। **अरपेश** जनजाति में परुषों और स्त्रियों की लगभग समानता की स्थिति दिखायी देती है। **चाँबुली** जनजाति में पुरुष अधीन दिखायी देते हैं और स्त्रियाँ प्रभावशाली। भारत में, पूर्वी भारत की गारो और खासी जैसी जनजातियों में स्त्रियाँ प्रभावशाली होती हैं, लेकिन पश्चिमी हिमालय क्षेत्र की विभिन्न जनजातियों, विशेष तौर

पर किन्नर और गद्दी जनजातियों में स्त्रियों को अनेक मुश्किलों का सामना करना पड़ता है। भील स्त्री को परदा करना पड़ता है, और अपनी जनजाति के नैतिक मूल्यों को मानना पड़ता है। जौनसार बावर की खास स्त्रियों, हिमाचल प्रदेश की किन्नर स्त्रियों और नीलगिरि पहाड़ियों की टोडा स्त्रियों को एक निश्चित समय पर तीन, चार या उससे भी अधिक पतियों को खुश करनी पड़ता है, लेकिन गोंड स्त्री को केवल एक पति की सेवा करनी होती है।

5.4.2 अल्पसंख्यक समूह के रूप में महिलाएँ

हेलन मायर हैकर (1972) लुईस वर्थ की दी हुई अल्पसंख्यक समूह की परिभाषा को स्वीकार करती है, जिसके अनुसार : एक अल्पसंख्यक समूह व्यक्तियों का ऐसा कोई भी समूह होता है जिन्हें उनके शारीरिक या सांस्कृतिक विशिष्ट लक्षणों के कारण भिन्नता सूचक और असमान व्यवहार के लिये उस समाज में दूसरों से अलग करके देखा जाता है, जिसमें वे रहते हैं, और इस कारण से अपने आपको सामूहिक भेदभाव का पात्र मानते हैं।

अमेरिकी अश्वेतों और महिलाओं की दशाओं की तुलना करते हुए, हैकर महिलाओं को अल्पसंख्यक समूह के वर्ग में रखने के कुछ लाभों की ओर इशारा करती है। पहले, दोनों समूहों में 'अत्यंत सामाजिक दृश्यता' है, अश्वेतों में उनके प्रजातीय या नस्ली विशिष्ट लक्षणों और कुछ हद तक उनका पहनावा, महिलाओं में उनके शारीरिक विशिष्ट लक्षणों और जनाना कपड़ों के कारण।

दूसरे, दोनों समूहों में एक से 'आरोपित गुण' होते हैं, अर्थात् ऐसे गुण जो बहुसंख्यक समूह ने केवल उनके अल्पसंख्यक समूह का सदस्य होने के नाते उन पर आरोपित किये होते है: अश्वेतों को 'भावुक', 'आदिम' और बचकाना बताया गया है, और महिलाओं को 'गैर जिम्मेदार', 'ढुलमुल' और 'भावनात्मक' रूप से अस्थिर। दोनों समूहों को, कुछ हद तक, अल्पबुद्धि माना गया है।

तीसरे, अश्वेतों और महिलाओं दोनों की 'स्थिति' को बहुसंख्यक समूह ने एक ही तरह से बुद्धिसंगत ठहराया है। उनकी स्थिति को उनके आरोपित विशिष्ट लक्षणों के प्रतिबिम्ब के रूप में देखा जाता है। अश्वेत अपनी जगह पर बिलकुल ठीक और अपनी नियति से संतुष्ट है। यही बात महिलाओं के मामले में भी सही है। उनकी जगह घर में है और उन्हें अपनी पत्नी और मां के कर्तव्यों के पालन में सुख और तृप्ति मिलती है।

चौथे, दोनों समूह अपनी स्थिति के साथ सामजस्य करने के लिये समायोजनकारी व्यवहार अपनाते हैं। तुलनात्मक अशक्तता दोनों को बहुसंख्यक समूह के सदस्यों के साथ उनके व्यवहार में जटिल या टेढ़े तरीके अपनाने के लिये बाध्य करती है। अश्वेत लोग श्वेतों को चालाकी से मात देने के लिये विभिन्न रणनीतियाँ अपनाते हैं, जबकि महिलाएँ अपना उल्लू सीधा करने के लिये 'स्त्रियोचित तिकड़म' या बहलावे से काम निकालती हैं।

अंत में, दोनों समूह एक सी भेदभावपूर्ण रीतियों के शिकार होते हैं। उनकी शिक्षा को सीमित रखा जाता है जिससे वे अपनी आरोपित स्थिति के लिये उपयुक्त हों। रुकावटें खड़ी की जाती हैं जिससे वे राजनीतिक अखाड़े में न घुस सकें। श्रम बाजार में, अश्वेतों को व्यापक रूप से 'अश्वेत कार्यों' तक और महिलाओं को 'महिलाओं के कार्यों' तक सीमित रखा जाता है। इन कार्यों में कुछ एक समान कारक होते हैं—कर्म कुशलता, निम्न स्थिति, और कम वेतन। भारत में, 73 प्रतिशत महिलाएँ असंगठित क्षेत्र में हैं क्योंकि कारखानों के रोजगार में महिलाओं की हिस्सेदारी 1981 में भी कुल कार्य बल का केवल 12.4 प्रतिशत थी। हैकर की अश्वेतों और महिलाओं की तुलना महिलाओं को अल्पसंख्यकों के वर्ग में रखने के व्याख्यात्मक महत्व की ओर इशारा करती है।

इंद्र प्रकाश सिंह (1990) का कहना सही है कि भारतीय समाज में महिलाओं की घेराबंदी की हुई है। उन पर उन्हीं संस्थाओं ने कब्जा कर लिया है जो इनके जीवन और हितों की रक्षा करने का प्रयास करती हैं, अर्थात् परिवार, विवाह, शैक्षिक संस्थाएं, रोजगार प्रतिष्ठान, राजनीतिक बृहत संगठन, पुलिस, कानूनी तंत्र आदि। चाहे मामला बाल विवाह का हो, चाहे बाल हत्या, भ्रूण हत्या, पत्नी उत्पीड़न, सती, विधवापन का हो, चाहे द्विविवाह, बहुविवाह, यौन उत्पीड़न, शारीरिक उत्पीड़न, मानसिक क्रूरता, बलात्कार, वेश्यावृत्ति, आत्महत्या आदि का, भारतीय महिलाओं के उत्पीड़न के ये सभी तरीके हमारे पुरुष प्रधान समाज की रूपरेखा ही तय करते हैं, जिसमें पुरुषों को अपार अधिकार प्राप्त हैं।

5.4.3 व्यवसायगत पृथकता

यह देखा गया है कि महिलाओं को जो कुछ उद्योग रोजगार देते हैं, वे केवल कुछ चुनिंदा कार्यों के लिये ही उन्हें रखते हैं। यह श्रम के लैंगिक आधार पर विभाजन के कारण होता है कि महिलाओं को विशिष्ट क्षेत्रों में ही रखा जाता है, और हरेक क्षेत्र में उन्हें विशिष्ट व्यवसाय पर लगाया जाता है, और हरेक व्यवसाय में भी उन्हें कुछ विशिष्ट काम ही करने को दिये जाते हैं।

सूती कपड़ा जैसे उद्योगों में, कुल 20 कामों में से, अधिक संख्या में महिलाएँ केवल 1 ही काम में हैं—धागा लपेटना, जूट कपड़ा उद्योग में 37 कामों में से महिलाएँ केवल एक सिलाई के काम पर हैं, रेशम कपड़ा उद्योग में 33 कामों में से महिलाओं के पास केवल 5 काम हैं—चुनना, जाँचना, प्राप्त करना आदि, ऊन उद्योग में 26 कामों में से महिलाएँ केवल रफ् का काम करती हैं, बीड़ी उद्योग में 11 कामों में से महिलाएँ बस लपेटने का काम करती हैं, सिगरेट उद्योग में 20 कामों में से महिलाओं के पास बस 2 काम हैं, सिगरेट में तंबाकू भरने और डिब्बों में सिगरेट भरने के, कागज उद्योग में 27 कामों में महिलाओं के पास चिथड़ा छांटने का काम है, चाय और काफी बागानों में 7 कामों में से महिलाएँ केवल चाय की पत्तियाँ तोड़ने और काफी के फल तोड़ने का काम करती हैं।

कृषि महिलाओं को रोजगार देने वाला सबसे पुराना और व्यापक क्षेत्र है, वहाँ भी कार्यों के बंटवारे में लैंगिक अंतर को ध्यान में रखे जाने की मिसाल मिलती है। जुताई, खुदाई, सिंचाई और अनाज को मंडी में ले जाने के काम तो पुरुष करते हैं, जबकि महिलाओं के जिम्मे घास काटने, खर-पतवार उखाड़ने, मुर्गी पालने, मूंगफली चुनने, सब्जी तोड़ने, चटाई बनाने, रस्सी बनाने, रजाई भरने और आम गृहस्थी के काम होते हैं।

महिलाओं के पास विविध काम न होने के कारण किसी विशिष्ट काम में स्वचालित मशीनों के आ जाने से उनकी छंटनी का खतरा बन जाता है। महिलाओं की व्यवसायगत पृथकता का सवाल एक बड़ी समस्या है। यथार्थ स्थिति को यह कहकर बुद्धिसंगत ठहराया जाता है कि महिलायें कुछ ही कामों में अच्छी होती हैं। एक सबसे बड़ी भ्रांति यह व्याप्त है कि महिलाएँ हल्का काम करती हैं। अधिकांश महिलाओं के मेहनत वाले कार्यों को कभी मान्यता ही नहीं मिलती क्योंकि जो असली श्रम लगता है उस पर पुरुष प्रधानता का आवरण डाला रहता है।

यह स्पष्ट है कि खानों और बागानों में काम करने वाली 72 प्रतिशत महिलाएँ अकुशल वर्ग में हैं। तकनीकी व्यवसायों में काम करने वाली औरतों का प्रतिशत 10 से भी बहुत कम है, और उनमें भी अधिकांश शिशु गृह चलाने वाली स्वास्थ्य कर्मचारी हैं। निरीक्षण के काम में महिलाओं की संख्या न के बराबर है। सफेदपोश कामों पर किये गये अध्ययनों में भी ऊँचे पदों पर और निरीक्षण के कामों में महिलाओं की अनुपस्थिति का बार-बार उल्लेख मिलता है।

सार्वजनिक (या सरकारी) उद्यमों के एक अध्ययन में यह उल्लेख मिलता है कि महिलाओं का प्रतिनिधित्व अधिशासी स्तर पर 25 प्रतिशत, तकनीकी स्तर पर 15.8 प्रतिशत, सहायक स्तर पर 19.5 प्रतिशत था। लेकिन रिसेप्शनिस्ट स्तर पर 100 प्रतिशत, स्टेनोटाइपिस्ट के स्तर पर 60 प्रतिशत, टेलीफोन आपरेटर के स्तर पर 28.5 प्रतिशत, नौकरानी 19 प्रतिशत, भंगी 12 प्रतिशत, और दिहाड़ी मजदूर स्तर पर 97 प्रतिशत था। अनुसंधान और विकास प्रतिष्ठान में जहाँ महिलाएँ कुल कर्मचारियों का 60 प्रतिशत हैं, 50 प्रतिशत से भी अधिक महिलाएँ कथित तौर पर गैर-वैज्ञानिक कार्यों में लगी हैं।

5.4.4 वर्ग विभाजन और लिंग

अधिकांश लोगों का यह तर्क है कि महिलाओं में एक 'निजी' क्षेत्र में काम करने की प्रवृत्ति होती है—अर्थात् घर-बार, बच्चों और परिवार की घरेलू दुनिया। जबकि, दूसरी ओर, पुरुष एक अपेक्षाकृत 'सार्वजनिक' क्षेत्र में रहते हैं, जहाँ से संपदा और शक्ति के अंतर मुख्यतः निकलते हैं। उनकी दुनिया सपारिश्रमिक काम, उद्योग और राजनीतिक की दुनिया होती है।

अधिकांश महिलाएँ अपने आपको श्रम बल में पाती हैं, इसीलिये परिवार और समाज में उनकी स्थिति मातहत की होती है। पुरुषों की अपेक्षा महिलाएँ अंशकालिक कामों में अधिक आती हैं, और उनके पास सपारिश्रमिक रोजगार का सचिराम अनुभव कहीं अधिक होता है क्योंकि उन्हें बच्चों को पालने के उद्देश्य से लंबी अवधियों के लिये काम से हटना

पड़ता है। अधिकांश महिलाएँ क्योंकि आर्थिक तौर पर अपने पतियों पर निर्भर होती हैं, इसलिये इसके परिणामस्वरूप उनकी वर्गीय स्थिति का निर्धारण अधिकतर उनके पतियों की आर्थिक स्थिति से होता है। फिर भी, कुछ घरानों में महिलाओं की आय परिवार की आर्थिक स्थिति को बनाये रखने के लिए अत्यंत आवश्यक होती हैं। कुछ मिसालें ऐसी भी हैं जहाँ पत्नी के रोजगार का भी जबरदस्त असर उसके पति के रोजगार पर पड़ता है।

हालाँकि, महिलाओं को विभिन्न जातियों, धर्मों, वर्ग, प्रजाति, राष्ट्रों में बाँटा गया है, फिर भी उनके साथ होने वाले भेदभाव और उत्पीड़न के आधार पर उन्हें एक ही समूह में रखा जा सकता है, जो एक पुरुष प्रधान समाज में स्त्री होने के नुकसानों की समान रूप से शिकार होती हैं। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, पुरुष और स्त्री के बीच का संबंध एक शक्ति संबंध है। वास्तव में, शक्ति हमेशा संबंधात्मक होती है। महिलाओं की तुलना में, पुरुषों के पास अधिकांश समाजों में कहीं अधिक शक्ति होती है। फिर भी, शक्ति के स्वरूप और प्रयोग में भिन्नता हो सकती है।

बोध प्रश्न 3

1) क्या शारीरिक भेद सामाजिक भिन्नता का आधार बन सकती है? हां नहीं
2) क्या महिलाएँ अल्पसंख्यक समूह में आती हैं? हां नहीं
3) क्या लिंग स्तरीकरण का एक सबसे महत्वपूर्ण उदाहरण है? हां नहीं

5.5 जाति, वर्ग, प्रजाति और लिंग: सामाजिक स्तरीकरण के आधार

जाति, वर्ग, प्रजाति और लिंग को सामाजिक स्तरीकरण के आधार माना जाता है। ये सभी समाजों में सार्वभौम और एक से रूप में प्रभावकारी नहीं होते। उदाहरण के लिये, जाति पारंपरिक भारत में सामाजिक श्रेणीकरण का एक कारगर आधार थी, जबकि पश्चिमी देशों में सामाजिक स्तरीकरण का कहीं अधिक मान्य आधार वर्ग है। दक्षिण अफ्रीका में प्रजाति के श्रेणीकरण को आज भी एक प्रमुख स्थान प्राप्त है। लिंग सभी समाजों में सामाजिक श्रेणीबद्धता के आधार के रूप में कमोबेश प्रचलित है। सामाजिक श्रेणीकरण के अलावा, ये कारक संबद्ध समाजों में सामाजिक गतिशीलता के स्थानों और अवसरों को भी निर्धारित करते हैं, जहाँ उन्हें सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य आधारों के रूप में स्वीकार किया जाता है।

सरकार, व्यापार, सेना या शिक्षा में व्यक्ति जो कुछ प्राप्त कर सकता है उस पर इस बात का प्रभाव पड़ता है कि व्यक्ति की जातीय, वर्गीय, प्रजातीय और लैंगिक स्थिति क्या है। बेशक, हम नस्ल, स्त्री पुरुष के मध्य जैविक भेद या जाति को बदल नहीं सकते। वर्गीय श्रेणीबद्धता में व्यक्ति की स्थिति कम निर्धारित हो सकती है, लेकिन अधिकांश व्यक्तियों के लिये जन्म के समय वर्गीय स्तरीकरण में उनकी स्थिति का उनकी पूरी जिंदगी के दौरान उनकी उपलब्धियों पर जबरदस्त असर पड़ता है।

5.6 सारांश

इस इकाई में, हमने, मुख्य तौर पर शक्ति, प्रजाति और लिंग के मायनों में सामाजिक स्तरीकरण की प्रवृत्ति और आयामों पर चर्चा की है। हमने प्रारंभ में शक्ति और इसकी व्यापक प्रकृति की समझ दी। इस इकाई में हमने आरोपण, उपलब्धि और सामाजिक गतिशीलता के मायनों में विभिन्न समाजों के भीतर और उनके बीच इन कारकों की सापेक्ष प्रभावोत्पादकता का भी विश्लेषण किया।

5.7 शब्दावली

लैंगिक समाजीकरण : इसका अर्थ है समाज के सदस्यों द्वारा पुरुष प्रधान/स्त्री प्रधान सामाजिक मूल्यों और कर्तव्यों का सीखना।

अल्पसंख्यक : इसका संबंध अल्पसंख्यक समूह (समूहों) पर एक बहुसंख्यक समूह द्वारा शक्ति नियंत्रण के होने से है। मुख्य तौर पर बहुसंख्यक समूह की तुलना में अल्पसंख्यक शक्तिहीन होते हैं। लेकिन ऐसा हमेशा नहीं होता कि बहुसंख्यक समूह के पास ही शक्ति या सत्ता रहे। उदाहरण के लिये, दक्षिण अफ्रीका में श्वेतों से अधिक संख्या में होने पर भी अश्वेत अल्पसंख्यक हैं, क्योंकि उनके पास शक्ति नहीं है—शासन करने की शक्ति।

प्रजातिवाद या नस्लवाद : यह कुछ लोगों का विश्वास है, जिसके अनुसार विरासत में मिले मनोवैज्ञानिक और शारीरिक कारक उस समूह सविशेष के व्यवहार और संस्कृति को प्रभावित करते हैं। यह एक विश्वास है; कोई ऐसा तथ्य नहीं है जिसे दिखाया जा सके। जब इसकी अभिव्यक्ति सामाजिक जीवन में होती है तो, इसके परिणाम समाज के संचालन को कई तरीकों से बिगाड़ सकते हैं।

5.8 उपयोगी पुस्तकें

देसाई, नीरा और एम. कृष्णराज.1987. **वीमेन ऐंड सोसायटी इन इंडिया**. दिल्ली : अजंता पब्लिकेशंस।

गिडेंस, एंथनी. 1989. **सेशियोलॉजी**, : पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज।

ओ'केली, शार्लट जी. 1980. **वीमेन ऐंड मेन इन सोसायटी**. न्यूयार्क : डी. वान नॉस्ट्रेंड कंपनी।

5.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) मार्क्सवादियों आर्थिक, वर्गीय
2) संबंधात्मक
3) कार्य, समीकरण, समूह, शक्ति, संगठन
4) स्तरीकरण, शक्ति, तत्व
5) सूक्ष्म, स्थूल

बोध प्रश्न 2

1) प्रजाति एक सामाजिक अवधारणा है जिसके आधार पर समूह और व्यक्ति दूसरे समूहों और अपने आप में अंतर करते हैं। इस अंकितिकरण प्रक्रिया में शारीरिक हुलिया और सामाजिक लक्षण मानक हैं।

बोध प्रश्न 3

1) नहीं
2) हां
3) हां

संदर्भ ग्रन्थ सूची

अ : अंग्रेजी में उपलब्ध पुस्तकें

बेन्डिक्स, आर. एण्ड एस.एम. लिपसेट (एडि.). 1967. **क्लास स्टेटस एण्ड पावर: सोशल स्ट्राटीफिकेशन इन कम्पेरेटिव पर्सपेक्टिव.** लंदन: राउटलेज् एण्ड केगन पौल।

बेते, आन्द्रे (एडि.). 1964. **सोशल इनिक्वलिटी.** हारमन्ड्सवर्थ: पेंग्विन।

—1969. **कास्ट्स: ओल्ड एण्ड न्यू एसेस इन सोशल स्ट्रक्चर एण्ड सोशल स्ट्राटीफिकेशन.** बाम्बे: एशिया पब्लिशिंग हाऊस।

—1981. **द बैक्वर्ड क्लासेस् एण्ड द न्यू सोशल आर्डर.** दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

बेटलहाइम, सी. 1968. **इण्डिया इण्डिपेंडेंट.** लंदन: मैकोबे एण्ड कं।

बाटमोर, टी.बी. 1985. **इलीट एण्ड सोसाइटी.** हारमोन्ड्सवर्थ: पेंग्विन।

सेटर्स, रिचर्ड. 1949. **द साइकोलॉजी ऑफ सोशल क्लासेस्.** प्रिंसटन : प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस।

डाहल, ए.आर. 1961. **हू गवर्न्स?** न्यू हावेन: येल यूनिवर्सिटी प्रेस।

डैहरेन्डौर्फे, आर. 1959. **क्लास एण्ड क्लास कान्फ्लिक्ट इन इण्डस्ट्रियल सोसाइटी.** लंदन: राउटलेज् एण्ड केगन पौल।

—1968. **एसेस इन द थ्योरी ऑफ सोसाइटी.** स्टेन्डफोड़: स्टेन्डफोड़ यूनिवर्सिटी प्रेस।

देसाई, ए.आर. 1959. **सोशल बैकग्राउण्ड ऑफ इण्डियन नेशनलाइज्म.** बाम्बे: पापुलर बुक डिपो।

डिजिलास, एस. 1957. **द न्यू क्लास.** लंदन: थेमस एण्ड हडसन।

डुमों, एल. 1970. **होमो हाईरारक्किस: द कास्ट सिस्टम एण्ड इट्स इम्पलीकेशंस.** लंदन: वाइडेनफील्ड एण्ड निकोलसन।

डर्खिम, एमिल. 1933. **द डिविजन ऑफ लेबर इन सोसाईटी,** न्यूयार्क: पार्क: मैकमिलन।

दत्ता, आर.पी. 1986. **इण्डिया टुडे.** कलकत्ता : मनिशा।

गर्थ, एच.एच. एण्ड सी. राईट मिल्स. 1946. **फ्राम मैक्स वेबर : एसेस इन सोशियोलॉजी.** न्यूयार्क : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

घुरिये, जी.एस. 1932. **कास्ट एण्ड रेस इन इण्डिया.** लंदन: राउटेलेज् एंड केगन पौल।

गिडेन्स, ऐन्थोनी. 1989. **सोशियोलाजी.** कैम्ब्रिज: पोलिटी प्रेस।

गोल्डथोर्प, जे.एच. 1967. **"सोशल स्ट्राटीफीकेशन इन इण्डस्ट्रियल सोसाइटी"** इन बेन्डिक्स एण्ड लिपसेट (एडि.) औप.सिट.

हैकर, एच.एम. 1972. "वोमेन ऐस ए माईनरटी ग्रुप" इन ग्लेजर-मालीबीन् एन एण्ड वेहर एच.वाई (एडि.) **वोमेन एन ए मैन-मेड. वर्ल्ड.** शिकागो: रैंड मैक्जली।

हावेल, आम्स एच. 1963. "कम्युनिटी पावर एण्ड अरबन रिन्यूवल सक्सेस्" **अमेरिकन जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी,** 68 (जनवरी)।

हन्टर, एफ. 1963. **कम्युनिटी पावर स्ट्रक्चर.** न्यूयार्क: ऐन्कर बुक्स।

हटन, जे.एच. 1961. **कास्ट इन इण्डिया: इट्स नेचर, फंक्शन ओरिजन.** बाम्बे: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

क्लिनबर्ग, आटो. 1950. रेऐस डिफरेंस: द प्रजेंट पोजिशन ऑफ द प्रोब्लम, **इन्टरनेशनल सोशल सांइस बुलेटिन** 2 (आटमन)।

कोशाम्बी, डी.डी. 1956. **इण्डियन हिस्ट्री.** बाम्बे: पापुलर बुक डिपो।

लेन्स्की, जी. 1966. **पावर एण्ड प्रिविलेज: ए थ्योरी ऑफ सोशल स्ट्राटीफिकेशन,** न्युयार्क: मैकग्रा-हिल।

मार्क्स, के. एण्ड एफ. इन्जिल्स. 1963. **कम्युनिस्ट मेनिफेस्टो:** न्यूयार्क: डेल।

मीड, मार्गरिट. 1971. **सेक्स एण्ड टेम्परमेन्ट इन थ्री प्रिमिटिव सोसाइटी.** न्यूयार्क: डेल।

माइकेल्स, आर. 1949. **द पॉलिटिकल पार्टिज,** ग्लैनको: द फ्री प्रेस।

मिल्स, सी. राईट. 1956. **द पॉवर एल्ट.** न्यूयार्क: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

मास्का, जी. 1939. **द रूलिंग क्लास,** न्यूयार्क, मैकग्राव-हिल बुक कम्पनी।

मुखर्जी, डी.पी. 1968. **डाइवर्सिटीज्.** नई दिल्ली: पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

आसोवस्की, एस. 1956. **ओल्ड नेशंस एण्ड न्यू प्राब्लम्स: इण्टरप्रिटेशंस ऑफ सोशल स्ट्रक्चर इन माडर्न सोसाइटी.** लंदन: ट्रांसेएक्शन ऑफ द थर्ड वर्ल्ड कांग्रेस ऑफ सोशियोलॉजिकल एसोसियेशन।

पेरेंटी, माइकेल. 1978. **पावर एण्ड द पावरलेस,** न्यूयार्क: सेंट मार्टिस प्रेस।

पैरीटो, वी. 1935. **द माइन्ड एण्ड सोसाइटी.** लंदन: जोनाथन कैप।

पार्सन्स, दी. 1940. ऐन एनालिटिकल ऐप्रोच टू द थ्योरी ऑफ सोशल स्ट्राटीफिकेशन, **"अमेरिकन जर्नल ऑफ सोशियोलॉजी** XLV (नवम्बर) पेज. 849-862.

—.1967. "ए रिवाईस्ड ऐनालिटिकिल एप्रोच टू द थ्योरी ऑफ सोशल स्ट्राटीफिकेशन." इन बेन्डिक्स एफ लिप्सेट।

पावलाव, ई.एल. 1964. **द इण्डियन कैप्टलिस्ट क्लास.** नई दिल्ली: पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस।

पोवलान्टजास, एन. 1978. **स्टेट, पावर, सोशियलाइजम.** लंदन : न्यू लेफट बुक्स।

रिस्ले, एच.एच. 1891. **ट्राइब्स एण्ड कास्ट्स ऑफ बंगाल एथ्नोग्राफिक ग्लोसरी।**

सिंह, इंदु प्रकाश. 1988. **वोमेन्स अप्रिसन, मेन रिस्पान्सिबल.** दिल्ली : रिनैसेंस पब्लिशिंग हाउस।

—.1989. वोमैन, **लॉ एण्ड सोशल चेंज इन इण्डिया.** नई दिल्ली: रेडिमेंट पब्लिशर्स, लंदन संगम बुक्स।

—.1990. **इण्डियन वोमेन: द कैप्चर्ड बीइंग्स.** नई दिल्ली: इन्टेलेक्चुअल पब्लिशिंग हाउस।

सिंह, योगेन्द्र 1973. **माडर्नाइजेशन ऑफ इण्डियन ट्रेडिशन.** फरीदाबाद: थामसन प्रेस (इण्डिया) लि.।

—.1980. **सोशल स्ट्राटीफिकेशन एण्ड चेन्ज इन इण्डिया.** नई दिल्ली: मनोहर।

—.1986. **इण्डियन सोशियोलॉजी: सोशल कंन्डिशनिंग एण्ड इमर्जिंग कन्सन्स.** नई दिल्ली: विस्तार पब्लिकेशंस।

थोर्नर, डी. 1981. **द एग्रेरियन प्रास्पेक्ट्स इन इण्डिया.** दिल्ली: एलाइड।

टुमिन, एम.एम. 1969. **सोशल स्ट्राटीफिकेशन: द फार्म्स एण्ड फंक्शन ऑफ इनइक्वलिटी.** नई दिल्ली: प्रेंटिस ऑफ इण्डिया प्रा. लि.।

यूनाइटेड नेशंस रिपोर्ट, 1980. **हाफवे थ्रो द इण्टरनेशनल वोमेन्स डिकेड** (1975-85). केपहेगन कान्फ्रेंस,।

वार्नर, डब्ल्यू. एल. 1949. **सोशल क्लास इन अमेरिका.** शिकागो: सोशल सांइस रिसर्च एसोसिएट्स।

वेबर, मेक्स. 1947. **द थ्यौरी ऑफ सोशल एण्ड एकोनॉमिक आर्गनाईजेशन.** (ए.एम. हन्डर्सन एण्ड टी. पार्सन्स, ट्रान्स) न्यूयार्क: फ्री प्रेस।

वेस्टरगार्ड, जे. एच. 1965. "द विदरिंग अवे ऑफ क्लास, ए कान्टेम्पोरेरी मिथ" **इन, पी.** एन्डरसन एट.एल. **टूवर्डस सोशियोलिज्म.** लंदन।

हिन्दी में उपलब्ध पुस्तकें

डा. सीताराम झा. **भारतीय समाज का स्वरूप**
डा. श्याम सुन्दर घोष. **भारतीय मध्यवर्ग**
अनु. यशदेव शल्य. **सामाजिक परिवर्तन**
डा. मोतीलाल गुप्ता. **भारतीय सामाजिक संस्थाएँ**
डा. दीक्षित. **भारतीय सामाजिक व्यवस्था**
राम गोपाल सिंह. **समाजशास्त्र की मूल अवधारणाएँ**
राम गोपाल सिंह. **भारत में सामाजिक परिवर्तन एवं सामाजिक संस्थाएँ**
राम गोपाल सिंह. **सामाजिक संरचना : प्रक्रिया एवं परिवर्तन**
राम गोपाल सिंह : **भारतीय समाज**

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGSY - 04
सामाजिक स्तरीकरण

खंड
2

समाजों में स्तरीकरण

इकाई 6
पूर्व-आधुनिक समाजों में स्तरीकरण 5

इकाई 7
आधुनिक समाजों में स्तरीकरण 17

इकाई 8
व्यावसायिक क्रमविन्यास 28

इकाई 9
विचारधारा तथा स्तरीकरण : श्रेणीबद्धता एवं समानता 38

खंड परिचय : समाजों में स्तरीकरण

इस खंड को चार इकाइयों में विभाजित किया गया है जिन्हें (i) पूर्व-आधुनिक समाजों में स्तरीकरण (ii) आधुनिक समाजों में स्तरीकरण (iii) व्यावसायिक क्रम-विन्यास एवं (iv) विचारधारा तथा स्तरीकरण : श्रेणीबद्धता एवं समानता के रूप में प्रस्तुत किया गया है। इन इकाइयों का मुख्य उद्देश्य विज्ञान एवं प्रौद्योगिक विकास तथा सामाजिक रचना के संदर्भ में सामाजिक स्तरीकरण के उद्विकास का व्यवस्थित विश्लेषण प्रस्तुत करना है।

इकाई 6 पूर्व-औद्योगिक समाजों में स्तरीकरण से सम्बद्ध है तथा आयु, लैंगिक प्रस्थिति एवं नातेदारी की भूमिका तथा शक्ति का सामाजिक परिस्थिति एवं सम्मान के मूल्यांकन पर प्रभाव को स्पष्ट करती है। सभी पूर्व-आधुनिक समाजों जैसे आखेटक एवं संग्राहक, चारण उद्यानकर्मी एवं कृषि समाजों में स्त्री-पुरुष के मध्य लैंगिक भेद के आधार पर श्रम विभाजन की व्यवस्था विद्यमान रही है। पितृतंत्रात्मक विचारधारा इन समाजों की मुख्य विशेषता रही है जिसे हम आधुनिक समाजों में भी पाते हैं।

इकाई 7 में उन कारकों का उल्लेख है जो किसी समाज को पूर्व-औद्योगिक समाजों से पृथक करते हैं अर्थात् उसे आधुनिक बनाते हैं। "प्रकार्यवादी" एवं "मार्क्सवादी" जैसे विभिन्न दृष्टिकोणों की तुलना के अतिरिक्त यह भी इस इकाई में बताया गया है कि आधुनिक समाज श्रम विभाजन पर आधारित जटिल सामाजिक संरचना की विशेषता का प्रतिनिधित्व करता है। इसके अतिरिक्त वर्ग सम्बन्ध, व्यवसायिकता भी आधुनिक समाज की सामाजिक संरचना को जटिल बनाते हैं। यद्यपि, यह व्यवस्था प्रजाति, रंग एवं स्त्री-पुरुष के मध्य जैविक भेद पर आधारित प्राकृतिक असमानताओं से मुक्त नहीं है फिर भी इस आधुनिक समाज व्यवस्था में व्यावसायिक विभेदीकरण का उच्च स्तर, आधुनिक प्रौद्योगिकीय यन्त्रों का प्रयोग एवं प्रबन्धकीय योजनाओं की बाहुल्यता जैसे तत्व पाये जाते हैं। पूंजीवादी एवं समाजवादी दोनों ही समाजों को आधुनिक समाज की संज्ञा दी जा सकती है यद्यपि सोवियत संघ एवं अन्य पूर्व-यूरोपीय देशों में हुए परिवर्तनों ने इन दोनों समाजों के मध्य के दीर्घकालिक-परम्परागत विभाजन को न्यूनतम किया है।

इकाई 8 में सामाजिक प्रस्थिति के निर्धारण में व्यावसायिक क्रम-विन्यास की भूमिका पर बल दिया गया है। यह एक तथ्य है कि व्यवसाय का आधुनिक समाज में एक महत्वपूर्ण स्थान है। व्यक्ति की प्रभावशाली प्रस्थिति इस तथ्य पर निर्भर करती है कि उसका व्यवसाय क्या है। इस प्रकार व्यवसाय प्रस्थिति के परम्परागत आधारों जैसे जाति, नातेदारी, पैतृकता को रूपान्तरित कर देता है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं औद्योगिकीकरण ने सम्पूर्ण विश्व में नवीन व्यावसायिक संरचना को उत्पन्न किया है, अतः व्यवसाय की प्रतिष्ठा के आधार पर प्रस्थिति हमारे वर्तमान जीवन का महत्वपूर्ण मूल्य बन गयी है। व्यावसायिक क्रम-विन्यास सम्बन्धी विभिन्न दृष्टिकोणों (उपागमों) के अतिरिक्त हमने व्यवसाय से विशिष्ट रूप से सम्बद्ध प्रतिष्ठा एवं सम्मान का विस्तार से विश्लेषण किया है। आय एवं प्रतिष्ठा व्यवसाय के क्रम-विन्यास के मुख्य आधार हैं इसके अतिरिक्त लैंगिक विभाजन, ग्रामीण नगरीय आवास एवं व्यवसाय से सम्बन्धित कार्य की प्रकृति व्यावसायिक क्रम-विन्यास को प्रभावित करती है।

हर समाज में अन्तः वैयक्तिक सम्बन्धों के संदर्भ में कुछ आधारभूत मूल व्यवस्थाएं होती हैं जो सदस्यों को निर्देशित करती हैं। हमारे सामाजिक जीवन में धर्म एक उत्प्रेरक शक्ति की भूमिका निभाता है। अतः धर्म वह विचारधारायी उपकरण है जो सामाजिक सम्बन्धों को निर्धारित करता है। हालांकि आधुनिक विश्व में सामाजिक प्रस्थिति के धर्मनिरपेक्ष/इहलौकिक पक्ष ने स्त्री-पुरुष, निम्न एवं उच्च, समृद्ध एवं निर्धन की समानता के संदर्भ में आधारभूत सामाजिक मूल्य का स्थान ग्रहण किया है। शिक्षा एवं लोकतंत्र ने सदियों से चले आ रहे प्रस्थिति के प्रदत्त पक्षों पर एक तरफ तीखे आक्रमण कर तथा दूसरी तरफ प्रवसन एवं सामाजिक गतिशीलता के नवीन अवसर प्रदान कर समानता की विचारधारा में महत्वपूर्ण योगदान किया है। **इकाई 9** के परिप्रेक्ष्य में मार्क्स, वेबर एवं दर्खाइम के विचारों की चर्चा की है।

इकाई 6 पूर्व-आधुनिक समाजों में स्तरीकरण

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्थाओं का उद्भव
  6.2.1 विचारधारा की भूमिका
6.3 पूर्व-आधुनिक समाजों में स्तरीकरण के उपागम
  6.3.1 नव-विकासवादी उपागम
  6.3.2 नृवैज्ञानिक उपागम
  6.3.3 मार्क्सवादी उपागम
6.4 पूर्व-आधुनिक समाज के विभिन्न रूप एवं उनकी स्तरीकरण व्यवस्था
  6.4.1 आखेटक एवं संग्राहक समाज
  6.4.2 पशुचारण एवं उद्यानकर्मी समाज
    6.4.2.1 पशुचारण समाज
    6.4.2.2 उद्यानकर्मी समाज
  6.4.3 कृषक समाज या पारम्परिक राज्य
    6.4.3.1 पितृसत्तात्मक ढांचा, विचारधारा और लिंग (स्त्री-पुरुष) की भूमिका : रूढ़िबद्ध धारणा या लिंगबद्ध धारणा
    6.4.3.2 पारम्परिक राज्य और अन्य समाज
6.5 सारांश
6.6 शब्दावली
6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

6.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको इस योग्य होना चाहिए कि आप :

- सामाजिक स्तरीकरण की पद्धति के उद्भव को समझ सकें, वर्णन कर सकें,
- पूर्व-आधुनिक समाज में सामाजिक स्तरीकरण की विभिन्न पद्धतियों के बीच अन्तर कर सकें,
- पूर्व-आधुनिक समाज के विभिन्न रूपों एवं उनके स्तरीकरण की पद्धतियों के बीच अन्तर, वर्णन एवं विश्लेषण कर सकें, और
- स्तरीकरण पद्धति के औचित्य-स्थापन में विचारधारा की भूमिका के बारे में लिख सकें।

6.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम लोग पूर्व-आधुनिक समाजों में सामाजिक स्तरीकरण के बारे में विस्तार से विचार करेंगे। इसका आरम्भ उस विवाद से होगा जो सामूहिक स्तरीकरण पद्धति के उद्भव से संबंधित है और फिर आगे जिसमें इस स्तरीकरण पद्धति को वैधता प्रदान करने में विचारधारा की प्रस्तावना की चर्चा हुई है। पूर्व-आधुनिक समाजों में सामाजिक स्तरीकरण के उपागमों में नव-विकासवादी, नृवैज्ञानिक एवं मार्क्सवादी उपागम पर विचार किया गया है। इसके बाद पूर्व-आधुनिक समाज के विभिन्न रूप एवं उनके स्तरीकरण व्यवस्था की विवेचना की गई है, जो इस अंक का केन्द्रीय विषय-वस्तु है। आगे चलकर पूर्व-आधुनिक समाज के तीन महत्वपूर्ण रूप—आखेटक एवं संग्राहक समाज, पशुचारण एवं उद्यानकर्मी समाज, कृषि समाज या पारम्परिक राज्य पर विस्तारपूर्वक विचार किया गया है। इस पूरे अध्ययन के दौरान पूर्व-आधुनिक समाज के तीनों महत्वपूर्ण रूपों के संदर्भ में पितृसत्तात्मक ढांचा एवं विचारधारा पर विचार तो किया गया है लेकिन इस बात पर विशेष जोर है कि लिंग (स्त्री-पुरुष) स्तरीकरण की इसमें क्या भूमिका है?

6.2 सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्थाओं का उद्भव

वस्तुतः कोई भी नहीं जानता कि प्रायः सभी सात समाजों में स्तरीकरण पद्धति का विकास कैसे और क्यों हुआ। निस्संदेह हम लोग कह सकते हैं कि सभी समाज की विशेषता सामाजिक असमानता रही है। लेकिन यह जरूरी है कि हम लोग स्तरीकरण पद्धतियों की गतिशीलता को समझें। सामान्यतः यह माना जाता है कि इसके मूल में वह जो सत्ता एवं विशेषाधिकारों के बंटवारे को लेकर होता है। मूल्यवान समझी जाने वाली चीजों को लेकर लोगों के बीच जो संघर्ष होता है, उसे हम लोग "द्वंद्व" के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। यह द्वंद्व तब स्वाभाविक है जब चीजों (जो मूल्यवान मान ली जाती हैं) का समान वितरण लोगों में सम्भव न हो। इस द्वंद्व में कुछ लोग जीतते हैं तो कुछ हारते हैं। जो लोग विजयी होते हैं वे कालान्तर में अपनी स्थिति और मज़बूत कर लेते हैं और जो हार जाते हैं उनके भविष्य में जीतने की सम्भावना क्षीण हो जाती है। विजयी होने वालों की ताकत समय के साथ-साथ बढ़ती जाती है और इसके साथ ही जो नई सामाजिक संरचना उभरती है वह हर सम्भव विजयी वालों के हितों को मदद पहुंचाती है। गेहार्ड लेंस्की इस पूरी प्रक्रिया को बड़ी स्पष्टता से यूं व्यक्त करते हैं :

1) किसी भी समाज में मूल्यवान चीजों की आपूर्ति में कमी होगी और जब ऐसा होगा तो लोग इन्हें प्राप्त करने के लिए स्वयं प्रवृत्त होंगे, जिसमें कुछ लोग अन्य व्यक्तियों की तुलना में, अपनी निजी विशेषताओं के कारण ज्यादा सफल होंगे।

2) निजी विशेषताओं (निजी शक्ति) के प्रयोग से कुछ लोग भौतिक-वस्तुओं को प्राप्त करने एवं संग्रह करने में सफल हो जाएंगे। यह सफलता व्यक्ति को विशेषाधिकार एवं शक्ति प्रदान करेगी, और ये दोनों चीजें उस व्यक्ति को प्रतिष्ठा प्रदान करेंगी।

3) मूल्यवान चीजों के ऊपर अधिकार एवं यह प्रतिष्ठा बदले में उस व्यक्ति को और शक्तिशाली बनायेगी। इस तरह यह चक्र पूरा होता है।

4) निजी शक्ति से चालित यह वितरण की प्रणाली आखिरकार न्यायसंगत ठहराई जाती है जो बाद में "वैध" और फिर "सही" मान ली जाती है। कुछ लोगों की शक्ति के सहारे इस असमानता को बरकरार रखा जाता है और इस असमानता वे जो विचारधारा विकसित होती है वह अपनी धार्मिक स्वीकृति देकर इस स्तरीकरण को उचित ठहराती है।

5) अन्ततः इन विशेषाधिकारों को सन्ततियों में बढ़ा दिया जाता है जिससे वस्तु पर अधिकार किसी व्यक्ति का न होकर परिवार से जुड़ जाता है। इस प्रकार एक वर्ग प्रणाली की रचना होती है जिसे दिन-ब-दिन पुष्ट किया जाता है।

लेंस्की की यह विवेचना वर्ग प्रणाली पर केन्द्रित है लेकिन यही तर्क प्रजातिगत एवं लिंगगत स्तरीकरण के उद्भव के बारे में भी दिया जा सकता है। प्रजाति के मामले में गोरों ने काले अमेरिकियों, एशियाइयों, मोक्सीकन अमेरिकियों पर अपना प्रभुत्व जमाया, इन समूहों से सस्ती जमीन एवं श्रम को हथियाकर एक ऐसे समाज का निर्माण किया जो प्रणालीबद्ध तरीके से इन समूहों को सार्वजनिक गतिविधियों एवं पूर्ण हिस्सेदारी से प्रायः अलग-सा कर दिया।

स्त्री और पुरुष के बीच असमानता की कहानी इससे भी पुरानी है। हम लोग कल्पना कर सकते हैं कि जब भी द्वंद्व हुआ होगा स्त्री की तुलना में पुरुष विजयी हुआ होगा जिससे उसे शक्ति प्राप्त हुई होगी और वह एक स्थायी असमानता वाले व्यवस्था को स्थापित किया होगा। पुरुष के जीतने के पीछे एक वजह तो उसकी शारीरिक शक्ति रही होगी क्योंकि औरतों को लगातार गर्भावस्था में रहना पड़ता था। इस प्रकार, पुरुष समाज के ऊपरी स्तर पर प्रतिष्ठित हुआ जबकि स्त्री उसके नीचे मानी जाने लगी। वास्तव में, "आखेटक एवं संग्राहक समाज" में जहां काम का सीधा विभाजन था — मुख्य विभाजन स्त्री और पुरुष के ही बीच में था। पुरुष और स्त्री काम का विभाजन ही लिंगगत स्तरीकरण का आधार है — अन्य कारणों के अलावा। स्तरीकरण की पद्धतियों को चाहे वो आधुनिक हों या पूर्व-आधुनिक; वैधता की आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति विचारधारा करती है।

6.2.1 विचारधारा की भूमिका

सभी समाज की अपनी एक विचारधारा होती है (विचारधारा एवं स्तरीकरण पर अधिक विस्तारपूर्वक जानकारी के लिए इकाई 9 देखें, खंड 2, ई.एस.ओ.-04) जैसे सोवियत रूस एवं संयुक्त राज्य अमेरिका की अपनी एक विचारधारा है। विचारधाराएं स्तरीकरण को न्यायसंगत ठहराती हैं तथा नई पीढ़ी को यह विश्वास दिलाती है कि असमानता पर टिकी मौजूदा सामाजिक व्यवस्था वैध है। क्रांति-पूर्व चीन की जनता कन्फ्यूशियस (551-479 ई.पू.) के विचारों पर विश्वास करती थी, जिसके अनुसार मनुष्य को सुव्यवस्थित एवं स्तरीकृत इस समाज में अपने स्थान से संतुष्ट रहना चाहिए। हिंदुओं में प्रचलित जाति-व्यवस्था भी धार्मिक विचारधारा पर आधारित है। ऋग वेद में कहा गया है कि दैव इच्छा से ही हिंदू समाज को चार वर्णों में बांटा गया है, जिसमें ब्राहम्ण सबसे ऊंचे हैं क्योंकि वे ही धार्मिक कर्मकांडों एवं यज्ञों के लिए उत्तरदायी हैं।

धार्मिक शिक्षाएं प्रायः सभ्यता की विचारधाराओं के रूप में काम करती है। ये विचारधाराएं सभ्यता से जुड़ी स्तरीकरण की पद्धति को न्यायसंगत भी ठहराती हैं। धार्मिक शिक्षाएं एवं सभ्यता की विचारधाराओं का यह संबंध धार्मिक आन्दोलनों में पूर्ण रूप से सत्य नहीं माना जा सकता। उदाहरण के लिए, ईसा की शिक्षाएं रोमन साम्राज्य एवं यहूदी समाज में व्याप्त स्तरीकरण पद्धति के विरोध में थीं लेकिन कई शताब्दियों के बाद ईसा की शिक्षाओं को रूढ़ि और संस्थान का रूप दे दिया गया। फिर मध्य-युग तक आते-आते ईसाई धर्म एक ऐसे सामाजिक व्यवस्था का विचारधारा बन गया जिससे राजा, मालिक, व्यापारी एवं किसान वर्ग के कई स्तर विद्यमान थे। शाही शादी एवं राज्याभिषेक भी चर्च के पादरी के अनुमोदन से ही होता था। यही नहीं बल्कि दैव-विधान से संचालित इस व्यवस्था के खिलाफ बोलने वाले विधर्मियों को ये पादरी मृत्यु दंड भी देते थे।

औरतों के प्रति पक्षपातपूर्ण रवैये को भी स्वीकृति मिली हुई थी। पितृसत्तात्मक विचारधारा ने लिंगबद्ध धारणा का निर्माण किया। धर्म का प्रयोग इस धारणा को स्थायी बानने में तथा औरतों का अधीनस्थ स्थिति को चिरस्थायी बनाने में किया गया। बाइबिल में कहा गया है कि : "औरत से उत्पन्न होकर आखिर वह कैसे शुद्ध हो सकता है।"

बोध प्रश्न 1

खाली जगहों को भरें :

1) किसी भी समाज में ..... आपूर्ति में कमी होगी।

2) निजी विशेषताओं के प्रयोग से कुछ लोग ..... को प्राप्त करने में सफल होंगे।

3) कुछ लोगों की ..... इस असमानता को बरकरार रखा जाता है।

4) अन्ततः इन विशेषाधिकारों को ..... जिससे वस्तु पर अधिकार किसी व्यक्ति का न हो कर परिवार से जुड़ जाता है।

5) ..... वर्ण प्रणाली पर केन्द्रित है।

6) आखेटक एवं संग्राहक समाज में जहां काम का सीधा विभाजन था / मुख्य विभाजन ..... के ही बीच में था।

7) धार्मिक शिक्षाएं प्रायः ..... के रूप में काम करती है।

6.3 पूर्व-आधुनिक समाजों में स्तरीकरण के उपागम

पूर्व-आधुनिक समाज में स्तरीकरण को समझने के लिए तीन उपागम हैं— नव-विकासवादी, वैज्ञानिक एवं मार्क्सवादी। इन तीनों पद्धतियों पर क्रमानुसार हम लोग विचार करेंगे।

6.3.1 नव-विकासवादी उपागम

सामाजिक स्तरीकरण पद्धतियों की ऐतिहासिक विश्लेषण करने वालों में गेहार्ड लेंस्की प्रमुख हैं। लेंस्की सामाजिक विकास एवं उसके स्तरीकरण पद्धति को विकासवादी नजरिये से देखते हैं। फिर भी, उनका मानना है कि कोई भी ऐसा सामान्य नियम नहीं है जो विश्व के सभी समाजों पर समान रूप से लागू किया जा सके। लेंस्की कहते हैं कि कोई भी समाज किसी दूसरे समाज की तुलना में एक जैसा नहीं होता बल्कि उनमें कुछ विभिन्नताएं पाई जाती हैं। लेकिन किसी भी समाज का विकास एवं उसकी स्तरीकरण पद्धति के बीच एक संबंध पाया जाता है। समाज का बढ़ता हुआ आकार, अधिक स्थायी बंदोबस्त वाला ढांचा, अधिक आर्थिक अतिरिक्त मूल्य एवं श्रम का बढ़ता हुआ विभाजन; सामान्य रूप से लेंस्की समाज को इसी रूप में आगे बढ़ता हुआ देखते हैं। विकास के इस क्रम में तकनीकी परिवर्तन सबसे महत्वपूर्ण है। लेंस्की इस बात को रेखांकित करते हैं कि कैसे प्राचीन समाज में कम स्तरीकरण प्रचलित था मध्ययुग में सबसे ज्यादा था और मौजूदा औद्योगिक समाज में फिर स्तरीकरण में ह्रास के लक्षण दिखलाई पड़ रहे हैं। (इस प्रकार के संबंध को वक्ररेखी संबंध कहा जाता है।) लेंस्की की विकासवादी अवधारणा के अनुसार समाज को मोटे तौर पर चार रूपों में बांटा जा सकता है : आखेटक एवं संग्राहक, उद्यानकर्मी, कृषि तथा औद्योगिक समाज। ये सभी समाज एक विशेष ऐतिहासिक युग में, लेंस्की के अनुसार विशेष प्रमुख थे। (6.4 में हम लोग इस बारे में विस्तारपूर्वक अध्ययन करेंगे।)

6.3.2 नृवैज्ञानिक उपागम

अभी भी कुछ जन-समूह हैं जो पाषाण-युगीन लोगों की तरह ही बीस या तीस आदमियों के झुंड में रहते हैं, जानवरों

का आखेट करके एवं जंगली वनस्पतियों का संग्रह करके अपनी जीवन-चर्या चलाते हैं तथा लगातार एक जगह से दूसरी जगह अपना स्थान परिवर्तित करते रहते हैं। आखेटकों एवं संग्राहकों का यह जन-समूह अब तेजी से लुप्त होता जा रहा है। कुछ जगहों में ये एक या दो बड़े समुदायों में बंटे, कृषि पर आधारित स्थायी गांवों में बस गये हैं लेकिन अब भी इनके हथियार एवं औजार इतिहासपूर्व समय के ही अवशेष जान पड़ते हैं। निस्संदेह कुछ जगहों में हमें स्वेच्छाचारी एवं शासक वर्ग द्वारा संचालित उन्नत राज्य भी देखने को मिल जाते हैं।

बड़े-बड़े शहरों, दर्शनीय प्रासादों, मंदिरों एवं खजानों से समृद्ध इन महान् साम्राज्यों ने ही समुद्र एवं रेगिस्तान के पार से सभी आक्रमणकारियों को अपनी ओर आकर्षित किया था। एक चीन था— विश्व का सबसे बड़ा साम्राज्य जिसके नेताओं ने सभ्य समाज की चारदीवारी के बाहर रहने वाले लाल मुंहों (Red-faced) की खिल्ली उड़ायी थी। और फिर एक देश भारत था जहां गायों की पूजा होती थी और लोगों की जिन्दगी पूर्वजन्म के कर्मों से निर्धारित होती थी। अमेरिकियों के अपने देशी राज्य एवं साम्राज्य थे जो अपने में एक पूरी दुनिया थी और जिनमें हरेक की अपनी विशिष्ट कला एवं धर्म था, पत्थरों के बने विशाल दुर्ग थे, बड़ी मेहनत से जमा की गई अन्न भंडार थे और राज्य से संचालित होने वाली एक पूरी अर्थव्यवस्था थी।

नृवैज्ञानिक पद्धति अन्य पद्धतियों से इस मायने में भिन्न है कि यह व्यक्ति के समूहों एवं समाज को समझने में, युग, सेक्स एवं नातेदारी की भूमिका पर ध्यान केन्द्रित करती है।

6.3.3 मार्क्सवादी उपागम

यद्यपि, मार्क्स के चिन्तन का मुख्य केन्द्र-बिंदु पूंजीवाद और शोषण-प्रणाली था लेकिन मार्क्स ने इसकी व्याख्या ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में की। इस ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के वजह से ही मार्क्स ने पूर्व-आधुनिक समाजों में स्तरीकरण पर अपना ध्यान केन्द्रित किया। इसी स्तरीकरण से ही "वर्ग" की अवधारणा जुड़ी हुई है जिसका मार्क्स ने विस्तार से विश्लेषण किया है।

मार्क्स यह मानते हैं कि पश्चिमी समाज का विकास चार युगों से गुजरकर हुआ है : ये हैं—आदिम साम्यवाद, प्राचीन समाज, सामंतवाद एवं पूंजीवाद। आदिम साम्यवाद का उदाहरण इतिहास-पूर्व के समाजों में मिलता है और जिसे अब तक का एक मात्र वर्गहीन समाज माना जा सकता है। तब से प्रत्येक समाज मुख्यतः दो वर्गों में बंटा दिखाई देता है : प्राचीन समाज में मालिक एवं गुलाम के दो वर्ग थे, सामंती समाज में जमींदार एवं किसान (सर्फ) के दो वर्ग थे एवं पूंजीवादी समाज में पूंजीपतियों एवं मजदूरों के दो वर्ग हैं।

आदिम साम्यवाद वाले युग में वर्गों का अस्तित्व नहीं था क्योंकि तब समाज उत्पादन के सामुदायिक विधि पर आधारित था। मानव समाज के आरम्भिक रूप—आखेटक एवं संग्राहक समाज में जमीन एवं उत्पाद वस्तुएं समुदाय की चीज होती थी। पुरुष शिकार करते थे एवं स्त्रियां वनस्पतियों का संग्रह करती थीं जिसको समुदाय के लोग बांट कर खाते थे। वर्गों का कोई अस्तित्व नहीं था क्योंकि समाज के सभी सदस्यों का उत्पादन की शक्तियों (जमीन जंगल) से एक समान रिश्ता था। सभी सदस्य उत्पादक भी थे एवं उसके मालिक भी। श्रम एवं उसके उत्पादन पर सभी सदस्यों का एक समान अधिकार था।

आखेट एवं संग्रह एक निर्वाह मूलक अर्थव्यवस्था है जिसमें उत्पादन उतना ही होता है जितना कि मनुष्य के जीवित बने रहने के लिए आवश्यक है। जब इससे अधिक समाज की उत्पादन-क्षमता हो जाय तो "वर्ग" का उद्भव होता है। यह तब होता है जब समाज की मुख्य उत्पादन पद्धति कृषि हो। कृषि अर्थव्यवस्था में, पूरे समाज के खाद्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज का एक विशेष वर्ग ही उत्पादन में लगा होता है। बाकी लोग खाद्य-उत्पादन से अलग दूसरे क्षेत्रों में विशेषज्ञता हासिल कर सकते हैं। आखेटक एवं संग्राहक समाज में प्रचलित श्रम का जो सीधा विभाजन था अब यह विभाजन ज्यादा जटिल एवं विशिष्ट बन गया। उदाहरण के लिए, कृषि के आरम्भिक दिनों में कुछ व्यक्ति मिट्टी के बर्तन, कनड़ा एवं कृषि औजारों के पूर्णकालिक उत्पादक बन गये। कृषि का ज्यों-ज्यों विकास होने लगा; अतिरिक्त उत्पादनों (समुदायों के निम्नतम आवश्यकताओं के अलावा) का भी उसी मात्रा में विकास होने लगा जिससे विभिन्न समुदायों के बीच एवं आपस में वस्तुओं का विनिमय एवं व्यापार में भी काफी वृद्धि हुई। एक ही समय में निजी सम्पत्ति का प्रचलन आरम्भ हुआ। अब वस्तुओं को पव्य (कॅमोडिटी) एवं वाणिज्य वस्तु के रूप में देखा जाने लगा और जिसे खरीदने का अधिकार समुदाय के बजाय व्यक्ति को था। अतिरिक्त सम्पत्ति (सरप्लस वेल्थ) के एकत्रीकरण एवं निजी सम्पत्ति ने वर्ग समाज के विकास का आधार तैयार किया। इस प्रकार, कुछ लोग उत्पादन की शक्तियों पर प्रभुता स्थापित करने में सफल हो गये तो बाकी लोग उनके लिए काम करने को बाध्य हुए। परिणाम यह हुआ कि अनुत्पादक वर्ग उत्पादन की शक्तियों के मालिक बन बैठे जबकि उत्पादक वर्ग सिर्फ अपनी श्रम-शक्ति के मालिक रहे।

मार्क्सवादी अवधारणा के अनुसार मुख्य सामाजिक वर्गों के बीच सम्बन्ध (उत्पादन-सम्बन्ध) आपसी निर्भरता दो वर्गों के बीच समान एवं पारस्परिक सामंजस्यपूर्ण संबंध नहीं है बल्कि यह संबंध शोषक एवं शोषित के बीच का संबंध है शोषित वर्ग की तुलना में विशेष रूप से वर्ग को ज्यादा लाभ मिलता है जिससे परस्पर स्वार्थ-संघर्ष निरन्तर चलता रहता है। यह स्वार्थ संघर्ष वर्ग संघर्ष की भूमि तैयार करती है वह वर्ग संघर्ष ही सामाजिक परिवर्तन की मुख्य वाहिका है। मार्क्स की मूल प्रस्तावना ही यह है कि अब तक के प्रत्येक समाज का इतिहास मूलतः वर्ग संघर्ष का इतिहास है।

पूर्व-आधुनिक समाज में सामाजिक स्तरीकरण को समझने के लिए उपर्युक्त तीनों पद्धतियों (नव-विकासवादी, नृवैज्ञानिक एवं मार्क्सवादी) को मिला कर देखने की ज़रूरत है क्योंकि तीनों की अपनी कुछ खास विशेषताएं हैं।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी : i) खाली जगहों का प्रयोग अपने उत्तर के लिए करें।
ii) अपने उत्तर की तुलना अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1) पूर्व-आधुनिक समाज में सामाजिक स्तरीकरण को समझने के लिए कौन सी तीन पद्धतियां हैं?

.....

.....

.....

2) पूर्व-आधुनिक समाज के विकास की मुख्य प्रवृत्तियों का वर्णन करें।

.....

.....

.....

3) मार्क्स के अनुसार, कितने युगों से होकर पश्चिमी समाज का विकास हुआ?

.....

.....

.....

6.4 पूर्व-आधुनिक समाज के विभिन्न रूप एवं उनकी स्तरीकरण व्यवस्था

ऊपर उल्लेखित उपागमों के सहारे अब हम लोग समाज के मुख्य तीन रूपों के बीच अन्तर कर सकते हैं :

1) आखेटक एवं संग्राहक समाज
2) पशुचारण एवं उद्यानकर्मी समाज
3) कृषि समाज, या पारम्परिक राज्य।

इन तीनों समाज-रूपों की अपनी विशिष्ट स्तरीकरण पद्धति है। इकाई के इस खंड में हम लोग इन समाज-रूपों एवं उनकी स्तरीकरण पद्धतियों की प्रकृति के बारे में विचार करेंगे।

6.4.1 आखेटक एवं संग्राहक समाज

इस पृथ्वी पर मनुष्य अपने आरम्भिक दिनों में छोटे-छोटे समूहों में रहा करता था। इन समूहों में मुश्किल से 30 से 40 लोग रहा करते थे। मानव-समाज का आरम्भिक रूप आखेटकों एवं संग्राहकों का था। ये लोग फसल उगाने या पशु पालन के बजाय शिकार या जंगली वनस्पतियों के संग्रह से अपनी जीविका चलाते थे।

लेस्की के अनुसार, 7000 ई.पू. तक इस प्रकार के आखेटकों एवं संग्राहकों को समाज का पूरे विश्व में प्रभुत्व था। जैसा कि नाम से ही ज्ञात है आखेटक एवं संग्राहक समाज का नामकरण उनके भोजन प्राप्त करने की विधि को देखकर हुआ है। वन्य-पशुओं का शिकार एवं जंगली वनस्पतियों का संग्रह ही उनके भोजन का आधार था। वह मूलतः एक खानाबदोश समाज था। एक जगह वन्य-पशुओं एवं वनस्पतियों के खत्म हो जाने पर वे दूसरी जगह चले जाते थे। ऐसा समाज अपेक्षाकृत संख्या में छोटा हुआ करता था, जिससे श्रम का विभाजन प्रायः नहीं के बराबर था। यद्यपि, सामान्यतः पुरुष शिकार करते थे एवं स्त्रियां वनस्पतियों के संग्रह के लिए जिम्मेदार मानी जाती थी। उन लोगों की तकनीक ऐसी नहीं थी कि अतिरिक्त भोजन का उत्पादन संभव हो पाता। वे जो भी शिकार या वनस्पति संग्रह कर पाते थे वे तत्काल उपभोग के लिए होते थे।

आखेटक एवं संग्राहक समाज में बहुत कम स्तरीकरण था। श्रम-विभाजन की कमी के वजह से लोगों के बीच ऊंच-नीच का कोई भेद नहीं था। स्त्री और पुरुष के बीच यह भेद ज़रूर था जिसे अपवाद ही कहा जा सकता है। शक्ति के आधार पर कोई स्तरीकरण नहीं था क्योंकि राजनैतिक प्रणाली अभी आरम्भिक अवस्था में ही थी। वर्ग या आर्थिक स्तरीकरण भी नाम-मात्र को ही था क्योंकि लोग बड़ी मुश्किल से अपना जीवन ही निर्वाह कर पाते थे इसलिए गरीब या अमीर होने का सवाल ही कहां उठता था।

स्तरीकरण होने के बजाय आखेटक एवं संग्राहक समाजों में सामुदायिक हिस्सेदारी प्रचलित थी जिसे "आदिम साम्यवाद" कहा जाता है। भोजन कपड़ा एवं अन्य आवश्यकताओं की कमी ने इन लोगों को बाध्य किया कि जो है उसमें ही हिस्सेदारी की जाय। ऐसे में निजी सम्पत्ति का क्षेत्र बहुत ही सीमित था। लोगों के औजार एवं हथियार खुद के होते थे लेकिन भोजन, वस्त्र एवं आश्रय-स्थल प्रदान करने वाले जंगल एवं मैदान समुदाय की सम्पत्ति मानी जाती थी। वन्य पशु एवं वनस्पतियां भी समुदाय की सम्पत्ति मानी जाती थी लेकिन किसी व्यक्ति के आखेट एवं संग्रह करने पर वह उसकी सम्पत्ति हो जाती थी। यद्यपि, इसे भी सामान्यतया उन लोगों के साथ हिस्सेदारी करनी पड़ती थी जिसे कोई भी शिकार उस दिन नसीब न हुआ हो। "हिस्सेदारी" को "संस्थानीकृत" कर दिया गया था क्योंकि आखेट एवं संग्रह में हमेशा ही जोखिम एवं प्रालब्य का तत्व विद्यमान रहता था। हिस्सेदारी न करने की स्थिति में सफल लोग जब असफल होंगे तो जाहिर है उन्हें कोई मदद नहीं करेगा और चूंकि कभी न कभी असफल होना सभी की नियति थी इसलिए लोगों में हिस्सेदारी करने की प्रबल भावना विद्यमान थी।

यद्यपि, आर्थिक वर्ग और शक्ति के अर्थ में समानता थी लेकिन आखेटक एवं संग्राहक समाज में प्रतिष्ठा और सम्मान की दृष्टि से कुछ भेद था। आखेटक एवं संग्राहक समाज में व्यक्ति को प्रतिष्ठा या सम्मान उसके निजी गुणों पर प्राप्त होता था। इसके अलावा, उस आदिम समाज में बड़े बुजुर्गों को विशेष स्थान प्राप्त था क्योंकि उन्हें भीषण योद्धा, महान् वक्ता एवं अलौकिक शक्तियों का मालिक समझा जाता था। यद्यपि, इस रूप में स्तरीकरण था लेकिन इसका कोई संगठनात्मक या संस्थागत रूप विकसित नहीं हुआ था। इसलिए इस व्यवस्था में कोई व्यक्ति अपने निजी गुणों के आधार पर जहां तक चाहे विकास कर सकता था।

आखेटक एवं संग्राहक संस्कृति अब भी विश्व के कुछ भागों में जैसे कि ब्राजील या न्यू गियाना के जंगलों में विद्यमान है। लेकिन पश्चिमी संस्कृति के सर्वग्राही विस्तार से अधिकांश विनष्ट हो गये हैं या उनका कायाकल्प हो गया है, और जो कुछ बचे भी हैं उनका अब और बचे रहना प्रायः असम्भव सा हो गया है। वर्तमान में पूरे विश्व जनसंख्या की 0.001 प्रतिशत यानी करीब दो ढाई लाख से भी कम लोग ऐसे बचे हैं जो मुख्यतः आखेटक एवं संग्रह पर जीवित हैं।

आखेटक एवं संग्राहक समाज में सेक्स के आधार पर श्रम का विभाजन तो था लेकिन वह उतना दृढ़ नहीं था। प्राचीन लोग श्रम के विभाजन के मामले में व्यावहारिक थे। अन्य सेक्स वाले प्राणी का काम करना सामान्यतया नीचा नहीं माना जाता था। इसलिए प्रायः पुरुष भी संग्रह या बच्चों की देखभाल किया करते थे तथा औरतें आखेट के लिए जाती थीं।

किसी जगह को छोड़ने या न छोड़ने का महत्वपूर्ण निर्णय आखेटक ही लेते थे। अच्छे आखेटक ही इष्ट औरत को आकर्षित करने में सफल होते थे। दूसरे समूह के लोग भी आखेटकों के शिकार में सम्मिलित होते थे। आखेटक पर पुरुषों के एकाधिकार ने विनिमय प्रणाली के तहत पुरुषों को एकजुट किया एवं उन्हें शक्ति दी। वनस्पतियों एवं भोजन का संग्रह औरतों को वह सम्मान शक्ति नहीं प्रदान करा सका।

आखेटक एवं संग्राहक समाज में श्रम के लिंगबद्ध विभाजन की चार मुख्य स्थितियों की ओर फ्रायड्ल ने इशारा किया है :

1) संग्रह स्त्री और पुरुष दोनों करते थे लेकिन आखेट सिर्फ पुरुष ही करता था। तंजानिया के हाद्जा इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

2) सामुदायिक आखेटक एवं संग्रह में स्त्री, पुरुष दोनों शामिल होते थे। जैरे रेन फारेस्ट के पिग्मीज इसके उदाहरण हैं।

3) पुरुष शिकार करते थे, स्त्री संग्रह। कैलिफोर्निया और नेवदा घाटी के वाशो इंडियन इसके उदाहरण हैं।

संक्षेप में, कहा जा सकता है कि विकसित समाज की तुलना में — विशेषकर आधुनिक औद्योगिक समाज की तुलना में आखेटक एवं संग्राहक समाज में बहुत ही कम असमानता थी। क्योंकि— आखेटक एवं संग्राहक घुमन्तु जीव थे एक तो उन लोगों के पास कोई पशु नहीं था और दूसरे यातायात का कोई साधन नहीं था। उनके पास कुछ यांत्रिक साधन भी नहीं थे। उनके पास कुछ भौतिक वस्तुएं थी जिन्हें वे लेकर कभी भी जा सकते थे। ये वस्तुएं थीं— शिकार के लिए कुछ हथियार, गड्ढा खोदने या जाल बनाने के कुछ बर्तन। इस प्रकार इन भौतिक वस्तुओं के आधार पर समाज के सदस्यों में कोई असमानता नहीं थी। उम्र या सेक्स के आधार पर पद या श्रेणी में कुछ भिन्नता थी। पुरुष लगभग हर जगह शिकारी का ही काम करते थे जबकि औरतें वनस्पतियों का संग्रह, भोजन पकाने एवं बच्चों का देखभाल करती थी। बड़े बुजुर्ग— समुदाय के सबसे अधिक अनुभवी एवं अमदराज व्यक्ति समुदाय को प्रभावित करने वाले हर महत्वपूर्ण फैसले में एक निर्णायक की हैसियत रखते थे। चूंकि समुदाय के सदस्यों के बीच सम्पत्ति में कोई परिवर्तन नहीं होता था इसलिए आधुनिक समाज की तुलना में शक्ति भिन्नता भी बहुत कम थी। आखेटक एवं संग्राहक समाज मूलतः एक "सहयोगी" समाज था। किसी भी महत्वपूर्ण निर्णय एवं संकट की घड़ी में समुदाय के सभी वयस्क सदस्य एकजुट हो जाते थे।

आखेटक एवं संग्राहक लोग यूं ही जहां तहां नहीं घूमते रहते थे बल्कि अधिकांश लोगों के निश्चित इलाके थे जिसके आसपास साल-दर-साल वे नियमित रूप से स्थानांतरित होते रहते थे। बहुत से आखेटक एवं संग्राहक समुदायों को स्थायी सदस्यता नहीं प्राप्त थी। वे विभिन्न शिविरों एवं समूहों के बीच घूमते रहते थे।

6.4.2 पशुचारण एवं उद्यानकर्मी समाज

करीब बीस हजार वर्ष पूर्व कुछ आखेटक एवं संग्राहक समूह अपनी जीविका के लिए पशुपालन एवं स्थायी कृषि की ओर मुड़े। पशुपालन पर ही मुख्य रूप से जिनकी आजीविका आश्रित हो ऐसे समाज को पशुचारण समाज कहा जाता

है जबकि उद्यानकर्मी समाज फसल उगाते हैं और यही उनकी आजीविका का मुख्य स्रोत होता था। बहुत समाज मे मिश्रित अर्थव्यवस्था होती थी— पशुचारण एवं उद्यानकर्मी व्यवस्था का मिला-जुला रूप।

6.4.2.1 पशुचारण समाज

पर्यावरण पर पूर्णतः निर्भर रहने वाले पशुचारण समाज के लोग गाय, बैल, भेड़, बकरा, ऊंट एवं घोड़े जैसे जानवरों को पाला करते थे। अभी भी अफ्रीका, मध्य-पूर्व एवं मध्य एशिया में कुछ पशुचारण समाज बचे हुए हैं। इस प्रकार के समाज सामान्यतया घने झाड़-झंखाड़ों, रेगिस्तानों एवं पहाड़ियों के आसपास पाये जाते हैं। क्योंकि ऐसे क्षेत्र कृषि के लिए तो उपयुक्त नहीं होते हैं लेकिन पशुपालन के लिए आदर्श होते हैं। पशुचारण समाज जानवरों की मदद से एक जगह से दूसरी जगह स्थानांतरित होते थे जबकि आखेटक एवं संग्राहक समाज ऋतु-परिवर्तन की बाट जोहा करते थे। अपनी यायाबरी प्रवृत्ति की वजह से पशुचारण समाज ज्यादा चीजें एकत्रित नहीं करते थे लेकिन आखेटक एवं संग्राहक समाज की तुलना में इनकी जीवन-शैली भौतिक अर्थों में ज्यादा जटिल थी। आखेटक एवं संग्राहक समाज की तुलना में पशुचारण समाज ज्यादा बड़े होते थे क्योंकि पशुओं के पालतू हो जाने से खाद्य-सामग्रियों की नियमित आपूर्ति सम्भव थी। कुछ पशुचारण समाजों में दो-ढाई लाख से भी ज्यादा लोग रहते थे।

पशुचारण लोग दूसरे समूहों के सम्पर्क में भी बराबर आते रहते थे। वे अक्सर युद्ध और व्यापार में व्यस्त रहते थे। बहुत से पशुचारी समाज पूर्णतः शांतिपूर्ण थे, जो सिर्फ समुदाय के उत्सवों, कर्मकांडों एवं अपनी आजीविका के लिए ही प्रयत्नशील होते थे। जबकि कुछ समाज भयंकर लड़ाकू थे, इनकी आजीविका पशुपालन के अलावा विजित वस्तुओं पर भी आश्रित थी। आखेटक एवं संग्राहक समाज की तुलना में पशुचारण समाज में सम्पत्ति एवं शक्ति के मामले में ज्यादा असमानता थी। विशेष रूप से, जनसमूह के नेता या योद्धा को महत्वपूर्ण शक्ति प्राप्त थी।

पशुचारण समाज का एक शास्त्रीय विवरण इ.इ. ईवान्स प्रीटकार्ड ने प्रस्तुत किया था जिन्होंने अफ्रीका के दक्षिण सूदान में पायी जाने वाली नुएयर समाज का अध्ययन किया था। नुएयर लोगों की आजीविका पशु-पालन पर आश्रित थी लेकिन वे कुछ फसल भी उगाते थे। नुएयर लोग गांवों में निवास करते थे जिनमें एक गांव से दूसरे गांव के बीच की दूरी पांच से बीस मील की होती थी। सन् 1930 के दशक में, जब ईवान्स प्रीटकार्ड शोध कर रहे थे नुएयर लोगों की संख्या 200,000 पायी गयी थी। वे सभी एक ही भाषा बोलते थे और उनके रीति-रिवाज भी एक थे लेकिन कोई केन्द्रीय सत्ता या सरकार नहीं थी। नुएयर लोग कई समूहों में बंटे हुए होते हैं जो एक दूसरे से सहयोग भी करते हैं पर सामान्यतः अलग ही रहते हैं।

अधिकांश पशुचारण समाज में औरतें पुरुषों के अधीन रहती थीं। पत्नियों से यह अपेक्षा की जाती थी कि वे घर और बाहर पति की इज्जत करें एवं उनकी आज्ञा का पालन करें। पतियों को यह अधिकार था कि वे जरूरत पड़ने पर अपनी पत्नियों को शारीरिक दंड दे सकते थे। पशुचारियों में औरतों को पीटना सामान्य था। लेकिन जो व्यक्ति अपनी पत्नी को ज्यादा पीटता था उसे हंसी का विषय बनाया जाता था।

पत्नियों पर पति का अधिकार कुछ सीमित होता था क्योंकि अभिभावकों की हमेशा निगरानी रहती थी। सामान्य रूप से औरतें अपने हितों एवं अधिकारों की रक्षा नहीं कर सकती थी इसलिए परिवार के अन्य पुरुष सदस्यों पर आश्रित रहती थी। पति के अत्याचार एवं दुर्व्यवहार से औरतों के हितों की रक्षा का भार प्रायः उसके भाई एवं पिता पर था। कुछ समाजों में पिता को यह हक था कि वे अपनी बेटी को वापस बुला लें अगर उन्हें पता हो कि उसकी बेटी पर अत्याचार होता है।

जहां स्त्री एवं पुरुष के बीच आर्थिक परस्पर-निर्भरता बहुत ज्यादा हो, जहां औरतों को आसानी से तलाक मिलना सम्भव हो वहां पति-पत्नी के बीच ज्यादा समानता होती है। जहां पत्नी को खोने का अर्थ अपना घर, रसोईया, अपनी नौकरानी और कभी-कभी अपने बच्चों जैसा कि नुएयर समाज में होता था को खोना हो तो जाहिर है ऐसे में पति अपनी पत्नी की ज्यादा इज्जत करेगा। परित्यक्ता एवं तलाकशुदा औरतों को पति एवं उसके परिवार का संरक्षण तो खोना पड़ता था उन्हें पति-मूल्य (ब्राइड प्राइस) भी वापस करना पड़ता था जिससे उनकी स्थिति और भी ज्यादा नाजुक एवं शोचनीय हो जाती थी।

यद्यपि, पशुचारण समाज में पतियों को अपनी पत्नी एवं घर पर प्रभुता स्थापित करने का पूरा-पूरा वैधानिक अधिकार था फिर भी इसका प्रयोग वे औरतों एवं उनकी गतिविधियों पर अनिवार्यतः नहीं करते थे।

6.4.2.2 उद्यानकर्मी समाज

उद्यानकर्मी समाज अपना भोजन, आंशिक रूप से खुद उपजाने में विश्वास करता था। यह समाज करीब 7000 ई.पू. के आसपास प्रकट हुआ था और जिसका प्रभुत्व लगभग 3000 ई.पू. तक रहा। किसी समय आखेटक एवं संग्राहक समूह अपने फसलों को बोना प्रारम्भ किया। इसी का विकास आगे चलकर उद्यानकर्म में हुआ जिसमें कुदाली एवं खोदने वाले साधारण औजारों के सहारे छोटे-छोटे उद्यान या बगीचे का उपयोग किया जाता है। अभी भी विश्व में बहुत ऐसे लोग हैं जिनकी आजीविका उद्यानकर्म पर आश्रित है।

आखेटक एवं संग्रह के बदले जब लोग उद्यानकर्म की ओर प्रवृत्त हुए तो इसके कई परिणाम निकले। इसका एक परिणाम था— खानाबदोश जिन्दगी का अंत एवं स्थायी समुदायों का आरम्भ। सामान्यतः स्थायी समुदायों में आखेटक एवं संग्राहक समूहों से ज्यादा की संख्या में लोग रहते थे। उन्नत उद्यानकर्मी तकनीक के साथ स्थायी बंदोबस्त ने लोगों का

आजीविका के लिए एक जगह से दूसरी जगह भटकने की बाध्यता को खत्म कर दिया। फसल उगाने के लिए स्थिर एवं लगातार मेहनत की आवश्यकता होती है इसलिए अब खानाबदोश जीवन असम्भव था।

इन परिवर्तनों के अलावा, चीजों एवं वस्तुओं का अतिरिक्त उत्पादन (सरप्लस) आरम्भ हुआ। इसके साथ ही चीजों पर अब व्यक्तिगत स्वामित्व भी संभव हुआ। यद्यपि, आखेटक एवं संग्राहक समाज की तुलना में श्रम का विभाजन अधिक विशेषीकृत हुआ लेकिन अब भी अधिकांश परिवार अपने जीवन के लिए वस्तुतः सभी कुछ का उत्पादन करते थे।

आखेटक एवं संग्राहक समाज की तुलना में उद्यानकर्मी समाज अधिक स्तरीकृत था। उद्यानकर्मी समाज के संगठन के लिए जब राजनैतिक इकाइयां ज्यादा बड़ी एवं ज्यादा महत्वपूर्ण हो गई तो स्तरीकरण पद्धतियों की व्यवस्था के लिए शक्ति एक मुख्य आधार बन गया। लेकिन इस शक्ति का प्रयोग समुदाय के नेता सिर्फ युद्ध पड़ोसी समाजों के साथ कारोबार या ऐसे ही चीजों के लिए कर सकते थे।

आखेटक एवं संग्राहक समाज की तुलना में चूंकि उद्यानकर्मी समाज में अधिक अतिरिक्त खाद्य सामग्री होती थी इसलिए आर्थिक स्तरीकरण की ज्यादा सम्भावना थी लेकिन यह भी सीमित था। क्योंकि समाज में इतना ज्यादा धन नहीं था कि व्यक्तियों के बीच धन सम्पत्ति के नाम पर ज्यादा ऊंच-नीच हो। व्यक्तियों के बीच प्रतिष्ठा का अंतर मुख्यतः व्यक्ति के निजी विशेषताओं पर ही आधारित था। लेकिन अब यह प्रतिष्ठा, संगठन में उसकी प्रतिष्ठा से सम्बद्ध हो गई थी। अब प्रतिष्ठा का प्रश्न इस बात से जुड़ गया था कि उसकी कितनी पत्नियां हैं, कितने जानवर हैं उसके पास या कितने गहने-जेवर का वह मालिक है। अतः उद्यानकर्मी समाज में आखेटक एवं संग्राहक समाज की अपेक्षा प्रतिष्ठा का प्रश्न ज्यादा कठिन हो गया।

गुरुरुम्बा एक नई गीनिय जनजाति है जो छः गांवों में एक हजार की संख्या में रह रहे हैं। सभी गांवों में कई उद्यान हैं जो एक दूसरे से बाड़ों के सहारे विभाजित हैं। इन घिरे हुए क्षेत्रों के अन्दर विभिन्न परिवार जमीन खरीदते हैं। परिवार के सभी सदस्य (बच्चे एवं वयस्क) जमीन की देखभाल करते हैं यद्यपि स्त्रियों एवं पुरुषों को कुछ अन्य काम भी करने पड़ते हैं। हर परिवार को एक से ज्यादा प्लाट होता है जिसमें वे साल भर ऋतुओं के अनुसार फसल उगाते रहते हैं जिससे उनकी स्थायी खाद्य आपूर्ति होती रहती है। गुरुरुम्बा संस्कृति में विभिन्न परिवारों के बीच उपहार आदान-प्रदान करने की एक पेचीदा अनुष्ठान प्रणाली है ओर जिसके सहारे समुदाय में प्रतिष्ठा अर्जित की जा सकती है। इसलिए ये लोग अपने कुछ प्लाट में दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए फसल उगाते हैं और कुछ में प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए फसल उगाते हैं। दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उगायी जाने वाली फसलों की अपेक्षा "प्रतिष्ठा" फसल पर ज्यादा ध्यान दिया जाता है।

गुरुरुम्बा सुअर भी पालते हैं लेकिन यह अपने खाने के लिए उतना नहीं होता है जितना कि उपहार में इसे देकर समुदाय में अपनी प्रतिष्ठा अर्जित करने के लिए होता है। एक वृहत् उत्सव मनाया जाता है जिसमें सौ सुअरों को मारा जाता है एवं उसे पकाकर उपहार के रूप में भेंट किया जाता है। आखेटक एवं संग्राहक समाज की तुलना में गुरुरुम्बा लोगों के बीच ज्यादा असमानता पायी जाती है। जनजातियों एवं प्रमुख की ज्यादा महत्वपूर्ण भूमिका होती है एवं लोगों के बीच धन-सम्पत्ति के मामले में ज्यादा ऊंच-नीच पाया जाता है।

सामान्य उद्यानकर्मी समाज अत्यधिक समतावादी होता है। इस समाज के नेताओं को दूसरों को दंड देने का कोई अधिकार नहीं होता है। आर्थिक असमानता भी उद्यानकर्मी समाज में नहीं पायी जाती। भोजन, जमीन एवं अन्य वस्तुएं सबको समान रूप से उपलब्ध होती है। समाज में शक्ति एवं सम्पत्ति के आधार पर कोई महत्वपूर्ण अन्तर नहीं था। लेकिन पहले के समाज की तुलना में अब लोगों के बीच महत्वपूर्ण प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न हो गई थी जिससे प्रतिष्ठा का भी अन्तर उत्पन्न हो गया था।

विकसित उद्यानकर्मी समाज में आर्थिक असमानता, दास-प्रथा एवं वंशानुगत आधार पर शक्ति प्रतिष्ठा आदि चीजें अक्सर पायी जाती हैं। योद्धाओं का प्रतिष्ठित वर्ग उत्पादक श्रम से अपने को हटाकर सामान्य जन एवं दासों से प्रतिष्ठा पा सकता है। दक्षिण एवं मध्य अमेरिका के इंकास एवं मेयंस जैसे कुछ विकसित उद्यानकर्मी समाजों ने विजित लोगों के बहुत बड़े साम्राज्य पर नियंत्रण स्थापित किया था। लेकिन इसके लिए निस्संदेह एक बहुत बड़े एवं जटिल बहुस्तरीय राजनैतिक एवं सैनिक संरचना अपेक्षित है।

ये लोग सामान्य उद्यानकर्मियों की तुलना में बहुत कम ग्रामीण स्वायत्तता का प्रयोग करते हैं। वे लोग भी जो बहुसामुदायिक सरकारी संरचना का विकास करते हैं शक्तिशाली राजा, रानी एवं दरबारियों वाला निरंकुश राज स्थापित करने की ओर प्रवृत्त होते हैं। अपने वर्ग के कारण उच्च वर्ग की महिलाएं निम्न वर्ग के पुरुषों पर शक्ति प्रदर्शन करती हैं।

स्त्री और पुरुष के आधार पर श्रम का विभाजन कई उद्यानकर्मी समाज की महत्वपूर्ण विशेषता है। स्त्री और पुरुष का प्रायः अलग-अलग जिन्दगी बसर करना इन समाजों में कोई असामान्य बात नहीं है। ब्राजील का "समुन्दुक्कु" इसका एक उदाहरण है। नये उद्यान एवं जमीन को साफ करने में अपने समुदाय के साथ पुरुष लगे रहते हैं। वे एक बड़े समुदाय में शिकार भी करते हैं। जबकि औरतें मूलतः संग्राहक होने की वजह से उद्यान में फसल लगाने का एवं कसावा पौधे की जड़ों को आटा बनाने की श्रम साध्य काम में प्रवृत्त होती हैं। पुरुष एवं स्त्रियों का काम एवं संसार प्रायः अलग-अलग है। पुरुष अलग मकान में रहते हैं जहां वे खाते हैं सोते हैं एवं पुरुष जन्य काम करते हैं जबकि औरतें और बच्चे अलग मकान में रहते हैं।

उद्यानकर्मी समाज का ज्यों-ज्यों अधिक विकसित समाज में विकास होने लगा त्यों-त्यों स्तरीकरण की भावना में भी वृद्धि

होने लगी। सिंचाई-व्यवस्था जानवरों की पालतूकरण एवं धातुओं का प्रयोग जैसे तकनीकी विकास ने अतिरिक्त सम्पत्ति के विकास के लिए भूमि निर्माण किया जिससे अन्ततः अधिक जटिल एवं अधिक सूक्ष्म स्तरीकरण पद्धति का विकास हुआ।

6.4.3 कृषक समाज या पारम्परिक राज्य

तकनीकी विकास ने स्थायी कृषि को सम्भव बनाया। कृषि ने उत्पादकता को बढ़ाया जिससे सामाजिक संगठन का विकास हुआ। इसी प्रक्रिया से प्राचीन मिश्र, ग्रीस, रोम, भारत एवं चीन जैसे महान् कृषि सभ्यताओं का विकास हुआ। कृषि क्रांति को सामान्यतः प्रगतिवादी घटना माना गया और जिसे अक्सर सभ्यता का सूर्योदय कहा जाता है। यद्यपि यह प्रगति अपने साथ कई प्रतिक्रियावादी चीजें भी लेकर आया जैसे औरतों का सम्मान एवं हक सदा के लिए खत्म हो गया तथा कुछ मुट्ठी भर संभ्रांत लोगों के सामने अधिकांश जनता की स्थिति सोचनीय हो गयी।

ये समाज नगरों के विकास पर आधारित थे और जो सत्ता एवं संम्पत्ति के असमानता पर आधारित राजाओं द्वारा शासित थे। लेखन, विज्ञान, कला एवं हस्तकृतियों के नये-नये आविष्कारों ने इस कृषि समाजों को एक सभ्यतागत चरित्र प्रदान किया। एक विकसित समन्वित सरकार ने राज्य को एक संस्था का रूप प्रदान किया।

कृषि समाज जो 3000 ई.पू. से लेकर 1800 ई. तक प्रभुत्वशाली था, उद्यानकर्मी समाज से कई मायनों में अलग था। उद्यानकर्मी समाजों में कृषि एक छोटे भूखंड पर ही किया जाता है या जबकि कृषि समाज मुख्यतः कृषि पर ही आधारित था। कृषि अब एक स्थायी आधार बन गया था। पहले के समाजों की तुलना में कृषि समाज अधिक अतिरिक्त उत्पादन करने में सक्षम था। यह हल जोतने में नए आविष्कारों का परिणाम था। पहले खेती में कुदाली और सम्बल का जो प्रयोग होता था उससे बहुत अधिक सक्षम यह हल प्रमाणित हुआ। मानव की शक्ति के बदले जानवरों की शक्ति का प्रयोग भी एक महत्वपूर्ण कदम था।

इन सब विकासों ने एक अधिक जटिल संरचना के उभरने का मार्ग प्रशस्त किया। इसी दौरान राज्य ने एक केन्द्रीय संस्थान का रूप ले लिया। इसके विकास के साथ-साथ शक्ति स्तरीकरण को निर्धारित करने वाला एक महत्वपूर्ण कारक बन गया। व्यक्ति की सामाजिक प्रतिष्ठा का संबंध शक्ति से जुड़ गया। कृषि समाज में वर्ग और शक्ति एक दूसरे से जुड़े होते थे लेकिन व्यक्ति का सामाजिक स्थिति से ही यह सम्भव होता था कि वह आर्थिक रूप से अपनी एक हैसियत बना ले। यद्यपि, इस युग में जमीन के मालिक ही सबसे ज्यादा ताकतवर थे लेकिन नगरों में वाणिज्य एवं उद्योग भी विकसित हो रहे थे। धीरे-धीरे सम्पत्ति, प्रतिष्ठा तथा शक्ति सामाजिक प्रतिष्ठा से जुड़ गये। उद्योगीकरण आरम्भ होने से पहले वाणिज्य एवं उद्योग से जुड़े लोग जमीन के मालिक से नीचे माने जाते थे।

कृषि-युग के दौरान ही भारत और यूरोप में क्रमशः जाति एवं सत्ता वर्ग का बहुत ही कठोर स्तरीकरण पद्धति का प्रचलन आरम्भ हुआ। (जाति एवं सत्ता वर्ग के बारे में इकाई 29 ई.एस.ओ.-01 के खंड 7 में चर्चा हुई है।)

6.4.3.1 पितृसत्तात्मक ढांचा, विचारधारा और लिंग (स्त्री-पुरुष) की भूमिका : रूढ़िबद्ध धारणा या लिंगबद्ध धारणा

कृषि समाज ने जाति, सत्ता, वर्ग एवं लिंग के आधार पर सामाजिक असमानताओं को वैध ठहराने वाले कई धार्मिक, नैतिक एवं कानूनी संस्थाओं का विकास किया। पुरुष की प्रभुता एवं स्त्री की अधीनता कृषि समाज के मूल्य प्रणाली का एक हिस्सा बन गया। पितृसत्तात्मक विचारधारा को न सिर्फ वैधता ही मिली बल्कि परिवार में उसका प्रचलन भी आरम्भ हो गया। लिंग की रूढ़िबद्ध धारणा विकसित हुई जिसके अनुसार सार्वजनिक भूमिकाओं के लिए आवश्यक शारीरिक, बौद्धिक एवं भावगत चुस्ती पुरुष के पास है एवं स्त्री ऐसे कामों के लिए अनुपयुक्त है : वह सिर्फ घरेलू काम ही कर सकती है। इसके अलावा, स्त्री को कमजोर, नरम एवं पुरुषों पर दिशा एवं निर्देश के लिए आश्रित ठहराया गया।

भारत में खानाबदोश अतीत से ही स्थायी कृषि का विकास हुआ था। शताब्दियों के युद्ध ने अंततः सामाजिक एवं राजनैतिक केन्द्रीयकरण तथा ऐसे कृषि सभ्यता का विकास किया जो दृढ़ जाति-व्यवस्था से संचालित वर्ग-असमानता पर आधारित थी। अन्य कृषि समाजों की तरह भारत में भी स्त्रियों की प्रतिष्ठा एवं स्थान में काफी गिरावट आई। विशेष रूप से हिन्दू कानून में औरतों पर कई पाबन्दियां लगा दी गई। हिन्दू-कानून पहले पहल द्वितीय शताब्दी ई.पू. में मनु के द्वारा तैयार किया गया था। इस संहिता के अनुसार औरतें अपनी अधिकांश स्वतंत्रता एवं स्वायत्तता खो दीं। बाल-विवाह को आदर्श घोषित कर दिया गया। कौमार्य एवं सतीत्व की सिर्फ औरतों से अपेक्षा की जाने लगी, पुरुषों से नहीं। औरतों से सम्पत्ति, उत्तराधिकार एवं तलाक का अधिकार छीन लिया गया। यहां तक कि अपने बच्चे पर अधिकार एवं सार्वजनिक जीवन में किसी तरह की हिस्सेदारी से भी वंचित कर दिया गया। वे अब धार्मिक ग्रंथों का अध्ययन नहीं कर सकती थीं और किसी भी तरह के ब्राह्मणवादी कर्मकांडों में वह हिस्सेदारी नहीं कर सकती थीं। विधवा विवाह की प्रथा को बंद कर दिया गया राजस्थान के कुछ हिस्सों में जौहर की प्रथा प्रचलित हुई। जौहर एक ऐसी प्रथा थी जिसमें औरतें पति की मृत्यु होने पर इस डर से कि कहीं वे दुश्मनों के हाथ में न पड़ जायं, आत्मदाह कर लेती थीं।

6.4.3.2 पारम्परिक राज्य एवं अन्य समाज

आखेटक एवं संग्राहक समाज, पशुचारण एवं उद्यानकर्मी समाज में श्रम का साधारण सा विभाजन था। इसमें सबसे महत्वपूर्ण विभाजन स्त्रियों एवं पुरुषों के बीच था। इसके विपरीत, पारम्परिक या कृषि समाज में एक अधिक पेचीदा

व्यावसायिक प्रणाली का विकास हुआ। अभी भी लिंग के आधार पर श्रम का कठोर विभाजन था जिसमें औरतों की गतिविधियों को पूर्णतया घर एवं खेत तक सीमित कर दिया गया था। जबकि वाणिज्य, व्यापार, शासन एवं सुरक्षा प्रबन्ध के कुछ विशेष काम पुरुषों को सौंपे गये।

अभिजात एवं सामान्य वर्गों के आधार पर भी समाज दो वर्गों में बंटा हुआ था। राज्य का प्रमुख होने की हैसियत से शासक को उच्च स्थानों पर रखने एवं बांटने का पूर्ण अधिकार प्राप्त था। दास की खरीद-फरोख्त इन समाजों की सामान्य विशेषता थी।

कुछ पारम्परिक समाजों पर व्यापारियों का भी शासन था लेकिन अधिकांश शासन की स्थापना सैनिक विजयों या सैनिक शक्तियों के सहारे ही होती थी। पारम्परिक समाज में सैन्य शक्तियों का विकास व्यावसायिक आधार पर हुआ था। उदाहरण के लिए, रोमन-साम्राज्य में अति अनुशासित, एवं अति-प्रशिक्षित सैन्य-बलों के सहारे ही रोमन साम्राज्य का इतना विस्तार सम्भव हुआ था। पारम्परिक राज्यों में युद्ध के यांत्रिकीकरण की भी शुरुआत हुई। रोमन सैनिकों द्वारा प्रयुक्त होने वाले तलवार, बर्छे, ढाल एवं किलेबंदी के सभी समान उन्नत कारीगरों द्वारा बनवाये जाते थे। इसलिए "बर्बर" जनजातियों एवं पारम्परिक राज्यों के बीच होने वाले युद्धों में पहले की तुलना में बहुत अधिक क्षति होती थी।

पारम्परिक राज्यों का आज अस्तित्व नहीं है लेकिन पारम्परिक मूल्य, नियम, प्रथा, आचार-विचार, पितृसत्तात्मक विचारधारा एवं परम्पराएं अभी भी विद्यमान हैं। यद्यपि, कुछ क्षेत्रों में अब भी आखेटक एवं संग्राहक समाज पशुचारण एवं उद्यानकर्मी समाज बचे हुए हैं लेकिन ये अपेक्षाकृत कटे हुए भूखंडों में ही बचे हुए हैं और वो भी तेजी से लुप्त होते जा रहे हैं। पारम्परिक राजनीति एवं अर्थव्यवस्था में परिवर्तन लाने का श्रेय औद्योगीकरण को है, जिससे मशीन द्वारा उत्पादन का सिलसिला आरम्भ हुआ।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी : i) खाली जगहों का प्रयोग अपने उत्तर के लिए करें।
ii) अपने उत्तर की तुलना अंत में दिये गये उत्तर से करें।

1) आखेटक एवं संग्राहक समाज में श्रम का विभाजन बहुत अधिक था। [हां / नहीं]
2) खानाबदोश समाज में परस्पर हिस्सेदारी को संस्थानीकृत कर दिया गया था। [हां / नहीं]
3) खानाबदोश समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता "वर्ग" है। [हां / नहीं]
4) आखेटक एवं संग्राहक समाज आज कहीं नहीं पाया जाता। [हां / नहीं]
5) खानाबदोश समाज में लिंग के आधार पर श्रम का विभाजन पाया जाता है। [हां / नहीं]
6) पशुचारण समाज मुख्यतः फसलों पर आश्रित होता है। [हां / नहीं]
7) अधिकांश पशुचारण समाज में औरतों का स्थान पुरुषों से नीचे माना जाता था। [हां / नहीं]
8) उन्नत उद्यानकर्मी समाजों में आनुवांशिक वर्ग असमानता नहीं दिखाई पड़ती है। [हां / नहीं]
9) पारम्परिक राज्य नगरों के विकास पर आधारित थे। [हां / नहीं]
10) हल का प्रयोग कृषि समाज का एक महान् तकनीकी आविष्कार था। [हां / नहीं]
11) सत्ता एवं जाति प्रथा का उदय उद्यानकर्मी समाज में हुआ। [हां / नहीं]
12) हिन्दू संहिता का निर्माण सर्वप्रथम याज्ञवालक्य ने किया। [हां / नहीं]

6.5 सारांश

इस इकाई में हम लोग पूर्व-आधुनिक समाज एवं उसकी स्तरीकरण पद्धति पर विचार किये जिसमें प्रत्येक समाज में लिंगबद्ध स्तरीकरण पर विशेष जोर दिया गया। इसका आरम्भ स्तरीकरण पद्धति के उद्भव एवं असमानता को वैधता प्रदान करने, विचारधारा की भूमिका के विश्लेषण किया गया। इसके बाद स्तरीकरण को समझने के लिए तीन मुख्य पद्धतियों पर विस्तार से विचार किया गया। इन तीन पद्धतियों नव-विकासवादी, नृवैज्ञानिक एवं मार्क्सवादी का सहारा लेते हुए अन्त में तीनों पूर्व-आधुनिक समाजों एवं उनकी स्तरीकरण पद्धतियों का अध्ययन किया गया।

6.6 शब्दावली

लिंगबद्ध अवधारणा : यह एक ऐसी अवधारणा है जो बिना विवेक के स्त्री और पुरुष के बीच भेद करती है। इसके अनुसार स्त्रियां घरेलू काम-काज के लिए उपयुक्त एवं बौद्धिक कामों के लिए अनुपयुक्त होती हैं। लिंगबद्ध अवधारणा मूलतः रूढ़िवादी अवधारणा है।

विचारधारा : यह एक ऐसा विचार या विश्वास माना जाता है जो प्रभुत्वशाली समूहों के हितों की रक्षा करता है एवं उसे न्यायोचित भी ठहराता है। सभी समाजों में विचारधाराओं का अस्तित्व होता है। विभिन्न समूहों के बीच एक सुव्यवस्थित एवं गहरी असमानता होती है। विचारधारा की अवधारणा शक्ति के प्रश्न से जुड़ी हुई है और विचारधारात्मक प्रणाली विभिन्न समूहों के विभेदक शक्तियों को वैधता प्रदान करती है।

नव-विकासवादी सिद्धांत (Neo-Evolutionary Theory) : इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक समाज कई व्यवस्थाओं से हो कर गुजरता है। प्राचीन विकासवादी सिद्धांत से यह इस अर्थ में भिन्न है कि यह मानता है कि प्रत्येक समाज का विकास सामान्य एवं अपरिवर्तनीय (एक जैसा नहीं) होता।

पितृसत्तात्मक विचारधारा : इसके अनुसार पूरे परिवार पर पुरुष सदस्य का ही स्वामित्व एवं अधिकार होना चाहिए। वह पुरुष चाहे पति हो या पिता या परिवार का कोई अन्य पुरुष सदस्य।

6.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

एन्थोनी, गिदेंस. 1989. *सोसियोलोजी.* कैम्ब्रिज : पोलिटी प्रेस।

ओ'केल्ली, चार्लेट जी. 1980. *वीमेन एंड मेन इन सोसायटी.* न्यूयार्क : दी. वेन नोस्त्रांद कम्पनी।

रीतजर, जार्ज. 1989. *सोसियोलोजी : एक सप्रियेंससिंग ऐ चेंजिंग सोसायटी.* बोस्टन : एलीन एंड बेकान ईकन्क।

6.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) मूल्यवान चीजों की
2) भौतिक वस्तुओं
3) शक्ति के सहारे
4) सन्ततियों में बढ़ा दिया जाता है
5) लेंस्की की विवेचना
6) स्त्री और पुरुष
7) सभ्यता की विचारधाराओं

बोध प्रश्न 2

1) पूर्व-आधुनिक समाज में सामाजिक स्तरीकरण को समझने के लिए तीन निम्नांकित पद्धतियां हैं—नव-विकासवादी, नृवैज्ञानिक एवं मार्क्सवादी।
2) पूर्व-आधुनिक समाज के विकास की मुख्य प्रवृत्तियां हैं—अधिक बड़े समाज, अधिक स्थायी बंदोबस्त, अधिक आर्थिक अधिशेष (सरप्लस), श्रम का अधिक विभाजन की ओर झुकाव।
3) मार्क्स के अनुसार पश्चिमी समाज का विकास चार युगों से गुजरकर हुआ है, ये युग हैं : आदिम साम्यवाद, प्राचीन समाज, सामंतवाद एवं पूंजीवाद।

बोध प्रश्न 3

1) नहीं
2) हां
3) नहीं
4) नहीं
5) हां
6) नहीं
7) हां
8) नहीं
9) हां
10) हां
11) नहीं
12) नहीं

इकाई 7 आधुनिक समाजों में स्तरीकरण

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य
7.1 प्रस्तावना
7.2 स्तरीकरण का अर्थ एवं उसका स्वरूप
7.3 सामाजिक वर्ग
  7.3.1 मार्क्स के द्वि-वर्गीय प्रारूप की प्रासंगिकता
  7.3.2 एन्थनी गिडिन्स द्वारा प्रस्तुत त्रि-वर्गीय प्रारूप
  7.3.3 व्यावसायिक संरचना एवं वर्ग
7.4 समाजवादी समाजों में सामाजिक स्तरीकरण
7.5 उत्तर-औद्योगिक समाजों में स्तरीकरण
  7.5.1 उत्तर-औद्योगिक समाजों में एकीकरण/संयुक्तीकरण
  7.5.2 उत्तर-औद्योगिक समाजों में प्रविधितंत्रियों का महत्व
  7.5.3 उत्तर-औद्योगिक समाजों में सामाजिक संघर्ष
7.6 प्राकृतिक असमानता के आधार
  7.6.1 रंग
  7.6.2 प्रजाति
  7.6.3 लिंग
7.7 प्राकृतिक असमानता कितनी प्राकृतिक है?
7.8 सारांश
7.9 शब्दावली
7.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
7.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

7.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आप यह जान जायेंगे कि :

- सामाजिक वर्गों की प्रकृति क्या है,
- आधुनिक समाजों के वर्गीकरण एवं स्तरीकरण के आधार क्या हैं, और
- असमानता की अवधारणा क्या है।

7.1 प्रस्तावना

विभिन्न स्तरों में समाज का विभाजन एक सार्वभौमिक प्रघटना है। शक्ति एवं प्रतिष्ठा के आधार पर विभिन्न समूहों को संस्तरण की व्यवस्था में क्रमबद्ध किया जाता है। वे समूह जिनके पास अधिक शक्ति एवं प्रतिष्ठा है अन्य समूहों की तुलना में उच्च स्थान प्राप्त हैं। एक प्रकार से सामाजिक स्तरीकरण या स्तरण उपलब्धि एवं अधिकार के तुलनात्मक विवेचन की पद्धति है जिसे अर्थशास्त्रियों की दृष्टि में "सीमित उपलब्ध वस्तुओं" से सम्बद्ध किया जाता है। अर्थात् सभी वस्तुएं समाज में प्रत्येक को उपलब्ध नहीं होती। कुछ व्यक्तियों एवं समूहों का इन "सीमित उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं" पर अधिक अधिकार होता है अथवा अधिक अधिकार करने की क्षमता होती है। भूमि प्रकृति का उपहार है परन्तु प्रत्येक व्यक्ति का भूमि पर स्वामित्व नहीं है। ठीक इसी प्रकार किसी एक समाज में भोजन, वस्त्र एवं आवास सभी को उपलब्ध हो सकता है पर कुछ व्यक्तियों को ये साधन उत्कृष्ट अथवा अच्छी विशेषताओं वाले प्राप्त हो सकते हैं। उच्च पदों पर आसीन व्यक्तियों को जीवन यापन की उच्च स्तरीय/उत्कृष्ट सुविधायें प्राप्त होती हैं। जब हम "सीमित उपलब्ध वस्तुओं" की चर्चा करते हैं तो हमारा अभिप्राय केवल भौतिक वस्तुओं (भोजन, वस्त्र, आवास) अथवा उत्पादन

साधनों (भूमि, उद्योग इत्यादि) से नहीं है जैसा कि अर्थशास्त्री कहते हैं। हमारा दृष्टिकोण व्यापक है क्योंकि समाज में व्यक्ति केवल भौतिक वस्तुओं पर अधिकार के आधार पर स्तरीकृत नहीं है। हम "सीमित उपलब्ध वस्तुओं" में अर्थशास्त्रियों के मत के अतिरिक्त समाज की समस्त मूल्यवान वस्तुओं को सम्मिलित करते हैं। इन अतिरिक्त मूल्यवान वस्तुओं में शक्ति, प्रतिष्ठा, प्रस्थिति, शिक्षा सम्बन्धी नियन्त्रण वाली इकाइयां एवं सामाजिक गतिशीलता सम्बन्धी अन्य क्षेत्रों को सम्मिलित किया जाता है।

इस इकाई में हम आधुनिक समाजों में स्तरीकरण का अध्ययन करेंगे। सर्वप्रथम हम सामाजिक स्तरीकरण के अर्थ की चर्चा करेंगे। तत्पश्चात् अपने विवेचन को सामाजिक स्तरीकरण के दो स्वरूपों—जाति एवं वर्ग पर केन्द्रित करेंगे। सामाजिक वर्ग का जब हम अध्ययन करेंगे तब गिडिन्स के प्रारूप की तुलना मार्क्सवादी प्रारूप से करेंगे तथा मार्क्सवादी प्रारूप की प्रासंगिकता का उल्लेख करेंगे। हम व्यवसायिक संरचना एवं क्रम-विन्यास के विषय में भी चर्चा करेंगे। इस चर्चा के उपरान्त हम समाजवादी समाजों में स्तरीकरण का उल्लेख करेंगे एवं पूंजीवादी तथा समाजवादी समाजों की विशेषताओं की तुलना करेंगे। अब ये समाज उत्तर-औद्योगिक समाजों में रूपांतरित हो रहे हैं। तत्पश्चात् हम प्राकृतिक असमानता के आधारों का परीक्षण करेंगे एवं अपने तथा अन्य समाजों में पायी जाने वाली असमानताओं के स्वाभाविक पक्षों का उल्लेख करेंगे।

7.2 स्तरीकरण का अर्थ एवं उसका स्वरूप

व्यापक रूप में सामाजिक स्तरीकरण दो प्रकार का हो सकता है। प्रथम वे समाज हैं जहां प्रदत्त तत्वों के आधार पर सामाजिक प्रस्थिति का मुख्य रूप से निर्धारण होता है। उदाहरण के लिए, समाज में व्यक्ति का पद जन्म से निर्धारित होता है और जीवन पर्यन्त उसमें कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता। इन समाजों में व्यक्ति का जन्म समूह के एक सदस्य के रूप में होता है। व्यक्ति द्वारा प्राप्त ये प्रदत्त पद सामाजिक संस्तरण में समूह की निर्धारित स्थिति के समकक्ष होते हैं। वस्तुओं एवं सेवाओं की उपलब्धि व्यक्ति को प्रदत्त प्रस्थिति के आधार पर होती है। व्यक्ति को सामाजिक गतिशीलता के अवसर प्राप्त नहीं होते अथवा आंशिक रूप में प्राप्त होते हैं। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति की जाति-प्रस्थिति जन्म से निर्धारित होती है और इसमें परिवर्तन की कोई सम्भावना नहीं है।

कुछ ऐसे भी समाज हैं जिसमें व्यक्ति की प्रस्थिति पूर्णरूपेण जन्म से निर्धारित नहीं होती। ऐसे समाजों में व्यक्ति को अपनी प्रस्थिति के परिवर्तन के अवसर प्राप्त होते हैं। अतः इन दो प्रकार के समाजों में मुख्य अन्तर यह है कि प्रथम विशेषताओं वाले समाज में व्यक्ति की प्रस्थिति जन्म से निर्धारित है जबकि दूसरी विशेषता वाले समाज में इसे अर्जित किया जाता है। इस इकाई में हम इन दो समाजों की चर्चा करेंगे। अर्जित प्रस्थिति से सम्बद्ध समाजों को इस इकाई में आधुनिक समाजों के रूप में विश्लेषित किया गया है।

हमारा प्रथम उद्देश्य इन दो प्रकार के समाजों में स्तरीकरण की प्रकृति का विश्लेषण करना है। वे समाज जो अपने सदस्यों को प्रस्थिति निर्धारित करने की स्वतंत्रता प्रदान करते हैं प्रगतिशील समाज कहे जाते हैं। ऐसे समाजों में व्यक्ति अपने गुणों एवं योग्यताओं के आधार पर जाना जाता है। अर्जित प्रस्थिति मूलक इन समाजों में व्यक्ति सामाजिक संस्तरण में उच्च स्थान भी प्राप्त कर सकता है अथवा निम्न स्थिति में भी आ सकता है। व्यक्तियों को ऐसे समाजों में अपनी योग्यता एवं सामर्थ्य को बढ़ाने की सुविधा एवं अवसर प्राप्त होते हैं। यदि व्यक्तियों को कोई कार्य रुचिकर नहीं लगता तब उस कार्य में परिवर्तन की सम्भावनाएं भी उत्पन्न हो सकती है। समाज वस्तुतः उन व्यक्तियों की सहायता भी करता है जो सर्वश्रेष्ठ अथवा योग्यतम स्थितियों को प्राप्त करना चाहते हैं। फिर भी, पूरी तरह से अर्जित प्रस्थिति से निर्मित समाज यथार्थ का भाग न होकर एक आदर्शात्मक स्थिति है। अब हम आधुनिक अर्जित प्रस्थिति मूलक समाजों में स्तरीकरण की प्रकृति का विश्लेषण करेंगे।

7.3 सामाजिक वर्ग

आधुनिक समाजों में सामाजिक स्तरीकरण के प्रमुख आधारों में वर्ग उल्लेखनीय है। अधिकांश स्थितियों में एक व्यक्ति की स्थिति उसके वर्ग द्वारा निर्धारित होती है। वर्ग से हमारा अभिप्राय क्या है? एक व्यापक अर्थ में हम कह सकते हैं कि वर्ग व्यक्तियों के वे समूह हैं जिनमें समाज विभाजित है। ये समूह विशिष्ट पक्षों के आधार पर क्रम-विन्यास का भाग है। अतः सामाजिक वर्ग वे समूह हैं जिन्हें समाज में विशेषतः उच्च अथवा निम्न पद प्राप्त हैं। हम यहां सामाजिक वर्गों के निर्माण के आधारों का उल्लेख नहीं करेंगे क्योंकि इनकी चर्चा पूर्व में की जा चुकी है (ई.एस.ओ.-04 के खंड 1, इकाई 2 को देखें)। यहां यह याद रखना आवश्यक है कि वर्ग के आधार पर व्यक्ति की स्थिति सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में निश्चित होती है। दूसरे शब्दों में व्यक्ति उन वर्गों के द्वारा जाने जाते हैं जिसके कि वे सदस्य हैं।

परम्परागत एवं आधुनिक दोनों ही समाजों में वर्गों का अस्तित्व है। यद्यपि अन्तर इतना है कि कुछ समाजों में व्यक्ति

एक विशिष्ट प्रस्थिति के साथ जन्म लेता है जो अपरिवर्तनीय है। कुछ ऐसे समाज हैं जहां व्यक्ति एक वर्गीय प्रस्थिति के साथ उत्पन्न होता है परन्तु अपनी योग्यताओं के आधार पर अथवा कम योग्यता के कारण वह व्यक्ति अपनी वर्गीय प्रस्थिति को परिवर्तित कर सकता है। जाति अपने परम्परागत जड़ रूप में बन्द वर्ग के रूप में जानी जा सकती है। व्यवसाय एवं क्रम-विन्यास का जाति में निर्धारण जन्म से ही हो जाता था। यह निर्धारण व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन काल में अपरिवर्तनीय था। अतः व्यक्ति, जिसने एक जाति में जन्म लिया, के पास इसके अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प नहीं था कि वह अपनी जाति से सम्बद्ध व्यवसाय को अपनाये। आधुनिक समाजों में ऐसा होना आवश्यक नहीं है। एक व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं है कि वह अपने पूर्वजों का व्यवसाय ही अपनाये। आज व्यक्ति अपनी नवीन योग्यताओं के आधार पर अपने व्यवसाय एवं अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा एवं क्रम (rank) में परिवर्तन ला सकता है।

आधुनिक समाज की एक अन्य विशेषता यह है कि व्यावसायिक संरचना में मूलभूत परिवर्तन आये हैं। आज अनेक व्यवसायों का सम्बन्ध किसी भी पूर्व के परम्परागत व्यवसाय से नहीं है। उदाहरण के लिए, औद्योगिक श्रमिक, वकील, व्यवसाय प्रबन्धक अथवा अधिकारी वे नवीन व्यवसाय हैं जो विशेषतः आधुनिक समाजों की विशेषता है। अतः व्यवसायों की संख्या में वृद्धि हुई है एवं इनमें से अधिकांश का परम्परागत समाज से कोई सम्बन्ध नहीं है। व्यावसायिक विभेदीकरण ने सामाजिक गतिशीलता को उत्पन्न किया है। हम यह भी कह सकते हैं कि विकास प्रक्रिया एवं नवीन व्यवसायों के अस्तित्व में आने के उपरान्त यह सम्भव नहीं है कि वंशानुगत व्यवसायों को निरन्तरता प्रदान की जाए। उदाहरण के लिए, यह आवश्यक नहीं है कि एक कम्प्यूटर इंजीनियर पुत्र के पिता का समान व्यवसाय हो। अतः जब ऐसे व्यवसाय उत्पन्न होते हैं तब नवीन दक्षता प्राप्त व्यक्तियों का अस्तित्व में आना अनिवार्य हो जाता है।

हमें यह ज्ञात होना चाहिए कि जातियों से नितान्त भिन्न वर्गों में व्यवसाय वंशानुगत नहीं होते और एक ही वर्ग में अनेक व्यवसाय करने वाली सामाजिक श्रेणियां सम्मिलित हो सकती हैं। जाति-व्यवस्था में जबकि एक जाति अथवा उप-जाति के सदस्य समान व्यवसाय में संलग्न होते हैं। वर्ग एक अर्थ में विभिन्न व्यवसायों की सामाजिक श्रेणियां हैं जिन्हें किसी समाज में समान प्रस्थिति के रूप में स्वीकारा गया है। यह स्थिति वर्गों की पहचान को जटिल प्रक्रिया बना देती है। इस समस्या को समझने के लिए हमारा यह जानना आवश्यक है कि विभिन्न कालों में व्यवसाय का विभेदीकरण एवं व्यवसाय में परिवर्तन किस प्रकार हुआ है।

कार्ल मार्क्स वर्गों को सामाजिक विकास से सम्बद्ध करते हैं। मार्क्स का मत है कि वर्गों के ध्रुवीकरण (crystallisation) के परिणामस्वरूप समाज का विकास होता है। मार्क्स की दृष्टि में वर्ग विरोधी समूह हैं। प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्ग से उन सम्बन्धों के आधार पर पृथक होता है जो उत्पादन साधन के स्वामित्व अथवा नियन्त्रण से सम्बद्ध हैं। किसी भी समाज में दो मूल वर्ग होते हैं। एक जिसका कि उत्पादन साधनों पर नियंत्रण अथवा स्वामित्व है एवं दूसरा जो कि इस नियंत्रण अथवा स्वामित्व से वंचित है अतः पहले वर्ग पर आश्रित है। स्वामी/नियन्त्रक एवं श्रमिक के रूप में पाये जाने वाले ये दो वर्ग पूंजीवादी समाज की निर्णायक इकाई हैं। मार्क्स का मत है कि इन दोनों वर्गों के मध्य सहयोगी सम्बन्ध नहीं होते। इन दोनों वर्गों के मध्य की अन्तःनिर्भरता से दोनों के मध्य की ईर्ष्या कम नहीं होती क्योंकि उत्पादन साधनों पर स्वामित्व का होना अथवा न होना ईर्ष्या का प्रमुख कारक है। इन दोनों वर्गों के मध्य अनवरत् तनाव पाया जाता है। वस्तुतः मार्क्स का विश्वास है कि इन तनाव अथवा विरोधी सम्बन्ध के कारण समाज में परिवर्तन उत्पन्न होता है। अपने वर्चस्व को बनाये रखने के लिए पूंजीपति उत्पादन वृद्धि के नवीन एवं प्रभावशील साधनों को प्रयुक्त करता है। दूसरी ओर, श्रमिक पूंजीपति से अधिक से अधिक पारिश्रमिक अथवा लाभ लेने का प्रयास करते हैं अथवा उत्पादन प्रक्रिया के नियन्त्रण के तन्त्र में सहभागिता का प्रयास करते हैं। हितों के मध्य के संघर्ष में उत्पन्न होने वाली गहनता परिवर्तन की दर को निर्धारित करती है। संघर्ष का स्तर जितना उच्च होगा परिवर्तन का क्षेत्र भी उतना ही विस्तृत होगा। अतः मार्क्स की दृष्टि में वर्ग केवल सामाजिक स्तरीकरण के आधार नहीं है अपितु सामाजिक विकास के भी आधार हैं।

7.3.1 मार्क्स के द्वि-वर्गीय प्रारूप की प्रासंगिकता

कुछ ऐसे विद्वान हैं जिनके मतानुसार द्वि-वर्गीय प्रारूप विभेदीकरण एवं विविधता की उपयुक्त व्याख्या नहीं करता। हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि मार्क्स इस तर्क पर बल नहीं देते कि प्रत्येक समाज में केवल दो वर्ग ही पाये जाते हैं। दो के अतिरिक्त अन्य वर्ग भी पाये जाते हैं। पर मुख्य विरोधी वर्ग दो हैं जिन्हें पूंजीपति एवं सर्वहारा की संज्ञा दी जाती है। जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है कि व्यवसायों में विविधता आयी है तथा उनकी संख्या में वृद्धि हुई है। इन सभी व्यावसायिक श्रेणियों को पूंजीपति एवं सर्वहारा में वर्गीकृत करना कठिन है। वस्तुतः प्रत्येक समाज में दो से अधिक वर्ग हैं। एक तो अत्यन्त जटिल "मध्य वर्ग" के रूप में जाना जा सकता है। विभिन्न वर्गों के मध्य सहयोग एवं संघर्ष पाया जाता है। कृषक समाज में पाये जाने वाले वर्गों में भी तनाव एवं विरोध होते हैं।

एन्थनी गिडिन्स का मत है कि विकसित समाजों में मार्क्स का "द्वि-वर्गीय" प्रारूप अब उपयोगी नहीं है क्योंकि अनेक वर्ग अब अस्तित्व में आ गये हैं। गिडिन्स के वर्गीकरण में तीन मुख्य वर्ग उभर के आते हैं। उनका मत है कि आधुनिक समाजों में वर्ग विश्लेषण निश्चय ही उपयोगी है परन्तु किसी को भी वर्गों के रूप में पाये जाने वाले समूहों को पृथक करने की त्रुटि नहीं करनी चाहिए। उनका मत है कि "वर्गों के विभाजन को मानचित्र में पायी जाने वाली रेखाओं की भांति प्रस्तुत नहीं किया जा सकता"। दूसरे शब्दों में, वर्गों का अस्तित्व अवश्य है परन्तु उनकी स्पष्ट पहचान करना आसान नहीं है। यह इसलिए कि यदि हम वर्गों की स्थिति स्पष्ट करना चाहें तो केवल यह प्रश्न पूछ कर कि "आप किस वर्ग से संबद्ध हैं?" स्थिति स्पष्ट नहीं की जा सकती। वर्गों की पहचान केवल अनेक कारकों के विश्लेषण के

उपरान्त ही सम्भव है। विभिन्न समूहों के सदस्य किस प्रकार पारस्परिक अन्तः क्रिया करते हैं?, उत्पादन के सामाजिक संगठन में इन विभिन्न समूहों का क्या स्थान है? उत्पादन के संगठन में क्या इन समूहों (वर्ग) की वास्तव में आवश्यकता है अथवा इन समूहों की भूमिकाओं (सेवा) के बिना भी काम चल सकता है? इत्यादि वे प्रश्न हैं जिनके उत्तर सामाजिक स्तरीकरण की सन्तुष्टि जनक समझ प्रदान करते हैं।

7.3.2 एन्थनी गिडिन्स द्वारा प्रस्तुत त्रि-वर्गीय प्रारूप

पूर्व में उल्लेखित तर्कों के संदर्भ में गिडिन्स का मत है कि "पूंजीवादी" समाजों के इतिहास में वर्ग संरचना मुख्यतः तीन स्तरों पर विकसित हुई हैं जिन्हें उच्च, मध्य एवं निम्न के रूप में पृथक किया जा सकता है। इस दृष्टि से गिडिन्स ने त्रि-वर्गीय प्रारूप का उल्लेख किया है। ये तीनों वर्ग उत्पादन प्रक्रियाओं से भिन्न सम्बन्धों के आधार पर एक दूसरे से पृथक किये जा सकते हैं। उच्च वर्ग उत्पादन के साधनों पर नियंत्रण/स्वामित्व रखता है। इसे पूंजीपति वर्ग की संज्ञा दी जाती है। मध्य वर्ग शिक्षित व्यक्तियों से निर्मित होता है जो कि तकनीकी दृष्टि से योग्य है। इनमें प्रबन्धक, अधिकारी, इन्जीनियर्स, वैज्ञानिक, शिक्षक एवं विभिन्न व्यावसायिक श्रेणियां (professionals) जैसे डाक्टर, वकील इत्यादि सम्मिलित होती हैं। यह वर्ग समाज में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है क्योंकि समाज के विकास हेतु यह तकनीकी ज्ञान प्रदान करता है। गिडिन्स की दृष्टि में श्रमिक वर्ग सबसे निर्बल वर्ग है। इस वर्ग के सदस्य अपने कार्यों में उतने दक्ष नहीं हैं जितने कि मध्यम वर्ग के हैं। अतः इस वर्ग के सदस्य असुरक्षित हैं क्योंकि मशीन (स्वचालितीकरण), कम्प्यूटर इत्यादि के विकास के साथ इनकी सेवायें समाप्त हो जाने की शंका बनी रहती है।

गिडिन्स के तर्कों से ये आभास लगता है कि विकसित समाजों में मध्य वर्ग अधिक महत्वपूर्ण वर्ग हैं। यह वर्ग विकास की प्रक्रिया में मुख्य उत्प्रेरक तत्व की भूमिका निर्वाह करता है। विकास के साथ-साथ इस मध्य वर्ग का महत्व भी बढ़ता जाता है। हम एक ऐसे समाज की अब कल्पना कर सकते हैं जहां अधिकांश शारीरिक श्रम मशीनों के द्वारा सम्पन्न होगा। ऐसी स्थिति में अकुशल शारीरिक श्रम बेकार हो जाता है। साथ ही, मध्य वर्ग की भूमिका मत्वपूर्ण होती जाती है क्योंकि यह व्यावसायिक/पेशे से सम्बद्ध दक्षता प्रदान करता है तथा उत्पादन एवं संगठन के मध्य गतिविधियों में समन्वय विकसित करता है। उत्पादन में वृद्धि तथा उसके प्रबन्धन हेतु यह वर्ग नवीन एवं अच्छी प्रणालियां विकसित करने में भी दक्षता विकसित करता है। प्रौद्योगिकी में अधिकांश अनुसंधान इस वर्ग के द्वारा ही सम्पन्न किया जाता है। उत्पादन साधनों के स्वामी इस प्रकार के अनुसंधान करने में सक्षम नहीं हैं। वे बहुत से बहुत इन प्रयासों को वित्तीय सहायता प्रदान कर सकते हैं (ई.एस.ओ.-04 के खंड 5, इकाई 27 में भारतीय मध्यम वर्ग पर विशेष प्रकाश डाला गया है)।

7.3.3 व्यावसायिक संरचना एवं वर्ग

फ्रेंक पार्किन का मत है कि व्यावसायिक वर्गीकरण एवं सामाजिक वर्ग घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। प्रत्येक समाज में अनेक व्यवसाय पाये जाते हैं। एक व्यवसाय से दूसरे व्यवसाय में गतिशीलता आधुनिक समाजों में सम्भव है। परन्तु कोई भी व्यक्ति अपने व्यवसाय में परिवर्तन करना चाहता है? अधिकांशतः यह परिवर्तन नवीन व्यवसाय से सम्बद्ध अधिक भौतिक पुरस्कारों से है (वेतन एवं अन्य सुविधाएं)। पार्किन का मत है कि "आधुनिक पश्चिमी समाजों में वर्ग संरचना का मूल आधार यहां तक कि सम्पूर्ण पुरस्कार व्यवस्था का आधार व्यावसायिक संरचना है"। किसी भी समाज में व्यावसायिक संरचना की चर्चा करते समय हम सामान्यतया यह स्वीकार कर लेते हैं कि कुछ व्यवसाय अन्य व्यवसायों की तुलना में उच्च होते हैं। परन्तु हमें यह भी स्पष्ट होना चाहिए कि ये व्यवसाय उच्च क्यों हैं? क्या यह एक स्वाभाविक नियम है कि कुछ व्यवसाय अन्यों से उच्च हैं? क्या यह स्वाभाविक नहीं है कि एक इन्जीनियर एक श्रमिक की तुलना में उच्च होना चाहिए अथवा एक कम्पनी के अधिकारी का पद कालेज के प्रोफेसर की तुलना में उच्च होना चाहिए। इन सब प्रश्नों पर यदि हम सावधानीपूर्वक विचार करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि व्यवसायों में क्रम-विन्यास स्वाभाविक नहीं है जैसा कि हम सोच सकते हैं।

पार्किन्स का मत है कि व्यवसायों के क्रम-विन्यास को बिना प्रश्न किये स्वीकार नहीं किया जा सकता। व्यवसायों का क्रम-विन्यास कुछ पुरस्कारों पर आधारित होता है जिसमें व्यवसाय से सम्बद्ध वेतनमान अथवा व्यवसाय से सम्बद्ध प्रतिष्ठा के तत्व सम्मिलित होते हैं। धन सम्बन्धी पुरस्कार केवल क्रम-विन्यास का आधार नहीं हो सकते। एक तस्कर व्यापारी के पास उच्च आय तो हो सकती है परन्तु ऐसे व्यक्ति की समाज में अधिक प्रतिष्ठा नहीं होती। ठीक उसी प्रकार एक सरकारी अधिकारी की आय निजी क्षेत्र में कार्यरत अधिकारी से कम हो सकती है परन्तु उस सरकारी अधिकारी की समाज में सामाजिक प्रतिष्ठा निजी क्षेत्र के अधिकारी से अधिक हो सकती है। अतः भौतिक पुरस्कार एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का समन्वय व्यावसायिक प्रस्थिति सोपान (hierarchy) का मुख्य आधार है। अतः भौतिक पुरस्कार एवं सामाजिक प्रतिष्ठा का समन्वय पार्किंस की दृष्टि में आधुनिक समाजों में सामाजिक असमानता का आधार है। विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध प्रस्थितियां पार्किन्स के अनुसार, उन सामाजिक इकाइयों के नैतिक मूल्यांकन से निर्धारित होती हैं जो कि विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध हैं अथवा उन व्यवसायों में अपना प्रभुत्व स्थापित किये हुए हैं। विभिन्न व्यवसायों से सम्बद्ध प्रतिष्ठा को समाज में स्वीकार किया गया है। औद्योगिक समाज में एक श्रमिक को निम्न प्रस्थिति प्राप्त है क्योंकि अधिकांशतः उसके पास निर्धारित शैक्षणिक योग्यता नहीं है।

यह स्पष्ट है कि व्यावसायिक क्रम-विन्यास सब जगह समान नहीं है। यह प्रत्येक समाज में भिन्न प्रकृति का है हालांकि व्यावसायिक क्रम-विन्यास स्वाभाविक एवं सम्भवतया सार्वभौमिक है। हम अपने समाज में पाते हैं कि अधिकांश माता-पिता अपने बच्चों (विशेषतः पुत्र) को डाक्टर अथवा इंजीनियर बनाना चाहते हैं। यह इसलिए होता है क्योंकि अधिकांश लोगों का विश्वास है कि इन पेशों की समाज में उच्च प्रतिष्ठा है। परन्तु आवश्यक नहीं कि हर समाज में ऐसा होता हो। कुछ समाजों में व्यापार को, अध्यापन को अथवा अन्य पेशों को उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त है [अगली इकाई में व्यवसाय सम्बन्धी क्रम-विन्यास की व्यापक चर्चा की गई है, देखें इस ब्लॉक की आठवीं इकाई]। अब हम समाजवादी समाजों में सामाजिक स्तरीकरण का विश्लेषण करेंगे। ये समाज भी औद्योगिक एवं विकसित हैं परन्तु पूंजीवादी समाजों से भिन्न हैं।

बोध प्रश्न 1

1) अधिक से अधिक पांच वाक्यों में बतायें :

   क) सामाजिक वर्ग ख) जाति एवं वर्ग में अन्तर ग) वर्ग सम्बन्धी मार्क्स के विचार

2) परीक्षण करें कि क्या निम्न तर्क सही हैं :

   क) आधुनिक समाजों में स्तरीकरण जन्म पर आधारित है।

   ख) गिडिन्स के मतानुसार मध्य वर्ग महत्वपूर्ण है क्योंकि यह तकनीकी ज्ञान प्रदान करता है।

   ग) मार्क्स के अनुसार वर्ग संघर्ष सामाजिक परिवर्तन में बाधक है।

   घ) पार्किन्स के मतानुसार पश्चिमी समाजों में वर्ग संरचना में वर्ग संरचना का मुख्य आधार व्यवसाय संरचना है।

   ङ) पार्किन्स का विश्वास है कि व्यवसाय के साथ सम्बद्ध भौतिक पुरस्कार एवं प्रतिष्ठा क्रम-विन्यास को निर्मित करती है।

7.4 समाजवादी समाजों में सामाजिक स्तरीकरण

पश्चिमी देशों एवं समाजवादी देशों के मध्य पाए जाने वाले सामाजिक स्तरीकरण में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि पश्चिमी देशों में जिस पूंजीपति वर्ग का प्रभुत्व है वह वर्ग समाजवादी देशों में अस्तित्व में नहीं है। समाजवादी देशों में उत्पादन के साधन व्यक्तियों अथवा निजी क्षेत्रों के स्वामित्व में नहीं है वे राज्य के द्वारा नियंत्रित किये जाते हैं। हालांकि समाजवादी देशों में ऐसे बहुत से व्यवसाय हैं जो कि पूंजीवादी देशों में भी पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए, कुशल एवं अकुशल श्रमिक, एवं डाक्टर, वकील, प्रबन्धक के रूप में पेशे वाले समूह तथा मध्यम स्तर के श्वेत पोश श्रमिक दोनों ही समाजों में पाए जाते हैं।

दोनों ही प्रकार के समाजों में यद्यपि मुख्य व्यवसाय समान प्रकृति के हैं परन्तु इनके मध्य में पाया जाने वाला व्यवसाय संबंधी क्रम-विन्यास समान प्रकृति का नहीं है। फ्रैंक पार्किन्स ने पूर्वी यूरोपीय देशों में जो कि समाजवादी हैं, चार मुख्य स्तरों की चर्चा की है, जो क्रमशः श्वेतपोश बुद्धिजीवी (विभिन्न पेशे, प्रबन्धन एवं प्रशासन से सम्बद्ध पद), कुशल शारीरिक श्रमिक (कुशल श्रमिक उद्योगों में सुपरवाइजर इत्यादि), निम्न स्तरीय श्वेतपोश श्रमिक (लिपिक) एवं अकुशल शारीरिक श्रमिक के रूप में पाये जाते हैं। अधिकांश समाजों में (भारत सहित) श्वेतपोश श्रमिक (लिपिक) को कुशल श्रमिक वर्ग तुलना में उच्च पद प्राप्त हैं, जबकि समाजवादी देशों में श्वेतपोश श्रमिक को कुशल श्रमिकों की तुलना में निम्न स्थान प्राप्त हैं।

डेविड लेन का मत है कि पोलैंड में व्यवसाय से सम्बद्ध प्रतिष्ठा के क्रम-विन्यास का भौतिक लाभों से कोई संबंध नहीं है। जिन व्यवसायों से अधिक आय प्राप्त होती है वे उच्च प्रतिष्ठित भी हों, आवश्यक नहीं है। उनका मत है कि निजी व्यापार से अधिक आय प्राप्त होती है परन्तु इसकी प्रतिष्ठा बुद्धिजीवियों एवं कुशल श्रमिकों की तुलना में निम्न है। डेविड लेन का यह मत पार्किन्स के पश्चिमी समाजों सम्बन्धी उस दृष्टिकोण से बिल्कुल विपरीत है जिसमें व्यावसायिक क्रम-विन्यास एवं भौतिक पुरस्कारों के मध्य घनिष्ठ संबंध है।

डबल्यू. वैसलोस्की का पोलैंड से सम्बन्धित अध्ययन स्पष्ट करता है कि डाक्टर, स्कूल शिक्षक एवं इंजीनियर की तुलना में विश्वविद्यालय के प्रोफेसर को प्रतिष्ठा के क्रम में उच्च स्थान प्राप्त है। भारत एवं अन्य पश्चिमी समाजों में हम यह सोच भी नहीं सकते कि एक स्कूल शिक्षक प्रतिष्ठा के क्रम-विन्यास में इन्जीनियर से उच्च होगा। एक यह भी महत्वपूर्ण तथा अध्ययन का भाग है कि कुशल मशीन श्रमिक एवं कुशल स्टील श्रमिक को प्रतिष्ठा के क्रम में धार्मिक पुजारी, परिचारिका, फोरमैन, एकाउन्टैंट एवं दर्जी की तुलना में उच्च पद प्राप्त हैं।

उपरोक्त विश्लेषण से स्पष्ट है कि समाजवादी देशों में सामाजिक स्तरीकरण अन्य पश्चिमी देशों की तुलना में भिन्न प्रकृति का है। समाजवादी समाजों में बुद्धिजीवी एवं कुशल श्रमिकों को उच्च पद प्राप्त हैं, जबकि पूंजीवादी देशों में

उत्पादन साधनों के स्वामी एवं व्यावसायिक अधिकारी को प्रतिष्ठा के क्रम में क्रमशः सर्वोच्च स्थान प्राप्त हैं। एक अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि सोवियत संघ में प्रतिष्ठा की दृष्टि से श्रमिकों को प्रभावशाली पद प्राप्त हैं। इन्हें गैर-शारीरिक एवं शारीरिक श्रेणियों में मुख्य रूप से विभाजित किया जा सकता है। पुनः ये दोनों श्रेणियां अनेक समूहों में विभाजित हैं। गैर-शारीरिक श्रमिकों में बुद्धिजीवी सार्वजनिक उद्योगों के अधिकारी, वैज्ञानिक, शिक्षक इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। शारीरिक श्रमिकों में कुशल एवं अकुशल श्रमिक सम्मिलित होते हैं। समाजवादी समाजों में स्तरीकरण इस दृष्टि से शारीरिक एवं गैर-शारीरिक श्रमिकों की व्यापक श्रेणियों पर आधारित है। इन श्रेणियों के भीतर जो उप-विभाजन है उन्हें प्रतिष्ठा के अर्थों में श्रेणीबद्ध रूप में रखा जा सकता है। इसके अतिरिक्त छोटे कृषक एवं सहकारी किसान के रूप में अन्य समूह भी पाए जाते हैं।

7.5 उत्तर-औद्योगिक समाजों में स्तरीकरण

हमने अब तक पूंजीवादी एवं समाजवादी समाजों में सामाजिक स्तरीकरण का विवेचन किया है। एक महत्वपूर्ण विचार यह उभर कर आया है कि औद्योगिक एवं आधुनिकीकरण राजनीतिक विचारधाराओं के प्रतिबंधों के परे हैं। हम अब इसी पक्ष की विवेचना करेंगे।

7.5.1 उत्तर-औद्योगिक समाजों में एकीकरण/संयुक्तीकरण

प्रारम्भिक अवस्था में पूंजीवादी एवं समाजवादी देशों में औद्योगीकरण की प्रक्रिया को पृथक किया जा सकता है परन्तु औद्योगीकरण की तीव्रता, तीव्र आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तनों के परिणामस्वरूप समाजवादी एवं पूंजीवादी देशों के मध्य अन्तर कम हुए हैं। औद्योगीकरण की प्रक्रिया में औद्योगिकवाद का तर्क सम्मिलित है। वे सभी समाज जिनमें औद्योगिक विकास हो रहा है अन्ततः समान प्रकार की विशेषताओं को अभिव्यक्त करेंगे। दूसरे शब्दों में, दोनों प्रकार के समाजों में एकता उत्पन्न हो जाएगी, इसे उत्तर-औद्योगिक चरण कहा जाता है। हम अब इसकी संक्षेप में चर्चा करेंगे।

आधुनिक औद्योगिक समाजों में परिवर्तन उद्योगों के तीव्र विकास के साथ प्रारम्भ हुआ है। यह मत कि पूंजीपति वह है जिसने उद्योग में मुद्रा का विनियोजन किया है, अब लगभग समाप्त हो गया है। बड़े औद्योगिक एवं व्यावसायिक संगठन अब इन समाजों में एक व्यक्ति अथवा परिवार के द्वारा नियंत्रित नहीं है। उदाहरण के लिए, अमेरिका में बड़े औद्योगिक संगठन जिनके साथ फोर्ड, रौकफैलर इत्यादि परिवारों के नाम जुड़े हैं, पूर्णतयाः इन परिवारों के प्रभुत्व अथवा नियंत्रण में नहीं हैं। जनता शेयर का क्रय करके पूंजी का निर्माण करती है। वित्तीय संस्थाएं धन प्रदान करती हैं एवं उधार पर धन देती हैं अतः परम्परागत पूंजीपति जिसके पास बहुत अधिक धन होता था जो उद्योगों को खरीद सकता था एवं उन श्रमिकों को जो उसके लिए काम करते थे, उन्हें वेतन देता था अब अतीत का अंग हैं। अब तकनीकी दृष्टि से योग्य व्यक्तियों की अधिक आवश्यकता है, जिन्हें उद्योग का गहन ज्ञान है एवं जिनके पास प्रबंधकीय योग्यता है अतः ऐसे समाजों में पेशेवर प्रबंधक अथवा प्रौद्योगिक विशेषज्ञों की उद्योग के प्रबन्धन में महत्वपूर्ण भूमिका हो गई है। समाजवादी समाजों में भी समान प्रकार के परिवर्तन हुए हैं। प्रौद्योगिकीय विशेषज्ञों के महत्व में व्यावसायिकीकरण के परिणामस्वरूप वृद्धि हुई है।

7.5.2 उत्तर-औद्योगिक समाजों में प्रविधितंत्रियों का महत्व

डैनियल बैल के अनुसार उत्तर-प्रौद्योगिक समाजों में प्रारम्भ के वर्ग संबंध निरर्थक हो गए हैं। प्रारम्भिक संबंध उत्पादन के साधनों के स्वामित्व पर आधारित थे। औद्योगिक समाजों में मुख्य केन्द्र पूंजी है जो कि उत्पादन साधनों के स्वामित्व के संदर्भ में वर्ग विभाजन का आधार बनती है। उत्तर-प्रौद्योगिक समाजों में मुख्य केन्द्र ज्ञान है। जिनके पास पूंजी है वे आवश्यक नहीं कि महत्वपूर्ण हो। वस्तुतः जिनके पास तकनीकी एवं पेशे से संबंधित दक्षता है वे समाज के महत्वपूर्ण व्यक्ति हैं। ऐसे व्यक्ति उद्योग एवं प्रशासन में महत्वपूर्ण पद पर हैं, इन्हें यह पद पूंजी पर स्वामित्व के कारण नहीं मिले हैं बल्कि ज्ञान एवं विशिष्ट दक्षता के आधार पर प्राप्त हुए हैं। उत्तर-औद्योगिक समाजों में ज्ञान पूंजी की शक्ति से ज्यादा महत्वपूर्ण है। बैल के अनुसार अब उद्योगों के स्थान पर विश्वविद्यालय अधिक महत्वपूर्ण हो गये हैं। अब व्यक्ति की प्रस्थिति उसके विशेषज्ञ होने पर निर्भर करती है। पूंजी का स्वामित्व महत्वपूर्ण नहीं है। अब व्यक्ति व्यावसायिक विषयों के माध्यम से अध्ययन कर दक्षता प्राप्त करता है। यह दक्षता व्यावहारिक अनुभवों का केवल परिणाम नहीं है। तीव्र औद्योगीकरण के कारण उत्पादन की वर्तमान पद्धति शीघ्र ही पुरानी हो जाती है। नवीन उत्पादन की प्रक्रियाओं को वैज्ञानिक एवं प्रविधि — विशेषज्ञ, प्रयोगशालाओं एवं शोध संस्थानों में संचालित करते हैं। उद्योग अब उतने महत्वपूर्ण नहीं हैं परिणामस्वरूप विज्ञान एवं इन्जीनियरिंग संकायों के साथ विश्वविद्यालयों की भूमिका महत्वपूर्ण हो गई है। विश्वविद्यालयों में समाज विज्ञान संकाय भी मानव संसाधन के प्रबन्धन के नवीन उपागमों एवं कार्यक्रमों को जन्म देते हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि अब पूंजीपति अथवा उद्योग स्वामियों के स्थान पर वैज्ञानिक ज्ञान से संबंधित विश्वविद्यालय, औद्योगिक एवं सामाजिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करेंगे।

7.5.3 उत्तर-औद्योगिक समाजों में सामाजिक संघर्ष

उत्तर-औद्योगिक समाज में संघर्ष भिन्न प्रकृति का होता है। पूर्व के संघर्ष पूंजी एवं श्रम पर केन्द्रित थे जबकि उत्तर-औद्योगिक समाजों में ये संघर्ष आर्थिक लाभ की तर्क युक्तता से संबंधित हैं। दूसरे शब्दों में, तनाव एवं संघर्ष का कारण भौतिक पुरस्कार है। उदाहरण के लिए, प्रौद्योगिक विशेषज्ञों एवं प्रबन्धकों के मध्य संघर्ष इस तर्क पर आधारित है कि उद्योग को प्रभावित करने वाले निर्णयों में किसका नियंत्रण अधिक होना चाहिए।

पूंजीवादी एवं समाजवादी समाजों में उद्योगों में नियंत्रण से संबंधित पक्षों में विकेन्द्रीकरण धीरे-धीरे व्यापक होता जा रहा है। इन दोनों ही प्रकार के समाजों में यह स्वीकारा जाने लगा है कि उद्योगों में एवं अन्य क्षेत्रों में सार्थक परिणाम तभी प्राप्त हो सकते हैं जब वे पेशेवर विशेषज्ञों द्वारा संचालित हों। इस प्रकार भविष्य में दोनों ही समाज कुछ समान प्रकार की विशेषताएं प्रदर्शित करेंगे।

बोध प्रश्न 2

1) पार्किन्स के मतानुसार पूर्वी यूरोपीय देशों में चार मुख्य स्तर निम्न हैं :
   क) कुशल शारीरिक श्रम से सम्बद्ध
   ख) निम्नस्तरीय श्वेतपोश पेशे
   ग) श्वेतपोश बुद्धिजीवी
   घ) अकुशल शारीरिक श्रम से सम्बद्ध पद
   उपरोक्त वर्गों को उपयुक्त क्रम-विन्यास प्रदान करें।

2) उपयुक्त उत्तर पर निशान लगाएं।
   समाजवादी समाजों में स्तरीकरण आधारित है :
   क) शारीरिक एवं गैर-शारीरिक श्रम पर
   ख) उत्पादन साधनों के स्वामित्व अथवा नियंत्रण पर
   ग) भौतिक पुरस्कारों पर

3) रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए :
   उत्तर-औद्योगिक समाजों में :
   क) ..... को महत्व प्राप्त है। (उद्योगपति / प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ)
   ख) ..... पर मुख्य बल दिया जाता है। (ज्ञान / पूंजी)
   ग) ..... संघर्ष का मुख्य पक्ष है। (पूंजी का विनियोग (appropriation) / आर्थिक पुरस्कारों का विनियोग)
   घ) ..... द्वारा प्रभावशाली परिणाम प्राप्त किए जाते हैं। (पेशेवरों / प्रशासकों)

7.6 प्राकृतिक असमानता के आधार

यद्यपि, आधुनिक समाजों में व्यक्ति की योग्यता पर बल दिया जाता है फिर भी, ऐसे कुछ प्राकृतिक पक्ष हैं जिनका विश्लेषण केवल योग्यता के आधार पर संभव नहीं है। ये पक्ष प्राकृतिक असमानता के अन्तर्गत आते हैं। इन असमानताओं के आधार पर कुछ व्यक्ति दूसरों से असमान रूप में पृथक किए जाते हैं, यद्यपि सामाजिक प्रस्थिति को उच्च बनाने के लिए उनके पास पर्याप्त योग्यता होती है। अधिकांशतः परम्परागत समाजों में प्राकृतिक असमानता सामाजिक प्रस्थिति का आधार है। जन्म, लिंग, आयु इत्यादि प्राकृतिक असमानता के मुख्य आधार हैं। इन विशेषताओं पर व्यक्ति का कोई नियंत्रण नहीं है क्योंकि ये प्रदत्त (ascribed) हैं। भारतीय जाति-व्यवस्था के बारे में भी ये सच है। निम्न जाति में उत्पन्न हुआ व्यक्ति अपनी प्रस्थिति को उच्च करने की आशा नहीं कर सकते भले ही उच्च जातियों में उत्पन्न व्यक्तियों की तुलना में वह अधिक योग्य हो। जाति पर आधारित असमानता इस विश्वास पर आधारित है कि व्यक्ति ने पूर्व जन्म में अच्छे एवं बुरे कार्य किए हैं। साथ ही, वर्तमान जन्म में किए जाने वाले कार्य यह निर्धारित करेंगे कि भविष्य में वह व्यक्ति उच्च अथवा निम्न जाति में से किसमें जन्म लेगा। पूर्व-औद्योगिक यूरोपीय समाजों में एक सामंत का पुत्र सामंत तथा एक कृषि दास का पुत्र अकृषिदास बनेगा। इंग्लैंड में यह विश्वास इस तर्क के रूप में आधारित है कि ईश्वर ने सम्पन्न एवं निर्धन व्यक्तियों को बनाया है और उन्हें जागीर के साथ सम्बद्ध किया है।

7.6.1 रंग

अमेरिका जैसे विकसित देश में जिसे कि समान अवसरों की भूमि माना जाता है, हम असमानता पाते हैं। इस असमानता का सबसे महत्वपूर्ण कारण व्यक्ति की त्वचा का रंग है। काले लोगों की तुलना में सफेद लोगों की अधिक उच्च पद एवं सम्मान प्राप्त हैं। काले लोग पिछड़े हुए हैं। गैर-काले अमेरिकन व्यक्तियों की तुलना में उनकी शिक्षा का स्तर निम्न है। श्वेत लोगों की तुलना में काले लोग अधिक बेरोजगार हैं। इनमें अपराध की दर भी अधिक है। ये सभी कारक व्यक्तियों में यह विश्वास उत्पन्न करते हैं कि काले लोग अधिक पिछड़े हुए हैं क्योंकि वे काले हैं। दूसरे शब्दों में, त्वचा का रंग व्यक्तियों की योग्यता एवं उपलब्धियों का निर्धारण करता है।

7.6.2 प्रजाति

अनेक आधुनिक समाजों में प्रजातीय असमानता व्याप्त है, यद्यपि एक व्यक्ति विशिष्ट प्रजाति के आधार पर श्रेष्ठ अथवा निम्न हो सकता है, के तर्क को वैज्ञानिक साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध नहीं किया जा सकता। विभिन्न प्रजातीय समूहों के मध्य अन्तर्संबंधों के कारण यह नहीं किया जा सकता। विभिन्न प्रजातीय समूहों के मध्य अन्तर्संबंधों के कारण यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सी विशिष्ट प्रजाति मूल प्रजाति है। प्रजातिवाद एक ऐसा मिथक है जिसे सामाजिक श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए विकसित किया गया है। एडोल्फ हिटलर ने जर्मनी में अपनी प्रजाति की श्रेष्ठता को सिद्ध करने के लिए इस विचार का प्रयोग किया था। नेशनलिस्ट सोसलिस्ट पार्टी (नाजी) ने यह विचार विकसित एवं प्रसारित किया कि श्वेत त्वचा वाले व्यक्ति श्रेष्ठ प्रजाति के हैं और इनका जन्म विश्व पर शासन करने के लिए हुआ है (खंड 1 ई.एस.ओ.-04 की पांचवीं इकाई में इसकी विस्तार से चर्चा की गई है)।

7.6.3 लिंग

प्रजाति एवं रंग के अतिरिक्त लिंग भी प्राकृतिक असमानता का आधार है। लिंग भेद का अभिप्राय उस भेद से है जिसके आधार पर स्त्री एवं पुरुष को समाज में विशिष्ट भूमिकाएं प्रदान की जाती हैं। अधिकांश समाजों में हम यह पाते हैं कि पुरुष एवं स्त्री के मध्य समानता अस्तित्व में नहीं है। स्त्री सदस्यों को निर्बल व्यक्ति की संज्ञा दी जाती है। यह विश्वास केवल शारीरिक श्रम से ही संबंधित नहीं है बल्कि यह भी कहा जाता है कि स्त्री, पुरुषों की भांति कठोर श्रम वाले कार्य नहीं कर सकती। बौद्धिक क्रियाओं के क्षेत्र में भी स्त्री को पुरुष की तुलना में निम्न माना जाता है। स्त्रियों के लिए विशेषतः मध्यमवर्गीय स्त्रियों के लिए गृह कार्य महत्वपूर्ण स्वाभाविक क्रियाएं हैं।

परम्परागत समाजों में स्त्रियों की प्रस्थिति निश्चित थी सभी धर्मों में पुरुष एवं स्त्रियों के विशिष्ट आचार संहिता का उल्लेख किया गया है। यह सामान्यतः पाया गया है कि पुरुष की तुलना में स्त्रियों की प्रस्थिति निम्न एवं शोचनीय है।

अब आधुनिक समाजों में लिंग के आधार पर श्रम विभाजन की उपेक्षा की जाने लगी है। अधिकांश आधुनिक समाजों में लैंगिक असमानता को वैधानिक रूप से समाप्त कर दिया गया है तथा दोनों स्त्री व पुरुष को समान अवसर प्रदान किए गए हैं। पश्चिमी समाजों में रोजगार, शिक्षा एवं सामाजिक विशेषाधिकार के संदर्भ में स्त्रियों पर अब कोई प्रतिबंध नहीं है। भारत में भी संविधान सभी स्त्री एवं पुरुषों को समानता प्रदान करता है तथा लैंगिक भेदभाव को अपराध घोषित करता है।

समस्त विकास कार्यक्रमों के बावजूद, हम यह पाते हैं कि सामाजिक जीवन के सभी क्षेत्रों में स्त्री को समान प्रस्थिति प्राप्त नहीं हैं। शिक्षा एवं रोजगार के क्षेत्र में स्त्री, पुरुषों की तुलना में पिछड़ी हैं। भारत में यह देखा जा सकता है कि शिक्षित पुरुषों की तुलना में शिक्षित स्त्रियों का अनुपात लगभग आधा है। पश्चिमी देशों में शिक्षा के क्षेत्र में विभेद अधिक नहीं है परन्तु रोजगार के क्षेत्र में ये विभेद विद्यमान हैं। स्त्रियां कार्यशील हैं परन्तु उनका संबंध केवल उन रोजगारों से है जो उनके लिए बनाए गए हैं। गैर-अधिकारी एवं गैर-तकनीकी सेवाओं में स्त्रियों की संख्या अत्यधिक है। नीति निर्धारण में स्त्री की भूमिका आंशिक है। भारत में रोजगार के क्षेत्रों में शिक्षित स्त्रियों की संख्या में वृद्धि हुई है परन्तु इनका मुख्य संबंध केवल अध्यापन से है।

सामान्य रूप में प्रबन्धन, इंजीनियरिंग, औद्योगिक क्रियाओं एवं सेवाओं में स्त्रियों का प्रतिनिधित्व कम है। इसका कारण यह है कि स्त्रियों को ऐसे कार्य हेतु अयोग्य अथवा असक्षम माना जाता है उन्हें "हल्की" सेवाओं जैसे अध्यापन, टंकण, लिपिक इत्यादि के कार्य हेतु अधिक उपयुक्त एवं सक्षम माना जाता है। समाजवादी देशों में हमें भिन्न प्रवृत्ति देखने को मिलती है। सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोपीय देशों में स्त्रियों को पुरुषों के समान प्रस्थिति प्राप्त हैं तथा वे रोजगार सेवाओं में, जिनमें पुरुष सहभागिता करते हैं, संलग्न हैं।

अधिकांशतः व्यक्तियों में कुछ विश्वास विद्यमान है जैसे स्त्रियों में तार्किक-वैज्ञानिक आधार नहीं पाया जाता। कुछ ऐसे भी मिथक पाये जाते हैं जिनके कारण स्त्रियों की प्रस्थिति निम्न हुई है एवं वह पुरुषों के अधीन हुई है (खंड 1 की 5वीं इकाई, ई.एस.ओ.-04 में इस पर विस्तार से चर्चा की गयी है)।

7.7 प्राकृतिक असमानता कितनी प्राकृतिक है?

पूर्ववर्ती विवेचन से स्पष्ट होता है कि समाज में किसी न किसी स्वरूप की असमानता पायी जाती है जो कि उस समाज में विद्यमान कानून से विपरीत प्रकृति की होती है। यह तर्क इस तथ्य का प्रतीक भी है कि अभिव्यक्त आदर्श एवं वास्तविकता में विभेद होता है। यह क्यों उत्पन्न होता है? और यदि हम और विशिष्ट रूप में कहें तो यह कह सकते हैं कि समाज में असमानता के स्वरूप, इस तथ्य के बावजूद कि वे वांछनीय उद्देश्यों के विपरीत हैं, क्यों पाये जाते हैं?

एक सम्भव उत्तर तो यह है कि विश्वास एवं मिथकों को सरलतापूर्वक समाप्त नहीं किया जा सकता है। वे एक बहुत लम्बे समय तक अस्तित्व में रहते हैं एवं धीरे-धीरे विलीन हो जाते हैं। यह वैज्ञानिक रूप से सिद्ध हो चुका है कि प्रजाति एवं रंग व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं डालते। व्यक्ति का परिवेश एवं सामाजीकरण की प्रक्रिया मुख्यतः व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता को निर्धारित करती है। इस तथ्य के बावजूद प्रजाति सम्बन्धी मिथक अब भी विद्यमान हैं। यही मिथक लैंगिक आधार पर श्रम विभाजन के संदर्भ में विद्यमान हैं। स्त्री शारीरिक श्रम की दृष्टि से कृषि के क्षेत्र में उतना ही कठोर काम करती है जितना कि पुरुष करता है। बौद्धिक दृष्टि से भी स्त्री एवं पुरुष में कोई भेद नहीं है। कृषि सम्बन्धी कार्यों को करने के उपरान्त स्त्री घर का कार्य भी करती है एवं बच्चों का लालन-पालन करती है। वस्तुतः स्त्री पुरुषों की तुलना में अधिक शारीरिक श्रम करती है। इसके बावजूद यह भ्रामक तर्क दिया जाता है कि स्त्री निर्बल है। यह सब कितना सच है, आप स्वयं समझ चुके होंगे।

इन मिथकों अथवा भ्रामक अवधारणाओं ने स्त्री को पुरुषों के अधीन किया है तथा गोरों को कालों से उच्च बना दिया है जबकि ये सभी प्राकृतिक प्रघटनायें हैं। तार्किकता एवं वैज्ञानिक दृष्टि से भी इन मिथकों एवं विश्वासों को नकारात्मक असर खत्म किया जा सकता है।

बोध प्रश्न 3

1) प्राकृतिक असमानता का अभिप्राय है :
   क) समाज द्वारा उत्पन्न असमानता
   ख) जन्मजात असमानता
   ग) राजनैतिक अवसरों से उत्पन्न असमानता

2) हिटलर की नाजी पार्टी ने जर्मनी में निम्न में से किसकी श्रेष्ठता पर बल दिया :
   क) जाति
   ख) धर्म
   ग) प्रजाति

3) लैंगिक स्तरीकरण का अभिप्राय है :
   क) धार्मिक मूल्यों पर आधारित स्तरीकरण
   ख) स्त्री-पुरुषों के मध्य सामाजिक एवं सांस्कृतिक भेद पर आधारित स्तरीकरण
   ग) वर्ग विभेद

7.8 सारांश

इस इकाई में हमने आधुनिक समाजों में सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न पक्षों की चर्चा की है। हमारे लिए यह याद रखना महत्वपूर्ण है कि इन समाजों में स्तरीकरण अर्जित प्रस्थितियों अथवा योग्यताओं पर आधारित है। विकसित समाजों में सामाजिक स्तरीकरण व्यक्तियों के मध्य जन्म के आधार से निर्मित क्रम-विन्यास का प्रतिनिधित्व नहीं करता। शिक्षा, व्यवस्था, आय इत्यादि के आधार पर व्यक्ति विभिन्न वर्गों को निर्मित करते हैं। सभी आधुनिक समाजों में न तो ये वर्ग समान हैं और न ही उनके क्रम-विन्यास में समानता है। हमने यह भी पाया है कि महत्व के आधार पर पूंजीवादी एवं समाजवादी समाजों में विभिन्न वर्गों की प्रस्थिति भिन्न है। दोनों ही समाजों में योग्यता एवं उपलब्धि वर्ग संरचना का आधार है। हमने उत्तर-औद्योगिक समाजों का भी अध्ययन किया है। प्राकृतिक असमानता के रूप में एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष पर भी हमने विचार किया है। हमने पाया है कि प्राकृतिक असमानता रंग, प्रजाति एवं लिंग पर आधारित है। यह असमानता कुछ विश्वासों एवं भ्रामक धारणाओं के कारण पाई जाती है। इसको हम तर्क एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण के आधार पर नियंत्रित कर सकते हैं अथवा समाप्त कर सकते हैं।

7.9 शब्दावली

पूंजीवाद समाज : आधुनिक प्रौद्योगिकीय दृष्टि से विकसित समाज जिसमें सम्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार है, उदाहरण अमेरिका।

उत्पादन के साधन : वे साधन जिनके द्वारा समाज में भौतिक वस्तुओं का उत्पादन होता है। इसमें प्रौद्योगिकी ही नहीं बल्कि उत्पादकों के मध्य के सामाजिक संबंध सम्मिलित होते हैं।

मध्य वर्ग : समृद्ध एवं निर्धनों के मध्य में पाई जाने वाली व्यक्तियों की श्रेणी। इसमें मुख्यतः प्रशासक, लिपिक एवं शिक्षकों को निर्णायक इकाइयों के रूप में सम्मिलित किया जाता है।

आधुनिक समाज : वे विकसित समाज जो कि वैज्ञानिक प्रौद्योगिकी एवं अन्य आधुनिक साधनों पर आधारित हैं।

उत्तर-औद्योगिक समाज : इस अवधारणा को उन विद्वानों ने विकसित किया है जो यह मानते हैं कि सामाजिक परिवर्तन हमें औद्योगिक व्यवस्था से परे ले जा रही है। उत्तर-औद्योगिक समाज भौतिक वस्तुओं के उत्पादन पर आधारित न होकर सूचनाओं के उत्पादन पर आधारित हैं। इस अवधारणा का समर्थन करने वालों का मत है कि हम सामाजिक परिवर्तन के अनेक क्रमों को वर्तमान में उतने ही तीव्र गति से प्रभुत्व कर रहे हैं जैसा कि दो सौ वर्ष पूर्व औद्योगिक युग के प्रारम्भ के समय लोगों ने अनुभव किया था।

सामाजिक वर्ग : व्यक्तियों का वह समूह जिनके पास समान आर्थिक प्रस्थितियां हैं।

समाजवादी समाज : वह समाज जिसमें राज्य सम्पत्ति पर स्वामित्व रखता है, उदाहरण : सोवियत संघ।

परम्परागत समाज : समाज अथवा सामाजिक विकास का वह चरण जो आदिम प्रौद्योगिकी एवं उत्पादन व्यवस्था पर आधारित है, उदाहरण : ब्रिटिश शासन से पूर्व परम्परागत भारतीय समाज।

7.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बैल, डैनियल. 1973. *द कमिंग ऑफ पोस्ट इन्डस्ट्रियल सोसायटी : ए वेन्चर इन सोशल फोरकास्टिंग.* लन्दन : हाइमन।

बेते, आन्द्रे (सम्पादित). 1984 (1969). *सोसल इनइक्विलिटी : सिलेक्टेड रीडिंग्स.* पैंगुइन : हार्डमंसवर्थ।

डैरनडार्फ, राल्फ. 1959. *क्लास एण्ड क्लास कन्फिलक्ट इन इंडस्ट्रियल सोसायटी.* राऊटलेज एण्ड केगल पाल।

मिल्स, सी. राइट. 1951. *ह्वाइट कालर : द अमेरिकन मिडिल क्लास.* न्यूयार्क : ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

7.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) क) सामाजिक वर्ग का अभिप्राय व्यक्तियों के प्रवर्ग से है, जिनकी समान प्रस्थिति होती है। एक सामूहिक वर्ग को अनेक कारकों के आधार पर पहचाना जा सकता है। उदाहरण के लिए, वर्ग का निर्माण समान आर्थिक प्रस्थिति के आधार पर हो सकता है।

ख) जाति एवं वर्ग आधारभूत दृष्टि से एक दूसरे से भिन्न हैं। जाति परम्परागत मूल्यों पर आधारित है जबकि वर्ग का निर्माण आर्थिक आधारों पर होता है। जाति बन्द एवं परम्परागत है, जबकि वर्ग मुक्त एवं आधुनिक है। जाति सामाजिक गतिशील की आज्ञा नहीं देती। दूसरे शब्दों में, एक व्यक्ति एक वर्ग से दूसरे वर्ग में तो प्रवेश कर सकता है जबकि एक जाति से दूसरी जाति में प्रवेश नहीं कर सकता।

ग) मार्क्स के अनुसार वर्ग मूलतः आर्थिक श्रेणी है उनके मतानुसार सम्पत्ति का होना अथवा न होना वर्ग को निर्मित करता है। व्यक्ति किस प्रकार का कार्य करते हैं, का तथ्य भी वर्ग के निर्माण के लिए उत्तरदायी है। अतः पूंजीपति सम्पत्ति के स्वामी तो हैं परन्तु स्वयं कोई कार्य नहीं करते जबकि सर्वहारा अथवा श्रमिक के पास सम्पत्ति का स्वामित्व नहीं है। वे अपना श्रम बेचकर अस्तित्व को निरन्तरता प्रदान करते हैं।

2) क) नहीं

ख) हां

ग) नहीं

घ) हां

ङ) हां

बोध प्रश्न 2

1) श्वेतपोश बुद्धिजीवी, कुशल शारीरिक श्रम से संबंधित प्रस्थितियां, निम्नस्तरीय श्वेतपोश पेशे एवं अकुशल शारीरिक श्रम से संबंधित प्रस्थितियां।

2) क)

3) क) प्रौद्योगिकी विशेषज्ञ

ख) ज्ञान

ग) आर्थिक पुरस्कारों का विनियोग

घ) पेशावरों

बोध प्रश्न 3

1) ख)

2) ग)

3) ख)

इकाई 8 व्यावसायिक क्रमविन्यास

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य
8.1 प्रस्तावना
8.2 शक्ति, प्रतिष्ठा, पुरस्कार एवं व्यवसाय
8.2.1 व्यवसाय का महत्व
8.3 समाजिक स्तरीकरण के विभिन्न सिद्धांत
8.3.1 के. डेविस एवं डब्ल्यू.ई. मूर के सिद्धांत
8.3.2 एम.एम. ट्यूमिन का सिद्धांत
8.3.3 टी. पार्सन्स का मत
8.3.4 के. मार्क्स एवं एम. वेबर के सिद्धांत
8.4 टी. कैपला : व्यावसायिक क्रमविन्यास के निर्धारक
8.5 व्यावसायिक क्रमविन्यास की विशेषताएं
8.5.1 प्रतिष्ठा, शिक्षा, आय एवं व्यवसाय
8.5.2 प्रतिष्ठा एवं व्यावसायिक समूह के क्रमविन्यास
8.5.3 लिंग एवं व्यावसायिक क्रमविन्यास
8.6 ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय तथा व्यावसायिक क्रमविन्यास
8.7 व्यावसायिक क्रमविन्यास में विभिन्न समाजों के संदर्भ में अन्तर
8.8 सारांश
8.9 शब्दावली
8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

8.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्न पक्षों को समझ जायेंगे :

- प्रतिष्ठा, शक्ति एवं पुरस्कार के मध्य संबंधों की व्याख्या,
- सामाजिक स्तरीकरण के कुछ सिद्धांतों का विश्लेषण,
- व्यवसाय संबंधी क्रमविन्यास के निर्धारक तत्वों की स्पष्टता,
- लिंग एवं व्यावसायिक क्रमविन्यास की विवेचना, एवं
- अन्ततः समाजीय क्रमविन्यास की विविधता का विश्लेषण जिसमें ग्रामीण एवं नगरीय समाज सम्मिलित है।

8.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम शक्ति, प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार का अध्ययन करेंगे। हम डेविस एवं मूर, पार्सन्स तथा ट्यूमिन सहित सामाजिक स्तरीकरण के कुछ सिद्धांतों का भी अध्ययन करेंगे। तत्पश्चात् हम व्यवसाय संबंधी क्रमविन्यास के निर्धारकों की विवेचना करेंगे तथा इस संदर्भ में कैपला के द्वारा प्रस्तुत व्यवसाय संबंधी क्रमविन्यास के कारकों की चर्चा करेंगे। व्यवसाय संबंधी क्रमविन्यास की विशेषताओं की चर्चा हम प्रतिष्ठा, शिक्षा, आय एवं व्यवसाय, प्रतिष्ठा एवं व्यवसाय, प्रतिष्ठा के मापन एवं लैंगिक प्रस्थिति एवं व्यवसाय संबंधी क्रमविन्यास के संदर्भ में करेंगे। हम इसके अतिरिक्त ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में क्रमविन्यास तथा अन्त में विभिन्न समाजों में क्रमविन्यास की विविधता की चर्चा करेंगे।

8.2 शक्ति, प्रतिष्ठा, पुरस्कार एवं व्यवसाय

प्रायः सभी स्थानों में शक्ति, प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार असमान रूप से वितरित हैं। शक्ति, प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार के भिन्न-भिन्न द असमान वितरण के आधार पर व्यक्तियों को समाज में क्रमविन्यास में उच्च एवं निम्न स्थान प्राप्त होता है। जाति, वर्ग एवं प्रस्थिति की अवधारणाओं को सामाजिक स्तरीकरण के लिए प्रयुक्त किया जाता है। विशेषतः प्रस्थिति की अवधारणा का प्रयोग व्यावसायिक विभेदीकरण के मूल्यांकन हेतु किया जाता है।

यह सत्य है कि "औद्योगिक" एवं प्रौद्योगिक विकास कर रहे समाजों में सामाजिक वर्ग एवं व्यवसाय अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व हैं। सामाजिक प्रस्थितियों के निर्धारण में सामाजिक स्तरीकरण के आधार के रूप में सामाजिक वर्ग एवं व्यवसाय बन्धुत्व एवं जाति जैसे स्तरीकरण के आधारों को प्रतिस्थापित कर रहे हैं। विज्ञान, प्रौद्योगिकी एवं उद्योग की भूमिका महत्वपूर्ण हुई है एवं इसने हमारे सामाजिक जीवन को प्रभावित किया है। औद्योगिक समाजों के भी अतीत में पूर्वज, धार्मिक पद, राजनीतिक संबंध एवं व्यक्तिगत विशेषताएं व्यक्तियों की प्रस्थिति के निर्धारण में तथा व्यक्ति की प्रतिष्ठा के निर्धारण एवं वितरण में व्यवसाय एक महत्वपूर्ण कारक बन गया है।

8.2.1 व्यवसाय का महत्व

स्तरीकरण की व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्ति की प्रस्थिति का निर्धारक उसका व्यवसाय क्यों है? संबंधी प्रश्न का उत्तर देते हुए कैपला ने तीन कारकों की चर्चा की है। ये तीन कारक संकलन, विभेदीकरण एवं तार्किकीकरण है। संकलन का अभिप्राय एक स्थान पर बड़ी संख्या में व्यक्तियों के एकत्रीकरण से है। चूंकि अधिक से अधिक जनसंख्या नगरों में केन्द्रित है और अपरिचितता, अवैयक्तिकता एवं कार्य का घर से पृथक्करण इस जनसंख्या की विशेषता है एक व्यक्ति दूसरे सहयोगी से अपने संबंधों को व्यवसाय के संदर्भ में परिभाषित करता है। यही संबंध पारस्परिक अन्तः क्रियाओं के लिए उपयुक्त पद्धतियों में से एक है।

विभेदीकरण अथवा विशिष्टीकरण एक व्यक्ति की क्रियाओं के क्षेत्र को संकुचित करता है। विभेदीकरण सामाजिक व्यवस्था में जटिलताएं उत्पन्न करता है। अतः एक विशेषज्ञ दूसरे व्यवसाय के महत्व एवं उत्तरदायित्वों को जान पाने में असमर्थ है तथा अन्य व्यवसायों की उपलब्धियों अथवा भूमिकाओं का मूल्यांकन नहीं कर सकता। अतः एक विशेषज्ञ दूसरे विशेषज्ञ से अपने व्यवसाय अथवा पेशे संबंधी ज्ञान के आधार पर अन्तः क्रिया करता है। इस कारण व्यवसाय संबंधी विशिष्टीकरण प्रस्थिति व्यवस्था का आधार बन जाता है।

तार्किकीकरण का अभिप्राय व्यवसाय संबंधी उद्देश्यों को वैज्ञानिक आधार पर निर्धारित करना है अतः व्यावसायिक उद्देश्य की प्राप्ति हेतु बौद्धिकता, योग्यता एवं चरित्र महत्वपूर्ण कारक बन जाते हैं। तार्किकीकरण व्यवसायों के प्रकार्यात्मक महत्व में वृद्धि करता है और इसलिए आधुनिक समाजों की स्तरीकरण व्यवस्था में इसका महत्वपूर्ण स्थान है।

8.3 सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न सिद्धांत

सामाजिक स्तरीकरण को समझने के लिए व्यवसाय किसी भी समाज में एक महत्वपूर्ण उपकरण है। अब हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि विभिन्न व्यवसाय समाज में भिन्न-भिन्न रूप में महत्वपूर्ण क्यों हैं? दूसरे शब्दों में, क्रमविन्यास में व्यवसायों की उच्च एवं निम्न प्रस्थिति के क्या कारण हैं।

समाजशास्त्रियों ने सामाजिक असमानता की प्रघटना को उसकी अनिवार्यता एवं महत्व के संदर्भ में मूल्यांकित किया है। सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए असमानता आवश्यक है। सामाजिक स्तरीकरण के प्रति इस दृष्टिकोण को "प्रकार्यवादी उपागम" कहते हैं तथा इस उपागम को प्रस्तुत करने वाले समाजशास्त्रियों को "प्रकार्यवादी" कहते हैं। प्रकार्यवादियों का मत है कि पुरस्कार व्यवस्था का संबंध व्यवसायों के प्रकार्यात्मक महत्व से है उदाहरण के लिए, किसी उद्योग के श्रमिक की तुलना में प्रबंधक को अधिक पुरस्कार मिलता है क्योंकि प्रबंधक का कार्य महत्वपूर्ण है। इस तरह का विचार किंग्सले डेविस एवं विलबर्ट ई. मूर ने प्रस्तुत किया है।

8.3.1 के. डेविस एवं डब्ल्यू.ई. मूर के सिद्धांत

डेविस एवं मूर के मुख्य तर्कों को निम्न रूप से समझा जा सकता है :

i) किसी भी समाज में मुख्य पद अन्य पदों की तुलना में प्रकार्यात्मक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इन मुख्य पदों पर भूमिका करने के लिए विशिष्ट ज्ञान एवं प्रशिक्षण आवश्यक है।

ii) समाज में दक्षता एवं योग्यता केवल सीमित संख्या में व्यक्तियों में होती है। सीमित संख्या वाले इन व्यक्तियों को महत्वपूर्ण पदों पर भूमिका निर्वाह हेतु प्रशिक्षित किया जा सकता है।

iii) योग्यता एवं प्रतिभा सम्पन्न इन व्यक्तियों को प्रशिक्षण के माध्यम से एक विशिष्ट भूमिका में दक्ष किया जाता है। प्रशिक्षण काल मे ये व्यक्ति अनेक प्रकार के बलिदान भी करते हैं ताकि दक्षता प्राप्त कर सकें।

iv) इन योग्यता एवं प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को इस बलिदान के प्रत्युत्तर में जब भावी पद दिया जाता है तब साथ ही अनेक सुविधाएं एवं इच्छित पुरस्कार भी इन व्यक्तियों को समाज द्वारा प्रदान किये जाते हैं जो अन्य व्यक्तियों को दी गयी सुविधाओं एवं पुरस्कारों से भिन्न होते हैं।

v) इन योग्य एवं प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तियों को वे वस्तुएं प्रदान की जाती हैं जो सीमित रूप में उपलब्ध हैं तथा इन व्यक्तियों के द्वारा इच्छित हैं। इन वस्तुओं के साथ अधिकार एवं प्रस्थिति के अनुरूप अनेक साधन भी प्रदान किये जाते हैं। इन साधनों को अनेक भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है जो निम्न तत्वों के प्राप्ति में सहायक होते है —

   अ) पोषक आहार एवं सुविधाएं,

   ब) मनोरंजन एवं विविधतापूर्ण साधन, एवं

   स) स्वयं की प्रतिष्ठा एवं अहम् का विस्तार।

vi) समाज में मुख्य पुरस्कारों का विभिन्न सामाजिक इकाइयों में वितरित होना, प्रतिष्ठा एवं सम्मान के उस विभेदीकरण को प्रभावित करता है जिसका संबंध विभिन्न प्रस्थिति समूहों से है। यह कहा जा सकता है कि अधिकार एवं सुविधाओं के साथ संस्थागत सामाजिक असमानता उत्पन्न होती है जिसे सामाजिक स्तरीकरण कहा जाता है।

vii) अतः सामाजिक असमानता सीमित रूप में उपलब्ध एवं वांछनीय वस्तुओं शक्ति एवं प्रतिष्ठा से निर्मित होती है जो किसी भी समाज में अनिवार्य एवं प्रकार्यात्मक है।

8.3.2 एम.एम. ट्यूमिन का सिद्धांत

ट्यूमिन जो कि डेविस एवं मूर के सिद्धांत के आलोचक हैं ने असमानता के अपकार्यों (वे अवलोकनीय परिणाम जो समाज में समायोजन एवं अनुकूलन को कम करते हैं) की चर्चा की है। ट्यूमिन के इस संदर्भ में निम्न विचार हैं :

1) सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था किसी भी समाज में योग्यतम व्यक्तियों की समग्र खोज की संभावना को सीमित करती है। उपयुक्त प्रेरणा चयन-प्रक्रिया एवं प्रशिक्षण केन्द्रों में पाई जाने वाली असमान स्थितियां इसी तथ्य का परिणाम हैं।

2) उपलब्ध योग्य व्यक्तियों अथवा दक्ष व्यक्तियों की खोज में सीमितता के कारण सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था समाज में उत्पादन स्रोतों की वृद्धि की संभावना को भी सीमित करती है। यदि योग्यतम व्यक्तियों की समग्र खोज की व्यवस्था उत्पन्न की जाए तो उत्पादन प्रक्रिया में वृद्धि हो सकती है तथा अवसरों की समानता का तार्किकीकरण हो सकता है।

3) समाज में विशिष्ट सदस्यता का निर्धारण इस आधार पर होता है कि व्यक्ति की समाज में प्रतिष्ठा क्या है। स्तरीकरण की व्यवस्था इन विशिष्ट सदस्यों के मध्य असमानता का वितरण करती है। विभिन्न क्रियाओं में सहभागिता अथवा क्रियाओं की उपेक्षा किसी सीमा तक समाज में प्रभावशाली सदस्यता पर निर्भर करती है। अतः सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था असमान सहभागिता की प्रेरणा को उत्पन्न करती है।

ट्यूमिन के ये सभी तर्क वे परिकल्पनाएं हैं जिनका यदि परीक्षण किया जाए तो असमानता को पूरी तरह समझा जा सकता है।

8.3.3 टी. पार्सन्स का मत

पार्सन्स एक अन्य महत्वपूर्ण प्रकार्यवादी हैं। पार्सन्स के मतानुसार मूल्यांकन की दृष्टि से सामाजिक स्तरीकरण किसी भी समाज व्यवस्था में इकाइयों (व्यवसायों) का क्रमविन्यास है जो कि सामान्य मूल्य व्यवस्थाओं के स्तर के अनुरूप हैं समाज के मूल्य व्यवसायों से सम्बद्ध पुरस्कारों का निर्धारण करते हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका में उत्पादक क्रियाओं को उच्च मूल्य प्राप्त हैं अतः शारीरिक श्रम संबंधी रोजगार की तुलना में प्रबन्धकीय व्यवसाय के साथ उच्च एवं श्रेष्ठ पुरस्कार संबद्ध हैं क्योंकि प्रबंधकीय व्यवसाय शारीरिक श्रम संबंधी व्यवसायों की तुलना में उत्पादन क्रियाओं पर अधिक बल देता है।

8.3.4 के. मार्क्स एवं एम. वेबर के सिद्धांत

विभिन्न समाजशास्त्रियों ने सामाजिक असमानता के आधारों से संबंधित अनेक प्रश्न उत्पन्न किए हैं। मार्क्स एवं वेब

के विचार इन प्रश्नों का उत्तर जानने में सहायक हो सकते हैं। मार्क्स का मत है कि उत्पादन साधनों के साथ व्यक्तियों के संबंध सामाजिक असमानता को उत्पत्ति के मुख्य कारक हैं। मार्क्स के अनुसार पूंजीवादी समाज में दो वर्ग पाए जाते हैं। प्रथम— जिनका उत्पादन साधनों पर नियन्त्रण नहीं है (सर्वहारा अथवा श्रमिक)। वर्ग किसी भी समाज में सामाजिक एवं राजनीतिक क्रियाओं को निर्धारित करता है।

परन्तु मार्क्सवादी सिद्धांत में अनेक निर्बलताएं हैं। टी.बी. बाटोमोर का मत है कि मार्क्सवादी सिद्धांत पूंजीवादी समाजों के सामाजिक एवं राजीनीतिक संघर्षों के विश्लेषण का उपयुक्त एवं उपयोगी प्रारूप है परन्तु इसके आधार पर जाति स्तरीकरण को समझने में कठिनाइयां हैं। सोवियत संघ एवं पूर्वी यूरोपीय समाजों में हाल ही में हुए राजनैतिक एवं आर्थिक परिवर्तनों से मार्क्सवादी सिद्धांत की निर्बलता स्पष्ट होती है। अनेक अध्ययनों में यह भी पाया गया है कि धर्म भी राजनैतिक क्रियाओं को प्रभावित करता है। डेहरेनडार्फ जो कि मार्क्सवादी सिद्धांत के आलोचक हैं का मत है कि शक्ति स्तरीकरण का आधार है। जो शक्ति सम्पन्न हैं वे हमेशा शक्ति के केन्द्र में बने रहने का प्रयास करते हैं। परिणामस्वरूप कम शक्तिशाली एवं अधिक शक्तिशाली समूहों के मध्य निरन्तर संघर्ष होता है। एक दृष्टिकोण यह भी है कि एक मत्यता एवं संघर्ष की प्रक्रियाओं का अस्तित्व साथ-साथ है। विश्लेषण के स्तर पर इन दोनों दृष्टिकोणों का समन्वित रूप देखा जा सकता है।

मैक्स वेबर ने सामाजिक स्तरीकरण के तीन पक्षों—वर्ग, प्रस्थिति एवं दल का उल्लेख किया है। वर्ग व्यक्तियों का वह संकलन है जिनमें समान आर्थिक स्थिति एवं समान जीवन अवसर के तत्व पाये जाते हैं। प्रस्थिति समूह व्यक्तियों के वे संकलन हैं जिनमें समान सामाजिक प्रतिष्ठा एवं समान जीवन शैली के तत्व पाये जाते हैं। दल व्यक्तियों के वे संकलन हैं जिनमें समान राजनैतिक हित के तत्व विद्यमान हैं। स्तरीकरण के ये तीनों पक्ष भिन्न-भिन्न एवं पृथक रूप में पाये जाते हैं यद्यपि इनके समन्वित रूपों के अस्तित्व भी सामाजिक यथार्थ का भाग है।

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर पर निशान लगायें :

1) शक्ति, प्रतिष्ठा एवं पुरस्कारों के मध्य क्या संबंध है?
   i) वे घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं। एक के अस्तित्व एवं भूमिका की चर्चा दूसरे के बिना नहीं की जा सकती।
   ii) वे स्वतंत्र तत्व हैं।

सही उत्तर पर निशान लगायें :

i) मार्क्स एवं वेबर के सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत समान हैं।

ii) वेबर का सिद्धांत मार्क्स से भिन्न है। वेबर वर्ग, दल एवं प्रस्थिति की चर्चा करते हैं जबकि मार्क्स संघर्षवादी सिद्धांतकार हैं।

8.4 टी. कैपला : व्यावसायिक क्रमविन्यास के निर्धारक

1950 के दशक से सामान्य प्रवृत्ति के रूप में सामाजिक स्तरीकरण का अध्ययन व्यवसाय के संदर्भ में किया जाता है। जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है कि स्तरीकरण व्यवस्था में विभिन्न व्यवसायों का क्रम भी भिन्न-भिन्न है। कुछ व्यवसाय श्रेष्ठ माने जाते हैं जबकि कुछ को मध्य एवं निम्न क्रम प्रदान किया जाता है। कैपला ने एक उदाहरण के द्वारा विभिन्न व्यवसायों की प्रतिष्ठा के निर्धारक तत्वों का उल्लेख किया है। यह उदाहरण निम्नलिखित रूप में है।

सारिणी 1

मापन परिभाषा

i)	**उत्तरदायित्व**	**उदाहरण**
	अ) उत्तरदायित्व जो जीवन एवं सम्पत्ति को प्रभावित करें	न्यायाधीश
	ब) उत्तरदायित्व जो केवल सम्पत्ति को प्रभावित करें	ऑडीटर
	स) असावधानी को त्यागने से सम्बद्ध उत्तरदायित्व	कार चालक
	द) कोई दायित्व नहीं	कलाकार
ii)	**कार्य की प्रकृति**	
	अ) प्रतीकों के प्रयोग की कार्य कुशलता	संवाददाता

ब) कुछ यन्त्रों एवं भौतिक वस्तुओं के प्रयोग के साथ प्रतीकों के प्रयोग की कार्य कुशलता	ड्राफ्टमैन
स) कुछ प्रतीकों के प्रयोग के साथ यन्त्रों एवं भौतिक वस्तुओं के प्रयोग की कार्य कुशलता	रेडियो संवाददाता
द) यंत्रों एवं भौतिक वस्तुओं के प्रयोग की कार्य कुशलता	ईंट बनाने वाला व्यक्ति
iii) औपचारिक शिक्षा	
अ) उच्च शिक्षा की आवश्यकता	वास्तु शिल्पी
ब) उच्च स्कूली शिक्षा	सचिव
स) शिक्षा आवश्यक	अधिकारी
द) औपचारिक शिक्षा आवश्यक नहीं	माली
iv) प्रशिक्षण	
अ) दीर्घ कालिक प्रशिक्षण आवश्यक	संगीतज्ञ
ब) कुछ प्रशिक्षण आवश्यक	प्यानोवादक
स) कुछ प्रशिक्षण वांछनीय	क्रय प्रतिनिधि
द) कोई प्रशिक्षण आवश्यक नहीं	पत्रवाहक (डाकिया)
v) सत्ता	
अ) अधीनस्थों का विशाल समूह	आर्केस्ट्रा का संचालक
ब) अधीनस्थों का लघु समूह	स्टेशन एजेंट
स) केवल उच्च एवं निम्न सहायक	विधायक
द) कोई अधीनस्थ नहीं	कलाकार
vi) वर्ग की विशेषताएं	
अ) स्थापित उच्च वर्ग व्यवसाय प्रतिनिधि	प्रतिबद्ध विक्रय
ब) स्थापित उच्च-मध्य वर्गीय व्यवसाय	दन्त चिकित्सक
स) स्थापित निम्न मध्य वर्गीय व्यवसाय	फायर मैन
द) स्थापित निम्न व्यवसाय	सामान्य श्रमिक (लांग शेयर मैन)
vii) आय	
अ) उच्च आय सुनिश्चित	डाक्टर
ब) उच्च आय सम्भव पर सुनिश्चित नहीं	भूसम्पति का क्रेता/एंजेन्ट
स) सामान्य आय सुनिश्चित	प्रयोगशाला का तकनीशियन
द) निम्न आय सुनिश्चित	बर्तन धोने वाला

उपरोक्त उदाहरण व्यवसाय एवं प्रतिष्ठा के मध्य सम्बन्ध का संकेत देते हैं। परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि प्रतिष्ठा का प्रत्यक्ष आधार व्यवसाय है। ऊपर सारिणी में दिये समस्त उदाहरणों के कारण प्रतिष्ठा आधार भी हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं।

कैपला का यह भी तर्क है कि उपरोक्त तत्वों के अतिरिक्त तीन और तत्व— ऐतिहासिक कारक, पृथक्करण का पक्ष एवं व्यवहार नियन्त्रण — एक व्यवसाय की प्रस्थिति को प्रभावित करते हैं। ऐतिहासिक कारक का अभिप्राय किसी व्यवसाय के इतिहास से है। जिस व्यवसाय का इतिहास जितना पुराना है उतनी ही उसकी अधिक प्रतिष्ठा है। लोकोमोटिव इंजीनियर के व्यवसाय का इतिहास चूंकि पुराना नहीं है अतः उसकी प्रतिष्ठा कम है जबकि पुरोहित या पादरी की प्रतिष्ठा उच्च है क्योंकि इसके साथ दो हजार वर्ष का चर्च का इतिहास विद्यमान है। पृथक्करण का पक्ष व्यवसाय की लोकप्रियता की दर से सम्बद्ध है। वह व्यवसाय जिससे समुदाय के सदस्य परिचित नहीं हैं प्रतिष्ठाक्रम में निम्न स्थान रखता है। कैपला का मत है कि यद्यपि ये कारक प्रतिष्ठा के निर्धारक हैं, इनका प्रभाव भी हो सकता है परन्तु यह निश्चित नहं

है कि इन कारकों एवं व्यवसाय की प्रस्थिति के मध्य सह-सम्बन्ध की दर कितनी है अर्थात् ये कारक एवं व्यवसाय किस स्थिति तक सम्बद्ध हैं। परन्तु व्यवहार नियन्त्रण एवं व्यवसाय की प्रस्थिति के मध्य पूर्ण सह-सम्बन्ध है। व्यवहार नियन्त्रण उस स्थिति में व्यक्ति की प्रस्थिति का प्रतिनिधित्व करता है जो कि व्यावसायिक भूमिका एवं अन्य सम्बद्ध व्यक्ति की व्यावसायिक भूमिका के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुई है। एक व्यक्ति की व्यावसायिक भूमिका एवं सम्बद्ध अन्य व्यक्तियों जैसे ग्राहक, मुअक्किल, अधीनस्थ, उच्चाधिकारी, यात्री इत्यादि द्वारा व्यावसायिक दायित्वों का निर्वाह करते समय भूमिका या अन्तःक्रिया से स्थिति उत्पन्न होती है। उदाहरण के लिए, बैंकर, कालेज प्रोफेसर, डाक्टर, पुरोहित एवं वकील सभी के सम्बद्ध ग्राहक अथवा मुअक्किल होते हैं। ये मुअक्किल सभी प्रस्थितियों से सम्बद्ध हैं। उपरोक्त प्रस्थितियां अपने ग्राहकों/मुअक्किलों को नियंत्रित करती हैं। परिणामस्वरूप, ग्रामीण स्कूल शिक्षक की तुलना में उपरोक्त सभी प्रस्थियां उच्च हैं। ग्रामीण स्कूल शिक्षक का उन सभी प्रस्थितियों से सम्बद्ध व्यक्तियों से सम्बन्ध है जो कि व्यवहार के तुलनात्मक रूप से कम नियन्त्रण की विशेषताओं से सम्बद्ध है। परन्तु उपरोक्त सभी तर्क परिकल्पनात्मक मत हैं। व्यवसाय की प्रतिष्ठा को निम्नलिखित फार्मूला से समझा जा सकता है :

सारिणी 2

व्यवसाय की प्रतिष्ठा से सम्बद्ध औसत व्यक्तियों का मूल्यांकन = ब1	उस व्यवसाय में व्यक्तियों की आय का स्तर + ब2	उस व्यवसाय में व्यक्तियों का शैक्षणिक स्तर

व्यक्ति की आय एवं शैक्षणिक उपलब्धि का व्यवसाय के क्रमविन्यास से सकारात्मक सह सम्बन्ध है।

8.5 व्यावसायिक क्रमविन्यास की विशेषताएं

रिचर्ड एच. हाल ने व्यवसायों की उन विशेषताओं का उल्लेख किया है जो कि व्यवसायों के क्रमविन्यास के निर्धारण में उल्लेखनीय भूमिका को निभाती हैं। हाल के इस संदर्भ में निम्नलिखित तर्क हैं :

i) निर्वाह किये जाने वाले कार्य की विशिष्ट प्रकृति उत्तरदाता द्वारा व्यवसाय के क्रमविन्यास में स्थान सम्बन्धी निर्मित तर्क को प्रभावित करती है । यदि व्यवसाय में प्राकृतिक एवं भौतिक वस्तुएं प्रयुक्त की जाती हैं तो उसकी प्रस्थिति निम्न हैं जबकि वे व्यवसाय जिनमें प्रतीकों का प्रयोग होता है सर्वोच्च प्रस्थिति प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए, बढ़ई, जो कि भौतिक/प्राकृतिक वस्तुओं का प्रयोग करता है, की प्रस्थिति निम्न है जबकि प्रतीकों का प्रयोग कर रहे श्वेत पोश श्रमिकों की प्रस्थिति उच्च है।

ii) व्यवसाय में प्रवेश सम्बन्धी योग्यताएं जितनी जटिल एवं कडी हैं, सम्बद्ध व्यवसाय उतना ही उच्च प्रस्थिति प्राप्त होगा। उदाहरण के लिए, श्वेतपोश व्यवसाय शारीरिक एवं औद्योगिक श्रमिकों सम्बन्धी व्यवसायों से प्रस्थिति की दृष्टि से उच्च है।

iii) अन्तः व्यैक्तिक सम्बन्धों के अन्तर्गत व्यवसाय का स्थान भी उसके महत्व को निर्धारित करता है। उदाहरण के लिए, वे व्यवसाय जिनमें निरीक्षण सम्मिलित है उच्च प्रस्थिति प्राप्त हैं जबकि वे व्यवसाय जो निरीक्षित हैं, निम्न प्रस्थिति प्राप्त हैं।

iv) वह व्यवसाय जिसमें अधिक उत्तरदायित्व सम्मिलित हैं उच्च प्रस्थिति प्राप्त हैं। उदाहरण के लिए, एक न्यायाधीश की प्रस्थिति उच्च है चूंकि उसमें अधिक उत्तरदायित्व सम्मिलित हैं जबकि एक कलाकार, जिसके साथ सम्बद्ध उत्तरदायित्व कम हैं, निम्न प्रस्थिति प्राप्त हैं।

v) कार्य करने सम्बन्धी स्थितियां भी व्यवसाय की प्रस्थिति को निर्धारित करती हैं। उदाहरण के लिए, उद्योग में लिपिक की प्रस्थिति विश्वविद्यालय के लिपिक की प्रस्थिति से उच्च है।

उपरोक्त तत्वों से स्पष्ट है कि व्यवसायों से सम्बद्ध उपरोक्त विशेषताएं एवं कार्य सम्बन्धी स्थितियां व्यवसाय की प्रस्थिति को निर्धारित करती हैं।

8.5.1 प्रतिष्ठा, शिक्षा, आय एवं व्यवसाय

सामान्यतया यह विश्वास किया जाता है कि व्यवसाय की तुलना में जाति प्रस्थिति की अधिक प्रभावशाली निर्णायक इकाई है। विक्टर एस. डिसूजा एवं राज मोहिनी सेठी द्वारा किये गये व्यवसाय सम्बन्धी अध्ययन से कुछ दृष्टिकोण स्पष्ट होते हैं।

प्रस्थिति के तुलनात्मक मापने से सम्बद्ध इस अध्ययन हेतु चण्डीगढ़ शहर का चयन किया गया। चण्डीगढ़ शहर में निवास कर रहे परिवारों में से दस प्रतिशत उत्तरदाताओं को, जिनकी संख्या 1908 थी, निदर्श इकाई के रूप में अध्ययन हेतु चुना गया। उत्तरदाताओं को चार वर्गों— उच्च, मध्यम, श्रमिक एवं निम्न— की सूची प्रदान की गयी। प्रत्येक

उत्तरदाता को उस वर्ग को बताने के लिए कहा गया जिससे कि वह स्वय को सम्बद्ध मानता है। उत्तरदाता की मासिक आय के आधार पर उसके आय-समूह का निर्धारण किया गया। प्रतिष्ठा पर आधारित व्यवसाय की सात श्रेणियों में उत्तरदाताओं को विभाजित किया गया। अध्ययन स्वयं के प्रस्थिति निर्धारण को आश्रित परिवर्ती बनाता है। व्यवसाय, शिक्षा एवं आय की प्रतिष्ठा को स्वतंत्र परिवर्ती रूप में सम्मिलित किया गया। अध्ययन के निष्कर्ष से यह ज्ञात होता है कि जो तीन विशेषताएं हैं (i) व्यवसाय की प्रतिष्ठा, (ii) व्यवसाय से सम्बद्ध शिक्षा, एवं (iii) व्यवसाय से होने वाली आय से सम्बद्ध तथ्य उनमें से उत्तरदाता के द्वारा निर्धारित वर्ग की अभिव्यक्ति में व्यवसाय की प्रतिष्ठा सबसे महत्वपूर्ण हैं। शिक्षा एवं आय उत्तरदाता के द्वारा वर्ग के स्वनिर्धारण से सम्बन्धित महत्वपूर्ण तथ्य नहीं हैं। अतः अध्ययनकर्ताओं का मत है कि व्यवसाय की प्रतिष्ठा व्यवसाय के क्रमविन्यास को निर्धारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

8.5.2 प्रतिष्ठा एवं व्यावसायिक समूह के क्रमविन्यास

आगरा विश्वविद्यालय के समाज विज्ञान संस्थान के शिक्षकों एवं विद्यार्थियों के दल ने 200 विद्यार्थियों (जो कम से कम हाई स्कूल तक पढ़े थे) के उत्तरों के आधार पर आगरा नगर के मध्यम वर्ग के 44 व्यवसायों की प्रतिष्ठा के क्रमविन्यास को जानने हेतु अध्ययन किया। प्रत्येक उत्तरदाता को 44 व्यवसायों को वरीयता क्रम में स्थान देने का आग्रह किया गया अर्थात् क्रमविन्यास व्यवस्था को 44 व्यवसायों द्वारा निर्मित करने का अनुरोध किया गया है। इस निर्मित सूची सारिणी में से चार व्यवसायों को चुना गया। इन चारों व्यवसायों के क्रम को लेकर उत्तरदाताओं में पारस्परिक सहमति थी। कालेज अध्यापक, हायर सेकेण्ड्री अध्यापक, प्राथमिक स्कूल शिक्षक एवं चपरासी इन चार व्यवसायों से सम्बद्ध हैं। प्रत्येक उत्तरदाता से कहा गया कि 44 में से प्रत्येक व्यवसाय की वे उपरोक्त चार व्यवसायों से तुलना करें।

तुलना के आधार निम्नलिखित बताये गये :

i) यदि व्यवसाय कालेज शिक्षक के व्यवसाय से उच्च अथवा श्रेष्ठ प्रकृति का है तब ऐसे व्यवसाय को क्रम-1 प्रदान किया जाये।

ii) यदि व्यवसाय की प्रतिष्ठा कालेज शिक्षक के व्यवसाय की प्रतिष्ठा के समकक्ष है अथवा निम्न हैं परन्तु हायर सेकेण्ड्री (माध्यमिक) शिक्षक की प्रतिष्ठा से उच्च है तो उसे क्रम-2 प्रदान किया जाये।

iii) यदि व्यवसाय की प्रतिष्ठा माध्यमिक शिक्षक के व्यवसाय की प्रतिष्ठा के समकक्ष है अथवा निम्न है परन्तु प्राथमिक शिक्षक की प्रतिष्ठा से उच्च है तब ऐसे व्यवसाय को क्रम-3 प्रदान किया जाये।

iv) यदि व्यवसाय की प्रतिष्ठा माध्यमिक स्कूल शिक्षक के व्यवसाय की प्रतिष्ठा से निम्न है परन्तु प्राथमिक शिक्षक की प्रतिष्ठा से अधिक है लेकिन चपरासी की प्रतिष्ठा से अधिक है तब ऐसे व्यवसाय को चौथा क्रम प्रदान किया जाये।

v) यदि व्यवसाय की प्रतिष्ठा चपरासी की प्रतिष्ठा से अधिक नहीं है तो उसे पांचवा क्रम प्रदान किया जाये।

प्रत्येक व्यवसाय को प्रतिष्ठा के पांच अंकों के पैमाने से सम्बद्ध किया गया। तत्पश्चात् 200 उत्तरदाताओं द्वारा प्रत्येक व्यवसाय को प्रदान किये गये क्रम का योग किया गया तथा उस योग को 200 से विभाजित किया गया ताकि प्रत्येक व्यवसाय का औसत ज्ञात किया जा सके। तत्पश्चात् प्र ेक व्यवसाय को औसत के अनुसार क्रमविन्यास में स्थान प्रदान किया गया। औसत अथवा माध्य की गणना निम्न लिखित रूप में की गयी :

सारिणी 3

उत्तरदाताओं की संख्या	एक व्यवसाय का क्रम	कुल बारंबारता
140	1	140
50	2	100
10	3	30
योग 200		270

प्राप्त औसत अथवा माध्य $^{270}/_{200} = 1.35$

प्रत्येक व्यवसाय के औसत की पृथक रूप से गणना की गयी। इसके पश्चात् सभी औसतों को क्रमविन्यास के अंतर्गत सम्मिलित किया गया। अतः औसत के क्रमविन्यास के आधार पर व्यवसाय के क्रम को क्रमविन्यास में सुनिश्चित किया गया। अध्ययन से ज्ञात हुआ कि सभी 44 व्यवसायों में से सर्वाधिक प्रतिष्ठित व्यवसाय न्यायाधीश का है। तत्पश्चात् क्रमशः जिला कलक्टर एवं शल्य चिकित्सक को प्रतिष्ठा क्रम स्थान दिया गया। उच्च क्रमविन्यास को निर्धारित करने में व्यवसाय के महत्व, उच्च सत्ता, अच्छी शिक्षा, राष्ट्र निर्माण एवं धन महत्वपूर्ण कारक हैं जबकि धन प्राथमिक शिक्षा, बेईमानी, शोषण एवं गलत छवि जो जनता के मध्य में हैं, व्यवसाय के क्रमविन्यास को नकारात्मक रूप में प्रभावित करती हैं। परन्तु इस अध्ययन में प्रत्येक कारक को स्वतंत्र रूप से कितना सापेक्षिक भार दिया गया एवं अन्य कारकों

के संदर्भ में कितना सापेक्षिक भार दिया गया के तर्क स्पष्ट नहीं हैं। अतः स्पष्ट एवं निश्चित मापन की आवश्यकता इस अध्ययन में महसूस की जा सकती है।

व्यवसाय से सम्बद्ध प्रतिष्ठा का मापन उत्तरदाताओं से इस प्रश्न के उत्तर से भी किया जा सकता है जिसमें निम्न क्रम व्यवस्था में वरीयता प्रस्तुत करने को कहा जाए :

1) सर्वश्रेष्ठ/सर्वोत्तम स्थान
2) श्रेष्ठ स्थान
3) औसत स्थान
4) औसत से निम्न स्थान
5) अत्यन्त निम्न स्थान

8.5.3 लिंग एवं व्यावसायिक क्रमविन्यास

आधुनिक समय में व्यवसाय अनेक माध्यमों से परिवर्तित हुआ है साथ ही, अनेक रूपों में इसका परिवर्तन देखा जा सकता है। सबसे स्पष्ट परिवर्तन लिंग एवं व्यवसाय के मध्य संबंधों में देखा जा सकता है। अधिक से अधिक महिलाएं अब उन व्यवसायों में प्रवेश कर रही हैं जो कि एक समय पुरुषों के प्रभुत्व के थे। परिणामस्वरूप व्यावसायिक अवस्था में नवीन पक्ष उत्पन्न हुए हैं।

अमेरिका में लिंग एवं व्यवसाय संबंधी प्रतिष्ठा के मध्य संबंध से संबंधित अध्ययन में 197 उत्तरदाताओं (99 महिलाएं एवं 98 पुरुष) का चयन किया गया। 40 उत्तरदाताओं को व्यवसाय का नाम एवं महिलाओं के नाम प्रदर्शित करने वाले कार्ड दिए गए। 80 उत्तरदाताओं को व्यवसाय के नाम एवं आधे पुरुष एवं आधी महिलाओं के नाम प्रस्तुत करने वाले कार्ड दिए गए। उत्तरदाताओं से आग्रह किया गया कि वे 110 व्यवसायों को शून्य से सौ (100) तक क्रम प्रदान करें। अध्ययन से यह पता लगा कि संबंधित व्यक्ति की यौनिक प्रस्थिति परिवार के मुखिया के द्वारा प्रस्तुत क्रम को प्रभावित करती है। संबंधित महिलाओं को औसतन पुरुष की तुलना में दो अधिक अंक दिए गए। पुरुष उत्तरदाताओं ने संबंधित पुरुषों को निम्न क्रम प्रदान किया जबकि महिला उत्तरदाताओं ने संबंधित महिलाओं को उच्च क्रम प्रदान किया। एक अत्यंत दिलचस्प तथ्य अध्ययनकर्ताओं ने यह पाया कि कुल मिलाकर लैंगिक प्रस्थिति कुछ अंकों को बढ़ा एवं घटा सकती है जिससे यह ज्ञात होता है कि संबंधित व्यक्ति की लैंगिक प्रस्थिति शिक्षा की तुलना में कम महत्वपूर्ण है। लैंगिक प्रस्थिति एवं व्यवसाय की प्रतिष्ठा के मध्य संबंधों से सम्बद्ध एक अन्य अध्ययन जो कि ब्रिटेन में किया गया, से यह निष्कर्ष ज्ञात हुआ कि इन दोनों तत्वों के मध्य महत्वपूर्ण सह संबंध है अर्थात् संबद्ध व्यक्ति की लैंगिक प्रस्थिति व्यवसाय को प्रभावित करती है परिणामस्वरूप, व्यवसाय की प्रतिष्ठा से संबद्ध क्रमविन्यास निर्धारित होता है।

8.6 ग्रामीण एवं नगरीय समुदाय तथा व्यावसायिक क्रमविन्यास

व्यावसायिक क्रमविन्यास का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों ने ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों के मध्य के भेद व्यवसाय संबंधी क्रमविन्यास के संदर्भ में प्रस्तुत किए हैं। उपलब्ध साहित्य से ज्ञात होता है कि प्रतिष्ठा के संस्तरण के अध्ययन में व्यवसाय का उपयोग अथवा प्रयोग नगरीय समुदायों के अध्ययन में महत्वपूर्ण है जबकि ग्रामीण समुदायों में प्रस्थिति के मूल्यांकन का सर्वप्रमुख आधार भूमि है लेकिन ग्रामीण समुदायों में लगभग समान व्यवसायों की विशेषताएं पाई जाती हैं। परन्तु हम यह स्पष्ट रूप से नहीं कह सकते हैं कि ग्रामीण एवं नगरीय दोनों ही क्षेत्रों में सभी व्यवसायों का क्रमविन्यास समान प्रक्रिया से निर्धारित किया जाता है। ए. एस. मिचैल ने 9 (नौ) कृषक प्रकारों (ज्ञात भूस्वामी, बेनामी भूस्वामी) का अध्ययन 531 कोष्टारिकन (मध्य अमेरिका) के कृषकों को निदर्श इकाई के रूप में सम्मिलित कर किया है। अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि सुरक्षा एवं असुरक्षा का स्तर तथा वैज्ञानिक एवं अवैधानिक अधिकारों का स्तर कृषक समाजों में व्यवसाय के प्रतिष्ठा क्रम को प्रभावित करता है। ज्ञात भूस्वामी सुरक्षा के कारण उच्च प्रस्थिति प्राप्त है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि कृषक समुदायों में व्यवसाय की प्रतिष्ठा के कारण उन क्षेत्रों में भिन्न हैं जहां पृथक्करण है और उन क्षेत्रों में भी भिन्न है जहां केन्द्रीय स्थानों में लोग निवास करते हैं।

8.7 व्यावसायिक क्रमविन्यास में विभिन्न समाजों के संदर्भ में अन्तर

व्यवसायों के क्रमविन्यास को निर्धारित करने के लिए किए गए अध्ययनों में कारकों को जानने का प्रयास किया गया है

और अनेक व्यवसाय संबंधी प्रतिष्ठा पैमाने विकसित किए हैं। समाजशास्त्रियों के ऐसे पैमानों की विश्वसनीयता एवं वैधता के परीक्षण करने के प्रयास किए हैं। अमेरिका एवं इजराइल का तुलनात्मक अध्ययन यह स्पष्ट करता है कि अमेरिका में शिक्षा एवं आय का प्रतिष्ठा के साथ सह संबंधों में कम अन्तर है जबकि इजराइल में आय की तुलना में शिक्षा प्रतिष्ठा से निर्धारण में अधिक योगदान करती है जबकि अमेरिका में शिक्षा एवं आय का प्रतिष्ठा निर्धारण में समान योगदान है। यह सुझाव दिया जा सकता है कि विभिन्न समाजों के तुलनात्मक अध्ययन हेतु प्रतिष्ठा की तुलना में विशिष्ट कारकों का अध्ययन अधिक वैध है। औपचारिक शिक्षा एवं आय प्रतिष्ठा के निर्धारण में अथवा प्रतिष्ठा के क्रमविन्यास के निर्धारण में कितनी महत्वपूर्ण है तथा श्वेतपोश, कृषि, कुशल एवं अकुशल व्यवसायों को किस सीमा तक प्रभावित करती है, को ग्रामीण अमेरिका एवं ग्रामीण भारत के संदर्भ में समझने का तुलनात्मक प्रयास किया गया। अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि ग्रामीण भारत में व्यवसाय के संस्तरण के निर्धारण में शिक्षा की भूमिका महत्वपूर्ण नहीं है जबकि श्रमिकों की प्रति व्यक्ति आय व्यवसायों की प्रतिष्ठा के क्रमविन्यास को निर्धारित करने में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। ग्रामीण अमेरिका में औपचारिक शैक्षणिक उपलब्धि व्यवसाय की प्रतिष्ठा के निर्धारण हेतु महत्वपूर्ण है। यह भी पाया गया है कि जाति प्रस्थिति एवं भूमि स्वामित्व वर्तमान व्यवसाय संरचना को प्रभावशाली ढंग से प्रभावित नहीं करते।

हम सामाजिक स्तरीकरण एवं व्यावसायिक विभेदीकरण के मध्य घनिष्ठ संबंध पाते हैं। व्यावसायिक क्रमविन्यास में अन्तरा-समाज एवं अन्तःसमाज संदर्भों में अन्तर परिलक्षित होता है। ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों में व्यवसाय के क्रमविन्यास के निर्धारक तत्वों में भिन्नता पाई जाती है। भारत में व्यवसाय संस्तरण एवं सामाजिक स्तरीकरण के मध्य घनिष्ठ संबंध हैं। सामाजिक स्तरीकरण एक सामाजिक यथार्थ है तथा बहुआयामी प्रघटना है। आज इसे केवल जाति के आधार पर नहीं समझा जा सकता। भारत में सामाजिक स्तरीकरण को पूर्णरूपेण समझने के लिए आवश्यक है कि व्यवसाय सहित सामाजिक क्रमविन्यास को निर्धारित करने वाले अनेक कारकों का विश्लेषण किया जाए। व्यवसाय संबंधी क्रमविन्यास के सिद्धांत निर्माण हेतु आवश्यक है कि भारत के विभिन्न क्षेत्रों में संबद्ध अध्ययन किए जाएं।

बोध प्रश्न 2

निम्नलिखित में सही उत्तर पर निशान लगाएं।

1) श्रमिक की यौनिक प्रस्थिति उसके प्रतिष्ठा के क्रमविन्यास को प्रभावित करती है।
   i) हां
   ii) नहीं

2) ग्रामीण एवं नगरीय व्यवसाय के क्रमविन्यास समान कारकों पर आधारित है।
   i) हां
   ii) नहीं

8.8 सारांश

इस इकाई में हमने शक्ति, प्रतिष्ठा एवं पुरस्कार सहित व्यावसायिक क्रमविन्यास के अनेक पक्षों का अध्ययन किया है। हमने डेविस एवं मूर, ट्यूमिन, पार्सन्स, मार्क्स एवं वेबर सहित सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न सिद्धांतों का अध्ययन किया है। हमने टी. कैपला द्वारा प्रस्तुत व्यावसायिक क्रमविन्यास के कारकों का भी अध्ययन किया है। हमने व्यावसायिक अथवा व्यवसाय से सम्बन्धी क्रमविन्यास की विशेषताओं का अध्ययन किया है जिसमें विभिन्न व्यवसायों में प्रतिष्ठा के मापन एवं प्रतिष्ठा की अवधारणा की चर्चा की है। तत्पश्चात् हमने ग्रामीण एवं नगरीय समुदायों के व्यावसायिक क्रमविन्यास का अध्ययन किया है। अन्त में अन्तर-समाज के संदर्भ में क्रमविन्यास की हमने चर्चा की है। अतः हमने व्यावसायिक क्रमविन्यास के सम्पूर्ण पक्ष प्रस्तुत किये हैं ताकि व्यवसाय के क्रमविन्यास सम्बन्धी सिद्धांत पर पहुंचने का प्रयास किया जा सके जो वर्तमान में आवश्यक है।

8.9 शब्दावली

स्वतन्त्र/आश्रित चर : समाजशास्त्रीय दृष्टि से चरों के मध्य सम्बन्धों का मूल्यांकन किया जाता है। कोई प्रघटना जो अन्य किसी तत्व का कारण है अथवा अन्य किसी तत्व से विवेचित होती है, आश्रित चर कहलाती है जबकि कारण परिणाम से सम्बद्ध अथवा विश्लेषण करने वाला चर स्वतंत्र चर है। उदाहरण के लिए, सामाजिक गतिशीलता सम्बन्धी

अध्ययन में व्यक्तियों की व्यावसायिक उपलब्धि के चरण/स्तर आश्रित चर हैं जबकि इस स्तर का विश्लेषण करने वाली प्रघटना जैसे माता-पिता का व्यवसाय तथा सम्बन्धित व्यक्तियों की शैक्षणिक उपलब्धियां स्वतंत्र चर हैं।

निर्धारक : वह कारक जो अन्य कारकों पर अपना प्रभाव रखता है।

लिंग : पुरुष सम्बन्धी अथवा स्त्री सम्बन्धी विशेषताओं से सम्बद्ध वे तत्व जो संस्कृति द्वारा निर्धारित हैं अर्थात् पुरुष एवं स्त्री अथवा पुरुषत्व एवं नारीत्व से सम्बद्ध सामाजिक, सांस्कृतिक एवं मनोवैज्ञानिक पक्ष।

असमानता : शक्ति एवं अन्य सभी संसाधनों का असमान वितरण।

प्रतिष्ठा : प्रस्थिति के आदर पर व्यक्तियों अथवा समूह का आदर। व्यावसायिक प्रतिष्ठा का निर्धारण समाज की मूल्य व्यवस्था एवं उस समाज में विभिन्न व्यवसायों के प्रकार्यात्मक महत्व से होता है।

क्रमविन्यास : व्यवसाय सम्बन्धी संस्तरण में उच्च, मध्यम अथवा निम्न पद।

प्रस्थिति : सामाजिक संरचना के अन्तर्गत पद अथवा किसी समूह में सामाजिक रूप में परिभाषित पद अर्थात् व्यक्ति का सापेक्षिक पद जो सर्व स्वीकृत पैमाने अथवा सामाजिक प्रतिष्ठा के संस्तरण के संदर्भ में देखा जा सकता है।

8.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बाटोमोर, टी. बी. 1962. *सोश्योलजी*, लंदन : एलिन एण्ड अलविन।

कैपला, थियोडोर. 1970. *द सोश्योलजी ऑफ़ वर्क*, इलाहाबाद : सैन्ट्रल बुक डिपो।

डेहरेनडार्फ, आर. 1959. *क्लास एण्ड कनफ्लिक्ट इन इन्डस्ट्रियल सोसायटी*, स्टेन फ़ोर्ड : स्टेन फोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

डिसूजा, विक्टर एस. एवं राज मोहिनी सेठी. 1972. सोशयल क्लास एण्ड ऑक्यूपेशनल प्रेस्टिज इन इंडिया : ए केस स्टडी, *सोश्योलजीकल बुलेटिन* में प्रकाशित लेख, Vol. 21, मार्च।

8.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i)

2) ii)

बोध प्रश्न 2

1) i)

2) ii)

इकाई 9 विचारधारा तथा स्तरीकरण : श्रेणीबद्धता एवं समानता

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य
9.1 प्रस्तावना
9.2 विचारधारा की परिभाषा
9.2.1 विचारधारा सामाजिक श्रेणीबद्धता को कैसे मान्य ठहराती है?
9.3 विचारधारा एवं परिवर्तन
9.3.1 विचारधारात्मक भिन्नताएं
9.4 धर्म एवं सामाजिक स्तरीकरण
9.5 धर्मनिरपेक्ष विचारधाराएं
9.5.1 शिक्षा एवं स्तरीकरण
9.5.2 प्रजातंत्र और समानता
9.6 मार्क्स, दुर्खाइम और वेबर की विचारधाराएं
9.6.1 कार्ल मार्क्स
9.6.2 इमाइल दुर्खाइम
9.6.3 मैक्स वेबर
9.6.4 मार्क्स, दुर्खाइम एवं वेबर का तुलनात्मक अध्ययन
9.7 भारतीय सन्दर्भ
9.8 सारांश
9.9 शब्दावली
9.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

9.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको इस योग्य होना चाहिए कि आप :

- विचारधारा को परिभाषित कर सकें,
- सामाजिक स्तरीकरण को दृढ़ या परिवर्तित करने में विचारधारा कैसे सहायता पहुंचाती है, यह जान सकें,
- धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष विचारधाराओं के प्रभाव को समझ सकें,
- मार्क्स, दुर्खाइम और वेबर की सामाजिक स्तरीकरण संबंधी विचारधाराओं का संक्षेप में वर्णन कर सकें, और
- भारतीय समाज के सन्दर्भ में संकल्पित समतावाद की प्रकृति को समझ सकें।

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई का उद्देश्य विचारधारा और सामाजिक स्तरीकरण के बीच संबंध स्थापित करना है। जैसा कि पिछले इकाइयों में स्पष्ट किया गया था कि प्रत्येक समाज में लोग उच्च या निम्न सामाजिक स्थितियों के अनुसार समूहों में व्यवस्थित हैं। दूसरे शब्दों में, ये समूह जाति, प्रजाति, सजातीय समूहों, वर्गों के रूप में जाने जाते हैं। इसमें कुछ समूह दूसरों से ज्यादा श्रेष्ठ माने जाते हैं। सामाजिक स्थितियों के अनुसार ये समूह एक के ऊपर एक के रूप में व्यवस्थित हैं। अधिकांश समाजशास्त्री यह स्वीकार करते हैं कि मानव-समाज के सुचारु रूप से चलने के लिए इस तरह की सामाजिक व्यवस्था आवश्यक है। लेकिन स्तरीकरण के आविर्भाव का कोई विशेष रूप या सामाजिक स्तरीकरण के अनुरक्षण कोई पद्धति को स्वीकार करने के प्रश्न पर ये समाजशास्त्री एकमत नहीं हैं। सामाजिक श्रेणीबद्धता व्यक्तियों या समूहों को उच्च एवं निम्न स्थानों के निश्चित आधार पर व्यवस्थित करता है।

प्रत्येक समाज में, जाति, वर्ग, सत्ता-वर्ग, सजातीयता आदि के आधार पर स्तरीकरण का एक विशिष्ट रूप पाया जाता है। इन सबों के अपने अलग-अलग विशिष्ट स्तर हैं जो दूसरे समाजों के स्तरों से मेल नहीं खाते। उदाहरण के लिए, पूंजीवादी समाजों में बुर्जुआजी को श्रेष्ठ स्थान मिलता है जबकि समाजवादी समाजों में उसका उस रूप में अस्तित्व ही नहीं होता।

असहमति का दूसरा कारण उन कारकों को लेकर है जो सामाजिक स्तरीकरण की पद्धति को जारी रखने में मदद पहुंचाते हैं। सामाजिक स्तरीकरण की सभी पद्धतियां लोगों को उच्च और निम्न श्रेणियों में सजाती हैं। हम लोग जानते हैं कि यह प्राकृतिक प्रक्रिया नहीं है। समाज ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार ही स्तरीकरण पद्धतियों का विकास किया। लेकिन प्रश्न उठता है कि लोग अपनी श्रेणियों को क्यों स्वीकार करते हैं? सामाजिक श्रेणीबद्धता में तलछट के लोग अपनी निम्न श्रेणियों को क्यों स्वीकार करते हैं? इसकी कई वजहें होंगी। कुछ समाजों में लोग यह सोचते हों कि वे अपनी उपलब्धियों एवं योग्यताओं के कारण ही कोई विशिष्ट श्रेणी से सम्बद्ध माने जाते हैं। समाज के सुचारु रूप से चलने के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि भूमिकाओं एवं श्रेणियों का किसी न किसी रूप में बंटवारा किया जाय। काम का विभाजन या भूमिकाओं या श्रेणियों का विभाजन एक सामाजिक सार्थकता प्राप्त कर लेता है जब लोगों द्वारा किये गये विभिन्न कामों का मूल्य भिन्न-भिन्न आंका जाने लगता है। यह मूल्यांकन ही सामाजिक असमानता का कारण होता है।

अब हम लोग उन कारणों की ओर लौटें कि क्यों समाज में लोग ऐसे पद्धतियों को स्वीकार करते हैं। सरल रूप में इसका उत्तर यह है कि सभी लोग, प्रचलित स्तरीकरण पद्धति के एक सामान्य विचार में, हिस्सेदारी करते हैं। फिर यह जानते हुए भी कि कुछ लोगों की तुलना में कुछ दूसरे लोगों को यह ज्यादा पक्षपात कर सकती है, वे इसे स्वीकार करना सीख जाते हैं। यह बिन्दु इस अंक के केन्द्रीय विषय-वस्तु की ओर ले जाता है कि प्रचलित स्तरीकरण पद्धति को सुदृढ़ या परिवर्तित करने में विचारधारा की क्या भूमिका है?

9.2 विचारधारा की परिभाषा

यहां यह पूछना प्रासंगिक होगा कि हम लोग विचारधारा से क्या समझते हैं? विचारधारा ऐसे मूल्यों और विश्वासों के स्वरूप को कहते हैं जो किसी व्यक्ति या समूह के कार्यकलापों एवं व्यवहारों को निर्धारित करती है। यह अपने में ऐसे विचारों को समाहित किये रहती है जिसे बहुत बड़ी संख्या में लोग यह सोच कर मानते हैं कि यह सबों के सामान्य भलाई के लिये है। जानवरों से मनुष्य इसी मायने में भिन्न है कि मनुष्य सोच सकता है एवं अपने व्यवहार को निर्धारित कर सकता है। लोग सामान्यतया कोई काम करने से पहले एक दूसरे की राय लेते हैं। अतः उनके क्रियाकलाप सामान्यतः वृहत् समाज द्वारा स्वीकृत संहिताओं से ही निर्धारित होती है। विचारधारा ऐसी प्रक्रिया का परिणाम है, जिसमें लोगों के विचार अन्तर्निहित होते हैं।

इस तरह, विचारधाराओं को समाज के एक वर्ग या जनता के चेतना का प्रतिनिधि माना जा सकता है। विचारधारा से सम्बद्ध लोगों को यह मुख्य सिद्धांत, लक्ष्य एवं दिशा प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में, विचारधारा सामाजिक समूह या लोगों के एक वर्ग की आकांक्षाओं एवं हितों को अभिव्यक्त करने का एक उपकरण है। इसके साथ ही साथ विचारधारा में मनुष्य के सामाजिक विकास की प्रगति की भी एक सामान्य व्याख्या सन्निहित होती है। यह सामान्य व्याख्या वैज्ञानिक भी हो सकती है और अतिमानवी विश्वासों पर आधारित होने की वजह से अवैज्ञानिक भी। इसी तरह विभिन्न सामाजिक, राजनैतिक एवं सौन्दर्यगत आदर्शों एवं हितों का औचित्य भी विचारधारा सिद्ध करती है।

9.2.1 विचारधारा सामाजिक श्रेणीबद्धता को कैसे मान्य ठहराती है?

इसकी व्याख्या हम लोग कुछ उदाहरणों से करें। पारम्परिक हिन्दू समाज में जाति-प्रथा कर्म और धर्म की विचारधारा पर आधारित थी। किसी व्यक्ति का जन्म किसी खास जाति में इसलिए हुआ क्योंकि उसके पूर्वजन्म कर्म वैसा था। इस जन्म ने सच्चाई एवं ईमानदारी से कर्तव्य करके (धर्म) वह चाहे तो अगले जन्म में अपनी बेहतर जिन्दगी सुरक्षित कर सकता है। यह विचारधारा इतनी प्रभावी इसलिए हुई क्योंकि अधिकांश लोग इसकी सत्यता पर विश्वास करते थे। उनका विश्वास था कि अच्छा कर्म करके अपने वर्तमान पर न सही लेकिन अपने भविष्य पर कुछ नियंत्रण है। अगर इस जन्म में वे अच्छा कर्म किये तो इसका फल वे अगले जन्म में प्राप्त कर सकते हैं। धार्मिक ग्रंथों में जो आचार संहिता है वह इस जीवन में लोगों को अच्छे बने रहने की अवधारणा प्रस्तुत करता है। प्रत्येक जाति के अपने धर्म हैं और उस जाति के सदस्यों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे इस जीवन में अच्छे बने रहें। ऐसी स्थिति में प्रत्येक जाति यह समझता है कि दूसरे के प्रति अपना कर्तव्य पूरा करना ही उसका धर्म है। वे पूर्व जन्म के फलों का परिणाम समझकर अपने वर्तमान को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, हम लोग पाते हैं कि जाति-व्यवस्था की विचारधारा से सामाजिक स्तरीकरण की पद्धति को न्यायोचित ठहराया जाता है।

इस तरह की विचारधारा से ही ऐसे समाज का औचित्य प्रमाणित हो सकता है। सामाजिक गतिशीलता इसमें सीमित हो जाती है। लोग प्रायः अपनी जाति को दिया हुआ एवं सामान्यतः अपरिवर्तनीय मानते हैं। जाति में ऐसी स्थिरता समाज में श्रम का विभाजन एवं एक तरह की सुव्यवस्था प्रदान करता है। सभी तरह के गतिविधियों का केन्द्र व्यक्ति नहीं बल्कि समूह होता है।

9.3 विचारधारा एवं परिवर्तन

उपरोक्त विवेचन से आप पर यह प्रभाव पड़ सकता है कि विचारधारा सिर्फ सामाजिक स्तरीकरण की प्रचलित पद्धति को सुदृढ़ एवं मजबूत बनाता है। परन्तु वास्तव में, हम लोगों ने सिर्फ यह दिखाया है कि कोई भी प्रचलित पद्धति अपने औचित्य को विचारधारा के सहारे सिद्ध करती है। इससे यह भी अर्थ निकाला जा सकता है कि विचारधारा का काम व्यवस्था में किसी भी तरह के परिवर्तन को रोकना है। यह पूर्णतया सत्य नहीं है। समाज परिवर्तन में भी विचारधारा का महत्वपूर्ण भूमिका होती हैं। स्तरीकरण पद्धति में परिवर्तन को भी विचारधारा न्यायोचित ठहराती है।

9.3.1 विचारधारात्मक भिन्नताएं

किसी समाज में विचारधारात्मक भिन्नताएं तब पायी जाती हैं जब मौजूदा स्तरीकरण पद्धति को चुनौती दी जाती है। इसका आरम्भ सामान्यतया स्तरीकरण पद्धति के विचारधारात्मक आधारों पर प्रश्न चिन्ह लगाने से होता है। उदाहरण के लिए, यूरोप में सामंती प्रथा इस विश्वास पर टिकी हुई थी कि सामाजिक स्तरीकरण का निर्धारण भगवान के द्वारा होता है। (इस इकाई के 6.2.1 में भी इसका संदर्भ दिया गया है)। इसी प्रकार जाति-प्रथा (वर्ण-व्यवस्था) का विचारधारात्मक आधार धर्म और कर्म की अवधारणा पर टिका हुआ है। सामंती इंग्लैंड के स्तरीकरण पद्धति के आधार को निम्नांकित पंक्तियों में दर्शाया गया है : "अपनी जाति के अनुसार मनुष्य धनी है। गरीब दरवाजे पर खड़ा है। भगवान ही उन लोगों को ऊंचा नीचा बनाया है। वो ही संसार को आदेश देता है।" इससे यह अर्थ निकलता है कि भगवान की इच्छा से ही लोग धनी या गरीब पैदा होते हैं।

इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति ने सामंतवाद का अन्त कर दिया। समाज में इसने एक नई स्तरीकरण पद्धति को जन्म दिया। इसका आधार सामंती स्तरीकरण के आधारों से भिन्न था। नये समाज ने श्रेणी-क्रम का आधार व्यक्ति के गुण माने जाने पर जोर दिया। लोग धनी या गरीब ऊंच या नीच पैदा नहीं होते हैं— इस नई विचारधारा ने व्यक्ति के सोच को परिवर्तित किया। मौजूदा स्तरीकरण पद्धति के आधारों पर लोगों ने प्रश्न चिन्ह लगाना शुरू किया, जिससे पद्धति में कई परिवर्तन सम्भव हुए।

अतः विचारधारा मौजूदा स्तरीकरण पद्धति को औचित्यपूर्ण ठहराती है और उसे परिवर्तित करने की भूमिका भी तैयार करती है। इस प्रकार, हम लोग देखते हैं कि विचारधारा और सामाजिक स्तरीकरण एक दूसरे से जुड़े हुए हैं।

बोध प्रश्न 1

1) विचारधारा क्या है? तीन पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

2) सामंती-व्यवस्था के विचारधारात्मक आधार के बारे में ज्यादा से ज्यादा चार पंक्तियों में लिखें।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

9.4 धर्म एवं सामाजिक स्तरीकरण

अब हम लोग विचारधारा के दूसरे पक्ष धर्म की विवेचना कर सकते हैं। स्तरीकरण की पद्धति को न्यायोचित ठहराने में धर्म भी एक प्रमुख भूमिका अदा करती है। वस्तुतः विचारधारा धार्मिक और धर्मनिरपेक्ष दोनों हो सकती है। धर्मनिरपेक्ष विचारधारा की विवेचना हम लोग अगले खंड में करेंगे। इस खंड में हम लोग इस बात पर विचार करेंगे कि सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति को बदलने एवं सुदृढ़ करने में कैसे धर्म एक प्रमुख भूमिका अदा करती है।

लोगों पर धर्म का जो विचारधारात्मक प्रभाव है; वह सामाजिक स्तरीकरण को निर्धारित करने का एक महत्वपूर्ण कारक बन जाता है। लोग सामान्यतः धर्म को एक पवित्र वस्तु मानते हैं क्योंकि उनका विश्वास है कि यह किसी दैवी शक्ति की रचना है। अतः जब धर्म स्तरीकरण पद्धति को परिवर्तित करने के लिए प्रोत्साहित करती है तो धर्मानुयायी बिना किसी प्रश्न के उसे स्वीकार कर लेते हैं। इसी तरह धर्म अपनी स्वीकृति देकर किसी भी सामाजिक स्तरीकरण में होने वाले परिवर्तनों को रोक सकती हैं। यही वजह है कि शताब्दियों तक जाति एक स्थिर प्रणाली बनी रही।

परन्तु धर्म हमेशा ही मौजूदा स्तरीकरण की प्रकृति को कायम रखने में मदद नहीं पहुंचाती। बहुत सारे उदाहरण हैं जब स्तरीकरण प्रणाली को बदलने के लिए धर्म का प्रयोग एक प्रभुत्वशाली विचारधारा के रूप में किया गया। ईसाई धर्म तब प्रकट हुआ जब समाज में दासों का क्रय-विक्रय होता था। ईसाई धर्म ने यह प्रचार किया कि ईश्वर की नजर में सभी इंसान बराबर हैं। यह विचार दास-प्रथा वाले समाज के उस विचार से बिल्कुल विपरीत था जिसके अनुसार सिर्फ स्वतंत्र लोग ही बराबर एवं समान हो सकते हैं। दासों को मनुष्य नहीं माना जाता था (उन्हें लोग स्वर सहित मशीन कहते थे) और प्राचीन रोम, ग्रीस, मिश्र के देवता दासों को स्वतंत्र मनुष्य से नीचा मानते थे। दासों के क्रय-विक्रय वाले समाज की विचारधारा ने दास प्रथा को न्यायोचित ठहराया जिसके अनुसार दास को जानवर की तरह व्यवहार किया जाता था। अपने समानता वाले सिद्धांत के साथ ईसाई धर्म ने समाज के इस आधार को चुनौती दिया। इससे अन्ततः दासों के क्रय-विक्रय वाले समाज का पतन हो गया और सामन्तवाद का उदय हुआ। यह समाज कृषिदासों (सर्फ) के प्रति अपने व्यवहार में पूर्व समाज की तुलना में अपेक्षाकृत अधिक मानवीय था।

इस्लाम धर्म का उदय समानता के सिद्धांत पर ही आधारित था। इस्लामी विचारधारा तब अरबों के बीच प्रचलित सामंती स्तरीकरण के ढांचे के ठीक विपरीत था। अरबों ने इस्लामी धर्म के फैसले पर उसने उनकी स्तरीकरण पद्धति को भी बदल दिया। समाज अब ज्यादा समानता पर आधारित हो गया।

ईसाई एवं इस्लाम के बहुत पहले बौद्ध धर्म का उदय हुआ था, जो मनुष्य के समानता पर आधारित था। यह वर्ण-व्यवस्था की मौजूदा विचारधारा के ठीक विरोध में था। बौद्ध धर्म ने जातिगत स्तरीकरण को बदलने की मांग की। बौद्ध धर्म ने एक नयी विचारधारा का प्रचार किया जिसके अनुसार सामाजिक असमानता ईश्वरीय नहीं है बल्कि, मनुष्य द्वारा कायम किया गया है। इस तरह, बौद्ध धर्म ने वर्ण-व्यवस्था के आधार को ही चुनौती देने की कोशिश की। स्वभावतः इसका विरोध हिंदू समाज के प्रभुत्वशाली जातियों ने किया। बौद्ध धर्म सफल नहीं हुआ और हिंदू समाज अपने जातिगत आधारों के साथ कायम रहा।

हम लोगों ने कुछ धार्मिक विचारधाराओं का उदाहरण प्रस्तुत किया कि कैसे यह मौजूदा स्तरीकरण की प्रणालियों को बदलती है। ईसाई धर्म एवं इस्लाम धर्म सामाजिक स्तरीकरण को बदलने में सफल हुआ जबकि बौद्ध धर्म ज्यादा सफल नहीं हो सका।

9.5 धर्मनिरपेक्ष विचारधाराएं

ऐसा सामान्यतः माना जाता है कि उद्योग पूर्व समाजों में धर्म एवं सामाजिक स्तरीकरण के बीच बड़ा घनिष्ठ संबंध है। आधुनिक औद्योगिक समाजों में स्तरीकरण का आधार बहुत बदल गया है। उदाहरण के लिए मध्यकालीन इंग्लैंड में लोग राजा (मोनार्क) का आदेश मानते थे क्योंकि उन लोगों का विश्वास था कि राजा को दैवी अधिकार है। राजा को भगवान का प्रतिनिधि माना जाता था इसलिए वह अपने कामों के लिए भगवान के प्रति उत्तरदायी था किसी प्रजा के प्रति नहीं। आजकल सामाजिक जागरूकता की वजह से लोगों को ऐसा विश्वास नहीं है। अधिकांश स्थितियों में प्रधानमंत्री या राष्ट्रपति लोकमत के आधार पर ही सत्तासीन होते हैं। लोगों को यह विश्वास है कि व्यक्ति अपनी विशेषताओं की वजह से ही कोई पद प्राप्त करता है। व्यक्तिगत गुण की सफलता का कारण माना जाता है। विकसित औद्योगिक समाज में सामाजिक स्तरीकरण अपेक्षाकृत ढीला है क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने गुण एवं मेहनत से अपनी सामाजिक स्थिति को बदल सकता है।

9.5.1 शिक्षा एवं स्तरीकरण

सार्वभौम शिक्षा बहुत हद तक सामाजिक समानता ला सकती है। आधुनिक एवं विकसित औद्योगिक समाज में चाहे तो

सभी शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं। यह स्थिति उन समाज की स्थितियों से भिन्न है जिसमें समाज के सभी लोगों को शिक्षा पर अधिकार नहीं था। सिर्फ उच्च वर्ग को ही यह सुविधा थी। शिक्षा-सुविधाएं जब सबों को मुहैया होने लगीं तो समाज में एक तरह की गतिशीलता आई। किसी व्यक्ति के योग्यता की मूल्यांकन उसके शैक्षिक योग्यताओं से भी किया जा सकता है। एक खुले समाज में किसान का पुत्र या पुत्री भी डाक्टर, इंजीनियर या प्रोफेसर बन सकता है। इस प्रकार की अन्तः पीढ़ी गतिशीलता, पार्थक्य, जन्मगत हैसियत एवं रंग पर आधारित पूर्वाग्रहों से लिपटे हुए पारम्परिक समाज में सम्भव नहीं है। यद्यपि शिक्षा सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन लाने में सक्षम है लेकिन सभी समाज में यह परिवर्तन एवं गतिशीलता एकरूप नहीं होती। उदाहरण के लिए, सभी समाज में उच्च शिक्षा का प्रावधान रहता है लेकिन हो सकता है कि सबों की पहुंच वहां तक न हो। किसी समाज में शिक्षा सबों के लिए मुहैया हो सकता है लेकिन वह मुफ्त हो यह जरूरी नहीं। ऐसे समाज में सिर्फ वैसे लोग उच्च शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जिनके पास साधन हैं भले ही वे उच्च शिक्षा की निम्नतम शर्तों को भी पूरे न करते हों। अधिकांश पश्चिमी देशों में यही स्थिति है। दूसरी ओर समाजवादी देश हैं जहां सभी स्तरों पर शिक्षा लगभग मुफ्त है। यहां उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए योग्यता का होना अनिवार्य है, आर्थिक रूप से मजबूत होने की नहीं। वास्तव में, शिक्षा की सुलभता समाज में प्रचलित विचारधारात्मक आग्रहों से निर्धारित होती है।

इसके अलावा, शिक्षा की अन्तर्वस्तु (कंटेंट) भी विचारधारा से निर्धारित होती है। लुई अल्थुसर, जो एक प्रमुख फ्रांसीसी मार्क्सवादी चिंतक हैं शिक्षा को राज्य का विचारधारात्मक यंत्र (ISA) मानते हैं। उनका कहना है कि शिक्षा समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग के मूल्यों (राज्य के मूल्यों) को पुनर्स्थापित करने में सहायता पहुंचाती है। उदाहरण के लिए, पूंजीवादी समाज में शिक्षा पूंजीवादी मूल्यों का प्रचार करती है। सभी लोग पूंजीवादी मूल्यों को सार्वभौम मानकर सराहना सीख जाते हैं। इस तरह वे लोग भी जो व्यवस्था में शोषित हैं (यानि मजदूर, बेरोजगार आदि) इन मूल्यों को आदर्श मानकर स्वीकार करना सीख लेते हैं। अल्थुसर मानते हैं कि पारम्परिक समाज में राज्य का विचारधारात्मक यंत्र का काम धर्म करता था। यह सामाजिक स्तरीकरण के प्रचलित रूपों को स्थापित करने में मदद करता है। आधुनिक समाज में जब से शिक्षा का प्रसार हुआ है राज्य का विचारधारात्मक यंत्र, धर्म के बदले शिक्षा हो गया है।

यहां यह जोड़ना प्रासंगिक है कि इमाईल दुर्खाइम एवं तालोत पारसों जैसे समाजशास्त्रियों ने भी स्वीकार किया है कि समाज के मूल्यों को सुदृढ़ करने में शिक्षा एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। यद्यपि इन लोगों ने माना है कि यह एक अनिवार्यता है क्योंकि मूल्य समान के साझा विश्वासों को समाहित करने में शिक्षा धनात्मक रूप से मदद करती है। इस बारे में अल्थुसर का मत आलोचनात्मक है क्योंकि वे साझा विश्वास वाले मूल्यों के आधार पर ही प्रश्न चिन्ह लगाते हैं। अल्थुसर के लिए मूल्य समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग (यानी पूंजीपति वर्ग) की दृष्टि का प्रतिबिंबन है। पूंजीपति, अपने वर्ग-मूल्यों को सार्वभौम मूल्य के रूप में शिक्षा के द्वारा प्रचार करता है।

9.5.2 प्रजातंत्र और समानता

धर्मनिरपेक्ष विचारधारा का एक दूसरा पक्ष है : प्रजातंत्र का विकास। प्रजातंत्र जनता का शासन है इसमें उनकी जाति, धर्म या सेक्स कोई आधार नहीं बनता। आधुनिक प्रजातंत्र के उद्भव का आधार वह समतावादी विचारधारा है जिसका मूल मंत्र है : सबों को समानता। प्राचीन ग्रीस में जहां प्रत्यक्ष प्रजातंत्र का प्रयोग होता था, औरतों एवं दासों को अलग ही रखा गया था। यहां तक उत्तर-औद्योगिक समाज में भी, जो धर्मनिरपेक्ष विचारधारा पर आधारित थी; प्रजातंत्र सभ्य शक्तिशाली वर्ग तक ही सीमित था। बाद में चलकर इस नियम को बदला गया और सभी व्यक्तियों को वोट (मत) देने का अधिकार मिला। सन् 1920 के आसपास औरतों को मत देने का अधिकार मिला। भारत में स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद सबों को व्यापक मताधिकार प्राप्त हुआ।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि प्रजातंत्र का आगमन एवं उसमें परवर्ती परिवर्तन मूलतः धर्मनिरपेक्ष एवं समतावादी विचारधारा का परिणाम है। यद्यपि आरम्भिक अवस्था में कुछ लोगों को प्रजातंत्रीय प्रक्रियाओं से अलग रखा गया। आज, कुछ अपवादों को छोड़कर सभी प्रजातंत्रीय देशों में समानता एक सर्वस्वीकृत मूल्य है।

शिक्षा के सहारे समतावाद की अवधारणा को पुष्ट किया जा सकता है। प्रजातंत्र के सुचारू रूप से चलने के लिए सबसे पहले यह जरूरी है कि जनता को ज्ञान या जानकारी उपलब्ध हो। शिक्षा लोगों के क्षितिज को विस्तृत कर देता है जिससे वे एक वृहत्तर दुनिया के बारे में जान सकते हैं एवं उसके साथ चल सकते हैं। बहरहाल शिक्षा अनिवार्यतः प्रजातंत्र विरोधी मूल्यों का विरोध नहीं भी कर सकती है। अगर शिक्षा और मौजूदा असमतावादी मूल्यों को सुदृढ़ करते हैं तो बहुत सम्भव है कि असमानता समाज में जारी रहे। राज्य का विचारधारात्मक यंत्र लोगों को यह स्वीकार करवाने के लिए अभिमुख करता है कि प्रचलित मूल्य मूलतः प्राकृतिक हैं। लोग यह सोचते हैं कि मौजूदा मूल्यों के चौखटे में हीं जो विकल्प है सो है उसके बाहर नहीं। वे यह महसूस नहीं कर पाते कि वयस्क मताधिकार जैसे प्रजातंत्रीय साधनों के सहारे मौजूदा श्रेणीबद्ध प्रणाली को बदला भी जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शिक्षा और प्रजातंत्र जैसे संस्थान सिर्फ अपने बल पर सामाजिक स्तरीकरण पद्धति को नहीं बदल सकते। मौजूदा सामाजिक स्थिति को ये संस्थान मजबूत करते हैं या परिवर्तित करने में सहायता पहुंचाते हैं या इस बात पर निर्भर करता है कि उस समाज की विचारधारात्मक स्थिति कैसी है। अगर विचारधारा स्तरीकरण पद्धति को परिवर्तित करना चाहती है तो शिक्षा सहायक सिद्ध होगी।

बोध प्रश्न 2

1) **सही जोड़ा ढूँढें :**

क) इस्लाम धर्म	अ) वर्ण-व्यवस्था का एक विकल्प दिया।
ख) बौद्ध धर्म	आ) सामाजिक परिवर्तन को रोकती है या प्रोत्साहित करती है।
ग) ईसाई धर्म	इ) सामंती व्यवस्था को बदल दिया।
घ) धर्म	ई) दास-प्रथा को बदल दिया।

2) पांच पंक्तियों में लिखें कि कैसे शिक्षा सामाजिक मूल्यों को प्रतिष्ठित कर सकती है?

.....

.....

.....

.....

.....

3) प्रजातंत्र समतावाद पर आधारित है। तीन पंक्तियों में व्याख्या करें।

.....

.....

.....

9.6 मार्क्स, दुर्खाइम और वेबर की विचारधाराएँ

अब तक हम लोगों ने सामाजिक स्तरीकरण पर विचारधारा के प्रभाव का सामान्य रूप से विवेचन किया है। यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाज में स्तरीकरण की प्रकृति बहुत हद तक उस समाज के विचारधारात्मक विन्यासों पर निर्भर करती है। इस सामान्य विवेचन के बाद अब हम लोग कुछ महत्वपूर्ण चिंतकों के मतों का विश्लेषण करेंगे, विशेषकर मार्क्स, दुर्खाइम एवं वेबर के विचारों का।

9.6.1 कार्ल मार्क्स

मार्क्स के अनुसार वर्ग ही सामाजिक स्तरीकरण का आधार बनाती हैं। वर्गों का आधार उत्पादन की प्रक्रिया में उनकी भूमिका एवं उत्पादन के साधनों पर उनके कितना नियंत्रण है— इस बात पर निर्भर करता है। किसी भी समाज के लोगों को दो वर्गों में बांट सकते हैं। पहला वर्ग वह है जो सम्पत्ति पर नियंत्रण रखता है (उत्पादन के साधनों समेत) और दूसरा जिसके पास कुछ भी नहीं है। दूसरा वर्ग अपनी जीवन-रक्षा के लिए पहले वर्ग पर निर्भर रहता है क्योंकि उत्पादन साधनों पर उनका कोई नियंत्रण नहीं है। सामाजिक स्तरीकरण के मार्क्सवादी अवधारणा का यही सारांश है। क्योंकि कोई समाज वर्ग श्रेणियों में बंट जाता है इसकी कुछ निश्चित वजहें हैं।

मार्क्स के अनुसार सामाजिक स्तरीकरण का आधार समाज में श्रम का विभाजन है। इसका आरम्भ तब होता है जब व्यक्ति अपने कामों में विशेषज्ञता हासिल करने लगता है। पारम्परिक समाज में लोग सिर्फ रोटी, कपड़ा और मकान जैसे मूल आवश्यकताओं की पूर्ति किया करते थे। वहां कोई विशेषज्ञता की जरूरत नहीं थी। सभी लोग एक ही काम करते थे — आखेट भोजन संग्रह एवं आश्रय स्थलों का निर्माण। प्राकृतिक विपदाएं एवं वन्य पशुओं के डर से लोग समूह में रहते थे। वन्य पशुओं का शिकार एवं भोजन-संग्रह करना, समूह में रहकर एक व्यक्ति के लिए यह आसान था।

मार्क्स इस अवस्था को "आदिम साम्यवाद" कहते थे (6.4.1 में इसकी विस्तार से चर्चा की गई है) इस अवस्था में श्रम का कोई विभाजन नहीं था क्योंकि सभी एक ही काम किया करते थे। निजी सम्पत्ति भी किसी को नहीं थी। आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन का भी स्तर काफी नीचा था।

औजारों के आविष्कार से उत्पादन पर नियंत्रण आरंभ हुआ। प्रकृति पर पूर्णतया आश्रित रहने के बजाय अब मनुष्य उसे पालतू बनाने लगा। इससे खास आवश्यकताओं पर उसका कुछ नियंत्रण हो गया जिससे अब खाद्य संग्रह के अलावा भी अन्य गतिविधियों के लिए कुछ अतिरिक्त समय बचने लगा। तकनालॉजी में कुछ और विकास होने पर स्थायी कृषि

सम्भव हुआ। समाज में अब अतिरिक्त खाद्य पदार्थ उत्पादित होना सम्भव हो गया। अब चूंकि खाद्य उत्पादन में समाज के सभी सदस्यों का लगे रहना अनिवार्य नहीं था इसलिए लोग विभिन्न गतिविधियों में अब विशेषज्ञता हासिल कर सकते थे। उत्पादन के साधनों (भूमि, औजार इत्यादि) पर अब निजी स्वामित्व हो गया था। इस प्रकार से मानव-समाज का विकास हुआ और व्यवसायों के विविधीकरण से श्रम के विभाजन में भी बढ़ोतरी हुई।

समय के साथ-साथ सभी व्यवसायों का मूल्य एक समान नहीं रहा। कुछ व्यवसायों को अन्य से अधिक महत्वपूर्ण माना गया। इसका परिणाम हुआ— सामाजिक असमानता का संस्थानीकरण। बहरहाल मार्क्स ने व्यवसायों के महत्व का विश्लेषण उसके उपयोगिता के आधार पर नहीं किया बल्कि, धन प्राप्त करने की उसकी क्षमता के आधार पर किया। सामंती समाज में कृषि दास एवं पूंजीवादी समाज में मजदूर सभी उत्पादन कार्य सम्पादित करते हैं। अगर ये काम करना बंद कर दें तो पूरी उत्पादन प्रणाली ही ठप्प हो सकती है।

सामंत या पूंजीपति ऐसे समाज में उत्पादन कार्यों में खुद बहुत कम या एकदम ही हिस्सा नहीं लेते हैं फिर भी, समाज पर उनका प्रभुत्व होता है। उत्पादन के साधनों को खरीदकर ये लोग समाज में महत्तर श्रेणियां हासिल कर लेते हैं। साम्यवाद (जिसे समाजवाद भी कहा जाता है) के आरम्भिक अवस्था में मजदूर वर्ग (सर्वहारा) उत्पादन के साधनों पर कब्जा कर लेते हैं जिससे सामाजिक श्रेणीबद्धता में उनकी स्थिति में सुधार आता है। अतः मार्क्स के अनुसार सम्पति पर अधिकार या सम्पत्तिविहीनता ही सामाजिक स्तरीकरण पद्धति में वर्ग-स्थिति को निर्धारित करती है। उत्पादन-विधि द्वारा ही समाज में श्रम का विभाजन निर्धारित होता है और सामाजिक स्तरीकरण मौजूदा उत्पादन विधि का ही परिणाम होता है। सामंती युग में जमींदार समाज में प्रभुत्वशाली वर्ग था जबकि कृषि दास शोषित वर्ग था। उत्पादन के पूंजीवादी विधि के अंतर्गत पूंजीपति सबसे प्रभुत्वशाली वर्ग होता है और समाजवाद में सर्वहारा ही प्रभुत्वशाली होता है। संक्षेप में, कहा जा सकता है कि जब तक निजी सम्पत्ति का अस्तित्व है, श्रम का विभाजन एवं वर्ग का होना निश्चित है।

यद्यपि, मार्क्स शोषण का आधार का निर्माण करने की वजह से वर्ग की आलोचना करते हैं फिर भी वे मानव-प्रगति के लिए भी इसे जिम्मेदार मानते हैं। यह मार्क्स के विश्लेषण का एक महत्वपूर्ण पक्ष है। वर्गों में विरोधी समूह होते हैं। एक वर्ग का हित दूसरे वर्ग के हित का विरोधी होता है। वर्गों के बीच यह संघर्ष की सामाजिक परिवर्तन का द्वार खोलता है।

9.6.2 इमाइल दुर्खाइम

दुर्खाइम की सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा भी श्रम-विभाजन पर आधारित है। लेकिन मार्क्स की तरह इसे वे शोषण-तंत्र के रूप में नहीं मानते हैं। दुर्खाइम के अनुसार सभी समाज किसी न किसी रूप में एकता के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। विभिन्न श्रेणियां जो सामाजिक श्रेणीबद्धता का निर्माण करती हैं एक दूसरे को सहयोग करती हैं। श्रम-विभाजन ऐसी प्रणाली को कायम रखने में मदद पहुंचाती है। अपनी पुस्तक, "समाज में श्रम का विभाजन" में दुर्खाइम दो सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं, जो समाज में एकता कायम रखने में सहायक होता है। वे दो प्रकार का समाज मानते हैं : पहला यांत्रिक समाज, दूसरा सामाजिक एकता की प्रकृति पर आधारित आवयविक समाज। यांत्रिक एकता सामान्य समाजों में पाया जाता है। इसमें समाज के सभी सदस्य एक ही तरह का काम करते हैं और इसमें श्रम का कोई विभाजन नहीं होता। यह अवस्था मार्क्स के "आदिम साम्यवाद" वाली अवस्था की तरह है जिसमें श्रम का विभाजन नहीं था। आखेटक एवं संग्राहक समाज सामान्य समाज के उदाहरण हैं। लोगों में विशेषज्ञता नाममात्र की ही होती है और वे आखेट एवं भोजन संग्रह में ही अपने कौशल को भांपते रहते हैं। यहां एकता यांत्रिक है क्योंकि लोग एक दूसरे से इसलिए जुड़े रहते हैं कि वे साथ रहकर ज्यादा सुरक्षित रहेंगे और जिससे उनकी मूल गतिविधियां भी ज्यादा सुगम हो जायेंगी।

इसके विपरीत, जटिल समाज भिन्नताओं की वजह से एकता बनाये रहता है। ऐसे समाज की विशेषता श्रम का वृहत् विभाजन होता है क्योंकि वे विभिन्न व्यवसायों में लगे होते हैं एवं उनकी जीवन-शैलियां भी भिन्न होती हैं। व्यक्ति या समूह के द्वारा किया गया काम पूरे समाज को अपेक्षित होता है। हम लोगों का समाज भी एक ऐसा ही समाज है। इसमें डाक्टर, वकील, शिक्षक, व्यवसायी, मजदूर, उद्योगपति, लेखापाल सभी रहते हैं। इसके अलावा, शिल्पी, कारीगर एवं मजदूर भी रहते हैं। ये समूह एवं उसके सदस्य विशेषीकृत कार्यों को सम्पादित करते हैं। एक समाजशास्त्री डाक्टर या लेखापाल का काम नहीं कर सकता उसी तरह एक डाक्टर, जो अपना एक घर बनाना चाहता हो, एक बढ़ई या राजमिस्त्री का काम नहीं कर सकता है। उसे इन लोगों की सहायता लेनी ही पड़ेगी। हर व्यक्ति हर काम नहीं कर सकता है इसलिए उसे अपने दैनिक जीवन में दूसरों की सहायता लेनी ही पड़ती है।

ऐसा लग सकता है कि ऐसी भिन्नता एवं विविधता वाला समाज अस्थायी होगा। विशेषज्ञों में आपसी संघर्ष हो सकता है। लेकिन दुर्खाइम का विचार है कि यह संघर्ष इसलिए नहीं होता क्योंकि सभी एक दूसरे पर आश्रित हैं। हम लोगों को दूसरों की जरूरत होती है क्योंकि अपने हितों के लिए उनके हुनर की हमें आवश्यकता पड़ती है। ऐसे समाज में हर व्यक्ति अपरिहार्य होता है क्योंकि उसके पास जो विशेष हुनर होता है वह दूसरे के पास नहीं है जबकि उसे इसकी जरूरत है। इसी रूप में एकता आवयविक होता है। जैसे किसी जीव के विभिन्न अवयव (उदाहरण के लिए हृदय, यकृत, गुर्दा, मस्तिष्क आदि मानव अंग) जीव को जीवित रखने के लिए मिल-जुलकर काम करते हैं उसी प्रकार औद्योगिक समाज में अधिकृत कार्य विशेषीकृत हो गये हैं लेकिन वे सामाजिक एकता के लिए मिल-जुलकर काम करते हैं।

इसलिए समाज में श्रम-विभाजन के साथ सामाजिक स्तरीकरण पाया जाता है जो मूलतः आवयविक एकता का ही आधार

है। इस तरह की सामाजिक स्तरीकरण की पद्धति इसलिए स्थायी रह जाती है क्योंकि व्यक्ति या समूह एक दूसरे के हुनर या कौशल पर आश्रित रहते हैं। सामाजिक श्रेणीबद्धता में किसी व्यक्ति या समूह का स्थान उसके कौशल या हुनर की श्रेणी पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, एक मजदूर की तुलना में एक डाक्टर का स्थान ज्यादा ऊंचा है क्योंकि डाक्टरी हुनर या कौशल को आसानी से प्राप्त नहीं किया जा सकता है। एक औद्योगिक मजदूर को मजदूर के लिए अपेक्षित जो हुनर है, वह आसानी से प्राप्त किया जा सकता है।

9.6.3 मेक्स वेबर

वेबर की विचारधारा मार्क्स के विचार से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। वेबर सामाजिक स्तरीकरण के लिए वर्ग को एक महत्वपूर्ण पक्ष मानते हैं। वेबर भी मार्क्स की तरह वर्ग को आर्थिक संदर्भों में ही परिभाषित करते हैं। लेकिन इसके साथ ही मार्क्स की तुलना में दो महत्वपूर्ण भिन्नताएं भी हैं। पहला वेबर का मत वर्ग के आर्थिक निर्धारीकरण पर आधारित नहीं है और दूसरे वर्ग के अतिरिक्त वह स्तरीकरण में कुछ और आयाम जोड़ते हैं। अब संक्षेप में, हम लोग वेबर के मत का विश्लेषण करेंगे।

वर्ग-विभाजन पर विचार करते समय वेबर ने वर्गों में अन्तर आर्थिक भेद के आधार पर किया था। प्रथम, विभिन्न समूहों का "जीवन-अवसर" एवं द्वितीय "बाजार" में उनका स्थान — ये दोनों ही वर्ग का निर्माण करते हैं। किसी समाज में व्यक्ति को जो आर्थिक और सांस्कृतिक सामग्री में हिस्सा मिलता है उसे ही वेबर "जीवन-अवसर" कहते हैं। आर्थिक सामग्री से वेबर का अर्थ सम्पत्ति, या उत्पादन शक्तियों, आय एवं धन से है। सांस्कृतिक सामग्री वे हैं जिससे लोगों को समाज में बेहतर स्थान मिलता है। इसके अंन्तर्गत शिक्षा, भोजन, वस्त्र एवं आवास स्थानों जैसे भौतिक चीजें भी आती हैं।

एक समाज में विभिन्न आर्थिक और सांस्कृतिक सामग्रियां उपलब्ध रह सकती हैं लेकिन जिस पर सभी समूहों (वर्गों) का समान अधिकार नहीं भी हो सकता है। उदाहरण के लिए, विकसित समाज में रोटी, कपड़ा और मकान सबको उपलब्ध हो सकता है लेकिन सभी वर्गों में रोटी, कपड़ा और मकान की कोटियों में फर्क होगा। उच्च वर्ग के लोग जिस तरह का खाना खाते हैं या खा सकते हैं वैसा निम्न वर्ग के लिए खा पाना संभव नहीं है। यही बात मकानों के लिए भी है। हालांकि बड़े-बड़े महल समाज में उपलब्ध हैं, लेकिन सिर्फ उनके लिए जो इसे वहन कर सकते हैं। मजदूरों के लिए वहन करना जाहिर है सम्भव नहीं होगा। शिक्षा और वस्त्र तक पहुंच भी समाज के सभी वर्गों के लिए एक समान नहीं होगा। विभिन्न समूहों द्वारा इन सामग्रियों को प्राप्त करने की क्षमता में जो अन्तर है वही उनके जीवन-शैलियों को भी निर्धारित करती है। वर्ग का दूसरा पहलू बाजार की स्थिति से संबंधित है। वेबर का मानना है कि सिर्फ सम्पत्ति पर नियंत्रण या स्वामित्व ही वर्ग स्थिति को निर्धारित नहीं करता है। बाजार में बेहतर स्थिति के कई स्त्रोतों में पूंजी भी एक स्त्रोत है जिनके पास पूंजी है वे बेहतर स्थिति में जीते हैं। लेकिन बाकी के लोग अनिवार्यतः किसी अविभेदित वर्ग का निर्माण नहीं करते। सम्पतिहीन लोगों के बीच वर्ग का निर्माण उनके हुनर एवं शिक्षा के आधार पर होता है। वस्तुतः सभी वर्गों के लिए एक बाजार स्थिति है। दुर्लभ कौशल वाले लोगों को उच्च तनख्वाह मिलती है। प्रशिक्षित एवं शिक्षित लोग दुर्लभ होते हैं इसलिए उनके हुनर का ज्यादा मांग रहता है, जिससे वे ऊंची तनख्वाह पा सकते हैं। ये लोग एक विशिष्ट वर्ग का निर्माण करते हैं जिसका आधार बाजार में उनकी स्थिति होती है। ऐसे वर्ग में प्रबुद्ध वर्ग, प्रशासक, एवं प्रबंधक होते हैं। इस वर्ग में लोगों को जीवन-अवसर कमोवेश एक जैसा ही मिलता है। आर्थिक एवं सांस्कृतिक सामग्रियों तक इनकी पहुंच इनसे नीचे के वर्ग की तुलना में बहुत अधिक होता है। इस तरह किसी वर्ग का जीवन-अवसर उस समूह के बाजार-स्थिति से संबंधित होता है। वेबर औद्योगिक समाज में मुख्यतः चार वर्ग मानते हैं। ये हैं— (क) धनी वर्ग या सम्पत्तिशाली वर्ग, (ख) प्रबुद्ध प्रशासक एवं प्रबंधक वर्ग, (ग) छोटे-छोटे व्यवसायी एवं दुकानदारों का पारम्परिक निम्न बुर्जुआ वर्ग, और (घ) मजदूर वर्ग।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है कि सामाजिक स्तरीकरण के कुछ और पहलू हैं, वर्ग के अलावा। सम्पत्तिशाली वर्ग दूसरे वर्गों से इसलिए उच्च नहीं है कि उसे आर्थिक जीवन-अवसर प्राप्त है बल्कि इसलिए भी कि उसकी शक्ति तक पहुंच है। ये दो कारक — "जीवन-अवसर" एवं "शक्ति" लोगों को उच्च प्रतिष्ठा प्रदान करती है, जो अनिवार्यतः उच्च सामाजिक सम्मान दिलाने वाले साधन हैं। वेबर का मानना है कि आर्थिक भिन्नताएं वर्गों का निर्माण करती हैं, राजनैतिक (शक्ति) विशिष्टताएं राजनैतिक दल उत्पन्न करती है एवं सम्मान के आधार पर जो भिन्नताएं हैं वे राजनैतिक दलों का निर्माण करती हैं और, सम्मान के जो अन्तर हैं वे स्तरीकृत समूहों को उत्पन्न करती हैं। किसी समूह के स्तर-निर्धारण में ये तीन पक्ष आधार हो भी सकते हैं और नहीं भी। अतः वेबर मानते हैं कि सिर्फ सम्पत्ति संबंध ही सामाजिक स्तरीकरण को निर्धारित करने वाला एक मात्र कारक नहीं हो सकता है।

9.6.4 मार्क्स, दुर्खाइम एवं वेबर का तुलनात्मक अध्ययन

मार्क्स, दुर्खाइम एवं वेबर के बीच पाये जाने वाले कुछ बिन्दुओं का उल्लेख पहले किया जा चुका है। दुर्खाइम एवं मार्क्स दोनों ने सामाजिक स्तरीकरण का आधार श्रम का विभाजन माना। मार्क्स के अनुसार निजी सम्पत्ति के आधार पर जो श्रम का विभाजन होता है वह अन्ततः परस्पर विरोधी वर्गों का निर्माण करता है। सम्पत्ति संबंधों के परिणामस्वरूप श्रम का विभाजन लोगों पर आरोपित कर दिया जाता है। दूसरी ओर दुर्खाइम मानव-समाज में इसे प्राकृतिक मानते हैं

क्योंकि श्रम का विभाजन ही आवयविक सामाजिक एकता प्रदान करती है। यह समाज के सामूहिक अन्तरात्मा से उत्पन्न होती है। दुर्खाइम का यह भी विश्वास है कि चूंकि आवयविक एकता ही श्रम के विभाजन का आधार है इसलिए इसमें कोई भी परिवर्तन समाज में अराजकता की स्थिति ले आयेगा।

दुर्खाइम का विचार प्रकार्यात्मक या कार्यपरक विश्लेषण का आधार बनाती है (इसका विस्तार से चर्चा इकाई 1, खंड 1, इ.एस.ओ.-04 में हुई है) जिसका बाद में चलकर रेडक्लिफ़-ब्राउन एवं पार्सन्स ने पल्लिवित किया। मार्क्सवादी चिंतकों ने दुर्खाइम के इस विचार का खंडन किया है। इन लोगों का कहना है कि सामाजिक एकता समाज में स्थायित्व ला सकता है लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वहां कोई शोषण नहीं है, जैसा कि दुर्खाइम मानते हैं। इसके विपरीत इस तरह की स्थायित्व की अवधारणा तो सम्पत्तिशाली शासक वर्ग प्रचारित करना चाहेंगे क्योंकि इससे वे जो दूसरे वर्गों का शोषण करते हैं वह वैध एवं न्यायोचित ठहराया जा सकता है।

मार्क्स एवं वेबर के विचारों में समानता का आधार यह है कि दोनों ही सामाजिक स्तरीकरण में "वर्ग" को आधार मानते हैं। यद्यपि, सामाजिक स्तरीकरण एवं वर्ग के निर्माण में वेबर आर्थिक प्रतिमान के अलावा कुछ और भी जोड़ते हैं। वेबर मानते हैं कि असमान जीवन-अवसर एवं बाजार स्थिति से ही समाज में वर्ग-भिन्नताएं उभरती हैं। एक निश्चित समय बिन्दु में समाज में वर्गों की जो स्थिति होती है वेबर ने उसका अध्ययन किया। वेबर उन ऐतिहासिक परिस्थितियों को नजरअंदाज कर देते हैं जो कुछ वर्गों को बेहतर जीवन-अवसर प्रदान करती है।

वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा में वर्ग-निर्माण में ऐतिहासिक पक्ष की भूमिका पर भी पूरा ध्यान रखा जाता है। मार्क्स इसकी व्याख्या करते हैं कि क्यों समाज में वर्ग भिन्नताएं उभरती हैं। मार्क्स वर्ग के अस्तित्व की व्याख्या करके ही संतुष्ट नहीं हो जाते हैं बल्कि वे इसकी विवेचना भी करते हैं कि कैसे ये वर्ग-भिन्नताएं अस्तित्व में आयी। इस प्रक्रिया में मार्क्स वर्ग का भविष्य भी समझते हैं। दूसरे शब्दों में, मार्क्स वर्ग एवं सामाजिक स्तरीकरण को एक गतिशील निर्माण के रूप में देखते हैं जो क्षण-क्षण परिवर्तनशील है। मार्क्स को इन परिवर्तनों के कारण को निर्धारित करने मे दिलचस्पी थी क्योंकि इसके सहारे ही भविष्य के विकासों को समझा जा सकता था। इसलिए मार्क्सवादी प्रणाली में वर्ग की ऐतिहासिकता पर हमेशा जोर दिया जाता है। मार्क्स वर्ग संरचना को गतिशील मानते थे, स्थिर नहीं। परिवर्तन हमेशा ही वर्गों के बीच संघर्ष से उभरता है न कि उनके आपसी सहयोग से। यही वे बिन्दु हैं जो मार्क्स को दुर्खाइम एवं वेबर से विशिष्ट बनाते हैं।

बोध प्रश्न 3

1) निम्नांकित वक्तव्यों को सही करें।

   क) दुर्खाइम के अनुसार समाज में श्रम का विभाजन विरोधी वर्गों में परिणत हो जाता है।

   ख) सामान्य जीवन-अवसरों पर आवयविक एकता आधारित होता है।

   ग) वेबर मानते हैं कि सम्पत्ति के स्वामित्व से ही वर्ग स्थिति निर्धारित होती है।

   घ) समाज में एकता की प्रकृति उत्पादन-विधि से निर्धारित होता है।

   ङ) स्तरीकरण के संबंध में मार्क्स और दुर्खाइम की सामान्य अवधारणा उसके वर्ग-एकता को लेकर है और मार्क्स और वेबर के बीच उसकी बाजार-स्थिति को लेकर सहमति है।

9.7 भारतीय संदर्भ

अब हम लोग भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति को समझेंगे। भारत में पारम्परिक वर्ण व्यवस्था पर आधारित स्तरीकरण व्यवस्था बहुत ही दृढ़ है और जिसकी प्रकृति समतावादी नहीं है। स्वतंत्रता के पहले इसे बदलने की कोई विशेष कोशिश नहीं की गई थी। आजादी मिलने के बाद सरकार एक समतावादी सामाजिक क्रम लाने के लिए प्रयत्नशील हुआ। भारतीय संविधान के अनुसार भारत एक प्रभुत्वसम्पन्न, धर्मनिरपेक्ष, प्रजातांत्रिक एवं समाजवादी गणराज्य है। यह संविधान सबों को स्वतंत्रता एवं समानता की गारंटी देता है। संविधान में परिकल्पित परिवर्तनों का एक निश्चित विचारधारात्मक आधार है। इसके अनुसार न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था के लिए राज्य, व्यक्ति के अच्छे स्वभाव पर ही सारा मामला नहीं छोड़ेगा बल्कि सक्रिय हस्तक्षेप के सहारे उसे कायम रखने की कोशिश करेगा।

स्वतंत्र भारत की सरकार ने संविधान में उल्लेखित उद्देश्यों को विभिन्न नीतियों एवं कार्यक्रमों के सहारे पूर्ण करने की कोशिश की। सभी बराबर हैं— सिर्फ यह करने से ही समतावादी व्यवस्था स्थापित नहीं हो जाती। सरकार को यह विश्वास दिलाना होगा कि सभी जनता को बराबर अवसर प्राप्त है। ऐसा घोषित किया गया है कि रोजगार एवं शिक्षा के क्षेत्र में कोई भेदभाव नहीं बरता जायेगा। लेकिन जब तक मूल असमानताओं को कम नहीं कर दिया जाता ऐसे घोषणाओं का कोई अर्थ नहीं है। जैसा कि हम लोग देखते हैं कि कुछ गिने-चुने लोग ही अच्छी शिक्षा प्राप्त कर सकते

हैं, लाभप्रद नौकरियों पर जिनका एकाधिकार होता है एवं वही सरकार में सत्ता भी हथियाते हैं। सामाजिक एवं आर्थिक रूप से पिछड़ा वर्ग इन अवसरों का कभी लाभ नहीं उठा पायेगा क्योंकि उनके पास वे साधन ही उपलब्ध नहीं हैं जिससे वे हमारे समाज के प्रभुत्वशाली वर्ग का मुकाबला कर सकें।

इन अपंगताओं से पिछड़े वर्गों को उबारने के लिए कई कल्याणकारी कार्यक्रमों को आरम्भ किया गया। सामाजिक क्षेत्र में जाति, धर्म या लिंग के आधार पर संविधान किसी भी तरह के भेदभाव को स्वीकार नहीं करती है। अनुसूचित जाति, धार्मिक रूप से अल्पसंख्यक एवं औरत के विरुद्ध किसी भी तरह के भेदभाव को अपराध माना जाता है। आर्थिक क्षेत्र में, गरीबों की स्थिति को सुधारने के लिए गरीबी हटाने वाले कई कार्यक्रम चलाये जा रहे हैं। राजनैतिक क्षेत्र में अपेक्षित प्रतिनिधित्व देने के लिए अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों को अलग सुरक्षित चुनाव-क्षेत्र प्रदान किया गया है। इसके अतिरिक्त नौकरियों में आरक्षण एवं शिक्षा संस्थानों के दाखिले में भी आरक्षण की व्यवस्था अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों के लिए किया गया है। ऐसा इसलिए किया गया है क्योंकि वर्षों पुराने पूर्वाग्रहों के चलते मुख्य-धारा से कटे हुए ये लोग सामान्य स्थिति में नौकरी या शिक्षा में अपना उचित हक नहीं प्राप्त कर पाये।

इन सब उपायों के बावजूद आजादी के चार दशक बाद भी आज हम लोग पाते हैं कि इन लोगों की स्थिति में कोई खास सुधार नहीं हुआ है। अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, धार्मिक अल्पसंख्यक एवं महिलाएं, जो हमारे समाज के कमजोर एवं पिछड़े वर्ग हैं उन्हें शिक्षा एवं रोजगार में उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाया है। अब भी ये कमजोर ही हैं। इसकी मुख्य वजह यह है कि सरकार अभी तक इन कमजोर वर्गों के लिए कुछ खास नहीं कर पाई है। पिछड़ा वर्ग भी समानता के लिए अपनी मांगों को प्रभावी ढंग से नहीं उठा पाया है। यही वजह है कि प्रभुत्वशाली वर्ग सरकार को अपने पक्ष में कर लेता है।

9.8 सारांश

इस इकाई में हम लोगों ने सामाजिक स्तरीकरण के सन्दर्भ में विचारधारा की अवधारणा को समझने का प्रयास किया है। हम लोगों ने धार्मिक एवं धर्मनिरपेक्ष दोनों विचारधाराओं की भूमिका पर भी विचार किया कि मौजूदा स्तरीकरण व्यवस्था को कायम रखने में एवं उसे बदलने में ये विचारधारा किस प्रकार सहायक होते हैं।

सामाजिक स्तरीकरण से संबंधित विचारधारागत विवाद के संदर्भ में हम लोगों ने तीन महत्वपूर्ण विचारकों— मार्क्स, दुर्खाइम एवं वेबर के मतों का विश्लेषण किया। तत्कालीन भारतीय समाज में समानता की प्रकृति के प्रश्न को भी अंत में उठाया गया।

9.9 शब्दावली

श्रम-विभाजन : कामों का विशेषीकरण जिसके सहारे विभिन्न धंधों के लोग एक उत्पादन प्रणाली से संबद्ध होते हैं। सभी समाज में श्रम-विभाजन का कोई न कोई रूप पाया जाता है, विशेष रूप से स्त्री और पुरुष के बीच काम का जो बंटवारा रहता है। औद्योगिक विकास के साथ-साथ श्रम-विभाजन भी पहले के सभी उत्पादन प्रणालियों की तुलना में अधिक जटिल होता जाता है। आधुनिक विश्व में श्रम-विभाजन का प्रसार अन्तर्राष्ट्रीय है।

उत्पादन के साधन : समाज में भौतिक वस्तुओं का उत्पादन जिन साधनों से होता है, वे उत्पादन के साधन कहलाते हैं। इनमें न सिर्फ तकनालॉजी शामिल है बल्कि उत्पादकों के बीच सामाजिक संबंध भी शामिल है।

सामाजिक श्रेणीबद्धता : सामाजिक श्रेणीबद्धता जाति, वर्ग, लिंग, सत्ता, संजातीयता के आधार पर व्यक्ति या समूहों का एक निश्चित क्रम स्थापित करता है।

समाजवाद : राजनैतिक विचारों की एक धारा है जो आधुनिक औद्योगिक उत्पादन की सहयोगी प्रकृति पर जोर देते हुए समतावादी सामाजिक समुदाय बनाने की आवश्यकता पर बल देती है।

9.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

हारालाम्बोस एम. 1980. *सोसियोलाजी : थीम्स एंड पर्सपेक्टिव्स.* दिल्ली : आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

सिंह, योगेन्द्र. 1986. *मोडर्नाइजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडीशन.* जयपुर : रावत पब्लिकेशंस।

9.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) विचारधारा मूल्यों और विश्वासों का एक ढांचा है जो व्यक्ति या समूह के कार्यकलाप एवं आचार विचार को निर्देशित करता है। इसके विचार को मानने वाले लोग सोचते हैं कि यह सबों की समान भलाई के लिए है।

2) यूरोप में सामंती व्यवस्था इस विश्वास पर टिकी हुई थी कि सामाजिक स्तरीकरण ईश्वर के द्वारा निर्धारित की गई है। सामंती इंग्लैंड के स्तरीकरण पद्धति के आधार को निम्नांकित तुकबंदियों में दर्शाया गया है : "अपनी जाति के अनुसार मनुष्य धनी है/गरीब दरवाजे पर खड़ा है/भगवान ही उन लोगों को ऊंचा नीचा बनाया है/वो ही संसार को आदेश देता है।" इससे यह अर्थ निकलता है कि भगवान की इच्छा से ही लोग धनी या गरीब पैदा होते हैं।

बोध प्रश्न 2

1) क) इ)

ख) अ)

ग) ई)

घ) आ)

2) लुई अल्थुसर ने यह दिखाया कि कैसे शिक्षा सामाजिक मूल्यों को प्रतिष्ठित करती है। शिक्षा राज्य के विचारधारात्मक यंत्र के एक भाग के रूप में काम करती है। शिक्षा समाज के प्रभुत्वशाली शक्तियों के मूल्यों को प्रतिष्ठित करने में सहायता पहुंचाती है। उदाहरण के लिए, पूंजीवादी समाज में शिक्षा पूंजीवादी मूल्यों को लोगों में प्रचार करती है। वे लोग यहां तक कि जो इस व्यवस्था में शोषित हैं (मजदूर, बेरोजगार, गरीब इत्यादि) वे भी इन मूल्यों को आदर्श मानते हुए स्वीकार करना सीख जाते हैं।

3) **प्रजातंत्र सारत :** समतावादी होता है क्योंकि यह ऐसे लोगों का शासन है जिसमें उनकी जाति, धर्म या लिंग कोई आधार नहीं बनता। अगर प्रजातंत्र का अर्थ स्वतंत्रता है तो समतावाद का अर्थ समानता है। जाति, धर्म या लिंग का बिना ख्याल किये अगर 18 वर्ष या उससे अधिक के किसी व्यक्ति को भारत में मताधिकार है तो इसका मतलब है कि उससे समानता के आधार पर व्यवहार किया जा रहा है।

बोध प्रश्न 3

1) क) दुर्खाइम के अनुसार समाज में श्रम-विभाजन का परिणाम है : परस्पर निर्भर एवं सहयोगी वर्गों का उदय।

ख) आवयविक एकता का आधार जीवन-शैलियों की विविधता है।

ग) वेबर का मानना था कि विभिन्न समूहों के जीवन-अवसरों एवं बाजार में उनकी स्थिति के अनुसार ही उनकी वर्ग-स्थिति निर्धारित होती है।

घ) सामाजिक स्तरीकरण की प्रकृति का निर्धारण उत्पादन-विधि से होता है।

ङ) सामाजिक स्तरीकरण के सन्दर्भ में मार्क्स और दुर्खाइम की आम-सहमति श्रम-विभाजन को लेकर है एवं मार्क्स एवं वेबर के बीच सहमति का आधार वर्ग है।

UGSY - 04
सामाजिक स्तरीकरण

खंड
3
सामाजिक गतिशीलता

इकाई 10
सामाजिक गतिशीलता : अवधारणा एवं मापन 5

इकाई 11
पूर्व-आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता 20

इकाई 12
आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता 32

इकाई 13
व्यवसाय, शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता 43

खंड परिचय : सामाजिक गतिशीलता

पिछले दो खंडों में सामाजिक स्तरण सिद्धांतों एवं संकल्पनाओं पर प्रकाश डाला जा चुका है। सामाजिक स्तरण की जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् गतिशीलता का वर्णन करना आवश्यक है। यह खंड चार इकाइयों में विभाजित है। पहली इकाई में सामाजिक गतिशीलता की संकल्पनाओं और उपायों से परिचित कराया गया है। दूसरी इकाई में पूर्व-आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता के स्वरूप को समझाने का प्रयास किया गया है। तीसरी इकाई में आधुनिक समाजों में पाई जाने वाली सामाजिक गतिशीलता के बारे में विस्तार से चर्चा की गई है। अंतिम इकाई में सामाजिक गतिशीलता में सहायक और बाधक दो महत्वपूर्ण कारको अर्थात् व्यवसाय और शिक्षा के बीच अंतर्संबंध को समझाने का प्रयास किया गया है।

इकाई 10 में किसी सामाजिक गतिशीलता को समझाने के लिए निर्णायक महत्वपूर्ण संकल्पनाओं और मापन को स्पष्ट किया गया है। इसमें क्षैतिज और उर्ध्व गतिशीलता का अंतर और उर्ध्व गतिशीलता पर बल दिए जाने के कारणों का उल्लेख किया गया है। चूँकि उच्च और निम्न स्तर के लोगों और समूहों की श्रेणियों के कारण सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन करने के लिए उर्ध्व गतिशीलता आवश्यक है, इसलिए इस इकाई में सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन करने के लिए सामाजिक गतिशीलता के कारकों, पक्षों, माध्यमों और मापन की पहचान की गई है।

इकाई 11 में पूर्व-आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता की चर्चा की गई है। इससे इस बात का निष्कर्ष निकलता है कि सामाजिक गतिशीलता के दृष्टिकोण से समाजों को पूर्णतया मुक्त अथवा पूर्णतया अमुक्त के रूप में विभाजित करना अनुचित है। विश्वस्तर पर विभिन्न व्यवस्थाओं में सामाजिक गतिशीलता की कम या अधिक मात्रा किसी न किसी रूप में पाई जाती है, चाहे वह रोम और ऐथेंस की दास व्यवस्था हो, यूरोप की जागीरदारी व्यवस्था (एस्टेट सिस्टम) हो भारत की जाति व्यवस्था हो अथवा चीन की वर्ग व्यवस्था हो।

इकाई 12 में आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता पर प्रकाश डाला गया है। आधुनिक समाजों को उनके अपेक्षाकृत अधिक मुक्त स्वरूप पूर्व-आधुनिक और परंपरागत समाजों के विपरीत गतिशीलता के अनुकूल समझा जाता है। किसी समाज को आधुनिक बनाने में औद्योगिकीकरण और उसके सहगामी शहरीकरण की भूमिका को अधिक महत्व दिया जाता है। अमुक्त समाजों की तुलना में आधुनिक समाजों की संरचना अधिक लचीली है। भारत में जाति व्यवस्था के बावजूद वह परंपरागत समाज से आधुनिक समाज में परिवर्तित होता जा रहा है। भारतीय समाज ने अनेक विधियों से अपने को नई संस्थाओं के अनुकूल बना लिया है।

इकाई 13 में अध्यापन व्यवसाय पर जोर देने के साथ-साथ शिक्षा, व्यवसाय और सामाजिक गतिशीलता के बीच अंतर्संबंधों को समझाने का प्रयास किया गया है। अध्यापन के मानदंडों और अध्यापकों के स्तर के अतिरिक्त शिक्षा के लक्ष्यों और उद्देश्यों की भी चर्चा की गई है। नए व्यवसायों में उर्ध्वपरक गतिशीलता आधुनिक शिक्षा और व्यक्ति विशेष अथवा समूह-विशेष के स्तर में सुधार के बीच परस्पर संबंध है।

इकाई 10 सामाजिक गतिशीलता : अवधारणा एवं मापन

संरचना

10.0 उद्देश्य
10.1 प्रस्तावना
10.2 सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा
10.3 सामाजिक गतिशीलता के स्वरूप
  10.3.1 लंबवत् गतिशीलता के प्रकार
  10.3.2 अंतःपीढ़ी एवं अंतरापीढ़ी गतिशीलता
  10.3.3 लंबवत् गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारक
    10.3.3.1 संरचनात्मक कारक
    10.3.3.2 वैयक्तिक कारक
10.4 सामाजिक गतिशीलता के पक्ष
10.5 सामाजिक गतिशीलता के माध्यम
  10.5.1 धार्मिक संस्थाएँ
  10.5.2 शैक्षणिक संस्थाएँ
  10.5.3 राजनीतिक संस्थाएँ
  10.5.4 आर्थिक संस्थाएँ
  10.5.5 विवाह एवं परिवार संस्थाएँ
10.6 सामाजिक गतिशीलता के मापन
  10.6.1 गतिशीलता का अंतःपीढ़ी संदर्भ
  10.6.2 गतिशीलता का अंतरापीढ़ी संदर्भ
  10.6.3 विभिन्न क्षेत्रों में प्रस्थिति-अर्जन
10.7 सारांश
10.8 शब्दावली
10.9 उपयोगी पुस्तकें
10.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

10.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्नलिखित पक्षों को समझने में समर्थ होंगे :

- सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा एवं इसके विभिन्न स्वरूपों का वर्णन,
- लंबवत् गतिशीलता के महत्वपूर्ण आयामों का विवेचन,
- सामाजिक गतिशीलता के कुछ पक्षों से संबद्ध आनुभविक अध्ययनों/टिप्पणियों को स्पष्ट करना,
- सामाजिक गतिशीलता के माध्यमों का ज्ञान,
- गतिशीलता-मापन के विभिन्न पक्षों/कारकों का विवेचन।

10.1 प्रस्तावना

आप सामाजिक स्तरीकरण की अवधारणा एवं इससे संबद्ध अनेक अवधारणाओं एवं सिद्धांतों का इससे पहले अध्ययन कर चुके हैं। आपने पूर्व-आधुनिक एवं आधुनिक समाजों में स्तरीकरण की प्रकृति का भी अध्ययन किया है। इस पाठ में आप स्तरीकरण की व्यवस्था के एक महत्वपूर्ण पक्ष-सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन करेंगे।

हम इस पाठ का प्रारंभ सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा से करेंगे। तत्पश्चात् हम सामाजिक गतिशीलता के स्वरूपों की चर्चा करेंगे। इसके उपरांत लंबवत् सामाजिक-गतिशीलता के विभिन्न पक्षों का विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। पाठ का अगला भाग उन निष्कर्षों पर केंद्रित होगा जो सामाजिक गतिशीलता से संबद्ध शोध अध्ययनों पर आधारित है। हम गतिशीलता के विभिन्न माध्यमों को क्रमबद्ध भी करेंगे। हमारे पाठ का अगला भाग गतिशीलता के विभिन्न मापनों से संबद्ध पक्षों पर भी प्रकाश डालेगा।

10.2 सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा

आधुनिक औद्योगिक समाजों में प्रस्थिति की जो संस्तरणात्मक प्रणाली विद्यमान है, उसमें संस्तरण में उच्चता की तरफ जाने की प्रक्रिया के साथ धन, शक्ति एवं प्रतिष्ठा में भी वृद्धि होती जाती है। जाति, जागीर एवं प्रारंभिक वर्गीय व्यवस्था के विपरीत एक प्रस्थिति से दूसरी प्रस्थिति की तरफ परिवर्तन उन साधनों द्वारा अर्जित की जा सकती हैं जिन पर व्यक्तियों का नियंत्रण है।

हम प्रायः ऐसा सुनते हैं कि "उसके पिता दर्जी थे परंतु वह प्रशासनिक अधिकारी बन गया है"। "उसने अपनी सामाजिक प्रस्थिति को उच्च बनाया है"। "राजेश एवं हरि के मध्य व्यापक सामाजिक दूरी है" इत्यादि। यह सभी मत सामाजिक गतिशीलता की प्रघटना को व्यक्त करते हैं। गतिशीलता का अभिप्राय बदलाव से है तथा सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय एक सामाजिक प्रस्थिति से दूसरी सामाजिक प्रस्थिति की तरफ हुआ बदलाव अथवा परिवर्तन है। ये सामाजिक प्रस्थितियाँ आर्थिक, व्यावसायिक, आय इत्यादि संदर्भों से संबद्ध हैं। अतः जब सामाजिक गतिशीलता अस्तित्व में आती है तो सामाजिक क्षेत्र के अंतर्गत बदलाव उत्पन्न होता है। सामाजिक क्षेत्र भौगोलिक क्षेत्र से भिन्न है। सामाजिक क्षेत्र में बदलाव का अभिप्राय एक सामाजिक प्रस्थिति से दूसरी सामाजिक प्रस्थिति की तरफ हुआ परिवर्तन है। भौगोलिक क्षेत्र में होने वाला बदलाव एक भौगोलिक भाग से दूसरे भौगोलिक भाग में व्यक्तियों के चले जाने से है। इसे भौगोलिक गतिशीलता अथवा स्थानिक गतिशीलता की संज्ञा दी जाती है। श्री खन्ना, जो बैंक अधिकारी हैं, की नियुक्ति बंबई शाखा से कलकत्ता शाखा कार्यालय में कर दी गई है। यह भौगोलिक क्षेत्र में अथवा स्थानिक क्षेत्र में होने वाली गतिशीलता है। श्री गुप्ता, जो देहली के एक कार्यालय में उपनिदेशक हैं को पदोन्नति द्वारा निदेशक बना दिया गया है। यह सामाजिक क्षेत्र में होने वाली गतिशीलता है। प्रथम उदाहरण से स्पष्ट है कि भौगोलिक अथवा स्थानिक गतिशीलता के लिए सामाजिक गतिशीलता आवश्यक नहीं है। दूसरा उदाहरण स्पष्ट करता है कि सामाजिक गतिशीलता हेतु भौगोलिक गतिशीलता आवश्यक नहीं है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि सामाजिक गतिशीलता सदैव दूसरे व्यक्तियों अथवा समूहों के संदर्भ में होती है। श्री गुप्ता निदेशक बनने के उपरांत अध्यक्ष से, जो निदेशक से उच्च है, भिन्न प्रकार के संबंध स्थापित करेंगे। इससे पहले जब वे उपनिदेशक थे, निदेशक उनसे उच्च था। ठीक इसी प्रकार अधीनस्थ व्यक्तियों के साथ उनके सामाजिक संबंधों में परिवर्तन आएगा क्योंकि अब वह उपनिदेशक से उच्च हैं जबकि पहले उपनिदेशक का पद उन्हें स्वयं प्राप्त था। अतः एक व्यक्ति को जो सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त है वह सदैव अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों की सामाजिक प्रस्थिति से संबद्ध होती है।

संक्षेप में, सामाजिक गतिशीलता वह उच्च अथवा निम्न बदलाव है, जो सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था के अंतर्गत एक सामाजिक स्तूत से दूसरे सामाजिक स्तूत की तरफ होता है जिसका कि व्यक्ति भाग है। सामाजिक स्तरीकरण जबकि धन, प्रतिष्ठा, शक्ति, व्यवसाय, आय इत्यादि आधार पर व्यक्तियों अथवा समूहों में पाया जाने वाला क्रमविन्यास है। स्तरीकरण वस्तुओं, सेवाओं, शक्ति एवं प्रतिष्ठा के असमान वितरण से उत्पन्न असमानता है जो समाजों में पाई जाती है। इसके परिणामस्वरूप अधिकारों एवं कर्तव्यों में उत्पन्न असमानता भी स्तरीकरण का भाग बन जाती है। वे व्यक्ति जिनमें उच्चतर स्थान की और अथवा निचले स्तर की ओर गतिशीलता सामाजिक प्रस्थितियों के संदर्भ में पाई जाती है, वे सामाजिक संस्तरण में भी गतिशीलता अथवा सामाजिक क्रमविन्यास में भी परिवर्तन का अनुभव करते हैं। उन्हें धन, सम्मान, शक्ति एवं प्रतिष्ठा कम अथवा अधिक प्राप्त होती है जिसके परिमाणस्वरूप वे नवीन सामाजिक वर्ग की सदस्यता प्राप्त करते हैं। यह तर्क हमें गतिशीलता के उस पक्ष की तरफ ले जाता है, जिसमें वे विभिन्न माध्यम

सम्मिलित हैं जिनसे किसी व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन उत्पन्न होता है। आगामी भाग में हम गतिशीलता के स्वरूपों क्रमशः क्षैतिज गतिशीलता एवं लंबवत् गतिशीलता का उल्लेख करेंगे। हम लंबवत् गतिशीलता के दो पक्षों क्रमशः उच्चस्तरीय गतिशीलता एवं निम्नस्तरीय गतिशीलता का उल्लेख भी करेंगे।

10.3 सामाजिक गतिशीलता के स्वरूप

सामाजिक गतिशीलता के दो स्वरूप हैं जिन्हें क्षैतिज एवं लंबवत् गतिशीलता के रूप में जाना जाता है।

क्षैतिज गतिशीलता

क्षैतिज गतिशीलता का अभिप्राय उस बदलाव से है जो संबद्ध व्यक्ति अथवा समूह की सामाजिक प्रस्थिति में कोई परिवर्तन उत्पन्न नहीं करता। उदाहरण के लिए एक भौगोलिक क्षेत्र से दूसरे भौगोलिक क्षेत्र में जाना, एक व्यवसाय से समान स्तर एवं प्रस्थिति के दूसरे व्यवसाय को अपनाना, एक परिवार से दूसरे परिवार में जाना तथा एक नागरिकता छोड़कर दूसरी नागरिकता को ग्रहण करना इत्यादि।

लंबवत् गतिशीलता

लंबवत् गतिशीलता का अभिप्राय उस बदलाव से है, जिसमें समूह एवं व्यक्तियों के मध्य असमान प्रस्थितियों के संदर्भ में परिवर्तन होता है। अतः वे व्यक्ति, जिनके पास क्षैतिज पद है, समाज में विभिन्न लंबवत् पद प्राप्त कर सकते हैं। उदाहरण के लिए एक क्षेत्र से संबद्ध व्यक्तियों की समान क्षेत्रीय पहचान होती है। अतः क्षैतिज दृष्टिकोण से उन सबके पास समान पद है परंतु ये व्यक्ति भिन्न-भिन्न व्यवसायों से संबद्ध हैं जो लंबवत् दृष्टि से एक दूसरे की तुलना में श्रेष्ठ अथवा निम्न स्तर प्राप्त हैं। अतः लंबवत् दृष्टिकोण से उनके पास भिन्न-भिन्न पद हैं।

चित्र 1 : लंबवत् दृष्टिकोण

महाराष्ट्रीय

अ) निदेशक

ब) सुपरवाइजर

स) चपरासी

अतः अ, ब एवं स सभी महाराष्ट्रीय हैं परंतु इनके मध्य लंबवत् स्तर है। अ सबसे उच्च है तत्पश्चात् क्रमशः ब एवं स का स्थान है। सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में मुख्यतया लंबवत् गतिशीलता पर विचार किया जाता है। इसका स्पष्ट कारण यह है कि हम गतिशीलता के विश्लेषण सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में करते हैं। आपको यह ज्ञात ही है कि स्तरीकरण व्यक्तियों एवं समूहों के मध्य पाया जाने वाला क्रमविन्यास है जिनकी प्रस्थितियाँ एक दूसरे की तुलना में उच्च अथवा निम्न हैं। इस तर्क के पश्चात् हम लंबवत् गतिशीलता के विभिन्न आयामों का अध्ययन करेंगे।

10.3.1 लंबवत् गतिशीलता के प्रकार

लंबवत् गतिशीलता के दो प्रकार हैं 1 ऊर्ध्वमुखी एवं 2 अधोमुखी सामाजिक गतिशीलता। इन गतिशीलताओं को उच्चतर स्थान की तरफ तथा निम्न स्थान की तरफ/पतनोन्मुखी सामाजिक गतिशीलता की संज्ञा भी दी जाती है। उदाहरण के लिए उच्च श्रेणी के रोजगार की तरफ परिवर्तन ऊर्ध्वमुखी/उच्चतर सामाजिक गतिशीलता को व्यक्त करता है जबकि निम्न श्रेणी के रोजगार की तरफ परिवर्तन अधोमुखी/निम्न/पतनोन्मुखी सामाजिक गतिशीलता का उदाहरण है। ऊर्ध्वमुखी/उच्चतर स्थान गतिशीलता तब उत्पन्न होती है जब एक व्यक्ति अथवा एक समूह निम्न पद से उच्च पद की ओर जाता है। उदाहरण के लिए निम्न क्रम लिपिक (एल.डी.सी.) जब उच्च क्रम लिपिक (यू.डी.सी.) बन जाता है तब उसे उच्च क्रम गतिशीलता कहा जाएगा। निम्नस्तरीय गतिशीलता तब उत्पन्न होती है जबकि कोई उच्च पद से निम्न पद की तरफ जाता है। उदाहरण के लिए एक नवाब अपनी

भूमि एवं संपत्ति से वंचित हो जाने के उपरांत मध्यमवर्गीय नौकरी को अपना लेता है, तब उसे निम्नस्तरीय अथवा पतनोन्मुखी गतिशीलता की संज्ञा दी जाती है। ये उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय गतिशीलताएँ पुनः व्यक्ति-उच्चस्तरीय एवं समूह-उच्चस्तरीय तथा व्यक्ति-निम्नस्तरीय एवं समूह-निम्नस्तरीय गतिशीलताओं में वर्गीकृत की जा सकती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि उच्चस्तरीय अथवा निम्नस्तरीय गतिशीलता की इकाई व्यक्ति अथवा समूह हो सकती है। पहले के दो उदाहरण उन उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय गतिशीलताओं को व्यक्त करते हैं जिनकी कि व्यक्ति इकाई है।

चित्र 2 : सामाजिक गतिशीलता

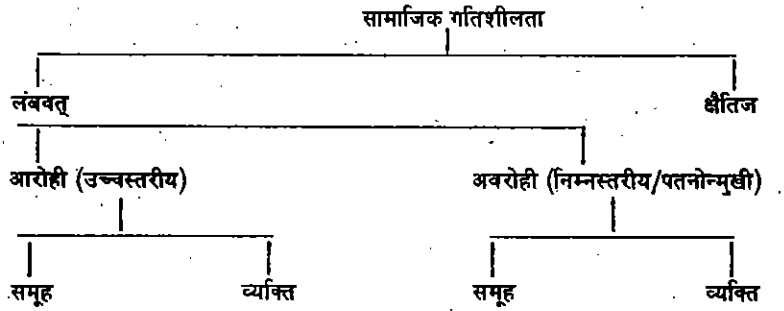

10.3.2 अंत:पीढ़ी एवं अंतरापीढ़ी गतिशीलता

लंबवत् गतिशीलता के आयामों की चर्चा करते समय यह जानना महत्वपूर्ण हो जाता है कि गतिशीलता अंत:पीढ़ी मूलक एवं अंतरापीढ़ी मूलक होती है। अंत:पीढ़ी मूलक गतिशीलता का अभिप्राय पीढ़ियों के मध्य में पाई जाने वाली गतिशीलता से है। इसका पारंपरिक मापन पिता एवं पुत्र की सामाजिक प्रस्थितियों की तुलना द्वारा होता है। यदि पुत्र को पिता की प्रस्थिति की तुलना में उच्च प्रस्थिति प्राप्त है तब पुत्र उच्चस्तरीय गतिशीलता को अभिव्यक्त करता है। यदि पुत्र की प्रस्थिति पिता की प्रस्थिति से निम्न है तो वह पतनोन्मुखी गतिशीलता से संबद्ध है। अंतरापीढ़ी गतिशीलता में स्वयं की प्रस्थितियों की तुलना की जाती है। यह एक ही पीढ़ी में हो रही गतिशीलता को व्यक्त करती है। उदाहरण के लिए, एक व्यक्ति ने अपना व्यावसायिक जीवन जूता पालिश के काम से प्रारंभ किया तत्पश्चात् वह व्यक्ति स्कूल में आया तथा उच्च विश्वविद्यालयी शिक्षा के लिए उसने कॉलेज में प्रवेश किया तत्पश्चात् वह एक हाई स्कूल में प्राध्यापक हो गया। हम अंतरापीढ़ी एवं अंत:पीढ़ी गतिशीलता के पक्षों का फिर से मूल्यांकन "गतिशीलता के मापन" वाले भाग 10.6 में करेंगे।

10.3.3 लंबवत् गतिशीलता को प्रभावित करने वाले कारक

हम ऐसे अनेक कारकों की चर्चा कर सकते हैं जो लंबवत् गतिशीलता को प्रभावित करते हैं। व्यापक रूप में हम इन्हें संरचनात्मक कारक एवं वैयक्तिक कारकों की संज्ञा दे सकते हैं।

10.3.3.1 संरचनात्मक कारक

उदाहरण के लिए,बीसवीं शताब्दी में अमेरिका में विकसित प्रौद्योगिकी बड़े प्रतिष्ठानों की वृद्धि, जीवन स्तर में वृद्धि, नगरीय क्षेत्रों में वृद्धि एवं विघटित श्रम बाजार की निरंतरता जैसे संरचनात्मक परिवर्तनों ने गतिशीलता को प्रभावित किया है। उदाहरण के लिए, विकसित प्रौद्योगिकी ने शारीरिक श्रम से संबंधित सेवाओं को समाप्त किया है तथा श्वेतपोश श्रम से संबंधित सेवाओं में वृद्धि की है। लिपिक एवं सेवा संबंधी अन्य रोजगारों की संख्या में भी वृद्धि हुई है। कुछ समाजशास्त्रियों का मत है कि शारीरिक श्रम संबंधी रोजगार से श्वेतपोश रोजगार की तरफ हुई गतिशीलता ने प्रस्थितिमूलक (निम्न से उच्च प्रस्थिति) परिवर्तन किए हैं। कुछ लोगों का तर्क है कि शारीरिक श्रम से श्वेतपोश श्रम की तरफ हुआ बदलाव उस समय तक लाभकारी नहीं है जब तक कि शारीरिक श्रम एवं मानसिक श्रम से संबद्ध सेवाओं में प्राय: लगभग समान है। निश्चित रूप से बड़े प्रतिष्ठानों

की वृद्धि ने वेतन प्राप्त करने वाले व्यक्तियों को प्रभावित किया है। सामान्यतः अमेरिका के बड़े प्रतिष्ठानों में कार्यरत श्रमिक छोटे प्रतिष्ठानों में कार्यरत श्रमिकों से अधिक वेतन प्राप्त करते हैं। अनेक प्रकार के श्रमिकों एवं उनके जीवन स्तर में पिछली शताब्दी में अनेक सुधार हुए हैं। यद्यपि अमेरिका जैसे देश में जीवन स्तर में सुधार उस सुधार को प्रदर्शित नहीं करता जो सापेक्षिक वर्ग सदस्यता अथवा अनेक श्रमिकों की स्थिति के संदर्भ में देखा जाए। नगरीय क्षेत्रों की वृद्धि के परिणामस्वरूप नगरीय निवासियों की तुलना में ग्रामीण निवासियों के जीवन स्तर पर व्यय कम है। चूंकि नगर में जीवन स्तर पर व्यय अधिक है अतः नगरीय श्रमिकों को वेतन भी अधिक प्राप्त होता है। विघटित श्रम बाजार की स्थिति ने लम्बवत् गतिशीलता को प्रभावित किया है। विघटित श्रम बाजार वह स्थिति है जिसके अन्तर्गत कुछ सेवाएं/नौकरियां उच्चस्तरीय गतिशीलता को उत्पन्न करती हैं जबकि कुछ सेवाओं/नौकरियों के साथ ऐसा नहीं होता। उच्च प्रौद्योगिकी अथवा प्रबंधकीय सेवा उच्चस्तरीय गतिशीलता को उत्पन्न करता है जबकि निम्न प्रौद्योगिकी से संबंधित रोजगार अथवा निम्न प्रशासकीय रोजगार उच्चस्तरीय गतिशीलता को अधिक उत्पन्न नहीं करते।

10.3.3.2 वैयक्तिक कारक

अनुसंधान कर्त्ताओं ने उच्चस्तरीय गतिशीलता के वैयक्तिक कारकों पर विचार करते समय पारिवारिक पृष्ठभूमि, स्कूल में प्राप्त अंक, श्रेणी, विद्यालय, अन्य शैक्षणिक संस्थान एवं व्यक्तित्व जैसे कारकों को चुना है। उदाहरण के लिए, अधिकांश अध्ययन यह संकेत करते हैं कि पारिवारिक पृष्ठभूमि वह सबसे महत्वपूर्ण कारक है जिसके आधार पर भविष्य में व्यक्तियों की आय के विषय में भविष्यवाणी की जा सकती है। उच्च आय अथवा प्रस्थिति वाले परिवारों से सम्बद्ध व्यक्तियों द्वारा अधिक धन उपार्जन की सम्भावना है। इसके विपरीत निम्न आय अथवा प्रस्थिति से सम्बद्ध परिवारों के व्यक्तियों के साथ कम है।

सामाजिक गतिशीलता के संदर्भ में दो दृष्टिकोण विद्यमान हैं। प्रथम दृष्टिकोण यह है कि अमेरिका में उच्चस्तरीय गतिशीलता में वृद्धि हेतु उपयुक्त माध्यम यह है कि निर्धन परिवारों के बच्चों को प्राप्त सुविधाओं में वृद्धि की जाए। इसके अन्तर्गत उचित-पूर्व स्कूल शिक्षा को प्रदान करना भी सम्मिलित होगा। दूसरा दृष्टिकोण यह है कि अमेरिका में सामाजिक वर्ग प्रदत्त स्थिति है एवं निर्धन शिक्षा के विस्तार के सम्पर्क में आकर भी उच्च वर्ग में प्रविष्ठ नहीं हो सकते। धन के पुनः वितरण से सम्बद्ध सामाजिक स्तरीकरण की प्रक्रिया में गुणात्मक एवं आमूल चूल परिवर्तन लाकर गरीबों को अवसर प्रदान किये जा सकते हैं तथा समानता के प्रयास किये जा सकते हैं।

अगले भाग में हम सामाजिक गतिशीलता के महत्वपूर्ण पक्षों से सम्बद्ध आनुभविक अध्ययनों (कोई तर्क जिसका अनुभव के माध्यम से परीक्षण हो सकता है) के निष्कर्षों की विवेचना करेंगे।

10.4 सामाजिक गतिशीलता के पक्ष

सामाजिक स्तरीकरण 'मुक्त' अथवा 'अमुक्त' हो सकता है। अमुक्त स्तरीकरण में सामाजिक गतिशीलता के अभाव की विशेषता होती है जबकि मुक्त स्तरीकरण व्यक्तियों एवं समूहों में सरल/सामान्य गतिशीलता को महत्व प्रदान करता है। वास्तव में हम किसी भी समाज में पूर्ण मुक्त स्तरीकरण अथवा पूर्ण अमुक्त स्तरीकरण नहीं पाते हैं अतः इस आधार पर पूर्ण बन्द गतिशीलता एवं पूर्ण खुली गतिशीलता का भी किसी समाज में पाया जाना सम्भव नहीं है। कुछ आनुभविक अध्ययनों के आधार पर सामाजिक गतिशीलता के निम्नलिखित महत्वपूर्ण पक्षों की चर्चा की जा सकती है।

1) कोई भी ऐसा समाज नहीं है जहां पूर्ण अगतिशीलता पायी जाती है। प्रत्येक समाज में किसी न किसी स्तर की गतिशीलता अनिवार्यतः होती है। अतः भारत जैसे समाज में जहां जाति व्यवस्था पायी जाती है किसी न किसी स्तर की उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय गतिशीलता के तत्व विद्यमान थे। उदाहरण के लिए, निम्न जाति की महिला उच्च जाति के पुरुष से विवाह कर उच्चस्तरीय गतिशीलता को प्राप्त कर सकती थी (अनुलोम विवाह)।

2) कोई भी ऐसा समाज नहीं है जिसमें लम्बवत् गतिशीलता स्वतंत्र एवं सरल हो। यहाँ

तक कि अमेरिकी समाज में, जिसमें खुलापन अत्यधिक है, कुछ अर्थों में गतिशीलता प्रतिबन्धित है। उदाहरण के लिए, शिक्षा एवं रोजगार के क्षेत्र में श्वेत जनसंख्या की तुलना में काली जनसंख्या को समान अवसर प्राप्त नहीं है। अमेरिका का राष्ट्रपति एक सम्पन्न अमेरिकन श्वेत परिवार का पुत्र आसानी से बन सकता है जबकि मध्यवर्गीय अथवा निर्धन वर्ग के अश्वेत परिवार पुत्र के लिए यह पद प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है।

3) लम्बवत् गतिशीलता की दर एक ही समाज में समय-समय पर अलग-अलग हो जाती है। उदाहरण के लिए, पिछली शताब्दी के भारत की तुलना में आज के भारत में लम्बवत् गतिशीलता का सरलता से अर्जन सम्भव है। आज व्यक्ति की जाति उसके व्यवसाय का निर्धारण नहीं करती।

4) लम्बवत् गतिशीलता की दर एवं उसका स्तर विभिन्न समाजों में अलग-अलग होता है। उदाहरण के लिए, परम्परागत भारतीय समाज की तुलना में अमेरिकन समाज़ अधिक खुला है।

5) लम्बवत् गतिशीलता में उच्चस्तरीय/वृद्धि एवं निम्नस्तरीय/कमी के संदर्भ में कोई सुनिश्चित दिशा नहीं है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि लम्बवत् गतिशीलता में किसी देश में वृद्धि हो रही है अथवा उसमें कमी आ रही है। यह दिशा प्रस्तुत करने अथवा वृद्धि अथवा कमी को स्पष्ट करने से सम्बद्ध कोई साक्ष्य किसी देश, महाद्वीप अथवा सम्पूर्ण मानव समाज के लिए नहीं हो सकता। अमेरिका के संदर्भ में, उदाहरणार्थ, हम यह नहीं कह सकते कि लम्बवत् गतिशीलता में अनवरत वृद्धि हो रही है। इस संदर्भ में अनेक विभिन्नताएं हैं।

6) यद्यपि लोकतांत्रिक समाजों में एकतंत्रीय समाजों की तुलना में लम्बवत् गतिशीलता की दर प्रायः उच्च होती है परन्तु ऐसा कोई सामान्यीकरण प्रस्तुत नहीं किया जा सकता।

सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक गतिशीलता के क्षेत्र में अनेक सैद्धांतिक एवं आनुभविक योगदानों का उल्लेख किया जा सकता है। इस दृष्टि से भर्टन के संदर्भ समूह सिद्धांत एवं सामाजिक गतिशीलता, लिपसेट एवं जिटरबर्ग उल्लेखनीय है। अस्वस्थ आनुभविक अनुसंधान की दृष्टि से विश्व के विभिन्न भागों में सामाजिक गतिशीलता सम्बन्धी अध्ययन हुए हैं। भारत में अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति, अन्य पिछड़े वर्ग एवं ग्रामीण एवं नगरीय मध्यम वर्ग में सामाजिक गतिशीलता से सम्बद्ध अनेक अध्ययन हुए हैं। इन योगदानों में एक प्रमुख योगदान एम.एन. श्रीनिवास का है, जो मैसूर के कुर्से से सम्बद्ध हैं। दक्षिण भारत के सामाजिक एवं धार्मिक जीवन में श्रीनिवास ने "संस्कृतीकरण" की अवधारणा को उपयोगी पाया। अन्य देशों में हम ब्लान एवं डंकन के अध्ययन "द अमेरिकन आक्यूपेशनल स्ट्रक्चर", गोल्डथार्प के "सोश्यल मोबिलिटी एण्ड क्लास स्ट्रक्चर इन मार्डन ब्रिटेन" एवं पोर्टर के कनाडा में किये गये अध्ययन "द वर्टिकट मोजक" को सामाजिक गतिशीलता के संदर्भ में महत्वपूर्ण मानते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) निम्न में से किसे आप भौगोलिक क्षेत्र से सम्बद्ध एवं सामाजिक क्षेत्र से सम्बद्ध गतिशीलता का उदाहरण मानेंगे:

   अ) एक लिपिक का देहली से बम्बई को स्थानान्तरण

   ब) श्री वर्मा, जो कि डी.सी.एम. में एकाउन्ट सहायक थे, को उसी प्रतिष्ठान में अकाउन्ट आफीसर बना देना

   स) एक विशिष्ट विद्यालय में महिला अध्यापिका को वरिष्ठता शिक्षिका के पद पर पदोन्नति करना

   द) सिंडीकेट बैंक में पर्सनल आफीसर पद पर नियुक्त श्री मेहता को कोयम्बटूर शाखा से मद्रास शाखा में नियुक्ति दे देना

2) निम्नलिखित में से आप किसे क्षैतिज गतिशीलता में एवं किसे लम्बवत् गतिशीलता में समूहबद्ध करेंगे:

   अ) एक निर्धन भारतीय जो अमेरिका चला जाता है और समृद्ध अमेरिकन नागरिक बन जाता है।

ब) आप अपना आवास एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिवर्तित कर लेते हैं।

स) राजू जो कनिष्ठ अधिकारी था, वरिष्ठ अधिकारी बन जाता है।

द) सरकारी सेवा से अवकाश ग्रहण करने के पश्चात् श्री आनन्द अहमदाबाद छोड़कर बंगलौर स्थायी रूप से बस जाते हैं।

क) होटल में सहायक के रूप में कार्य प्रारम्भ कर नायर बाद में होटल का स्वामी बन जाता है।

3) इस पाठ में दिये गये उदाहरणों के अतिरिक्त उच्चस्तरीय सामाजिक गतिशीलता के पांच उदाहरण दें:

i) .....

ii) .....

iii) .....

iv) .....

v) .....

4) इस पाठ में दिये गये उदाहरणों के अतिरिक्त निम्नस्तरीय सामाजिक गतिशीलता के पांच उदाहरण दें:

i) .....

ii) .....

iii) .....

iv) .....

v) .....

5) उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय सामाजिक गतिशीलता के दो प्रकार बतायें:

i) .....

ii) .....

10.5 सामाजिक गतिशीलता के माध्यम

अभी तक हमने यह पाया है कि प्रत्येक समाज में लम्बवत् गतिशीलता किसी न किसी स्तर की पायी जाती है। अब हम उन माध्यमों अथवा साधनों का उल्लेख करेंगे जो व्यक्ति अथवा समूह को उच्चस्तरीय/उर्ध्वगामी अथवा निम्नस्तरीय/अधोगामी गतिशीलता हेतु सहायता प्रदान करते हैं। यह कार्य समाज में अनेक संस्थाओं द्वारा किया जाता है। इन संस्थाओं में मुख्य रूप से हम धार्मिक, शैक्षणिक, राजनैतिक, आर्थिक संस्थाओं का उल्लेख कर सकते हैं इसके अतिरिक्त व्यावसायिक संगठन एवं परिवार भी सामाजिक गतिशीलता के कारक हैं।

10.5.1 धार्मिक संस्थाएँ

धार्मिक संस्थाओं के माध्यम से लम्बवत् गतिशीलता का अवलोकन अनेक धर्मों जैसे ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म, बौद्ध धर्म, इस्लाम धर्म एवं कन्फ्यमशियस धर्म में देखा जा सकता है।

चर्च सामाजिक गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण माध्यम है। उदाहरण के लिए, यूरोप में ईसाई धर्म की वैधानिकता के उपरान्त के काल में चर्च उच्च प्रस्थिति गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण कारक था। उस समय अनुयायियों का एक बहुत बड़ा भाग निम्न स्तृत से संबद्ध था। अतः दास एवं अर्ध दास चर्च के अधिकारी बन गए महान पोप ग्रेगरी vii बढ़ई के पुत्र थे।

ीक इसी प्रकार भारत में निम्न जातियों एवं अस्पृश्यों में सामाजिक गतिशीलता के एक

महत्वपूर्ण साधन के रूप में ईसाई संस्थाओं ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। जाति व्यवस्थ के अन्तर्गत इन समूहों को अत्यंत निम्न प्रस्थिति प्राप्त थी। इन समूहों ने पाया की सम्पूर्ण मानव जाति की समानता का संदेश देने वाला ईसाई धर्म उनकी सामाजिक प्रस्थिति को उच्च बना सकता है अतः इन निम्न जातियों एवं अस्पृश्यों ने ईसाई धर्म को स्वीकार कर लिया। ईसाई धर्म को अपनाने वालों में अधिकांश संख्या निम्न जाति के सदस्यों की है। ठीक इसी प्रकार बौद्ध, इस्लाम एवं पारसी धर्म में निम्नस्तरीय समूहों ने स्वयं को समाहित किया।

उच्चस्तरीय सामाजिक गतिशीलता में कारक की भूमिका के अतिरिक्त धार्मिक संस्थाएं निम्नस्तरीय गतिशीलता की स्थितियों को भी उत्पन्न करती हैं।

10.5.2 शैक्षणिक संस्थाएँ

यह तर्क सामान्यतया दिया जाता है कि शैक्षणिक उपलब्धियाँ उच्चस्तरीय गतिशीलता को उत्पन्न व तीव्र करने का महत्वपूर्ण कारक है। सौरोकिन उन दो माध्यमों को पृथक करते हैं, जिनके द्वारा शैक्षणिक संस्थाएं गतिशीलता को उत्पन्न व विकसित करती हैं। प्रथम शैक्षणिक संस्थाएं व्यक्ति को निम्नतम प्रस्थिति से उच्चतम प्रस्थिति की तरफ ले जाती हैं। यह केवल उन समाजों में सम्भव है, जहां शिक्षा समाज में सभी समूहों के लिए खुली है तथा प्रत्येक को यह अवसर प्राप्त है कि वह स्वयं को शिक्षित करे तथा अपनी योग्यता सिद्ध करे। चीन एवं कुछ यूरोपीय समाज इसके उदाहरण हैं। चीन में विद्यालय उस मुख्य प्रणाली को प्रदान करता है जिसके द्वारा व्यक्तियों का उच्चतम पदों के लिए चयन होता है। इस चयन का आधार विद्यालय में अभिव्यक्त योग्यता से है। विद्यालयों में सभी वर्ग के सदस्यों को प्रवेश पाने का अधिकार है तथा योग्यतम व्यक्तियों को बिना उनकी पारिवारिक प्रस्थिति को महत्व देते हुए हाई स्कूल शिक्षा एवं तत्पश्चात् विश्वविद्यालय शिक्षा में क्रमोन्नत किया जाता है। तत्पश्चात् उच्च सरकारी पदों एवं अन्य पदों पर चयन किया जाता है।

द्वितीय माध्यम शैक्षणिक संस्थाओं द्वारा गतिशीलता की उस अनुमति से सम्बद्ध है जो समाज को उच्च स्तृत को प्राप्त हैं। निम्न प्रस्थिति प्राप्त समूहों को इस लाभ से वंचित कर दिया जाता है। अतः ऐसे समाजों में सभी सदस्यों को शिक्षा के अवसर उपलब्ध नहीं है। परम्परागत भारत जिसमें कि जाति व्यवस्था अत्यन्त प्रभावशाली थी, इसका उदाहरण है। केवल उच्च जातियों विशेषतः ब्राह्मणों को शिक्षा प्राप्ति के अवसर उपलब्ध थे। ग्रन्थ एवं अन्य पुस्तकों का वे ही अध्ययन कर सकते थे। शूद्रों पर ये क्रियाएं न करने संबंधी प्रतिबंध थे। दक्षिण अफ्रीकी समाज इसका एक अन्य उदाहरण है जहां गोरे लोगों द्वारा काले लोगों का शोषण किया जाता है। नीग्रो प्रजाति को प्रजातीय आधार पर निम्न माना जाता है और उन्हें गोरे लोगों की भांति शिक्षा के अवसर प्राप्त नहीं है। एक तीसरा माध्यम भी है जिसके अन्तर्गत शैक्षणिक सस्थाएं "प्रायोजित गतिशीलता" के माध्यम से गतिशीलता की अनुमति प्रदान करती है। आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से शोषित व्यक्तियों को आरक्षण के द्वारा इस प्रकार की गतिशीलता के सम्पर्क में लाया जाता है। भारत में अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों को प्राप्त आरक्षण इसका उदाहरण है।

अतः निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि सामाजिक गतिशीलता एवं शिक्षा परस्पर अन्तः सम्बद्ध हैं तथा शिक्षा उच्चस्तरीय गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण माध्यम/साधन है फिर भी, अच्छी शैक्षणिक संस्थाएं एवं शिक्षा अनेक गैर-शैक्षणिक कारकों जैसे पारिवारिक पृष्ठभूमि, आवासीय स्थान, सम्पत्ति इत्यादि से निर्धारित होती है।

10.5.3 राजनीतिक संस्थाएँ

राजनीतिक संस्थाओं के अनेक प्रकार जैसे सरकार, राजनीतिक दल इत्यादि सामाजिक गतिशीलता के महत्वपूर्ण साधन हैं। सरकारी सेवाओं में पद ग्रहण करने के उपरान्त एक व्यक्ति उच्च पदों के रूप में समयबद्ध पदोन्नति प्राप्त करता है। यह प्रक्रिया प्राचीन ऐतिहासिक तथ्य के रूप में विद्यमान थी और आधुनिक समाजों में भी यथार्थ का भाग है। राजा का व्यक्तिगत सेवक अथवा कोई अधिकारी उच्च राजनैतिक पदों को प्राप्त करने हेतु योग्यता के आधार पर सक्षम था। अतः सामान्ती यूरोप में, ऐसे भी कुछ उदाहरण मिलते हैं जबकि अर्द्ध दासों को भूस्वामियों ने पुरस्कार के रूप में भूमि का टुकड़ा प्रदान कर दिया और वे अर्द्ध दास भूस्वामी बन गये। भारतीय इतिहास में भी हमें उदाहरण मिलते हैं जहां

गुलाम वंश ने शासन किया तथा कुतुबउद्दीन एवं इलतुतमिश जैसे शासकों को उत्पन्न किया। आज भी हम ऐसे अनेक व्यक्तियों की चर्चा कर सकते हैं, जो निजी सचिव अथवा कनिष्ठ अधिकारी के पद से प्रभावशील अधिकारियों के पद को सामाजिक गतिशीलता के कारण प्राप्त कर सके। लोकतांत्रिक देशों में राजनीतिक दल सामाजिक गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण साधन है। किसी राजनीतिक दल की सदस्यता ग्रहण करके व्यक्ति मतदाताओं के सम्मुख आता है और अपनी क्षमता तथा प्रभाव/गुणों के द्वारा उच्च राजनीतिक पदों हेतु चुन लिया जाता है।

10.5.4 आर्थिक संस्थाएँ

भूस्वामित्व, व्यापार, वाणिज्य, खान व्यवसाय, मछली पालन, वाहन निर्माण, तेल उत्पादन इत्यादि सदैव से लम्बवत् गतिशीलता के महत्वपूर्ण साधन रहे हैं। ये सभी साधन आर्थिक क्रियाओं से सम्बद्ध हैं। सम्पत्ति पर स्वामित्व एवं उसे संचित करना गतिशीलता को प्रभावित करने का सबसे महत्वपूर्ण पक्ष है। यहां तक कि छोटे जनजातीय समूहों में सम्पत्ति नेतृत्व को निर्धारित करने का सबसे महत्वपूर्ण माध्यम है। इतिहास के सभी कालों में कुलीन वर्ग सम्पत्ति के कारण प्रभावशाली रहा है। सम्पत्ति पर अधिकार एवं पूंजी के रूप में उसका रूपान्तरण पूंजीवाद को उत्पन्न करता है तथा उद्योगों को प्रभावशाली बनाता है। भारतीय जाति व्यवस्था में भी, विशेषतः ब्रिटिश शासन की स्थापना के उपरान्त, अनेक निम्न जातियों ने अपनी आर्थिक प्रस्थिति को सुधार कर सामाजिक प्रस्थिति को उच्च बनाया। ये निम्न जातियां उन श्वेतपोश सेवाओं का भाग बन गयी जिन्हें ब्रिटिश शासन ने प्रारम्भ किया।

अनेक व्यावसायिक संगठन जैसे साहित्यिक, शैक्षणिक, वैज्ञानिक, कला संबंधी इत्यादि गतिशीलता में महत्वपूर्ण माध्यमों के रूप में क्रियाशील हैं। कानून, शिल्प कला, संगीत, नृत्य, शिक्षा, विज्ञान इत्यादि क्षेत्रों में ये संगठन व्यावसायिक क्षमता एवं योग्यता को विकसित करते हैं। अनेक निर्धन एवं पिछड़े हुए व्यक्तियों ने समाज में उच्च पद प्राप्त किए हैं। उदाहरण के लिए, प्रसिद्ध गणितज्ञ रामानुजम एक निर्धन ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न हुए थे। कर्नाटक संगीत की प्रसिद्ध गायिका एम.एस. सुब लक्ष्मी एक देवदासी की पुत्री थीं।

10.5.5 विवाह एवं परिवार संस्थाएँ

उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय सामाजिक गतिशीलता हेतु विवाह एक प्रभावशाली माध्यम है। जब दो भिन्न सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त व्यक्तियों के मध्य विवाह होता है, तब उसका परिणाम या तो उच्चस्तरीय सामाजिक गतिशीलता है अथवा निम्नस्तरीय सामाजिक गतिशीलता है, जिसे क्रमशः अनुलोम विवाह एवं प्रतिलोम विवाह की संज्ञा दी जाती है।

उदाहरण के लिए, रोमन कानून के अनुसार एक स्वतंत्र महिला अगर दास से विवाह करती थी तो वह एवं उसकी संतान भी दास बन जाते थे। परम्परागत जाति व्यवस्था में उच्च जाति की महिला यदि निम्न जाति के पुरुष से विवाह करती थी तो उसकी उच्च जातीय प्रस्थिति उससे पृथक हो जाती थी। भारत के कुछ भागों में पहली स्थिति से विपरीत स्थिति को भी मान्यता प्राप्त थी। एक निम्न जाति की स्त्री उच्च जाति के पुरुष से विवाह कर उस पुरुष की जातीय प्रस्थिति को प्राप्त कर लेती थी। उसे कुलीन विवाह की संज्ञा दी जाती थी। उदाहरण के लिए, बंगाल में श्रोतीय जाति की कन्या जो कि निम्न जाति है कुलीन ब्राह्मण पुरुष से विवाह करके पति की जातीय प्रस्थिति को प्राप्त कर लेती थी। यह विवाह एवं परिवार संस्थाओं में पितृ सत्तात्मकता को स्पष्ट अभिव्यक्त करता है।

10.6 सामाजिक गतिशीलता के मापन

गतिशीलता के माध्यम/साधन का उपरोक्त विवरण गतिशीलता के मापन की तरफ संकेत करता है। गतिशीलता के मापन से हमारा अभिप्राय निम्नलिखित तथ्यों के विवेचन एवं प्रस्तुति से है:

1) क्या गतिशीलता की प्रक्रिया हुई है?

2) यदि प्रक्रिया हुई है तो गतिशीलता की दर क्या है?

गतिशीलता का मापन दो संदर्भों में किया जाता है जिन्हें अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरापीढ़ी संदर्भ के रूप में जाना जाता है। इस इकाई के 10.3.2 भाग में अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरापीढ़ी संदर्भों को परिभाषित किया गया है।

10.6.1 गतिशीलता का अन्तःपीढ़ी संदर्भ

गतिशीलता का मापन इस आधार पर किया जा सकता है कि किस सीमा तक बच्चों ने अपने माता-पिता की तुलना में उच्च प्रस्थिति अर्जित की है अथवा अपने माता-पिता की तुलना में किस सीमा तक निम्न प्रस्थिति अर्जित की है। ये दोनों पक्ष क्रमशः उच्चस्तरीय व निम्नस्तरीय गतिशीलता के परिचायक हैं। उदाहरण के लिए, यदि किसी लिपिक का पुत्र डाक्टर बन जाता है तो इसे अन्तःपीढ़ी उच्चस्तरीय गतिशीलता कहेंगे जबकि किसी अधिकारी के पुत्र का स्टेनोग्राफर बनना निम्नस्तरीय गतिशीलता का उदाहरण है जो अन्तःपीढ़ी निम्नस्तरीय गतिशीलता भी है।

10.6.2 गतिशीलता का अन्तरापीढ़ी संदर्भ

यह उस उच्चस्तरीय अथवा निम्नस्तरीय गतिशीलता से सम्बद्ध है जिसमें एक ही व्यक्ति अपने जीवन काल में अनेक प्रस्थिति सम्बन्धी उतार-चढ़ाव का अनुभव करता है। अर्थात् एक ही व्यक्ति/समान व्यक्ति द्वारा विभिन्न समयों पर प्राप्त की गयी विभिन्न सामाजिक प्रस्थितियां अन्तरापीढ़ी गतिशीलता को व्यक्त करती हैं। उदाहरण के लिए, रवि बैंक में लिपिक के रूप में प्रस्थिति अर्जित करता है तथा कुछ वर्षों के उपरान्त वह अधिकारी के रूप में पदोन्नत हो जाता है। यह अन्तरापीढ़ी उच्चस्तरीय गतिशीलता है। जबकि कम्पनी के एक निदेशक को पदानवत कर प्रबन्धक बना दिया जाता है यह अन्तरापीढ़ी निम्नस्तरीय गतिशीलता का उदाहरण है।

अन्तः गतिशीलता के माध्यमों/साधनों के साथ गतिशीलता के विभिन्न मापनों का विवेचन हम कर सकते हैं। धार्मिक प्रस्थिति, आर्थिक प्रस्थिति, राजनीतिक प्रस्थिति, व्यावसायिक प्रस्थिति, शैक्षणिक प्रस्थिति, विवाह एवं परिवार सम्बन्धी प्रस्थिति इत्यादि को हम गतिशीलता साधन एवं गतिशीलता मापन के संदर्भ में महत्व देते हैं। इन्हें अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरापीढ़ी संदर्भ में मापने की आवश्यकता है। इन सभी का अस्तित्व मिश्रित रूप में पाया जाता है। अतः एक व्यक्ति अन्तः एवं अन्तरा दोनों प्रकार की गतिशीलता का अनुभव कर सकता है। यह भी सम्भव है कि वह दोनों में से एक भी प्रकार की गतिशीलता का अनुभव न करे। उदाहरण के लिए,एक लिपिक की पुत्री राधा अधिकारी बन जाती है। तत्पश्चात् वह प्रबन्धक के पद पर पदोन्नत हो जाती है। वह अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरापीढ़ी गतिशीलता दोनों के उदाहरण है। एक व्यक्ति अन्तरापीढ़ी गतिशीलता का अनुभव किये बिना अन्तःपीढ़ी गतिशीलता का अनुभव कर सकता है। इसकी विपरीत स्थिति भी सम्भव है। उदाहरण के लिए,एक मोची का पुत्र रमन लिपिक बन जाता है और अपने सम्पूर्ण सेवा काल में लिपिक ही बना रहता है। अतः रमन ने अन्तःपीढ़ी गतिशीलता का अनुभव तो किया परन्तु अन्तरापीढ़ी गतिशीलता का अनुभव नहीं किया। रशीद एक टाइपिस्ट है जबकि उसके पिता एक अधिकारी थे। कुछ वर्षों के उपरान्त रशीद एक अधिकारी बन जाता है। इस उदाहरण में अन्तरापीढ़ी गतिशीलता तो है परन्तु अन्तःपीढ़ी गतिशीलता का अभाव हैं।

अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरापीढ़ी गतिशीलता को प्रस्थिति की प्राप्ति अथवा किसी समाज में व्यक्ति के द्वारा पद को अर्जित किये जाने के संदर्भ में प्रस्तुत किया जा सकता है। उदाहरण के लिए,पिता की सामाजिक-आर्थिक प्रस्थिति अन्तःपीढ़ी गतिशीलता को प्रभावित करती है यदि पुत्र या पुत्री शैक्षणिक प्रस्थिति के संदर्भ में कुछ उपलब्धि प्राप्त करते हैं। अन्तरापीढ़ी गतिशीलता में भी हम पाते हैं कि किसी व्यक्ति की शैक्षणिक उपलब्धि उसकी व्यावसायिक उपलब्धि को प्रभावित करती है।

10.6.3 विभिन्न क्षेत्रों में प्रस्थिति-अर्जन

पूर्व में हम धार्मिक, आर्थिक, व्यावसायिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, परिवार एवं विवाह सम्बन्धी प्रस्थिति उपलब्धि के महत्वपूर्ण क्षेत्रों का उल्लेख कर चुके हैं। अब हम उनकी विस्तार से चर्चा करेंगे।

1) धार्मिक प्रस्थिति

जब कोई समाज आन्तरिक या बाह्य रूप में विभिन्न धार्मिक व्यवहारों अथवा एक ही धर्म में पाये जाने वाले विभिन्न धार्मिक उप-समूहों को विभिन्न क्रम प्रदान करता है तो धार्मिक प्रस्थिति गतिशीलता का मापक बन जाती है। उदाहरण के लिए, भारत में संस्कृतीकरण की प्रक्रिया के अन्तर्गत निम्नजातियां एवं जनजातियां अपनी जातीय प्रस्थिति/प्रस्थिति को उच्च बनाने के प्रयास में वर्णाश्रम सिद्धान्त द्वारा प्रतिपादित धार्मिक व्यवहारों को अपनाने का प्रयास करती हैं। उदाहरण के लिए, उड़ीसा में शराब के व्यवसाय से सम्बद्ध "बोध" जाति ने शराब, गोश्त, मछली इत्यादि के उपभोग पर प्रतिबन्ध लगा दिया इस जाति ने स्वयं पर ये प्रतिबन्ध इसलिए लगाये क्योंकि ये प्रतिबन्ध ब्राह्मण जाति के धार्मिक व्यवहार का भाग थे। अनेक अस्पृश्य जातियां, जिन्हें हिन्दू जाति व्यवस्था में निम्न प्रस्थिति प्राप्त थी, अपनी निम्न प्रस्थिति को पृथक करने के उद्देश्य से इस्लाम एवं ईसाई धर्म का भाग बन गयीं। धार्मिक प्रस्थिति एक ही पीढ़ी के अन्तर्गत परिवर्तित हो सकती है अथवा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी/पीढ़ियों के अस्तित्व में आने के उपरान्त परिवर्तित हो सकती हैं।

2) आर्थिक प्रस्थिति

जब एक व्यक्ति धन प्राप्त करता है अथवा उसका संचय करता है तो उसकी आर्थिक प्रस्थिति में परिवर्तन होता है। यह उसकी उच्चस्तरीय सामाजिक गतिशीलता का मापन है। यदि उसे धन की हानि होती है तब यह उसकी निम्नस्तरीय सामाजिक गतिशीलता का मापन है। यह गतिशीलता दोनों अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरापीढ़ी संदर्भों में हो सकती है। उदाहरण के लिए, एक निर्धन व्यक्ति को अचानक जब यह पता लगता है कि उसके समृद्ध चाचा अपनी वसीयत में सम्पूर्ण धन उसे प्रदान कर गये हैं तो उसे अचानक अन्तःपीढ़ी उच्चस्तरीय आर्थिक गतिशीलता का अनुभव होता है। एक समृद्ध अथवा सम्पन्न व्यक्ति जब अपनी सम्पत्ति जूआ में हार कर निर्धन हो जाता है, तो उसे अन्तरापीढ़ी निम्नस्तरीय गतिशीलता का अनुभव होता है।

3) व्यावसायिक प्रस्थिति

जब एक व्यक्ति अपने पिता की व्यावसायिक प्रस्थिति की तुलना में उच्च व्यावसायिक प्रस्थिति प्राप्त करता है तो वह अन्तःपीढ़ी उच्चस्तरीय गतिशीलता का अनुभव करता है। यदि किसी लिपिक का पुत्र अधिकारी बन जाता है तो उसने अन्तःपीढ़ी उच्चस्तरीय व्यावसायिक गतिशीलता अर्जित की है। यदि एक व्यक्ति लेखा अधिकारी के रूप में सेवा प्रारम्भ करता है और प्रबन्धक के पद को अपनी योग्यता से अर्जित कर लेता है तो उसने अन्तरापीढ़ी उच्चस्तरीय व्यावसायिक गतिशीलता अर्जित की है। इसी प्रकार निम्नस्तरीय गतिशीलता के अन्तःपीढ़ी एवं अंतरापीढ़ी संदर्भ हो सकते हैं।

4) शैक्षणिक प्रस्थिति

जब किसी व्यक्ति की शैक्षणिक प्रस्थिति उसके माता-पिता की तुलना में उच्च है तो यह अन्तःपीढ़ी उच्चस्तरीय गतिशीलता का मापन है। यदि किसी स्नातक शिक्षा प्राप्त पिता का पुत्र केवल हायर सैकेन्ड्री स्तर की शिक्षा प्राप्त है अर्थात् वह पिता के समकक्ष स्वयं को शिक्षित नहीं कर पाता है तब वह अन्तःपीढ़ी निम्नस्तरीय गतिशीलता का अनुभव करता है। उदाहरण के लिए, वीना को स्नातक स्तर तक शिक्षा प्राप्त है जबकि उसके पिता को केवल मैट्रिक/हाई स्कूल स्तर की शिक्षा प्राप्त है। ठीक इसी प्रकार एक व्यक्ति ने एक ही पीढ़ी में अर्थात् अपने जीवन में अनवरत उच्च शिक्षा प्राप्त की है जिससे उसकी सामाजिक प्रस्थिति उच्च हुई है। उदाहरण के लिए, बी.ए. करने के उपरान्त एक व्यक्ति एम.ए., एम.फिल., पी.एच.डी. एवं डी., लिट. स्तर की शिक्षा प्राप्त करता है। यह अन्तरापीढ़ी उच्चस्तरीय शैक्षणिक गतिशीलता को व्यक्त करता है।

5) राजनीतिक प्रस्थिति

राजनीतिक प्रस्थिति भी अन्तःपीढ़ी उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय गतिशीलता के मापन में योगदान देती है। पिता हो सकता है कि एक राजनीतिक दल का सदस्य रहा हो परन्तु पुत्र ने मन्त्री का पद प्राप्त किया है। यह अन्तःपीढ़ी उच्चस्तरीय गतिशीलता का मापन है। ठीक उसी प्रकार एक युवा नेता के रूप में अपने राजनीतिक कैरियर का प्रारम्भ करता है तथा मन्त्री के पद तक कि उपलब्धि प्राप्त करता है। यह अन्तरापीढ़ी उच्चस्तरीय

गतिशीलता का मापन है। जब पीढ़ियों के मध्य में अथवा एक ही पीढ़ी में राजनीतिक प्रस्थिति उच्च से निम्न की तरफ आ जाती है तो वह निम्नस्तरीय गतिशीलता का अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरापीढ़ी संदर्भ में मापन करती है। उदाहरण के लिए, यदि एक राजनीतिक कार्यकर्ता को राजनीतिक दल से निष्कासित कर दिया जाए तो यह अन्तरापीढ़ी निम्नस्तरीय गतिशीलता का उदाहरण होगा।

6) विवाह एवं पारिवारिक प्रस्थिति

अपनी पारिवारिक प्रस्थिति की तुलना में उच्च पारिवारिक प्रस्थिति प्राप्त व्यक्ति से विवाह उच्चस्तरीय गतिशीलता प्रदान करता है। उदाहरण के लिए, यदि मध्य वर्ग का एक व्यक्ति कुलीन वर्गीय परिवार में विवाह करे तो यह अन्तःपीढ़ी उच्चस्तरीय गतिशीलता का मापन है। यदि एक व्यक्ति एक से अधिक बार विवाह करता है तो अन्तरापीढ़ी गतिशीलता का मापन सम्भव है। उदाहरण के लिए, एक विधुर लिपिक यदि सम्पन्न व्यक्ति की पुत्री से विवाह करे तो यह अन्तरापीढ़ी उच्चस्तरीय गतिशीलता का मापन होगा।

बोध प्रश्न 2

1) गतिशीलता के विभिन्न माध्यमों की चर्चा करें।

i) .....

ii) .....

iii) .....

iv) .....

v) .....

2) पांच पंक्तियों में उन तीन पद्धतियों की चर्चा करें जिनके द्वारा शैक्षणिक संस्थाएं उच्चस्तरीय सामाजिक गतिशीलता की अनुमति देती है। इस पाठ में दिये गये उदाहरणों के अतिरिक्त अन्य उदाहरणों का प्रत्येक पद्धति के संदर्भ में उल्लेख करें।

3) उन दो संदर्भों को परिभाषित करें जिनके अन्तर्गत गतिशीलता का मापन सम्भव है। इस पाठ में दिये गये उदाहरणों के अतिरिक्त एक-एक उदाहरण का प्रत्येक संदर्भ के साथ उल्लेख करें।

4) सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न मापकों को प्रस्तुत करें।

5) दोनों पक्षों को उपयुक्त उत्तर द्वारा सम्बद्ध करें।

प्रथम पक्ष	**द्वितीय पक्ष**
i) राजू एक अधिकारी है उसके पिता लिपिक थे।	अ) अन्तरापीढ़ी व्यावसायिक गतिशीलता
ii) राधा नें अपनी नौकरी टायपिस्ट के रूप में प्रारम्भ की। अब वह निजी सहायक है।	ब) अन्तरापीढ़ी शैक्षणिक गतिशीलता
iii) सुनील केवल हाई स्कूल तक शिक्षित था। उसका पुत्र प्रोफेसर हो गया है।	स) अन्तःपीढ़ी राजनीतिक गतिशीलता
iv) रमजान मंत्री का सचिव था। आज वह स्वयं मंत्री बन गया है।	द) अन्तःपीढ़ी शैक्षणिक गतिशीलता
v) जब अजय ने एक प्रतिष्ठान में नौकरी प्रारम्भ की तो वह स्नातक था। अब उसने पत्राचार से एम.ए. कर लिया है।	य) अन्तःपीढ़ी राजनीतिक गतिशीलता
vi) श्री शर्मा किसी भी चुनाव में नहीं जीते। उनके पुत्र ने वह कर दिखाया जो शर्मा नहीं कर सकते थे।	र) अन्तःपीढ़ी व्यावसायिक गतिशीलता

10.7 सारांश

इस इकाई से आपने यह सीखा है कि सामाजिक गतिशीलता वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक व्यक्ति अथवा समूह एक सामाजिक प्रस्थिति से दूसरी सामाजिक प्रस्थिति की तरफ जाता है। आपने सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न स्वरूपों, आयामों एवं महत्वपूर्ण पक्षों का भी अध्ययन किया है।

आपने यह भी अध्ययन किया कि ऐसे अनेक माध्यम है जो गतिशीलता को उत्पन्न एवं सक्रिय करते हैं। इन माध्यमों में धार्मिक, शैक्षणिक, राजनीतिक, आर्थिक, परिवार एवं विवाह सम्बन्धी संस्थाओं को सम्मिलित किया जाता है। ये माध्यम गतिशीलता के मापन के भी संकेत देते हैं एवं गतिशीलता का मापन अन्त:पीढ़ी एवं अन्तरापीढ़ी के संदर्भों में किया जाता है।

10.8 शब्दावली

आरोही गतिशीलता/उच्चस्तरीय गतिशीलता: निम्न से उच्च प्रस्थिति की तरफ व्यक्ति अथवा समूह का लम्बवत् दिशा में जाना।

गतिशीलता के माध्यम: वे संस्थागत साधन जिनके द्वारा व्यक्तियों की प्रस्थिति में परिवर्तन होता है।

सामाजिक स्तरीकरण का बन्द स्वरूप: वह समाज जो व्यक्तियों अथवा समूहों को सामाजिक गतिशीलता की स्वीकृति नहीं देता है।

अवरोही/निम्नस्तरीय गतिशीलता: व्यक्तियों अथवा समूहों का उच्च प्रस्थिति से निम्न प्रस्थिति की तरफ लम्बवत् दिशा में जाना।

क्षैतिज गतिशीलता: क्रम विन्यास के लम्बवत् स्वरूप को प्रभावित किये बिना व्यक्तियों अथवा समूहों का एक प्रस्थिति से दूसरी प्रस्थिति की तरफ जाना।

अनुलोम विवाह: वह विवाह जिसमें उच्च जाति का पुरुष निम्न जाति की स्त्री से विवाह करे– अनुलोम विवाह वह कारक है जिसके द्वारा कोई व्यक्ति गतिशीलता को अस्तित्व में लाता है तथा गतिशीलता के क्षेत्र का विस्तार करता है।

प्रतिलोम विवाह: वह विवाह प्रचलन जिसमें उच्च जाति की महिला निम्न जाति के पुरुष से विवाह करे। इस विवाह का शास्त्रों में उल्लेख है।

अन्तरापीढ़ी गतिशीलता: एक पीढ़ी एवं दूसरी पीढ़ी के मध्य उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय गतिशीलता।

अन्तरापीढ़ी गतिशीलता: एक ही व्यक्ति/परिवार द्वारा अपने जीवन काल में विभिन्न चरणों पर अनुभव की गयी गतिशीलता।

सामाजिक स्तरीकरण की खुली व्यवस्था: वह समाज जो व्यक्तियों एवं समूहों को गतिशीलता के अवसर प्रदान करे।

सामाजिक गतिशीलता: व्यक्तियों अथवा समूहों में सामाजिक प्रस्थितियों के संदर्भ में हुआ बदलाव।

प्रायोजित गतिशीलता: सरकार द्वारा समाज की सामाजिक एवं आर्थिक दृष्टि से पिछड़ी जनसंख्या के लिए आरक्षण/सकारात्मक असमानता/संरक्षणात्मक असमानता की नीति द्वारा उत्पन्न अथवा संचालित गतिशीलता भारत में यह अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजातियों के लिये की गयी है।

लम्बवत् गतिशीलता: सामाजिक क्रम विन्यास की स्थापित व्यवस्था को प्रभावित करने वाला बदलाव जो व्यक्तियों अथवा समूहों के मध्य एक प्रस्थिति से दूसरी प्रस्थिति की तरफ जाने के कारण उत्पन्न होता है।

10.9 उपयोगी पुस्तकें

सौरोकिन, पिट्रिम. ए. 1950. *सोश्यल एण्ड कल्चरल मोबिलिटी ग्लेनका* : द फ्री प्रेस ऑफ ग्लेनका।

गोल्डामेर, हरबर्ट. सोश्यल मोबिलिटी: *इन्टरनेशनल एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोश्यल साइंसेज*, भाग 14।

मैट्राज, जुड़ा. 1975. *सोश्यल इनइक्विलिटी: स्ट्रेटीफिकेशन एण्ड मोबिलिटी*, एंगलवुड क्लिफस: प्रिन्टिस हाल।

10.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) भौगोलिक गतिशीलता– अ, द.
   सामाजिक गतिशीलता– ब, स.
2) क्षैतिज गतिशीलता– ब, द.
   लम्बवत् गतिशीलता– अ, स.
3) विद्यार्थियों से अनुरोध है कि स्वयं के उदाहरण दें।
4) विद्यार्थियों से अनुरोध है कि स्वयं के उदाहरण दें।
5) व्यक्ति की उन्नति एवं समूह की उन्नति/चढ़ाव एवं व्यक्ति की अवनति तथा समूह की अवनति/उतार

बोध प्रश्न 2

1) i) धार्मिक संस्थाएं
   ii) शैक्षणिक संस्थाएं
   iii) राजनीतिक संस्थाएं
   iv) आर्थिक संस्थाएं
   v) विवाह एवं परिवार संस्थाएं
2) वे तीन माध्यम जिनके द्वारा शैक्षणिक संस्थाएं उच्चस्तरीय सामाजिक गतिशीलता की अनुमति देती है।
   अ) जब शिक्षा संस्थाएं व्यक्ति को निम्न प्रस्थिति से उच्च प्रस्थिति को प्राप्त करने हेतु बदलाव की अनुमति प्रदान करती है।
   ब) जब शिक्षा संस्थाएं समाज के उच्च स्तृत समूहों को ही गतिशीलता की अनुमति प्रदान करती है।
   स) जब शिक्षा संस्थाएं प्रायोजित गतिशीलता के द्वारा सामाजिक गतिशीलता उत्पन्न करती है।
3) अन्त:पीढ़ी एवं अन्तरापीढ़ी गतिशीलता
   विद्यार्थियों से अनुरोध है कि स्वयं के उदाहरण दें।
4) धार्मिक प्रस्थिति, शैक्षणिक प्रस्थिति, राजनीतिक प्रस्थिति, आर्थिक प्रस्थिति, विवाह एवं पारिवारिक प्रस्थिति।

5) i) र
ii) अ
iii) द
iv) य
v) ब
vi) स

इकाई 11 पूर्व-आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

संरचना

11.0 उद्देश्य
11.1 प्रस्तावना
11.2 पूर्व-आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता
11.3 दासता एवं सामाजिक गतिशीलता : रोम एवं एथेन्स
  11.3.1 प्राचीन दासता की परिभाषा
  11.3.2 दासता के अन्तर्गत गतिशीलता
  11.3.3 दासता के बाह्य परिवेश में गतिशीलता
11.4 जागीर व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता : यूरोप
  11.4.1 जागीर व्यवस्था में स्तरीकरण
  11.4.2 जागीर व्यवस्था में गतिशीलता
11.5 जाति व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता : भारत
  11.5.1 जाति के महत्वपूर्ण पक्ष
  11.5.2 परम्परागत भारत में जाति गतिशीलता
11.6 वर्ग व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता : परम्परागत चीन
  11.6.1 परम्परागत चीन में वर्ग
  11.6.2 उच्चस्तरीय गतिशीलता : कृषक से कुलीन वर्ग
  11.6.3 निम्नस्तरीय गतिशीलता : कुलीन से कृषक वर्ग
11.7 सारांश
11.8 शब्दावली
11.9 उपयोगी पुस्तकें
11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

11.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के उपरान्त आपको निम्नलिखित बातों की जानकारी होगी–

- पूर्व-आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता का अर्थ
- दासता एवं सामाजिक गतिशीलता के मध्य सम्बन्ध
- यूरोप की जागीर व्यवस्था के संदर्भ में सामाजिक गतिशीलता
- भारत की जाति व्यवस्था के संदर्भ में सामाजिक गतिशीलता का विश्लेषण
- परम्परागत चीन की वर्ग प्रणाली में सामाजिक गतिशीलता के मुख्य पक्ष।

11.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम पूर्व-आधुनिक समाजों में गतिशीलता का अध्ययन करेंगे। हम इस इकाई का प्रारम्भ रोम एवं एथेन्स में गतिशीलता प्रतिमानों के विवेचन से करेंगे। तत्पश्चात् हम प्राचीन दासता की विशेषताओं को परिभाषित करेंगे एवं दासता से सम्बद्ध गतिशीलता के पक्षों का परीक्षण करेंगे।

इसके उपरान्त हम सामन्ती यूरोप में पायी गयी जागीर व्यवस्था में गतिशीलता का उल्लेख करेंगे। हम जागीर व्यवस्था में पाये गये स्तरीकरण का विवेचन करेंगे तथा इस व्यवस्था में विद्यमान गतिशीलता प्रतिमानों की चर्चा करेंगे।

तत्पश्चात् हम भारत में जाति-व्यवस्था में विद्यमान गतिशीलता का उल्लेख करेंगे। जाति के विभिन्न पक्षों तथा जाति गतिशीलता का हम परीक्षण करेंगे। अन्त में हम परम्परागत चीन में पाये गये वर्गों का मूल्यांकन करेंगे तथा गतिशीलता प्रतिमान का जो परम्परागत चीन की प्रणाली से सम्बद्ध रहे हैं, मूल्यांकन करेंगे। इस इकाई में इस प्रकार हम पूर्व-आधुनिक समाजों में गतिशीलता के विभिन्न पक्षों का विवेचन आपके सम्मुख प्रस्तुत करेंगे।

पूर्व-आधुनिक समाजों में गतिशीलता की प्रकृति तथा विस्तार की उपयुक्त समझ आपको आधुनिक समाजों में गतिशीलता सम्बन्धी इकाई को समझने में सहायक होगी। परिणामस्वरूप आप पूर्व-आधुनिक एवं आधुनिक समाजों में गतिशीलता की प्रकृति की तुलना कर सकने में सक्षम होंगे।

11.2 पूर्व-आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

इकाई-10 के आधार पर आप इस तर्क को जान चुके हैं कि सामाजिक गतिशीलता की दृष्टि से "पूर्णतया बन्द एवं पूर्णतया खुले" समाजों की चर्चा करना गलत होगा। सामाजिक स्तरीकरण की बन्द व्यवस्थाओं में किसी न किसी स्तर/दर की गतिशीलता पायी जाती है। इसी प्रकार सामाजिक स्तरीकरण की "खुली" व्यवस्थाओं में गतिशीलता से सम्बद्ध प्रतिबन्ध किसी-किसी स्तर पर विद्यमान होते हैं। अतः सामाजिक स्तरीकरण की पूर्व-आधुनिक व्यवस्थाओं जैसे दासता, जागीर एवं जाति के विषय में यह अनुमान त्रुटिपूर्ण होगा कि इन व्यवस्थाओं में सामाजिक गतिशीलता के अवसरों का पूर्णतया अभाव है।

पूर्व-आधुनिक एवं आधुनिक दोनों ही समाजों में वर्ग स्तरीकरण की व्यवस्था पायी जाती है। हमारी यह इकाई स्तरीकरण की चार प्रमुख व्यवस्थाओं का विवेचन करेगी। गतिशीलता के उन प्रकारों को जो पूर्व-आधुनिक समाजों में विद्यमान थे, हम पूर्व-आधुनिक युग की विशेषताओं के रूप में इस विवेचन द्वारा समझ सकेंगे। यह इकाई रोम एवं एथेन्स में पायी गयी दासता, प्राचीन यूरोप की जागीर व्यवस्था में गतिशीलता, परम्परागत भारत में जाति व्यवस्था में गतिशीलता के परीक्षण द्वारा पूर्व-आधुनिक समाज की गतिशीलता की विशेषताओं को भी स्पष्ट करती है अन्त में हम प्राचीन चीन की वर्ग-व्यवस्था में गतिशीलता की प्रकृति का मूल्यांकन करेंगे।

हम कुछ पूर्व-आधुनिक समाजों में स्तरीकरण के सामान्य पक्षों की चर्चा के साथ अपना विवेचना प्रारम्भ करते हैं। 7000 ई.पू. के लगभग शिकार एवं फल संकलन की प्रणाली पर आधारित समाज थे (इस समाज की एवं अन्य पूर्व-आधुनिक समाजों की विस्तार से चर्चा ई.एस.ओ.-04 के ब्लाक 2 की इकाई-6 में की गयी है)। इस समाज की इकाइयाँ एक स्थान से दूसरे स्थान पर घूमती रहती थीं तथा जानवर का शिकार एवं फल इत्यादि का संकलन करती थीं। वे भोजन का संरक्षण नहीं कर सकती थीं। इस समाज में स्तरीकरण आंशिक था एवं "आदिम साम्यवाद" की स्थिति थी। व्यक्तिगत सम्पत्ति सीमित थी। भोजन में वितरण-सहभागिता का स्वरूप संस्थागत था। इस प्रकार की प्रस्थिति व्यवस्था उच्चस्तरीय गतिशीलता हेतु अत्यन्त "खुली" थी जो मुख्यतः व्यक्ति की निजी योग्यता पर आधारित थी।

तत्पश्चात् बागवानी पर आधारित समाज अस्तित्व में आये। इस समाज की जनसंख्या अपना भोजन स्वयं जुटाती थी। ये समाज 7000 ई.पू. से 30,000 ई.पू. के मध्य अत्यन्त विकसित हुए। ये समाज घुमन्तु गतिशीलता न होकर स्थायी थे। स्तरीकरण भी अपेक्षाकृत व्यापक था। परन्तु व्यक्तिगत सम्पत्ति का स्वरूप विकसित न होने के कारण प्रस्थिति अन्तर में अधिक असमानता नहीं थी।

कृषक समाज जो 3000 ई.पू. से 1800 ई. के काल में उत्पन्न एवं विकसित हुए, अधिक व्यवस्थित एवं सुविकसित थे। खेत विशाल क्षेत्रों में फैले हुए थे। उपज अच्छी थी एवं अतिरिक्त उत्पादन भी होता था। इस काल में दास, जाति एवं जागीरें वर्ग की भाँति अस्तित्व में आयीं। अब हम रोम एवं एथेन्स में दासता तथा गतिशीलता का विश्लेषण करेंगे।

11.3 दासता एवं सामाजिक गतिशीलता : रोम एवं एथेन्स

दासता की संस्था का मूल्यांकन पूर्व-आधुनिक एवं आधुनिक समाज के संदर्भ में किया जा सकता है। पूर्व-आधुनिक समाज को प्राचीन समाज भी कहा जा सकता है। यहाँ हमारा विवेचन केवल रोम एवं एथेन्स के प्राचीन दासता के उदाहरणों पर केन्द्रित है। आधुनिक दासता, उदाहरण के लिए, 18वीं शताब्दी के ब्रिटेन एवं अमेरिका के समाज की विशेषता थी।

सबसे पहले हम दासता के अर्थ को समझेंगे। एक दास वह व्यक्ति है जो कानून एवं प्रथाओं के द्वारा विधि सम्मत रूप में दूसरे व्यक्ति की सम्पत्ति है। दास एक "अधिकार विहीन" व्यक्ति था। अतः दासता चरम स्तर की असमानता को व्यक्त करती है जहाँ व्यक्तियों का एक समूह पूर्णरूपेण अधिकार विहीन होता है। प्राचीन यूनान एवं रोम के समाज दास व्यवस्था के उदाहरण हैं। प्रत्येक "स्वामी" के पास अपने दास थे जिनको विधि अनुसार वह अपनी इच्छानुसार प्रयोग में लाने का अधिकारी था। स्वतंत्र दास को जिस प्रकार राजनीतिक अधिकार प्राप्त थे दास को ऐसे कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे। वस्तुतः दास को सदैव घृणा एवं तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था। दासता पर आधारित व्यवस्था की एक मुख्य विशेषता उसका आर्थिक आधार रहा है। दासता एक प्रभावशाली व्यवस्था नहीं थी। मनुष्य एक सम्पत्ति के रूप में तथा मनुष्य एक व्यक्ति के रूप में इस व्यवस्था में अधिकारों के संदर्भ में संघर्षरत रहा। इस व्यवस्था में ऋणी दास एवं दास के मध्य अन्तर विद्यमान था। "ऋणी दास" वह व्यक्ति था जो अपराधी था। धीरे-धीरे पूर्व-आधुनिक समाजों में दास को अधिकार प्राप्त होने लगे एवं कठोर अमानुषिक दंड से उसे पृथक भी रखा जाने लगा। बिना शर्त स्वतंत्रता प्रदान करने जैसे प्रावधान भी दासों के संदर्भ में उत्पन्न हुए। रोम साम्राज्य में इन सभी परिवर्तनों को चर्च का समर्थन प्राप्त था।

11.3.1 प्राचीन दासता की परिभाषा

दासता की संस्था में गतिशीलता के प्रकार का अध्ययन करने के पूर्व प्राचीन दासता की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख आवश्यक हो जाता है ताकि इस आधुनिक दासता से पृथक किया जा सके, अथवा दोनों में अन्तर स्पष्ट किये जा सकें। "दासता" प्रायः "पराधीन/गैर स्वतंत्र श्रम" के रूप में परिभाषित की जाती है। प्राचीन समाज में दासता की यह परिभाषा उपयुक्त प्रतीत नहीं होती क्योंकि व्यवसायी, प्रोफेसर, कलाकृति निर्माता, संगीतज्ञ भी श्रमिकों के अतिरिक्त दास थे। प्राचीन समाज में दास को नागरिक की विपरीत इकाई के रूप में परिभाषित किया जाता था। "दास" की कोई प्रस्थिति नहीं थी जबकि प्रत्येक "गैर-दास" को स्वतंत्र नागरिक की प्रस्थिति प्राप्त थी। इसके अतिरिक्त प्राचीन दासता में निम्नलिखित विशेषताएँ थीं।

1) समाज अथवा नगर-राज्य के अन्तर्गत दास को कोई अधिकार प्राप्त नहीं थे।

2) दास वह व्यक्ति था जो नागरिकों से सम्बन्धित था।

3) दास की वैधानिक प्रस्थिति नहीं थी एवं वह कोई वैधानिक अपील नहीं कर सकता था।

4) दास को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं थे।

प्राचीन गणतांत्रिक रोम में, दास जनसंख्या के एक छोटे एवं गैर-महत्वपूर्ण समूह के रूप में थे। इनकी परम्परागत भूमिका सेवक की थी। इस काल में एक मुख्य विभेद "पैट्रिशियन" एवं "प्लेबियन" के मध्य उत्पन्न हुआ। पैट्रिशियन भूस्वामी थे जबकि "प्लेबियन" भूमिहीन अथवा "पैट्रिशियन" के किरायेदार थे। केवल "पैट्रिशियन" को राजनैतिक पदों पर चुना जाता था एवं सेना में उन्हें नियुक्त किया जाता था। प्लेबियन पूर्णरूपेण नागरिक नहीं थे परन्तु वह दास भी नहीं थे। दोनों समूहों के मध्य विवाह वैधानिक रूप से निषिद्ध था। कुछ समय के उपरान्त "प्लेबियन" ने संघर्ष किया ताकि सेना में सेवा करके नागरिकता प्राप्त की जा सके।

रोम के विस्तार के काल में अनेक "प्लेबियन" सेना में नियुक्ति प्राप्त कर सके। 450 ई.पू. में "पैट्रिशियन" एवं "प्लेबियन" के मध्य विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध समाप्त हो गये।

"प्लेबियन" धीरे-धीरे नागरिकता प्राप्त कर रहे थे। यह नागरिकता सेना में नियुक्ति पाकर एवं व्यक्तियों पर विजय अर्जित कर प्राप्त हो रही थी। परिणामस्वरूप दासों की संख्या में वृद्धि हुई। अधिकांश दास युद्ध कैदी थे एवं अनेक दासों का दास बाजार से खरीदा गया था। दास गैर-नागरिक थे अतः उन्हें हथियार रखने का कोई राजनैतिक अधिकार नहीं था।

रोम एवं एथेन्स दोनों समाजों में दास केवल राजनीतिक एवं सैन्य-व्यवसाय के अतिरिक्त अन्य सभी व्यवसायों में संलग्न थे। जिन व्यवसायों में दास संलग्न थे, उन व्यवसायों में स्वतंत्र दास/व्यक्ति (फ्रीमैन) भी संलग्न थे। अतः एथेन्स में अनेक दास बैंक-प्रबंधक, लिपिक, दुकानदार, शिल्पकार एवं व्यावसायिक प्रतिनिधि के रूप में कार्यरत थे। रोम में दास अग्निशमन, व्यापार एवं व्यवसाय में संलग्न थे।

11.3.2 दासता के अन्तर्गत गतिशीलता

प्राचीन समाज में दासता की प्रकृति समरूपीय नहीं थी। दास विभिन्न आर्थिक स्तरों से सम्बद्ध थे। उदाहरण के लिए, साम्राज्यवादी रोम में एक दास की सत्ता एवं आर्थिक प्रस्थिति इस आधार पर निर्धारित होती थी कि दास का स्तर क्या है (सम्राट का अथवा राज्य का दास, म्यूनिसिपले अथवा निजी दास) उसकी व्यावसायिक श्रेणी क्या है, उसके स्वामी के पास धन/सम्पत्ति कितनी है तथा "पैकुलियम" के प्रबन्धक के रूप में उसकी योग्यता क्या है? पैकुलियम एक संस्था थी, जहाँ से कुछ धनराशि अथवा सम्पत्ति दास को प्रदान की जाती थी। स्वामी निर्णय के आधार पर लाभ का विभाजन स्वामी एवं दास के मध्य होता था। कुछ दास इस कारण से अधिक धनवान हो गये। यहाँ तक कि उन्होंने अपना धन उसी व्यवसाय में अथवा अन्य व्यवसायों में विनियोजित कर दिया। अतः कम प्रतिष्ठित दासों में यह आकांक्षा उत्पन्न हुई कि वे उच्च दास की प्रस्थिति को प्राप्त करें। धनी दास स्वयं अपने पास भी दास रख सकते थे। वस्तुतः ऐसे दास अन्य निर्धन नागरिकों की तुलना में अधिक सुरक्षित थे। दासों के साथ व्यवहार भी व्यवसाय की प्रकृति के आधार पर परिवर्तित होता था।

11.3.3 दासता के बाह्य परिवेश में गतिशीलता

दास की प्रस्थिति से गतिशीलता दो पद्धतियों द्वारा ही सम्भव थी।

1) **दासता से स्वतन्त्रता (Manumission)** : यह एक सामान्य एवं स्वीकृत प्रणाली थी जिसके अन्तर्गत दास को दासता की प्रस्थिति से बिना शर्त छोड़ दिया जाता था।

2) **दास विद्रोह** : एथेन्स अथवा प्राचीन रोम में जब भी दास-विद्रोह हुए उनका मुख्य उद्देश्य दासता की असहनीय प्रस्थिति से स्वयं को मुक्त करना था। नवीन सामाजिक व्यवस्था को निर्मित करना उनका कभी भी उद्देश्य नहीं था। विद्रोही दासों ने अपने पदों को त्याग कर भागने/बचने का प्रयास किया। इस सबके मूल में देश के प्रति भावना विद्यमान थी अथवा भागने/बचने के प्रयास हेतु वे स्वयं को दस्यु/डाकू के रूप में अस्तित्व में लाने लगे। जब वे रोमन स्वामियों को परास्त करने में सफल हो गये तो उन्होंने स्थापित व्यवस्था का अनुकरण कर वैसी ही व्यवस्था को उत्पन्न किया। अतः वे स्वयं स्वामी बन गये तथा उनके विरोधी दास बन गये।

11.4 जागीर व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता : यूरोप

"जागीर" की अवधारणा औपचारिक रूप में क्रांति के पूर्व के फ्रांस में प्रयुक्त हुई। यहाँ जागीर का अर्थ उच्च स्तर के रूप में प्रस्तुत किया गया। तत्पश्चात् यूरोप में प्रत्येक स्थान पर जागीर को उच्च स्तर के अर्थ में ही प्रयुक्त किया गया। यूरोप की जागीर व्यवस्था की निम्नलिखित विशेषताएँ थी–

1) एक प्रस्थिति व्यवस्था जो वैधानिक रूप से परिभाषित थी। इस व्यवस्था में कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्वों एवं विशेषाधिकारों का प्रावधान था।

2) जागीर व्यवस्था एक सामान्य श्रम विभाजन से सम्बद्ध थी। पुरोहित वर्ग योद्धा/शासक

वर्ग के मोक्ष/मुक्ति के लिए प्रार्थना करता था। शासक/योद्धा वर्ग जागीर की रक्षा करता था तथा सामान्य वर्ग सभी वर्गों के लिए खाद्य सामग्री का उत्पादन करने हेतु श्रम करता था। श्रमिक शोषित जनता के अंग थे।

3) सामन्ती जागीर एक राजनीतिक इकाई भी थी। क्लासिकल सामन्तवाद में केवल शासक/योद्धा एवं पुरोहित/पादरी वर्गों का ही अस्तित्व था। क्लासिकल सामन्तवाद के पतन के साथ नगरों में निवास करने वाली जनता (नगर निवासी अथवा Burghers) अस्तित्व में आयी। इस व्यवस्था में कृषक की आंशिक आर्थिक स्थिति थी। कम उपज एवं अत्याधिक करों ने कृषकों की समस्याओं में और वृद्धि की। अब हम जागीर व्यवस्था की व्यापक रूप में चर्चा करेंगे।

11.4.1 जागीर व्यवस्था में स्तरीकरण

प्रारम्भ में जागीर व्यदस्था में स्वतंत्र व्यक्तियों को चार स्तरों में वर्गीकृत किया गया था। ये स्तर निम्नलिखित थे–

i) राजा एवं कुलीन वर्ग

ii) योद्धा

iii) पुरोहित एवं

iv) सामान्य जन

चारों स्तरों का आर्थिक आधार भूमि-स्वामित्व था। इन सबके अन्त में पराजित कृषक थे क्योंकि जागीर व्यवस्था विजय पर आधारित थी। कुछ कृषक बिना किसी प्रकार के अधिकारों वाले दास बन गये। कुछ कृषकों ने अपनी भूमि के कुछ भाग पर अपने अधिकार को बनाये रखा। ऐसे कृषक स्वतंत्र दास बन गये। इन अर्द्ध दास/स्वतंत्र दासों ने अपने भू-स्वामियों में आस्था को अभिव्यक्त किया था।

जागीर व्यवस्था के विकास के दौर में व्यापार के रूप में धन का एक वैकल्पिक स्रोत उत्पन्न हुआ। इस वैकल्पिक स्रोत की उत्पत्ति ने व्यापारी के रूप में एक नवीन स्तर को उत्पन्न किया जो स्वतंत्र कृषकों से तो उच्च था परन्तु योद्धाओं से निम्न था। साथ ही, शिल्पकार/कारीगर के रूप में भी एक स्तर उत्पन्न हुआ जो व्यापारी स्तर से तो भिन्न था परन्तु स्वतंत्र कृषकों से उच्च था। योद्धा, सामान्य जन एवं दास कानूनी दृष्टि से वंशानुक्रम पर आधारित स्तर थे। पुरोहित वर्ग भी मुख्यतया वंशानुगत था। व्यापारी एवं कारीगरों ने भी अपनी अस्मिता को स्थापित करने के उपरान्त अपने क्रम-विन्यास को प्रगतिशील बना लिया और इन समूहों का चरित्र भी वंशानुगत प्रकृति का हो गया। अतः जागीर व्यवस्था में सभी स्तर "बन्द समूहों" के रूप में उभर कर आये।दूसरे शब्दों में कम से कम सैद्धांतिक दृष्टि से एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर गतिशीलता जागीर व्यवस्था में सम्भव नहीं थी।

11.4.2 जागीर व्यवस्था में गतिशीलता

इस व्यवस्था में प्रदत्त प्रस्थिति थी जो माता-पिता से बच्चों को हस्तान्तरित हो जाती थी। प्रदत्त प्रस्थिति को जागीर व्यवस्था में परिवर्तित भी किया जा सकता था। अतः इसमें सामाजिक गतिशीलता सम्भव थी एवं स्थायित्व इस व्यवस्था में सदैव अस्थायी प्रकृति की थी। जागीर व्यवस्था में गतिशीलता के सम्भावित माध्यम निम्नलिखित थे।

1) **निपुणता के परिणामस्वरूप :** यह एक वैधानिक दृष्टि से स्वीकृत कृत्य था जो एक व्यक्ति को अधिकार देता था कि वह दूसरे व्यक्ति की प्रस्थिति को परिवर्तित कर दे। उदाहरण के लिए,शासक अर्द्ध/स्वतंत्र दास की अच्छी सेवाओं से प्रभावित होकर उसे भूमि का खंड प्रदान कर सकता था। यह स्थिति उसे योद्धा तक की प्रस्थिति प्राप्त करने में सहायक हो जाती थी अर्थात् स्वतंत्र दास को योद्धा बनने के अवसर किसी न किसी स्तर पर प्राप्त थे।

2) **दासता से मुक्ति (Manumission) :** जागीर व्यवस्था में दासता से मुक्ति एक सामान्य प्रणाली थी। इसके अन्तर्गत स्वामी दास को स्वतंत्र कर देता था। यद्यपि दासता से मुक्ति दासों के लिए सदैव ठीक नहीं थी। एक अस्वस्थ एवं वृद्ध दास की

मुक्ति क्रूरता से पूर्ण कृत्य था। वस्तुतः ऐसे दासों को मुक्त किया जाना एक वेदनापूर्ण स्थिति थी क्योंकि वे दास स्वयं अपनी देखभाल करने में असमर्थ थे। फिर भी, दासता से मुक्ति स्वामियां द्वारा अच्छी भावना के आधार पर किया गया कृत्य कहा जा सकता है। वस्तुतः रोमन गणतन्त्र के अन्तिम काल में दासता से मुक्ति एक स्वीकृत प्रथा के रूप में स्वामियों के व्यवहार का अंग बन गयी। स्वामी अपनी अन्तिम इच्छा के रूप में दासों को मुक्त कर देते थे। दासों की इस प्रकार की सामूहिक मुक्ति ने जागीर से सम्बद्ध स्तरीकरण व्यवस्था पर महत्वपूर्ण प्रभाव डाला।

3) **संघों में गतिशीलता :** प्राचीन काल की जागीर प्रथा में व्यवसाय में परिवर्तन करने में कोई बाधा नहीं थी। विशेषतः नगरीय क्षेत्रों में शिल्पकार/कारीगर व्यापारी जैसे व्यवसायों में परिवर्तन की सम्भावनाएँ थी क्योंकि इन्हें कोई भी सामाजिक इकाई अपना सकती थी। मध्यकाल में, व्यावसायिक संघ अत्यंत शक्तिशाली हो गए। किसी भी व्यावसायिक संघ की सदस्यता का निर्धारण जन्म से होने लगा। प्रदत्त प्रस्थिति के अतिरिक्त अन्य किसी प्रक्रिया द्वारा व्यावसायिक संघ की सदस्यता ग्रहण करना लगभग असंभव था। फिर भी, बाह्य समूह के सदस्य से विवाह संबंध, व्यावसायिक संघ की सदस्यता का विस्तार करने की आवश्यकता एवं व्यावसायिक संघों में शिल्पी अथवा कारीगरों की पदोन्नती वे कारक थे जिनसे गतिशीलता की स्थितियाँ उत्पन्न हुई।

4) **उच्च श्रेणी में गतिशीलता :** राजशाही के शासन के अंतर्गत जागीर प्रथा में उच्च श्रेणी में गतिशीलता व्यापक थी जबकि गणतंत्रीय कुलीन तंत्र के शासन में गतिशीलता अपेक्षाकृत सीमित थी। यह इसलिए संभव हो सका क्योंकि राजा अपने राजतंत्र को प्रतिष्ठा एवं स्थिरता प्रदान करने के लिए लोगों को अधिक पदोन्नतियाँ प्रदान करता था। राजा को इन पदोन्नतियों के द्वारा स्वामी भक्त एवं प्रतिबद्ध कुलीनतंत्र के स्थान पर एक संपूर्ण नवीन कुलीनतंत्र को उत्पन्न किया जो कि पुराने कुलीनतंत्र से विपरीत था। अतः यूरोपीय जागीर व्यवस्था में उच्च श्रेणियों में गतिशीलता की दर उच्च थी जिसके लिए उत्तरदायी दो कारकों की चर्चा की जा सकती है–

   1) व्यक्तियों ने पदोन्नति पाने के लिए अथक प्रयास किए क्योंकि पदोन्नतियों ने उन्हें उच्च प्रस्थिति एवं विशेषाधिकार प्राप्त करने में सहायता प्रदान की।

   2) शासकों ने अपने विशेषाधिकारों का प्रयोग दयालुता दिखाने के लिए किया। उनके इन कार्यों ने न केवल उनकी शक्ति में वृद्धि की अपितु, एक ऐसा कुलीन वर्ग उत्पन्न किया जो उनके प्रति समर्पित था।

गणराज्यों वाले कुलीनतंत्रीय शासन में गतिशीलता कम हो गई क्योंकि इस व्यवस्था में कुछ परिवार समस्त महत्वपूर्ण राजनीतिक पदों पर अपना अधिकार रखते थे। इस व्यवस्था में पदों को अन्य व्यक्तियों को देने का अभिप्राय शक्ति का निर्बल होना था।

5) **विवाह :** विवाह केवल स्त्रियों के लिए सामाजिक गतिशीलता का एक माध्यम था। निम्न प्रस्थितियों की स्त्रियों ने उच्च प्रस्थिति समूहों में विवाह कर उच्च प्रस्थिति प्राप्त की। उदाहरण के लिए, हाइजैंटिन के शासक रोमानोस ने एक सेविका की पुत्री से विवाह किया जो कि जर्मन शासक ओटो-II की बाद में सास बनी। इसी प्रकार से कवि चाओसर की पौत्री ने सफफोल्क के ड्यूक से विवाह किया।

बोध प्रश्न 1

1) पूर्व आधुनिक समाजों की चार सामाजिक स्तरीकरण का उल्लेख करें।

.....

.....

.....

.....

2) प्राचीन समाजों में पाई जाने वाली दासता को परिभाषित करें।

.....

.....

.....

.....

3) प्राचीन रोम एवं एथेन्स में पाए जाने वाली दासों के व्यवसायों का उल्लेख करें।

.....

.....

.....

.....

4) दासता के अंतर्गत गतिशीलता कैसे संभव थी?

.....

.....

.....

.....

11.5 जाति व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता : भारत

सामान्यतः यह तर्क दिया जाता है कि परंपरागत भारत में जाति व्यवस्था अत्यंत संकुचित थी तथा इसमें किसी भी प्रकार की गतिशीलता का प्रावधान नहीं था। परिणामस्वरूप जाति व्यवस्था को आधुनिक पश्चिमी समाजों की वर्ग व्यवस्था की तुलना में स्तरीकरण की "बंद व्यवस्था" की संज्ञा दी जाती है। समाजशास्त्रियों ने भारत में जो अध्ययन किए हैं उनसे पता लगता है कि जाति में अगतिशीलता का तर्क भ्रांतिपूर्ण है। उनका मत है कि भारत में परंपरागत जाति व्यवस्था में भी गतिशीलता पाई जाती थी। इतना अवश्य है कि ब्रिटिश शासन स्थापित होने के उपरांत गतिशीलता के नवीन अवसर व्यक्तियों को प्राप्त हुए। परंतु यहाँ हमारा अभिप्राय केवल परंपरागत जाति गतिशीलता की प्रकृति एवं स्वरूप से है जो पूर्व ब्रिटिश कालीन भारत में विद्यमान थी।

11.5.1 जाति के महत्वपूर्ण पक्ष

जाति संबंधी अध्ययन का महत्वपूर्ण पक्ष वर्ण एवं जाति के भेद से संबद्ध है जो कि गतिशीलता के अध्ययन का महत्वपूर्ण भाग है। वर्ण संपूर्ण भारत में प्राचीन ग्रंथों के दृष्टिकोण पर आधारित स्तरीकरण का प्रारूप है। प्राचीन ग्रंथों के आधार पर ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में चार स्तर पाए जाते हैं जबकि जाति का अभिप्राय स्थानीय स्तर पर पाए जाने वाले समूहों से है। इस समूहों को जाति कहते हैं। उपजाति अथवा उप-उपजाति गाँव एवं नगरों में पाई जाती है जिनकी संख्या सैकड़ों में है। वर्ण व्यवस्था जाति व्यवस्था की पाँचवी महत्वपूर्ण श्रेणी अस्पृश्य की उपेक्षा करती है। सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में हमारे विचार का केंद्र वर्ण के स्थान पर जाति है।

11.5.2 परंपरागत भारत में जाति गतिशीलता

परंपरागत काल में यद्यपि भारतीय समाज सापेक्षिक दृष्टि से स्थिर था परंतु जाति गतिशीलता संभव थी। यह गतिशीलता उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय दोनों ही रूपों में संभव थी। जाति व्यवस्था में गतिशीलता के चार कारक थे:

1) **राजनीतिक व्यवस्था में लचीलापन** : परंपरागत भारत की राजनीतिक प्रणाली अत्यंत लचीली थी। विशेषतः निचले स्तर पर यह लचीलापन व्यापक स्तर पर था। यह पूर्व-आधुनिक प्रौद्योगिक एवं संस्थाओं के कारण था। साम्राज्य चूँकि काफी विस्तृत थे अतः राजा के लिए आवश्यक था कि वह अपनी सत्ता अपने अधीनस्थों को प्रदान करे अथवा वितरित करे। राजनीतिक स्वामिभक्ति अथवा प्रतिबद्धताएँ अनवरत रूप से परिवर्तनशील थी तथा युद्ध भी अनवरत थे। राजा की मृत्यु के उपरांत उच्च पदाधिकारियों के प्रयास रहते थे कि वे स्वाधीनता की घोषणा कर दें एवं कर प्रदान करना तथा प्रतिबद्धता अभिव्यक्त करना बंद कर दें जबकि राजा के जीवित होने की स्थिति में यही उच्च पदाधिकारी अपनी स्वामिभक्ति तथा प्रतिबद्धता को अभिव्यक्त करते थे।

अतः प्रभुत्व जातियों एवं जनजातियों के नेताओं की राजनीतिक शक्ति के छीने जाने की संभावनाएँ अधिक हो जाती थीं। मराठा, रेड्डी, वैल्लाल, नायर, कुर्ग, पाटीदार इत्यादि प्रभुत्व जातियों का इस परिप्रेक्ष्य में हम उल्लेख कर सकते हैं। उदाहरण के लिए, मुगल सम्राट औरंगजेब की मृत्यु एवं गुजरात में पेशवा स्थापना के मध्य का काल (1707-1768) उच्च पद पर आसीन मुसलमान अधिकारी एवं राजा, मराठा एवं राजपूत प्रमुखों के मध्य के संघर्ष का काल है। कुछ मुस्लिम शासकों ने कांबे, पालनपुर एवं राधानपुर जैसे क्षेत्रों में अपने छोटे-छोटे राज्य स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। गुजरात के अधिकांश मैदानी भागों में मराठा शासन का नियंत्रण स्थापित हो गया था। जब प्रभुत्व जातियों एवं समूहों ने इस प्रकार राजनीतिक नियंत्रण में सफलताएँ प्राप्त की तो अपने-अपने भौगोलिक क्षेत्रों में संबंधित व्यक्तियों एवं समूहों को उच्चस्तरीय गतिशीलता के अवसरों की प्राप्ति में वृद्धि भी हुई। यह गतिशीलता सामान्यतया संस्कृतिकरण की प्रक्रिया को उत्पन्न करती है जिसकी चर्चा हम आगे करेंगे।

राजा के पास यह शक्ति भी थी कि वह पुरस्कार के रूप में जाति के क्रम को उच्च कर दे एवं दंड के रूप में जाति के क्रम को निम्न कर दे। उदाहरण के लिए, कोचीन के महाराजा के पास यह अधिकार था कि वह अपने राज्य में किसी भी जाति के क्रम अथवा पद को उच्च कर दें तथा जाति में से किसी व्यक्ति को निष्कासन के लिए महाराजा की स्वीकृति आवश्यक थी। महाराजा ने चमार जाति के कुछ सदस्यों को नायर जाति का पद प्रदान कर दिया। ये सदस्य महाराजा एवं उनके सहायक पुर्तगाली समूहों की सहायता करते थे ताकि महाराजा के प्रतिद्वंद्वी कालीकट के राजा जमोरिन के सम्मुख समस्याएँ उत्पन्न कराई जा सके।

जब ब्राह्मण शक्तिशाली थे तब राजा को कुछ समय समायोजन एवं समझौते भी करने पड़ते थे। प्रतिष्ठा से संबद्ध कोई विवाद एवं अपराधी को उपयुक्त दंड देने की प्रक्रिया में राजा शिक्षित ब्राह्मणों से सलाह करते थे। परंतु निर्णय के क्रियान्वयन का अधिकार राजा का था।

विभिन्न जातियाँ पराजय के उपरांत नवीन भौगोलिक क्षेत्रों में जाकर बस जाती थीं और उन क्षेत्रों में स्वयं को शासक के रूप में स्थापित कर उच्च जाति-प्रस्थिति का दावा करती थीं। ब्रिटिश शासकों ने भी अपने आदेशों द्वारा विभिन्न जातियों को उच्च प्रस्थितियाँ प्रदान की जिनकी पुष्टि 1931 तक के जनगणना प्रतिवेदनों से स्पष्ट होती है।

2) **कृषि योग्य भूमि की उपलब्धता** : राजाओं ने व्यक्तियों को प्रोत्साहित किया कि वे कृषि के लिए नवीन क्षेत्रों की खोज करें क्योंकि इस प्रकार की खोज राजा की प्रतिष्ठा में वृद्धि करती थी। यद्यपि इस कारक ने शासकों एवं स्वामियों के द्वारा राजनीतिक शोषण को कम करने में सहायता की। वे लोग जो शासकों एवं स्वामियों के शोषण का शिकार थे, भागकर नवीन क्षेत्रों में चले गए ताकि उन्हें शोषण से मुक्ति मिल सके।

परंपरागत भारत में जनसंख्या आधिक्य भी नहीं था। सन् 1800 में भारत की जनसंख्या एक करोड़ पच्चीस लाख थी अतः कृषि श्रम के क्षेत्र में अतिरिक्त दबाव नहीं था। वस्तुतः कृषि हेतु श्रमिकों को उपयुक्त संख्या में पाना कठिन कार्य थी। अतः श्रमिकों की कम संख्या, साथ ही भूमि की उपलब्धता, अत्यधिक अंशदान, प्राकृतिक प्रकोप जैसे बाढ़, सूखा, बीमारी इत्यादि ने भौगोलिक स्थानांतरण अथवा प्रवसन को अधिक अवसर दिया। इस स्थानिक-गतिशीलता ने सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि में योगदान किया। प्रत्येक गाँव में स्थानीय संस्तरण विद्यमान था तथा जो व्यक्ति नवीन क्षेत्रों में जाकर बसता था उसकी प्रस्थिति भी नवीन स्थानीय संस्तरण के संदर्भ में परिवर्तित हो जाती थी। यद्यपि गतिशीलता की इकाइयाँ व्यक्तियों के परिवार थे। जाति गतिशीलता की इकाई नहीं थी अर्थात् पूरे जातीय समूह ने कभी प्रवसन नहीं किया।

3) **संस्कृतीकरण** : उपरोक्त उल्लेखित राजनीतिक एवं आर्थिक कारकों के रूप में अभिव्यक्त किया गया है। एम.एन. श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत संस्कृतीकरण की यह अवधारणा इस प्रक्रिया से संबद्ध है "जिनके द्वारा कोई निम्न हिंदू जाति या जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च अथवा प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति-रिवाज, कर्म काण्ड, विचारधारा एवं जीवन पद्धति को परिवर्तित करता है, "(द्विज जाति का अभिप्राय उन जातीय समूहों से है जिनके सदस्यों को युवावस्था में यज्ञोवीत संस्कार करने की स्वीकृति प्राप्त है) सामान्यतया ऐसे परिवर्तनों के उपरांत वह जाति, परंपरा से स्थानीय समुदाय द्वारा

संस्तरण में जो स्थान प्राप्त हुआ है, उससे उच्च प्रस्थिति का दावा करने लगती है। संस्कृतीकरण की प्रक्रिया का संबंध निम्नलिखित तीन महत्वपूर्ण तत्वों से है :

अ) यद्यपि संस्कृतीकरण सामान्यतः संबद्ध जाति के लिए उच्च प्रस्थिति गतिशीलता को उत्पन्न करता है परंतु यह आवश्यक नहीं है कि सदैव ऐसा हो। गतिशीलता संस्कृतीकरण के बिना भी संभव है।

ब) गतिशीलता का दावा एक अवधि के उपरांत किया जाता है। सामान्यतः वर्तमान जाति प्रस्थिति से अपेक्षित उच्च प्रस्थिति की तरफ गतिशीलता में एक अथवा दो पीढ़ियों का समय लगता है।

स) संस्कृतीकरण का ब्राह्मण प्रारूप सर्वाधिक प्रभुत्वशाली प्रारूप है परंतु यह एक मात्र प्रारूप नहीं है। इस प्रारूप के अतिरिक्त क्षत्रिय प्रारूप, वैश्य प्रारूप यहाँ तक कि शूद्र प्रारूप भी क्रियाशील रहता है। विभिन्न क्षेत्रों में जो जातियाँ श्रेष्ठ अथवा प्रभुत्व जातियाँ हैं, उन्हीं की जीवन पद्धति का अनुकरण करने की आकांक्षा अन्य जातियों में पायी जाती है।

द) **कुलीन विवाह** : परंपरागत भारत में कुलीन विवाह जाति गतिशीलता का एक अन्य माध्यम था। कुलीन विवाह एक ऐसा प्रचलन है जो देश के कुछ भागों में स्वीकार्य था। इसके अनुसार उच्च जाति का पुरुष निम्नजाति की स्त्री से विवाह कर सकता था। परिणामस्वरूप, स्त्री अपने पति की जाति की सदस्य हो जाती थी। यदि कुलीन विवाह किसी समूह में नियमित रूप से प्रचलित है तब यह संभव है कि निम्न प्रस्थिति अथवा प्रतिष्ठा प्राप्त समूह को उच्च प्रतिष्ठा प्राप्त समूह के समकक्ष स्वीकार कर लिया जाए। अतः प्रारंभ में जिस जाति गतिशीलता का संबंध व्यक्ति से है, हो सकता है कि एक अवधि के उपरांत वह समूह गतिशीलता में परिवर्तित हो जाए। हमने इस प्रकार यह पाया कि परंपरागत भारत में जाति गतिशीलता के चार माध्यम थे जो कि क्रमशः राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक प्रकृति से संबद्ध थे।

निष्कर्ष रूप में हम एक महत्वपूर्ण तर्क की तरफ आपका ध्यान आकृष्ट करते हैं। परंपरागत भारत में गतिशीलता ने केवल पद संबंधी परिवर्तन को परिणाम के रूप में उत्पन्न किया जो विशिष्ट जातियों या एक जात के समूहों से संबद्ध था। इसने संरचनामूलक परिवर्तन उत्पन्न नहीं किए। जाति व्यवस्था की संरचना पर संरचना के अंतर्गत जाति समूहों की प्रस्थिति में परिवर्तनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

11.6 वर्ग व्यवस्था में सामाजिक गतिशीलता : परंपरागत चीन

वर्ग परंपरागत एवं आधुनिक दोनों ही स्तरीकरण व्यवस्थाओं का भाग है। यह एक ज्ञात तथ्य है कि वर्ग-गतिशीलता के अनेक अवसर प्रदान करती है। परंतु यह भी एक तथ्य है कि वर्ग-गतिशीलता में भी अनेक बाधाएँ हैं। यहाँ हम परंपरागत चीन में पाई जाने वाली वर्ग व्यवस्था में गतिशीलता की प्रकृति एवं क्षेत्र की चर्चा करेंगे।

11.6.1 परंपरागत चीन में वर्ग

परंपरागत चीन में निर्धन एवं समृद्ध के रूप में दो वर्ग पाए जाते थे। कृषक गरीब थे तथा जनसंख्या का बहुसंख्यक भाग इस वर्ग से संबंधित था। समृद्ध लोगों को कुलीन वर्ग की संज्ञा दी जाती थी। यह वर्ग अल्पसंख्यक था। वास्तविक उत्पादक कृषकों से भूमि का किराया एकत्रित कर यह वर्ग जीवनयापन करता था। ग्रामीण जीवन, निश्चित, स्थायी जीवन, गैर-आक्रामक चरित्र, कृषक वर्ग की विशेषताएँ थीं। कृषक लघु समूहों में जीवनयापन करते थे। पिता, माता, विवाहित एवं अविवाहित संतानों से परिवार की संरचना निर्मित होती थी जिसमें अनौपचारिकता के सम्मुख व्यक्तिवादिता का दमन किया जाता था जिसके परिणामस्वरूप नातेदारी का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण था। नातेदारी समूह विस्तृत नहीं थे। कुलीन वर्ग के साथ नगरीय जीवन, अपने विशेषाधिकारों के संरक्षण हेतु आक्रामकता तथा बड़े बंधुत्व समूहों का संगठन जैसी विशेषताएँ जुटी थी। सत्ता का स्वरूप केंद्रित एवं शक्तिशाली था, जब परिवार अत्यंत व्यापक/विस्तृत एवं विभिन्न क्षेत्रों में फैल

गए तब शक्तिशाली गोत्र समूहों की उत्पत्ति, जीवन का उच्च स्तर एवं शालीनता जैसी विशेषताएँ संबद्ध थी।

11.6.2 उच्चस्तरीय गतिशीलता : कृषक से कुलीन वर्ग

कृषक यदि विलासी जीवन जीने में सक्षम था तो कृषक वर्ग की सदस्यता त्याग कर वह व्यक्ति बिना किसी सामाजिक बाधा के कुलीन वर्ग में प्रवेश कर सकता था। अतः अनेक कठोर श्रम करने वाले कृषक अपने प्रयासों से उच्चस्तर गतिशीलता का भाग बन सके। वस्तुतः यह विश्वास कि कृषक कुलीन वर्ग की तरफ गतिशीलता के योग्य हो सकता है, कृषक वर्ग को प्रोत्साहन एवं प्रेरणा प्रदान कर सका। इस संभावना के परिणामस्वरूप समाज की संरचना में स्थिरता एवं संतुलन की स्थितियाँ उत्पन्न हुई। इस स्थिति के बावजूद वास्तविकता यह थी कि कृषक वर्ग की कुलीन की तरफ गतिशीलता अत्यंत सीमित थी। यदि यह संभव भी था तो भी कृषक वर्ग को अपनी सामाजिक प्रस्थिति को उच्च बनाने में अनेक पीढ़ियों का समय लगता था। इस प्रकार की सीमित गतिशीलता की स्थिति निम्नलिखित कारक थे:

अ) सूखा, बाढ़, महामारी, डकैती एवं टिड्डियों के आक्रमण से उत्पन्न दुर्भाग्यों ने कृषक परिवारों की आर्थिक स्थिति को बहुत हानि पहुँचाई जिसने गतिशीलता के अवसरों को प्रभावित किया।

ब) कठोर परिश्रम करने वाले कृषक वर्ग पर जनसंख्या का दवाब था। समृद्ध कृषक वर्ग में उच्च जन्म दर थी जबकि उच्च जीवन स्तर के कारण मृत्यु दर कम थी जबकि निर्धन कृषक वर्ग में शिशु मृत्यु दर अधिक थी। इस कारण ने जीवन स्तर को निम्न किया। परिणामस्वरूप गतिशीलता में कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई।

स) सामाजिक प्रतिष्ठा में उच्चता के स्थान पर निम्नता की तरफ की गति एक प्रवृति के रूप में उभरी। एक छोटा स्वामी जिसका उत्पादन साधनों पर सीमित मात्रा में अधिकार है, किरायेदार बन जाता है और तत्पश्चात् भूमिहीन कृषक बन जाता है। ऐसे अनेक कृषकों को समूह से पृथक कर दिया गया और वे निराशा के फलस्वरूप मृत्यु को प्राप्त हुए। इनमें कुछ ही लोग क्रांतिकारी बने एवं स्वयं के लिए सत्ता पर अधिकार एवं नियंत्रण स्थापित कर सके।

यदि कुछ कृषक धन के संकेंद्रण में सफल भी हो गए तब भी कुलीन वर्ग द्वारा उन्हें स्वीकार एवं समाहित करने में एक लंबी अवधि का समय लगा। केवल विवाह संबंध जो कुलीन वर्ग के सदस्यों के साथ हुए, एवं शैक्षणिक/बौद्धिक प्रतिष्ठा अथवा औपचारिक पद की प्राप्ति गतिशीलता, उसकी स्वीकृति एवं उसमें सम्मिलत के प्रमुख आधार थे।

11.6.3 निम्नस्तरीय गतिशीलता : कुलीन से कृषक वर्ग

इस प्रकार के उदाहरणों का पाना लगभग असंभव था जब कुलीन वर्ग का सदस्य अपनी निम्न आर्थिक प्रस्थिति के कारण कृषि कार्य को पुनः स्वीकार कर ले। शारीरिक श्रम को सर्वाधिक निम्नस्तरीय पद प्रदान किया गया। कुलीन वर्ग का कोई सदस्य निर्धन हो सकता था परंतु जीवन पर्यन्त वह स्वयं को कुलीन वर्ग से संबद्ध रखता था।

अतः हम यह पाते हैं कि सैद्धांतिक ही सही परंतु दो वर्गों के मध्य गतिशीलता संभव थी। वास्तविक रूप में ऐसी गतिशीलता अत्यंत कठिन और इसके उदाहरण भी बहुत कम हैं।

बोध प्रश्न 2

1) वर्ण एवं जाति के मध्य अंतर स्पष्ट करें।

2) परंपरागत भारत में जाति गतिशीलता के चार पक्षों की चर्चा करें।

3) परंपरागत चीन में दो वर्ग कौन से थे?

11.7 सारांश

इस इकाई में हमने पूर्व-आधुनिक समाजों में गतिशीलता का अध्ययन किया है। हमने

दासता एवं गतिशीलता का अध्ययन किया। इसके अंतर्गत प्राचीन दासता की परिभाषा एवं विशेषताओं की हमने चर्चा की। तत्पश्चात् हमने यूरोप की जागीर व्यवस्था में गतिशीलता का अध्ययन किया। इसके उपरान्त हमने भारत में जाति व्यवस्था में गतिशीलता का अध्ययन किया। अतः आपके सम्मुख इस इकाई में हमने गतिशीलता के विभिन्न संदर्भों का प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

11.8 शब्दावली

पैट्रीशियन : रोम गणतंत्र में भूस्वामियों का वर्ग।

प्लेबियन : भूमिहीन श्रमिक अथवा किरायेदारों का वर्ग।

पैक्यूलियम : जागीर व्यवस्था में संबद्ध संस्था जहाँ स्वामी द्वारा दास को मुद्रा अथवा संपत्ति का कुछ भाग प्रदान कर दिया जाता था।

मैन्यूमिसन : दासता के बंधन से व्यक्ति की मुक्ति।

व्यावसायिक संघ : एक ही व्यवसाय अथवा शिल्पकारों का समाज जो पारंपरिक सहयोग एवं सुरक्षा हेतु संगठित है।

वर्ण : प्राचीन हिंदु ग्रंथों पर आधारित जाति का अखिल भारतीय प्रारूप।

जाति : स्थानीय अथवा गाँवों के स्तर पर विद्यमान जाति समूह।

संस्कृतीकरण : वह प्रक्रिया जिसके अंतर्गत निम्न हिंदु जाति अथवा जनजाति उच्च अथवा द्विज जाति की जीवन पद्धति एवं विश्वास की तरफ स्वयं को परिवर्तित करती है।

द्विज जाति : वह जाति जो उपनयन संस्कार के माध्यम से स्वयं को पवित्र बनाती है। उपनयन संस्कार इस दृष्टि से दूसरे जन्म का संकेत करता है। यह संस्कार केवल उच्च जातियों के लिए स्वीकृत है।

कुलीन विवाह : विवाह का वह प्रचलन जिसमें उच्च जाति का पुरुष निम्न जाति की स्त्री से विवाह करता है।

11.9 उपयोगी पुस्तकें

लिटिजान, जे. 1972. *सोशल स्ट्रेटीफिकेशन*. लंदन : जार्ज एलिन एण्ड अनविन लि.।

सिंगर, एम. एवं कोहन बी. 1968. (संपादित) *स्ट्रक्चर एंड चेन्ज इन इंडियन सोसायटी*. शिकागो : एल्डाइन पब्लिशिंग कंपनी।

श्रीनिवास, एम.एन. 1968. *सोशल चेन्ज इन मॉडर्न इंडिया*. कैलीफोर्निया : यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस।

बर्गल, ई.ई. 1962. *सोशल स्ट्रेटीफिकेशन*. न्यूयार्क : मैक्ग्रो हिल बुक कंपनी।

बेंडिक्स, के. एवं लिपसैट एस. 1966. *क्लास, स्टेट्स एंड पावर*. न्यूयार्क : द फ्री प्रेस।

11.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अ) दासता

ब) जागीर व्यवस्था

स) जाति व्यवस्था

द) वर्ग व्यवस्था

2) दासता का आशय पराधीन श्रम से है। दास की कोई वैधानिक प्रस्थिति नहीं है। वह राजनीतिक अधिकारों से विहीन है तथा उसका नागरिक से संबंध है अर्थात् वह नागरिक द्वारा नियंत्रित है।

3) प्राचीन रोम एवं ऐथेन्स में दासों को प्रबंधक, लिपिक, दुकानदार इत्यादि के पद प्राप्त थे हालाँकि दासों को राजनीतिक एवं सैन्य व्यवसायों में प्रवेश की अनुमति नहीं थी।

4) दासों में सामाजिक गतिशीलता संभव थी क्योंकि समृद्ध स्वामी का दास बनने पर प्रस्थिति उच्च हो जाती थी। इसके अतिरिक्त पैक्युलियम के माध्यम से दास संपत्ति का संचय करके अपनी प्रस्थिति को उच्च कर सकता था।

बोध प्रश्न 2

1) वर्ण एक अखिल भारतीय अवधारणात्मक स्कीम है जो समाज i) ब्राह्मण ii) वैश्य एवं iii) शूद्र में वर्गीकृत करती है। जाति का अभिप्राय स्थानीय स्तर के जातीय समूहों से है जिनकी संख्या सैकड़ों में है।

2) अ) राजनीतिक व्यवस्था की परिवर्तनशीलता

ब) कृषि उत्पादन हेतु सीमांत भूमि का उपलब्ध होना

स) संस्कृतीकरण

द) कुलीन विवाह

3) कुलीन वर्ग एवं कृषक वर्ग

इकाई 12 आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता

संरचना

12.0 उद्देश्य
12.1 प्रस्तावना
12.2 आधुनिक समाज
  12.2.1 आधुनिक समाज की अवधारणा
  12.2.2 आधुनिक समाज के तत्व
  12.2.3 परंपरागत समाज बनाम आधुनिक समाज
  12.2.4 आधुनिकीकरण के स्तर एवं समाजों के प्रकार
12.3 सामाजिक गतिशीलता
  12.3.1 सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा
  12.3.2 सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन
  12.3.3 सामाजिक गतिशीलता एवं परिवर्तन की गति
12.4 पारंपरिकता से आधुनिकता की तरफ
  12.4.1 खुले समाज के संदर्भ में
  12.4.2 बंद समाज के संदर्भ में
12.5 सारांश
12.6 शब्दावली
12.7 उपयोगी पुस्तकें
12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

12.0 उद्देश्य

इस इकाई का संबंध आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता से है। इस इकाई में उपलब्ध सामग्री के पश्चात् आप निम्न पक्षों के बारे में समझ जाएँगे :

- आधुनिक समाजों की महत्वपूर्ण विशेषताएँ
- सामाजिक गतिशीलता एवं विभिन्न समाजों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के मध्य संबंध —
- सामाजिक परिवर्तन की गति में वृद्धि के प्रयास में सामाजिक गतिशीलता का महत्व
- सामाजिक गतिशीलता पर आधुनिकीकरण का विश्लेषण
- सामाजिक गतिशीलता का आधुनिकीकरण के विभिन्न स्तरों से संबंध
- खुले एवं बंद समाजों के मध्य अंतर एवं आधुनिक समाज, सामाजिक परिवर्तन, आधुनिकीकरण तथा सामाजिक गतिशीलता की परिभाषाएँ।

12.1 प्रस्तावना

गतिशीलता का अभिप्राय व्यवस्था के अंतर्गत किसी व्यक्ति की प्रस्थिति में बदलाव अथवा परिवर्तन से है। सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय एक व्यक्ति अथवा समूहों का एक सामाजिक वर्ग अथवा प्रस्थिति समूह से दूसरे सामाजिक वर्ग अथवा प्रस्थिति समूह में जाना है। सामाजिक गतिशीलता उच्चता अथवा निम्नता की तरफ होने वाले परिवर्तन से है जो सामाजिक प्रस्थिति के संदर्भ में होता है।

पूर्व की इकाई में आप पूर्व-आधुनिक अथवा परंपरागत समाजों के संदर्भ में सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा के बारे में समझ चुके हैं। इस इकाई में आप आधुनिक समाजों

की प्रकृति के बारे में जानेंगे तथा यह भी अध्ययन करेंगे कि आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता कैसे उत्पन्न होती है? सामाजिक गतिशीलता के प्रभावों को जानना एक रुचिकर अध्ययन हो सकता है। आधुनिक समाजों में सामाजिक गतिशीलता एवं प्रस्थिति निर्धारण का लौकिक आधार प्रमुख विशेषताओं के रूप में विद्यमान हैं। जबकि परंपरागत समाजों में अब भी सामाजिक स्तरीकरण की बंद व्यवस्था पाई जाती है।

12.2 आधुनिक समाज

आधुनिक समाजों की अवधारणा को समझने की दो विधियाँ हैं। प्रथम विधि ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक समाज के मूल्यांकन से संबद्ध है। हम प्राचीन, मध्ययुगीन एवं आधुनिक समाजों को समझने का प्रयास करते हैं। दूसरी विधि मानव व्यवहार के वैज्ञानिक अध्ययन से संबद्ध है। दूसरी विधि में हम उस समाज को आधुनिक मानते हैं जहाँ परंपरा की भूमिका कम महत्वपूर्ण हो जाती है। यह उन संबंधों पर भी निर्भर करता है जो कि औद्योगीकरण के परिणाम हैं। यह ऐतिहासिक दृष्टि से भी तथ्य है। यूरोप में औद्योगिक क्रांति के साथ सभी संबंधों में परिवर्तन उत्पन्न हुए। औद्योगिक क्रांति के परिणामस्वरूप हुए इन परिवर्तनों की दर पूर्व परिवर्तनों की तुलना में अत्यंत तीव्र थी। कोई भी समाज स्थिर नहीं है। वैज्ञानिक खोज एवं प्रौद्योगिकीय नवाचार उन आधारों को उत्पन्न करते हैं जिनके कारण सामाजिक संबंधों के नवीन प्रतिमान उत्पन्न होते हैं। यद्यपि सामाजिक संबंधों एवं जीवन शैली में परिवर्तन उत्पन्न करने में अधिक समय लगता है।

12.2.1 आधुनिक समाज की अवधारणा

तुलनात्मक संदर्भ में अनेक समाज वैज्ञानिकों ने आधुनिक समाज की अवधारणा का विवेचन किया है। एमील दुरखाइम का मत था कि आधुनिक समाज में "सावयवी एकता" पाई जाती है। अनेक विशिष्ट एवं अत्यंत विशिष्ट भूमिकाएँ आधुनिक समाज में अंतः निर्भर स्वरूप प्राप्त करती हैं। इस सामाजिक व्यवस्था में श्रम का जटिल विभाजन पाया जाता है। सभी प्रकार के समूहों एवं व्यक्तियों से सहयोग इस समाज का आवश्यक तत्व है। यह विशेषता "यांत्रिक एकता" से विपरीत है। यांत्रिक एकता, मूल्यों एवं व्यवहारों की समरूपता, कठोर अनौपचारिक सामाजिक नियंत्रण एवं परंपरा तथा प्रदत्त भूमिकाओं के तत्वों पर आधारित है। मैक्स वैबर के मतानुसार आधुनिक समाजों में अवैयक्तिक संबंधों की प्रबलता पाई जाती है क्योंकि व्यक्तिगत संबंधों, परंपरा एवं बंधुत्व की भूमिका का महत्व कम हो जाता है। वस्तुतः इन पक्षों की भूमिका आंशिक ही हो जाती है। आधुनिक समाजों में प्रशासनतंत्र अत्यंत प्रभावशाली हो जाता है अथवा वे तत्व महत्वपूर्ण हो जाते हैं जिनकी चर्चा सावयवी एकता के संदर्भ में दुरखाइम ने की है। हेनरी मेन ने संविदा पर आधारित संबंधों को आधुनिक समाजों की प्रकृति से संबद्ध किया है। ये संबंध परंपरागत अथवा पूर्व-आधुनिक समाजों में पाए जाने वाले प्रस्थिति आधारित संबंधों के विपरीत हैं।

आधुनिक समाज परिवर्तन पर आधारित लौकिक दृष्टिकोण उत्पन्न एवं विकसित करने के अवसर प्रदान करता है। ये समाज उन अन्य समाजों से भिन्न हैं जो प्रतिरोध करते हैं।

12.2.2 आधुनिक समाजों के तत्व

उपरोक्त उल्लेखों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक समाज की अवधारणा में निम्नलिखित विशेषताओं की विस्तार से चर्चा की जा सकती है:

औद्योगीकरण की प्रक्रिया के साथ श्रमिक शक्ति ने एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना प्रारंभ कर दिया। ये दूसरे स्थान वे क्षेत्र थे जहाँ उद्योग अस्तित्व में आए। इस गतिशीलता ने नातेदारी संबंधों को कमजोर करना प्रारंभ किया। इस गतिशीलता के कारण संबंधों के नवीन प्रतिमान अस्तित्व में आए जिन्हें संविदा पर आधारित संबंधों की संज्ञा दी जाती है। श्रम बेचने से संबंधित संविदा पर कार्य निर्भर करता है। निवास/आवास की प्रकृति का संबंध उस वैधानिक समझौते/पट्टे से है जो मकान के स्वामी एवं किराएदार के मध्य होता है। भोजन से संबद्ध सामग्री को भी बाजार से प्राप्त किया जाता है। यह सामग्री बाजार विभिन्न संविदात्मक स्वरूप के सहयोग के अंतर्गत उपलब्ध कराई जाती है।

स्वाभाविक है कि इस स्थिति में सामाजिक संबंध अवैयक्तिक हो जाते हैं। एक सामाजिक इकाई इस स्थिति में समग्र का भाग हो जाती है जो उन व्यक्तिगत संबंधों से वंचित हैं जिन्हें ग्रामीण क्षेत्र की विशेषता प्रारंभ में माना जाता था। औद्योगीकरण के परिणाम के रूप में उत्पन्न नगरीकरण औपचारिक एवं अवैयक्तिक सामाजिक विश्व के परिवेश को उत्पन्न करता है। विभिन्न प्रकारों की पृष्ठभूमि से संबद्ध एवं लगभग सभी क्षेत्रों के व्यक्ति नगरीय-औद्योगिक केंद्रों में एकत्रित हो जाते हैं। प्रशासनिक प्रतिमानों एवं मूल्यों के आधार पर संगठन की प्रकृति निर्धारित होती है।

न केवल निवास स्थान अपितु, व्यवसाय भी गुणात्मक परिवर्तन की प्रक्रिया से गुजरता है। व्यक्ति विभिन्न दृष्टिकोण के आधार पर सोचना प्रारंभ कर देते हैं। दृष्टिकोण परिवर्तन से संबद्ध हो जाते हैं। एक व्यक्ति जो गाँव से नगर की तरफ स्थानांतरित होने के पूर्व सोचने में समय लेता है, नगर के एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में स्थानांतरण के पूर्व सोचने में समय नहीं लेता। इसी प्रकार एक निवास स्थल को छोड़कर दूसरे निवास स्थल में जाने में उसे किसी प्रकार की कठिनाई नहीं होती। व्यक्ति की मुख्य इच्छा जीवन में उत्तम सुविधाएँ प्राप्त करना है जो उसके द्वारा अर्जित मुद्रा के ऊपर पूर्णतया आधारित है। स्वाभाविक है कि यह इच्छा व्यक्ति के दृष्टिकोण में उन पक्षों को विकसित करती हैं जो परिवर्तन के अनुकूल होते हैं। वैज्ञानिक खोज एवं प्रौद्योगिकीय आविष्कारों ने व्यक्ति में उस चेतना को विकसित किया है जो परंपरागत अभिमुखन एवं दृष्टिकोण से भिन्न है। यह चेतना लौकिक दृष्टिकोण को भी विकसित करने में सहायक है।

12.2.3 परंपरागत समाज बनाम आधुनिक समाज

आप जानते हैं कि परंपरागत समाज कैसे होते हैं। परंपरागत समाज के नाम से ही स्पष्ट है कि समाज परंपराओं से संचालित होता है। परंपराएँ वे सामाजिक प्रथाएँ हैं जो समाजीकरण की प्रक्रिया के द्वारा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होती हैं। फलस्वरूप परंपराएँ नियंत्रण का साधन बन जाती हैं। परंपराएँ, विश्वास, व्यवस्थाओं, मूल्यों तथा समूह के चिंतन की विधाओं का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये समाज आंतरिक पक्षों से निर्देशित समाज के रूप में भी जाने जाते हैं। इन समाजों में परिवर्तन के प्रति अधिक आकर्षण नहीं होता। व्यक्तिगत संबंध एवं प्रस्थिति आधारित संबंध इन परंपरागत समाजों की विशेषताएँ हैं जिन्हें दरखाइम ने 'यांत्रिक-एकता' के अंतर्गत व्यक्त किया है।

यह केवल विचारों एवं चिंतन तक ही सीमित नहीं है, अपितु कृषि में उत्पादन की प्रविधि, यातायात एवं संचार साधन, संस्थाओं के संगठन एवं स्वास्थ्य, को आधुनिक समाज से पृथक करती है।

जबकि आधुनिक समाज में उत्पादन की परंपरागत प्रविधियों को वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित नवीन प्रविधियों द्वारा रूपांतरित किया गया है। निश्चित रूप से ये रूपांतरण वैज्ञानिक अनुसंधान एवं प्रौद्योगिकीय विकास के स्तर पर निर्भर करते हैं। इसके कारण आधुनिक समाजों को वस्तुतः आधुनिक बनने में समय लगता है क्योंकि परंपरागत प्रविधियों का नवीन प्रविधियों द्वारा रूपांतरण समाज में स्थापित होने में समय लेता है। परंतु कभी भी सामाजिक परिवर्तन पूर्णरूपेण गुणात्मक अथवा पूर्ण बदलाव वाला नहीं हो सकता। उदाहरण के लिए, नवीन वैज्ञानिक प्रविधियों के साथ हम आज भी बैलों का प्रयोग जुताई हेतु करते हैं। अतः बैलों द्वारा संचालित हल एवं ट्रैक्टर दोनों ही प्रविधियाँ प्रयुक्त होती हैं।

कृषि उत्पादन के आधारभूत क्षेत्र में रूपांतरण की प्रक्रिया प्रारंभ हुई है। वे वस्तुएँ जो जीवन निर्वाह की प्रक्रिया से संबद्ध हैं अब व्यक्तियों की रुचि के अनुकूल नहीं रही हैं। इसके स्थान पर व्यावसायिक दृष्टि से उपयोगी उपज को महत्व दिया जाता है। विकसित बीज, रासायनिक खाद, विभिन्न रासायनिक दवाईयों एवं सिंचाई के नवीन साधनों के प्रयोग द्वारा व्यावसायिक उपज के उत्पादन में वृद्धि के प्रयास किए जाते हैं।

आधुनिक औद्योगीकरण में चूँकि प्रौद्योगिकी की आधारभूत निर्णायक भूमिका है अतः पशु शक्ति की उपेक्षा उपयोग के संदर्भ में होने लगी है। वस्तुतः पशु शक्ति को अब अतीत या बीते हुए दिनों की प्रौद्योगिकी मान लिया गया है। शक्ति से चलने वाली मशीनों के द्वारा जिन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु कार्य किया जाता है उनमें मनुष्य के कार्य करने की आवश्यकता नहीं है। स्वाभाविक है कि मनुष्य की ऊर्जा का प्रयोग करने वाले व्यवसाय

विद्युत, आणुविक एवं सौर ऊर्जा का प्रयोग कर रहे व्यवसायों की तरफ परिवर्तित हो रहे हैं।

रेल, सड़क एवं वायु यातायात के साधनों ने यातायात व्यवस्था को कुशल एवं त्वरित बनाया है। टेलिफोन, टेलिविजन, रेडियो, टेलिप्रिंटर, फैक्स एवं स्पीड पोस्ट (त्वरित डाक) ने संचार व्यवस्था को त्वरित बनाया है। आज हमारे पास जीवन के इन विभिन्न पक्षों से संबद्ध विशेषज्ञ हैं। लेखन-मित्रों की संख्या, दूर के क्षेत्रों में निवास कर रहे समूहों का अस्तित्व एवं अनेक महाद्वीपों में निवास कर रहे श्रोता वर्तमान समाज की उपलब्धि हैं। ये सभी अवैयक्तिक संबंधों में विश्वास रखते हैं।

व्यवसायों ने सेवा क्षेत्र में आशातीत वृद्धि की है। प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर प्रशासनिक सेवाओं में चयन आधुनिक समाज की एक महत्वपूर्ण विशेषता बन गयी है। इस प्रक्रिया ने प्रशासनिक शक्ति का विस्तार किया है। यह शक्ति सर्वोच्च स्तर पर केंद्र से लेकर निचले स्तर पर स्थापित गाँव के सभी संगठनों के पास संबद्ध भूमिकाओं अथवा क्रियाओं को नियंत्रित करती है। औपचारिक रूप से व्यक्तियों को जो कार्यालयी पद प्राप्त हैं उनके अनुरूप सत्ता का क्रियान्वयन होता है क्योंकि कार्यालयी पद के अनुसार सत्ता का वितरण सुनिश्चित होता है।

परंपरागत समाजों में माता-पिता अपनी संतान का समाजीकरण परंपरागत व्यवसाय के अनुरूप करते थे जबकि आधुनिक समाजों में यह समाजीकरण औपचारिक संस्थाओं के माध्यम से होता है। अतः आधुनिक समाज में औद्योगिक एवं कृषि श्रमिक दोनों ही साक्षर एवं प्रशिक्षित होते हैं। स्त्री एवं पुरुषों का एक बड़ा अनुपात माध्यमिक स्तर की शिक्षा प्राप्त कर लेता है। विभिन्न प्रकार की नौकरियों के लिए प्रशिक्षण की सुविधाओं का प्रावधान है। प्रौद्योगिकीय प्रगति एवं विकास के परिणामस्वरूप रोजगार अथवा नौकरियों में भी विविधता की स्थिति उत्पन्न होती रहती है। प्रत्येक आविष्कार के साथ प्रौद्योगिकी में प्रशिक्षण आवश्यक हो जाता है ताकि व्यक्ति इसका सुचारू रूप में उपयोग कर सकें। इससे आर्थिक व्यवस्था और अधिक जटिल होती जाती है।

राजनीतिक व्यवस्था को भी नवीन प्रौद्योगिकी के दबाव के साथ समायोजन करना पड़ता है। यह इसलिए होता है कि प्रत्येक नवीन प्रौद्योगिकी प्राचीन या पूर्व की प्रौद्योगिकी के महत्व को कम कर देती है। प्रौद्योगिकीय परिवर्तन अत्यंत तीव्र होते हैं तथा साथ ही इनमें आर्थिक व्यय भी बहुत होते हैं। पुरानी प्रौद्योगिकी की निरंतरता का अर्थ ऊर्जा का अधिक उपभोग है। नवीन प्रौद्योगिकी को स्वीकार करने का अर्थ प्रारंभिक अवस्था में अधिक व्यय से है। प्रौद्योगिकी में हुआ परिवर्तन आर्थिक एवं व्यावसायिक विविधता को उत्पन्न करता है तथा प्रस्थिति मूल्यांकन के नवीन प्रतिमान एवं मूल्यों को भी निर्मित करता है।

आधुनिक सामाजों में नगरीकरण की प्रक्रिया अत्यंत तीव्र है। हम इन समाजों में ग्रामीण क्षेत्रों से कस्बों एवं नगरों की तरफ प्रवसन प्रक्रिया को तीव्र पाते हैं। मशीनीकरण के परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों से संबद्ध व्यवसायों में संलग्न व्यक्तियों की संख्या में कमी आयी है। परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों की जनसंख्या के भागों को बाध्य होकर दूसरे क्षेत्रों में जाना पड़ा है। नगरीय क्षेत्रों में व्यवसायों के अवसरों की बाहुल्यता के कारण ग्रामीण क्षेत्र के व्यक्ति नगरीय क्षेत्रों में स्थान्तरित हो जाते हैं। यदि आधुनिक समाज प्रवसन करने वाली जनसंख्या को नगरों में सुविधाएँ प्रदान करने में असमर्थ होते हैं अर्थात् उनके जीवन-निर्वाह एवं आवास के साधनों को उपलब्ध करा पाने में असफल हो जाते हैं तो नगरों में तीव्र गति से गंदी बस्तियों की संज्ञा में वृद्धि होती है।

प्रतियोगिता पर आधारित सामाजिक गतिशीलता से संबद्ध उपलब्ध अवसर आधुनिक समाजों की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। व्यक्ति सदैव एक ही स्थिति से संबद्ध नहीं रह सकते। व्यक्ति अपनी क्षमता, योग्यता एवं उत्साह के आधार पर समाज में उपयुक्त प्रस्थितियों को अर्जित कर सकते हैं।

12.2.4 आधुनिकीकरण के स्तर एवं समाजों के प्रकार

हम पाते हैं कि आधुनिक समाज एक प्रक्रिया के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। इस प्रक्रिया को आधुनिकीकरण की संज्ञा दी जाती है। सभी प्रकार के औद्योगिक परिवर्तन चूँकि एक साथ स्वीकार्य नहीं होते अतः ये जीवन के विभिन्न पक्षों को मंद गति से भी प्रभावित करते हैं। यहाँ तक कि क्रांतिकारी स्थितियों में भी सभी क्षेत्र एक साथ एवं समान रूप से

परिवर्तित नहीं होते। इसके साथ ही मूल सामाजिक संरचना को प्रभावित किए बिना भी समाज के विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन हो सकते हैं।

उदाहरण के लिए, यूरोपीय समाज को आधुनिक होने में दो सौ से अधिक वर्ष का समय लगा। इन देशों के "औपनिवेशिक विस्तार" ने उपनिवेशों में भी आधुनिकीकरण की अवधारणा एवं संबद्ध यंत्रों को उत्पन्न किया। यह आधुनिकीकरण औपनिवेशिक देशों में चूँकि विदेशी शक्तियों के हितों की पूर्ति हेतु प्रारंभ किया गया था अतः औपनिवेशिक देशों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया शोषण मूलक थी। भारत में कृषि उत्पादन की प्रक्रिया पर नकारात्मक प्रभाव डाला गया परंतु जिन उद्योगों को विकसित किया गया उनसे देश की अर्थव्यवस्था को कोई सहायता नहीं मिली।

लाभ का अधिकांश भाग ब्रिटिश समाज ने अधिगृहित किया। औपनिवेशिक स्वामियों ने अपने हितों को ध्यान में रखते हुए आधुनिक शिक्षा को पर्याप्त महत्व नहीं दिया तथा चिकित्सा सेवाओं को केवल नगरों में केंद्रित कर दिया गया। समाज में पहले से स्थापित असमानता दूसरे प्रकार की असमानता के कारण गौण हो गयी। यूरोपीय स्वामी एवं अधीनस्थ औपनिवेशिक जनता के रूप में समाज के विभाजन ने असमानता की नवीन व्यवस्था को विकसित किया।

यह स्थिति विश्व के उन सभी देशों को जो साम्राज्यवादी औपनिवेशिक देशों के नियंत्रण में थे, जीर्ण-शीर्ण अवस्था वाले समाज बनाती है। परंपराएँ महत्वहीन होती जा रही थीं। आधुनिकता अधीनस्थ देशों की जनसंख्या के लिए नहीं थी। परंतु फिर भी इसी प्रकार के अधीनस्थ समाजों के कुछ व्यक्ति औपनिवेशिक शासन द्वारा प्रारंभ की गई आधुनिक शिक्षा के संपर्क में आए तथा आधुनिक एवं स्वतंत्रता के समर्थक विचारों को जाना। तृतीय विश्व के देशों में स्वाधीनता संघर्ष प्रारंभ हो गए। अंत में यह संघर्ष केवल उपनिवेशवाद के विरुद्ध संघर्ष तक ही सीमित नहीं रह सका। यह संघर्ष उन समस्त शक्तियों के विरुद्ध हो गया जो विभिन्न प्रकार की असमानताओं को समाज में उत्पन्न करती हैं।

हम इन स्थितियों के कारण यह तर्क दे सकते हैं कि औद्योगीकरण की गति में बाधा एवं सीमित क्षेत्रों सीमित सामाजिक परिवर्तन ने अधिकांश अधीनस्थ समाजों को परंपरागत बनाए रखा। सामाजिक तनावों में वृद्धि हुई। परंतु ये सामाजिक तनाव द्वितीय विश्व युद्ध के बाद तक के लिए स्थगित हो गए। अधिकांश देशों ने साम्राज्यवादी औपनिवेशिक शक्तियों से स्वयं को मुक्त करा लिया। संप्रभु राज्यों के रूप में इन राष्ट्रों में नवीन आशा एवं आकांक्षाएँ उत्पन्न हुई एवं उद्देश्यों को निर्धारित किया गया।

तृतीय विश्व के विभिन्न समाजों के उद्देश्य भी राष्ट्रीय आय एवं समाज की विशिष्ट आवश्यकताओं के संदर्भ में भिन्न थे। इसके परिणामस्वरूप औद्योगीकरण की प्रक्रिया भी आनुपातिक रही। अतः इन देशों में हम विकास के विभिन्न स्तर पाते हैं। परंपराओं का निर्बल होना एवं औद्योगीकरण का स्तर—ये दो तत्व विभिन्न समाजों में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया को बहुत दूर तक प्रभावित करते हैं।

खुलापन अथवा स्वतंत्रता आधुनिक समाजों का मूल तत्व है। सभी समाजों में सामाजिक तनावों में अनवरत वृद्धि हो रही है। परंपरागत समाजों से संबद्ध स्तरीकरण की व्यवस्थाएँ विघटित हो रही हैं। परंतु सामाजिक अपेक्षाओं में वृद्धि संस्थागत परिवर्तन के लिए बाध्य कर रही है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया उतनी तीव्र गति से नहीं बढ़ रही जितनी औद्योगिकीकरण की प्रक्रिया में तीव्रता है।

निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि किसी भी समाज में आधुनिकीकरण का स्तर जानने के लिए आवश्यक है कि समाज को प्रभावित करने वाली परंपरागत एवं आधुनिक मूल्य-व्यवस्था एवं मूल्यों का विश्लेषण किया जाए। परिवर्तन चूँकि सदैव असमंजस की स्थिति उत्पन्न करता है अतः अधिकांश समाजों में परंपरा एवं आधुनिकता के मध्य अंतःविरोध अथवा द्वंद्व की स्थिति पाई जाती है। आकांक्षाओं को पूरा करने में समाज की असमर्थता अथवा असफलताएँ समाज में अथवा संबद्ध जनसंख्या में तनाव उत्पन्न करती हैं। आधुनिक समाज इन समस्याओं के समाधान हेतु तत्पर रहने का प्रयास करता है।

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर को रेखांकित करें :

i) निम्नलिखित में से किसने आधुनिक समाजों को "सावयवी एकता" के संदर्भ में परिभाषित किया है :

अ) मैक्स वैबर

ब) एमील दुरखाइम

स) कार्ल मार्क्स

द) कोई भी नहीं

ii) निम्नलिखित में से कौन सा तत्व आधुनिक समाज से संबद्ध है :

अ) संविदात्मक एवं अवैयक्तिगत संबंध

ब) श्रम-विभाजन एवं लौकिक विचार

स) औद्योगीकरण एवं नगरीकरण

द) उपरोक्त सब

ii) निम्नलिखित में से कौन सी प्रघटना आधुनिक समाज से संबद्ध है :

अ) पशु शक्ति का उपयोग स्थगित हुआ है एवं आधुनिक प्रौद्योगिकी के उपयोग में वृद्धि हुई है।

ब) व्यावसायिक उपज के उत्पादन को परंपरागत उपज द्वारा प्रतिस्थापित किया गया है।

स) शिक्षा की आधुनिक व्यवस्था को परंपरागत शिक्षा व्यवस्था द्वारा प्रतिस्थापित किया गया है।

द) उपरोक्त में से कोई नहीं।

12.3 सामाजिक गतिशीलता

आप जानते हैं कि सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय व्यक्तियों अथवा समूहों का एक सामाजिक प्रस्थिति से दूसरी प्रस्थिति की तरफ बदलाव से है। सामाजिक गतिशीलता वह स्थिति है जिसके अंतर्गत नवीन सांस्कृतिक उद्देश्यों, मूल्यों एवं तत्वों को सामाजिक प्रस्थिति को उच्च बनाने वाले वांछनीय पक्षों के रूप में स्वीकारा जाता है अथवा स्थापित उद्देश्यों, मूल्यों एवं तत्वों को नवीन संदर्भ देकर पुनः परिभाषित किया जाता है।

12.3.1 सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा

सामाजिक गतिशीलता का सामाजिक स्तरीकरण से घनिष्ठ संबंध है। किसी भी समाज में अनेक स्तर हैं जो एक अवधि के उपरांत परिवर्तित हो जाते हैं। भूमि के स्वामी विभिन्न औद्योगिक एवं व्यावसायिक प्रतिष्ठानों के स्वामी बन सकते हैं। जब एक व्यक्ति अथवा समूह अपनी प्रस्थिति को इस रूप में परिवर्तित करता है कि वह बदलाव समान सामाजिक स्थिति ही उत्पन्न करे (उदाहरण के लिए, एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना) तो उसे क्षैतिज गतिशीलता कहते हैं (इस ब्लॉक की दसवीं इकाई में इसका उल्लेख है)। इस स्थिति में आय, जीवन स्तर, विशेषाधिकार, व्यवसाय, एवं कर्त्तव्यों में कोई बदलाव नहीं होता अर्थात् पूर्व जैसी स्थिति ही बनी रहती है। एक ही नगर में एक विद्यालय से दूसरे विद्यालय में शिक्षक का हुआ स्थानांतरण क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता का उदाहरण है। इस स्थिति में शिक्षक बदलाव के उपरांत भी समान स्तर का अंग है। क्षैतिज प्रस्थिति बदलाव समान स्तर के व्यक्तियों में मात्र सीमांत विभेद उत्पन्न करता है। उदाहरण के लिए, एक प्रसिद्ध पब्लिक स्कूल में पढ़ाने वाला शिक्षक दूसरे शिक्षकों की तुलना में उच्च माना जाता है। प्रस्थिति बदलाव के ये पक्ष जो सामाजिक गतिशीलता से उत्पन्न हुए हैं, क्षैतिज गतिशीलता कहलाते हैं।

समाज की प्रकृति में यह तत्व अंतर्निहित है कि वह अपनी स्तरीकरण व्यवस्था में लंबवत् गतिशीलता को उत्पन्न करे। कुछ व्यक्ति समृद्ध हो जाते हैं जबकि कुछ निर्धन हो जाते हैं। कुछ व्यक्ति पदोन्नति अर्जित करने में सक्षम हैं जबकि कुछ की पदानवति हो जाती है। कुछ व्यवसाय समाज में पेशे बन जाते हैं एवं समाज में उच्च प्रस्थिति तथा विशेषाधिकार अर्जित कर लेते हैं। व्यवसाय एवं पेशों की प्रस्थिति के मूल्यांकन के मापन में अनवरत परिवर्तन आधुनिक समाजों में देखा जा सकता है। जब प्रस्थिति मूल्यांकन का आधार ही परिवर्तित हो जाता है तो सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था भी लंबवत् उतार-चढ़ाव से पृथक नहीं रह सकती।

सांस्कृतिक वस्तुओं, संस्कृति-तत्व एवं संस्कृति मूल्यों में परिवर्तन लंबवत् गतिशीलता की स्थिति में उत्पन्न होता है। परिवर्तन की दिशा उच्च प्रस्थिति से निम्न प्रस्थिति की तरफ अथवा निम्न प्रस्थिति से उच्च प्रस्थिति की तरफ हो सकती है। इस प्रक्रिया को व्यक्तियों के उच्च प्रस्थिति की तरफ या निम्न प्रस्थिति की तरफ जाने से संबंध गति के माध्यम से देखा जा सकता है। व्यापक सामाजिक संकट के काल में मूल्यों, तत्वों एवं संस्कृति वस्तुओं में उत्पन्न हुई लंबवत् गतिशीलता एक गंभीर संकट का दिग्दर्शन कराती है। विकास के आकस्मिक परन्तु व्यापक परिणाम भी लंबवत् सामाजिक गतिशीलता को उत्पन्न करते हैं।

12.3.2 सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन

लंबवत् सामाजिक गतिशीलता सामाजिक जीवन पर व्यापक प्रभाव डालती है। स्तरीकरण का अभिप्राय विभिन्न स्तरों अथवा प्रस्थिति समूहों के मध्य पाई जाने वाली संस्तरणात्मक प्रणाली से है। लंबवत् गतिशीलता इस प्रणाली में अनेक परिवर्तन कर बिखराव की स्थिति भी उत्पन्न कर देती है। शिक्षा एवं प्रशिक्षण के द्वारा कुछ व्यक्ति सीमित संख्यावाली महत्वपूर्ण प्रस्थितियों को अर्जित करने की क्षमता उत्पन्न कर लेते। जबकि अन्य व्यक्ति शिक्षा एवं प्रशिक्षण के अभाव के कारण सामान्य जन का अंग बन जाते हैं। इस प्रकार किसी समाज में लंबवत् प्रणाली अस्तित्व में आ जाती है। आधुनिक समाज में व्यक्ति को उसकी योग्यता/क्षमता के आधार पर पुरस्कार देने की प्रवृत्ति है जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन की गति अत्यंत तीव्र हो जाती है। गतिशीलता इस स्थिति के कारण सामाजिक गतिशीलता को लचीला बनाती है। आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के कारण अपेक्षित उद्देश्यों एवं श्रेणी/क्रम के प्रति अलगाव न्यूनतम हो जाता है। अर्थात् व्यक्ति इन उद्देश्यों एवं श्रेणी के प्रति वास्तविक चेतना का अनुभव करने लगता है। जब व्यक्ति अपने वर्ग समूहों और जाति समूहों से बाहर आते हैं तो वे स्वयं को इन समूहों से संबद्ध परंपरागत ढाँचे से पृथक कर लेते हैं। वे उन मूल्यों को अस्वीकृत कर देते हैं जो व्यक्तियों की विशेषतः उन संबद्ध व्यक्तियों की प्रस्थिति को निम्न बनाए रखती है।

12.3.3 सामाजिक गतिशीलता एवं परिवर्तन की गति

आधुनिक समाजों में सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न करने वाली शक्तियाँ तीव्र गति से क्रियाशील होती है। समाज जितना अधिक आधुनिक होगा, सामाजिक परिवर्तन उतना ही अधिक व्यापक एवं अधिक गति वाला होगा। भारत में, हम यह कह सकते हैं कि समाज में परिवर्तन गति तीव्र नहीं है। अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के आरक्षण के संवैधानिक प्रावधान के बावजूद सामाजिक गतिशीलता संतुष्टि के स्तर से बहुत दूर है। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं ऐसी स्थिति असंतोष को उत्पन्न करती है। अतः समाज को आधुनिक बनाने के लिए आवश्यक है कि तीव्र सामाजिक परिवर्तन उत्पन्न किए जाएँ। जाति व्यवस्था सापेक्षित दृष्टि से बंद व्यवस्था है। एक व्यक्ति अपनी जाति प्रस्थिति को परिवर्तित नहीं कर सकता। उद्योगों की वृद्धि एवं प्रौद्योगिकी के उपयोग के कारण विविधता उत्पन्न होती है। हम यह स्वीकार करते हैं कि उद्योगों एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में परिवर्तन जितना अधिक तीव्र होगा व्यावसायिक विभेदीकरण एवं आधुनिकीकरण भी उतना ही अधिक तीव्र होगा। व्यक्ति जो गैर-परम्परागत व्यवसायों में सहभागिता करते हैं, अपनी जीवन पद्धति एवं चिंतन व्ववस्था में शीघ्र परिवर्तन कर लेते हैं। अतः औद्योगिक एवं प्रौद्योगिकीय विकास सामाजिक परिवर्तन की गति को निर्धारित करता है। यद्यपि विकास स्वयं में अपेक्षित आधुनिकीकरण को उत्पन्न नहीं कर सकता। शिक्षा, प्रशिक्षण एवं नेतृत्व आधुनिकीकरण प्रक्रिया के महत्वपूर्ण स्रोत हैं।

बोध प्रश्न 2
सही उत्तर को रेखांकित कीजिए :

i) जब व्यक्ति अथवा समूह में ऐसा बदलाव उत्पन्न हो कि स्थापित सामाजिक स्तर पर कोई प्रभाव न हो तो ऐसी गतिशीलता को हम निम्नलिखित में से किस रूप में प्रस्तुत करेंगे।

अ) लंबवत् सामाजिक गतिशीलता

ब) क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता

स) समूह गतिशीलता

द) प्रकार्यात्मक गतिशीलता

ii) जब कुछ व्यक्ति समृद्ध हो जाते हैं एवं कुछ निर्धन हो जाते हैं तो इस प्रक्रिया को हम निम्नलिखित में से किससे संबद्ध करेंगे।

अ) लंबवत् सामाजिक गतिशीलता

ब) क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता

स) समूह गतिशीलता

द) प्रकार्यात्मक गतिशीलता

iii) क्या यह सच है कि लंबवत् सामाजिक गतिशीलता सामाजिक परिवर्तन को उत्पन्न करती है? हाँ/नहीं

iv) जाति व्यवस्था सामाजिक स्तरीकरण की बंद व्यवस्था है क्योंकि

अ) जाति धर्म से घनिष्ठ रूप में संबंधित है।

ब) व्यक्ति की जाति जन्म से निर्धारित होती है जो कि अपरिवर्तनीय है।

स) जाति का घनिष्ठ संबंध परंपराओं से है।

द) जाति का घनिष्ठ संबंध मूल्यों से है।

12.4 परंपरिकता से आधुनिकता की तरफ

सामाजिक गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि संपूर्ण समाज परंपरागत संदर्भ-संरचना से आधुनिक संदर्भ संरचना की तरफ गतिशील होता है। इस प्रकार का परिवर्तन युग का निर्माण करता है तथा समाज के इतिहास में बहुत कम घटित होता है। यद्यपि यह तर्क देना भी अत्यंत कठिन है कि समाज कब परंपरा से आधुनिकता की तरफ गतिशील होता है। जैसा कि हम जानते हैं कि आधुनिकीकरण के कुछ संकेतक होते हैं। जब उन संकेतकों को हम समाज में क्रियाशील पाते हैं तो यह तर्क देते हैं कि समाज आधुनिक मूल्यों की तरफ अग्रसर हो रहा है। इस अग्रसरता के साथ यह यथार्थ है कि इस परिवर्तन के साथ ही समाज में स्थापित परंपरागत मूल्य भी विद्यमान हैं।

12.4.1 खुले समाज के संदर्भ में

स्वतंत्रता एवं सामाजिक परिवर्तन के अवसर खुले समाज की विशेषताएँ हैं। ये समाज उस स्थिति को अभिव्यक्त करते हैं जिसमें कोई व्यक्ति अथवा समूह अपनी प्रस्थिति को परिवर्तित कर लेता है। उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय (ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी) गतिशीलता के लिए किसी भी प्रकार के परंपरागत एवं वैधानिक प्रतिबंध नहीं होते। इसके अतिरिक्त उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त करने के प्रयासों को सकारात्मक मूल्य व्यवस्था में सम्मिलित किया जाता है।

समाज के सदस्यों में इस प्रकार की गतिशीलता स्वयं के जीवन काल में (अंतरापीढ़ी) एवं दो पीढ़ियों के या विभिन्न पीढ़ियों के मध्य (अंतःपीढ़ी) स्पष्टतया अवलोकनीय है। खुले वर्ग की व्यवस्था का आदर्श प्रारूप स्पष्ट करता है कि व्यक्तियों को उनकी उपलब्धियों के आधार पर वर्ग संस्तरण में स्थान दिया जाता है।

अतः हम कह सकते हैं कि खुले समाजों में सामाजिक गतिशीलता का क्षेत्र अधिक व्यापक है एवं इसकी गति तीव्र है। परंतु जब हम खुले समाज में आधुनिकीकरण की भूमिका के मूल्यांकन का प्रयास करते हैं तो अनेक कठिनाइयाँ सामने आती हैं। कोई भी समाज पूर्णरूपेण खुला समाज नहीं है। यदि तुलनात्मक दृष्टि अपनाये तो पाते हैं कि आधुनिक समाजों में भी सामाजिक समीकरण भी तन्त्र समस्या के लुप्त प्रदत्त पाये जाते हैं। सामाजिक वर्ग मुख्यतः व्यक्ति की योग्यता के स्थान पर परिवार की प्रस्थिति से निर्धारित होता है। योग्यताओं का निर्धारण सामाजिक परिवेश से होता है। परिवार एवं उसके सदस्य इस सामाजिक परिवेश के कभी भी पृथक न होने वाले अंग हैं। हम पाते हैं कि परिवार की परम्परा एवं संस्कृति एक निश्चित भूमिका का निर्वाह करती है। समाज में खुलेपन की प्रस्तुति की भी एक सीमा होती है। यहां तक कि सबसे अधिक आधुनिक समाजों में भी परम्पराओं को पूर्णरूपेण अपने से पृथक नहीं किया है। अभी हमारे सम्मुख ऐसा समाज अस्तित्व में नहीं आया है जहां माता-पिता की सामाजिक प्रस्थिति एवं व्यवसाय का सन्तानों के साथ किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध नहीं है।

12.4.2 बन्द समाज के संदर्भ में

सभी समाजों में वर्ग पाये जाते हैं वस्तुतः वर्ग-विहीन समाज की चर्चा करना एक भ्रम है। परन्तु जब ये वर्ग आन्तरिक बाध्यता हेतु क्रियाशील होते हैं अर्थात् इकाइयों के व्यवहार को नियंत्रित करते हैं तथा वाह्य रूप से विशिष्ट हो जाते हैं अर्थात् अन्य समूहों/वर्गों से अन्तर बनाये रखते हैं, तब अगतिशीलता का प्रतिमान उत्पन्न होता है। जाति, प्रजाति, संस्कृति/धर्म एवं राज्य की विशेषताओं से निर्मित समाज सापेक्षिक दृष्टि से स्तरीकरण की बन्द व्यवस्था के उदाहरण हैं।

जाति समाज में सापेक्षिक दृष्टि से सामाजिक गतिशीलता कम है। परम्परायें कुछ सामाजिक इकाइयों को उच्च प्रस्थिति की प्राप्ति में सहायक होती हैं जबकि कुछ इकाइयों के लिये उच्चस्तरीय सामाजिक गतिशीलता में बाधक हैं। आधुनिकीकरण इन समाजों में कठिन है तथा इस प्रक्रिया में अधिक समय भी लगता है। यद्यपि जाति ने अनेक संस्थाओं जैसे चुनाव, व्यवसाय एवं व्यापार, प्रवसन, सामाजिक समझौतों इत्यादि के साथ अनुकूलन किया है अथवा इन्हें स्वीकारा है। इस तथ्य को स्वीकार किया जा सकता है कि जाति व्यवस्था के बावजूद परिवर्तन की प्रक्रिया भारत में तीव्र है।

औद्योगिक विकास के बावजूद भारत में जाति प्रथा विद्यमान है। जाति एक ऐसी सामाजिक शक्ति है जो व्यक्तियों को सांस्कृतिक दृष्टि से संगठित रखती है। अतः जाति, समुदाय एवं प्रजातीय समूह अनौपचारिक सामाजिक सम्बन्धों के स्रोत हैं।

बोध प्रश्न 3

उपयुक्त उत्तर को रेखांकित कीजिए:

i) सामाजिक गतिशीलता की अधिक सम्भावना निम्नलिखित में से किन समाजों में है :
   - अ) वर्ग आधारित खुला समाज
   - ब) जाति आधारित बन्द समाज
   - स) जनजातीय समाज
   - द) वर्गहीन समाज

ii) खुले समाजों में सामाजिक गतिशीलता निम्नलिखित में से किन तत्वों पर निर्भर है :
   - अ) व्यक्तियों की व्यक्तिगत उपलब्धियां
   - ब) पारिवारिक प्रस्थिति
   - स) धार्मिक पृष्ठभूमि
   - द) जाति पृष्ठभूमि

iii) जाति व्यवस्था पर आधारित सामाजिक स्तरीकरण की विशेषता वाले समाज को क्या कहा जाता है :
   - अ) बन्द समाज
   - ब) खुला समाज
   - स) औद्योगिक समाज
   - द) उपरोक्त में से कोई नहीं

iv) जब व्यवस्था कठोर एवं परम्परागत होती है जो आधुनिकता को गतिशील होने में:

अ) कठिनाई होती है।
ब) सरलतापूर्वक गतिशील होती है।
स) न तो कठिनाई है और न ही सरलतापूर्वक गतिशीलता है।
द) उपरोक्त में से कोई नहीं।

12.5 सारांश

आधुनिक समाज इसलिए "आधुनिक" है क्योंकि औद्योगिक विकास हुआ है। वे इसलिए भी आधुनिक है कि उनमें सामाजिक गतिशीलता की उच्च दर है। सामाजिक गतिशीलता खुलापन लाती है। आधुनिक समाजों में परिवर्तन की दर एवं गति तीव्र होती है तथा ऐसे समाजों में व्यक्तियों का दृष्टिकोण तार्किक एवं कुशलता-अभिमुखित होता है।

- क्योंकि कोई भी समाज पूर्णरूपेण आधुनिक नहीं है, आधुनिक समाज की अवधारणा एक दृष्टि से आदर्शात्मक है। सभी समाजों में सातत्व एवं परिवर्तन की संयुक्तता पायी जाती है। परम्परागत समाजों में परिवर्तन को उत्पन्न करने वाली प्रक्रिया आधुनिकीकरण कहलाती है।
- समाज जितना अधिक आधुनिक होगा, परिवर्तन की प्रक्रिया उतनी ही अधिक तीव्र होगी। अन्तरापीढ़ी एवं अन्त:पीढ़ी के रूप में दोनों प्रकार की गतिशीलताएं समाज को गत्यात्मक एवं प्रगतिशील बनाती है।
- इस इकाई में हमने सबसे पहले आधुनिक समाज की अवधारणा का अध्ययन किया है। आधुनिक समाज की विशेषताओं, परम्परागत समाज से आधुनिकीकरण समाज की तुलना, आधुनिकीकरण के विभिन्न स्तरों का विवेचन एवं समाज के प्रकारों का अध्ययन इस इकाई के अन्तर्गत किया गया है। तत्पश्चात् हमने सामाजिक गतिशीलता के विश्लेषण पर ध्यान केन्द्रित किया है एवं अन्त में परम्परा से आधुनिकता की तरफ हो रहे उन परिवर्तनों का उल्लेख किया है जो "खुले" एवं 'बन्द' दोनों ही समाजों में हो रहे हैं।

12.6 शब्दावली

बन्द समाज: एक परम्परागत समाज जिसमें सामाजिक गतिशीलता की दर अत्यन्त मन्द है। उदाहरणार्थ, परम्परागत भारतीय समाज।

खुला समाज: वह समाज जिसमें कोई व्यक्ति अथवा समूह अपनी दक्षता एवं योग्यता के आधार पर प्रस्थिति को परिवर्तित कर सकता है।

सामाजिक गतिशीलता: स्थापित सामाजिक स्तरीकरण व्यवस्था के अन्तर्गत एक व्यक्ति अथवा समूह द्वारा अपनी प्रस्थिति में परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है। यह सामाजिक संरचना को लचीला अथवा गत्यात्मक बनाती है।

आधुनिकीकरण: औद्योगीकरण एवं नगरीकरण की शक्तियों से उत्पन्न प्रक्रिया जो परम्परागत समाज को आधुनिक में रूपान्तरित करती है।

12.7 उपयोगी पुस्तकें

कॉक्सन, ए.पी. एम.एव. जोन्स, सी.एल. 1979. *सोश्यल मेबिलिटी: सिलेक्टेड रीडिंग्स.* हारमण्ड्सवर्थ: पैन्गुअन।

सिंह, योगेन्द्र. 1989. *''सोशल स्ट्रेटीफिकेशन एण्ड सोशल चेन्ज इन इण्डिया.* नई दिल्ली : मनोहर।

12.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) ब
ii) अ
iii) द
iv) अ

बोध प्रश्न 2

i) ब
ii) हाँ
iii) अ
iv) ब

बोध प्रश्न 3

i) अ
ii) अ
iii) अ
iv) अ

इकाई 13 व्यवसाय, शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता

संरचना

13.0 उद्देश्य
13.1 प्रस्तावना
13.2 आधुनिक शिक्षा के पक्ष
13.3 शिक्षा के उद्देश्य
  13.3.1 शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन
  13.3.2 शिक्षा, संकल्प एवं कुशलता
13.4 शिक्षा एवं अध्यापन
  13.4.1 अध्यापन का स्तर
  13.4.2 अध्यापकों की प्रस्थिति
13.5 शिक्षा एवं सामाजिक प्रस्थिति
  13.5.1 शिक्षा एवं राष्ट्रीय विकास
13.6 व्यवसाय एवं सामाजिक गतिशीलता
  13.6.1 शिक्षा एक कारक के रूप में
  13.6.2 व्यवसाय एवं सामाजिक प्रस्थिति
  13.6.3 सामाजिक गतिशीलता के पक्ष
  13.6.4 सामाजिक गतिशीलता के प्रतिमान एवं प्रकार
  13.6.5 सामाजिक गतिशीलता के कारक
13.7 सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रियाएं
  13.7.1 सामाजिक गतिशीलता का मापन
  13.7.2 सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि एवं उसमें बाधा उत्पन्न करने वाले कारक
  13.7.3 शिक्षा, व्यवसाय एवं सामाजिक गतिशीलता
13.8 सारांश
13.9 शब्दावली
13.10 उपयोगी पुस्तकें
13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

13.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप निम्नलिखित पक्षों को जानेंगे:

- सामाजिक गतिशीलता को तीव्र बनाने में व्यवसाय एवं शिक्षा की भूमिका का विवेचन,
- शिक्षा एवं व्यवसाय के मध्य अन्तः सम्बन्धित विभिन्न पक्षों का विवेचन,
- शिक्षा से सम्बद्ध व्यवसाय संरचना की विवेचना,
- व्यवसाय से सम्बद्ध गतिशीलता से जुड़े विभिन्न कारकों की व्याख्या,
- शिक्षकों की भूमिका का विवेचन एवं व्यवसायीकरण की आवश्यकता तथा प्रेरक/प्रोत्साहन का महत्व एवं आवश्यकता,
- सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया का विवेचन, एवं
- शिक्षा, व्यवसाय एवं सामाजिक गतिशीलता के मध्य अन्तःसम्बन्धों को जानना।

13.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम व्यवसाय, शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता के अन्तःसम्बन्धों का परीक्षण करेंगे।

हम सर्वप्रथम आधुनिक शिक्षा के पक्षों की चर्चा करेंगे। तत्पश्चात् हम शिक्षा से सम्बद्ध अपेक्षाओं, शिक्षा एवं परिवर्तन, संकल्प/इच्छा एवं कुशलता एवं शिक्षण के स्तर का मूल्यांकन करेंगे।

इन मूल्यांकनों के उपरान्त हम व्यवसाय एवं गतिशीलता का अध्ययन करेंगे साथ ही, शिक्षा की भूमिका, व्यवसाय, प्रस्थिति एवं गतिशीलता के पक्षों, प्रतिमानों तथा प्रकारों की चर्चा करेंगे।

तत्पश्चात् हम गतिशीलता की प्रक्रियाओं एवं गतिशीलताओं में वृद्धि एवं बाधा उत्पन्न करने वाले कारकों की चर्चा करेंगे। हम अपने इस विवेचन को शिक्षा, व्यवसाय एवं गतिशीलता के अन्तःसम्बन्धों के मूल्यांकन के साथ समाप्त करेंगे।

13.2 आधुनिक शिक्षा के पक्ष

आधुनिक-औपचारिक शिक्षा तीव्र सामाजिक परिवर्तन एवं आर्थिक विकास का मूल कारक है। भारतीय संविधान ने इस तथ्य को स्वीकार किया है तथा भारत के समस्त नागरिकों को शिक्षा के समान अवसर प्रदान करने पर बल दिया है। परन्तु भारत में शिक्षा औपनिवेशिक शासन से व्यापक रूप में प्रभावित रही है। योगेन्द्र सिह का मत है कि भारत में आधुनिक शिक्षा का आधार ब्रिटिश सत्ता ने स्थापित किया था। शिक्षा की उत्पत्ति एवं इसके विकास के संदर्भ में निम्नलिखित प्रघटनाओं को ऐतिहासिक महत्व प्रदान किया जा सकता है: 1. यूरोपीय शिक्षा को अंग्रेजी द्वारा सीखने हेतु मैकाले द्वारा निर्मित 1835 की नीति 2. 1854 का चार्ल्स वुड का डिस्पेच/प्रतिवेदन जिसमें पहली बार निजी क्षेत्र एवं मिशनरीज की सहायता से चुने लोगों को शिक्षा अथवा "चयनित शिक्षा" के विचार को त्याग दिया गया (इस विचार को "फिल्ट्रेशन सिद्धांत" कहा जाता है) एवं 3. प्रथम भारतीय शिक्षा कमीशन जो 1882 में स्थापित हुआ इस आयोग ने शिक्षा के विस्तार हेतु निजी क्षेत्रों के अभिकरणों के योगदान पर बल दिया।

सरकार ने शिक्षा पर इस औपनिवेशिक प्रभाव की प्रकृति का अत्यन्त गम्भीरता पूर्वक मूल्यांकन एवं विश्लेषण किया। शिक्षा को भारतीय परिवेश के अनुकूल बनाने की आवश्यकता पर पर्याप्त महत्व दिया गया तथा जो भी अर्थपूर्ण समायोजन सम्भव थे, किये गये अथवा करने के प्रयास किये गये। शिक्षा को एक ऐसा स्वरूप देने का प्रयास किया गया जो कृषि एवं उद्योग क्षेत्रों की समस्त आवश्यकताओं को पूरा करे एवं प्रशिक्षित मानव शक्ति तथा शिक्षित एवं चेतनशील सामाजिक इकाइयों को उत्पन्न करे। अतः औपचारिक शिक्षा मानव संसाधन एवं संसाधन विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। क्योंकि यही मानव शक्ति की प्राथमिक आवश्यकताएं हैं जिन्हें विकास के साथ सम्बद्ध किया जाता है। अतः यह कहा जा सकता है कि राजनीतिक एवं आर्थिक उद्देश्यों के साथ शिक्षा व्यवस्था की भूमिकाएं अत्यन्त स्पष्ट है जिन्हें पूर्व में व्यक्त किया जा चुका है। मानव संसाधन विकास का क्षेत्र एवं उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु योग्य सामाजिक इकाइयों का उत्पादन शिक्षा की भूमिका के महत्वपूर्ण पक्ष हैं।

योगेन्द्र सिंह का मत है कि शिक्षा भारत में आधुनिकीकरण के सर्वाधिक महत्वपूर्ण साधनों में से एक है। शिक्षा ने जनता की राष्ट्रवाद, उदारता एवं स्वतन्त्रता जैसी आकांक्षाओं को गतिशील किया। शिक्षा एक मात्र वह कारक है जो चेतनाशील बुद्धिजीवी की वृद्धि हेतु उत्तरदायी है। इस चेतनशील बुद्धिजीवी ने न केवल स्वाधीनता आन्दोलन में अग्रणी भूमिका का निर्वाह किया अपितु, सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुधार हेतु अनवरत संघर्ष किया। शिक्षा ने भारत में विद्यार्थियों में एक ऐसी उपसंस्कृति निर्मित की है जो पूर्णतया आधुनिक तो नहीं है परन्तु परम्परा से आधुनिकता की तरफ संक्रमण के समस्त तत्वों का प्रतिनिधित्व करती है। इस उपसंस्कृति की आन्तरिक व्यवस्था में हम जो अनवरत तनाव पाते हैं उसके लिए आंशिक रूप में उत्तरदायी वे मूल्य हैं जो संक्रमण कालीन दौर से गुजरते हुए अन्य मूल्यों की तरफ आकृष्ठ हो रहे हैं। साथ ही, इस उपसंस्कृति का वृहद् समाज से संरचनात्मक कुसमायोजन भी इस तनाव हेतु आंशिक रूप से उत्तरदायी है। फिर भी, इस आधुनिकीकरण का महत्व "स्व-साक्ष्य" है अर्थात् इस महत्व के लिए किसी साक्ष्य की आवश्यकता नहीं है। अन्त में हम यह कह सकते हैं कि शिक्षा व्यवस्था ने विद्यालय के रूप में तार्किक संगठित संरचना के नवीन स्वरूपों की वृद्धि कर आधुनिकीकरण की प्रक्रिया

में योगदान किया है। इस प्रकार की संरचना में हम स्कूल/विद्यालय, महाविद्यालय एवं विश्वविद्यालय को भी सम्मिलित करते हैं जो ज्ञान के विस्तार एवं समकालीन परिप्रेक्ष्य में आधुनिक सांस्कृतिक श्रेणियों के विस्तार के सांस्कृतिक जाल हैं। हालांकि भारत में हर स्तर की शिक्षा व्यवस्था में परम्परा एवं आधुनिकता के अन्तर्द्वन्द्व के तत्व भी पाये जाते हैं जो शिक्षा व्यवस्था के प्रकार्यों एवं प्रशासन में अभिव्यक्त होते हैं। एक तरफ जहाँ आधुनिकीकरण के कुछ स्वरूपों को लोग सहर्ष स्वीकार करते हैं वहीं दूसरी तरफ परम्परागत मूल्यों को संरक्षण देने हेतु एक चेतनशील प्रयास भी सदैव होता रहा है।

13.3 शिक्षा के उद्देश्य

सभी तर्कसंगत उद्देश्यों एवं शिक्षा के उद्देश्यों के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा ये सम्बन्ध अत्यन्त चुनौतीपूर्ण उद्देश्य भी हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि शिक्षा व्यवस्था को व्यक्तियों की आकांक्षाओं के अनुरूप होना चाहिए। हम व्यक्तियों की कुछ आकांक्षाओं की निम्नलिखित रूप में चर्चा कर सकते हैं।

i) हमारे जैसे जटिल व विविधता मूलक समाज में, जो कि अत्यन्त स्तरीकृत है, लोकतंत्र के मूल्य की निरन्तरता को बनाये रखना,

ii) हमारे धर्म बाहुल्य समाज में धर्मनिरपेक्षता के मूल्य का विस्तार,

iii) तार्किक दृष्टिकोण का विस्तार,

हम यहां ध्यान दिलाना चाहेंगे कि विकास के अन्य क्षेत्रों की तुलना में शिक्षा को कम महत्व प्रदान किया गया है। हालांकि भारतीय नव-जागरण के युग में, जिसने स्वाधीनता संघर्ष को उत्पन्न किया, शिक्षा के महत्व को स्वीकारा गया। शिक्षा को अग्रणी व्यवस्थाओं में सम्मिलित करने का श्रेय हमारे राष्ट्रीय नेताओं जैसे महात्मा गांधी के दूरगामी दृष्टिकोण को जाता है।

1947 ई. के उपरान्त भारतीय सरकार ने शिक्षा के सुधार हेतु प्रयासों में पहल की। सरकार ने ये प्रयास विभिन्न समितियों, आयोग एवं संगठनों की सहायता, सलाह एवं समर्थन के माध्यम से किये। तत्पश्चात् समाज वैज्ञानिकों, शिक्षाविदों, वैज्ञानिकों एवं प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों ने औपचारिक शिक्षा से सम्बद्ध शोध प्रशिक्षण एवं विषय वस्तु के प्रश्नों को विचार-विमर्श हेतु अपने सम्मुख रखा।

13.3.1 शिक्षा एवं सामाजिक परिवर्तन

यह अनुभव किया गया कि हिंसक क्रान्ति के व्यापक स्तर पर गुणात्मक परिवर्तनों को अर्जित करना है तो वह केवल शिक्षा के माध्यम से हो सकता है। शिक्षा जन सामान्य तक पहुंच सकती है। यह भी अनुभव किया गया कि शिक्षा को जनसामान्य तक पहुंचाना सरल नहीं है क्योंकि इसके लिए कठोर इच्छा एवं प्रतिबद्ध कार्यों की आवश्यकता होती है। शिक्षा इसके बावजूद विश्व के विभिन्न देशों में सामाजिक विकास हेतु परखा हुआ उपकरण है। भारत में भी यह तर्क सत्य है परन्तु इसके लिए एक सुनिर्धारित योजना का होना अनिवार्य है।

यदि नागरिक प्रेरणा एवं उद्देश्य, कुशलता एवं संकल्प को व्यक्त करते हैं तब वे राष्ट्रीय विकास हेतु संघर्ष में सहभागिता कर सकते हैं। प्रेरणा एवं संकल्प समाज के विशिष्ट सदस्यों की आन्तरिक विशेषताएं हैं। (ई.एस.ओ.-04 का ब्लाक 7 विस्तारपूर्वक शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन का विवेचन करता है)।

13.3.2 शिक्षा, संकल्प एवं कुशलता

राज्य एवं अन्य सभी उपव्यवस्थाएं, जो अधिकार एवं नियन्त्रण से सम्बद्ध हैं, उन स्थितियों को उत्पन्न करती हैं जिनके द्वारा शिक्षा व्यवस्था संकल्प एवं कुशलता को उत्पन्न व विकसित करती है। इस प्रकार शिक्षा व्यवस्था राष्ट्रीय विकास के लिए एक उपयोगी तत्व बन जाती है। शिक्षा उप-व्यवस्था से सम्बद्ध मनुष्यों का जहाँ तक सम्बन्ध है उनमें नीति-निर्धारक, शिक्षा नियोजक एवं प्रशासन सम्मिलित होते हैं। इसके साथ ही हम उन

अधिकारियों की भी चर्चा कर सकते हैं जो कि संसाधनों को आबंटित करते हैं। इसके अतिरिक्त विषय संरचना को स्वरूप देने वाले नियोजक, सम्बद्ध प्रशासक, सम्बद्ध विषय की पुस्तक के लेखक, संस्था के प्रबन्धक एवं शिक्षकों को भी सम्मिलित किया जाता है। इन सभी व्यक्तियों में संकल्प एवं कुशलता का होना आवश्यक है। उन्हें कार्य के प्रति समर्पित एवं किसी भी प्रकार के बलिदान हेतु तत्पर होना चाहिए।

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर को रेखांकित करें :

1) निम्नलिखित में से उस अपेक्षा/अपेक्षाओं को बताएं जिनकी व्यक्ति शिक्षा से अपेक्षा करता है :

   i) लोकतन्त्र के मूल्य की निरन्तरता को बनाये रखना।

   ii) शिक्षा से कोई अपेक्षा नहीं है।

   iii) गैर तार्किक दृष्टिकोण को उत्पन्न करना।

   iv) उपरोक्त सभी।

2) राज्य एवं सभी उप व्यवस्थाओं की स्थिति ऐसी होनी चाहिए कि :

   i) वे शिक्षा को हतोत्साहित करें।

   ii) संकल्प एवं कुशलता को विकसित करना।

   iii) यहां कोई शिक्षा नियोजक नहीं है।

   iv) उपरोक्त में से कोई भी नहीं।

13.4 शिक्षा एवं अध्यापन

शिक्षा के विकास में शिक्षक एक महत्वपूर्ण एवं आवश्यक तत्व है। अन्य प्रमुख तत्व शिक्षा नीति, शिक्षा कार्यक्रम, शिक्षा प्रबन्धन एवं शैक्षणिक प्रशासन हैं। परन्तु इनमें से कोई भी शिक्षक का स्थान नहीं ले सकता। शिक्षा प्रदान करने में शिक्षकों की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है अतः कोई भी आयोग अथवा समिति एवं शिक्षा नीति का मूल्यांकन करने वाले विशेषज्ञों की समिति शिक्षकों की प्रस्थिति एवं भूमिका को अनिवार्यतः सम्मिलित करती है।

विद्यालय की प्रतिष्ठा एवं समुदाय पर इसका प्रभाव इस तथ्य पर निर्भर करता है कि शिक्षक की योग्यता एवं क्षमता का स्तर क्या है। अतएव शिक्षक की प्रस्थिति की तरफ ध्यान देना अत्यन्त आवश्यक है। औपचारिक एवं अनौपचारिक दोनों ही प्रकार के समाजीकरण की प्रक्रिया, जो शिशु एवं बालक से सम्बद्ध है, में शिक्षक की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका होती है। शिक्षक केवल ज्ञान का संचार ही नहीं करता अपितु भविष्य के वांछनीय समाज के प्रारूप को भी विद्यार्थियों की चेतना का अंग बनाता है। शिक्षा सिद्धांत में शिक्षक "सृजक" एवं "विस्तारक" दोनों ही भूमिकाओं से सम्बद्ध है।

13.4.1 अध्यापन का स्तर

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि शिक्षा व्यवसाय में शिक्षक की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण है। महत्वपूर्ण पक्ष यह है कि शिक्षक स्वयं व्यावसायिक अध्यापन एवं उपयुक्त कार्यशील स्थितियों को निर्मित करें अथवा उनके अनुरूप स्वयं को समायोजित करें।

उपयुक्त कार्य-स्थितियां महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनके आधार पर ही शिक्षक अध्यापन व्यवसाय में प्रवेश करता है एवं निरन्तर अपना विकास करता रहता है। व्यावसायिक अध्यापन एवं उपयुक्त कार्य-स्थितियों के कारण शिक्षक अपने व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्ध होता है तथा शिक्षण/अध्यापन के उद्देश्यों को स्पष्ट कर पाता है। अतः शिक्षा व्यवस्था राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में तभी प्रभावी सिद्ध हो सकती है जब शिक्षक अपनी महत्वपूर्ण भूमिकाओं के प्रति चेतनशील हों। शिक्षक का व्यावसायिक दृष्टि से योग्य एवं कुशल होना

आवश्यक है एवं शिक्षक को अध्यापन स्तर को उपयुक्त बनाये रखने के लिए किसी भी बलिदान हेतु तत्पर रहना चाहिए। अतः शिक्षकों में व्यावसायिक कुशलता की उत्पत्ति एवं उसकी निरन्तरता शिक्षा-प्रक्रिया का महत्वपूर्ण अंग होना चाहिए।

जहाँ तक चयन प्रक्रिया का प्रश्न है, इसका सम्बन्ध क्षमता, प्रतिभा, व्यावसायिक शिक्षण की योग्यता से होना आवश्यक है। अतः व्यवसाय के प्रति प्रतिबद्धता का विकास समाज के सहयोग के साथ आनुपातिक रूप में समबद्ध है। समाज जब शिक्षक को भौतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति की उच्चता को मान्यता देगा तभी शिक्षक की प्रतिबद्धताएं भी विकसित होंगी।

13.4.2 अध्यापकों की प्रस्थिति

जहाँ तक अध्यापकों की प्रस्थिति का सम्बन्ध है, व्यावसायिक दक्षता अध्यापन दक्षता शिक्षक की प्रस्थिति का महत्वपूर्ण निर्धारक है।

शिक्षक के विषय में "विश्व दृष्टिकोण" को सामान्यतया समाज के आधार पर निर्मित किया जाता है। यद्यपि यह भी एक यथार्थ है कि व्यवसायीकरण की प्रक्रिया ने समस्त शिक्षकों को समान रूप से स्वीकृत परिप्रेक्ष्य का अंग बना दिया है तथा इनकी प्रस्थिति के विषय में लगभग सहभागी सामान्य दृष्टिकोण को विकसित किया है। ये सभी कारक शिक्षा व्यवसाय के प्रति व्यवहारवादी प्रवृत्ति को संगठित करते हैं। व्यावसायिक/पेशे से सम्बद्ध विचारधारा एवं प्रतिबद्धता के तत्व इस प्रवृत्ति के ही परिणाम हैं परन्तु इन्हें परिमाणात्मक रूप में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। परन्तु व्यवसायीकरण एवं कुशलता के विकास के स्वरूप को उपरोक्त पक्ष निर्धारित करते हैं। हम इस आधार पर कह सकते हैं कि व्यावसायिक विचारधारा एवं प्रतिबद्धता के तत्व व्यावसायिक प्रशिक्षण एवं कुशलता/दक्षता के विकास के स्वरूप को निर्धारित करते हैं। इस दृष्टि से यह तर्क भी उभरता है कि परम्परागत एवं भविष्य सम्बन्धी एवं विश्व दृष्टिकोणों में अनेक अन्तः विरोध पाये जाते हैं जो शिक्षक के व्यवसायीकरण की प्रक्रिया के साथ अनवरत रूप में संलग्न हैं। शिक्षक का व्यवसायीकरण शिक्षा से सम्बद्ध वह महत्वपूर्ण प्रक्रिया है जो शिक्षा को राष्ट्रीय विकास हेतु सामाजिक परिवर्तन से सम्बन्धित करती है।

हम यह भी पाते हैं कि संविधान के अनेक उद्देश्य जैसे समानता, धर्मनिरपेक्षता इत्यादि को अध्यापन व्यवसाय के व्यावसायिक उद्देश्यों के साथ विश्लेषण के लिए सम्बद्ध किया जा सकता है। अकादमिक निपुणता, समर्पण, जन सामान्य के विकास के प्रयास इत्यादि वे पक्ष हैं जिनका मापन एवं जिनका स्तर शिक्षक की कार्यशील स्थितियों के आधार पर किया जाता है। ये सभी पक्ष इस रूप में विकसित हुए हैं कि शिक्षा व्यवस्था राष्ट्रीय विकास का केन्द्रीय तत्व बन गयी है।

13.5 शिक्षा एवं सामाजिक प्रस्थिति

औपचारिक शिक्षा एवं प्रशिक्षण सामाजिक संरचना में व्यक्तियों की प्रस्थिति के निर्धारण के महत्वपूर्ण निर्धारक हैं। हम पाते हैं कि उच्च शिक्षा व्यक्ति को उच्च प्रतिष्ठा से सम्बद्ध व्यवसाय को अर्जित करने में सहायता प्रदान करती है जिसके परिणामस्वरूप व्यक्ति को उच्च सामाजिक पद प्राप्त होता है।

अतः शिक्षा सामाजिक लाभ पहुंचाने वाले अनेक कारकों में से एक महत्वपूर्ण कारक है वस्तुतः सामाजिक लाभ शिक्षा से निर्धारित भी होता है। विक्टर डिसूजा शिक्षा की गुणात्मकता एवं परिमाणात्मकता के मध्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करते हैं। शिक्षा के ये गुणात्मक एवं परिमाणात्मक पक्ष यौनिक प्रस्थिति एवं व्यवसाय प्रस्थितियों में पाये जाने वाले भेद से प्रभावित होते हैं। डिसूजा ने जिन निदर्श इकाइयों का चयन किया उनमें से अधिकांश साक्षर इकाइयां थीं। निरक्षर निदर्श इकाइयों का प्रतिशत केवल 28.4 प्रतिशत था जिनमें 5 वर्ष से कम आयु के बच्चों का 12.1 प्रतिशत भी सम्मिलित था। ये बच्चे सामान्यतया विद्यालयों में अध्यापन हेतु जाते थे।

अधिकांश साक्षर निदर्श इकाइयां/उत्तरदाता हाई स्कूल स्तर तक की शिक्षा प्राप्त थे। महिला उत्तरदाता पुरुष उत्तरदाता की तुलना में कम शिक्षित थीं। युवा पीढ़ी में यद्यपि यह अन्तर लगभग नगण्य था।

जहाँ तक शिक्षा के भाषायी माध्यम का प्रश्न था पुरुष उत्तरदाता का एक बड़ा प्रतिशत अंग्रेजी एवं उर्दू भाषा में अध्यापन कार्य कर रहा था। स्त्रियों का बड़ा प्रतिशत जबकि अंग्रेजी एवं पंजाबी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त कर रहा था। चपरासियों की अधिकांश संख्या ने हिन्दी माध्यम से शिक्षा प्राप्त की थी।

निदर्श जनसंख्या का 30 प्रतिशत शैक्षणिक संस्थानों में शिक्षा प्राप्त कर रहा था। शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश प्राप्त उत्तरदाताओं का एक बड़ा प्रतिशत 6-15 आयु समूह का था जो पुरुष एवं स्त्री दोनों से सम्बद्ध था। जो उत्तरदाता अंग्रेजी भाषा में शिक्षा प्राप्त कर रहे थे उनमें से अधिकांशतः उच्च व्यावसायिक समूहों में सम्बद्ध थे।

महिला विद्यार्थियों को अधिकांशतः हिन्दी एवं पंजाबी भाषा के माध्यम से शिक्षा प्राप्त थी जबकि पुरुष विद्यार्थी का बड़ा प्रतिशत अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त था। उच्च शिक्षा का "सकारात्मक यह सम्बन्ध" सम्बद्ध परिवार के व्यवसाय अथवा उस परिवार में पायी जाने वाली सेवा/नौकरी की प्रकृति से है जिन उत्तरदाताओं ने अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा प्राप्त की उनके परिवार की व्यावसायिक प्रस्थिति उच्च थी। अतः यह स्पष्ट है कि शिक्षा का माध्यम शिक्षा एवं रोज़गार के अवसरों की प्राप्ति में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करता है। इस दृष्टि से शिक्षा दो उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक है:

1) सामाजिक एवं व्यावसायिक गतिशीलता के साधन के रूप में, एवं

2) सामाजिक प्रस्थिति के निर्धारक के रूप में। शिक्षा का घनिष्ठ सम्बन्ध व्यवसाय एवं आय से है जो किसी व्यक्ति की प्रस्थिति को उच्च बनाने की प्रक्रिया में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसके अतिरिक्त व्यावसायिक शिक्षा (इंजीनियरिंग, चिकित्सा इत्यादि) समाज विज्ञानों की शिक्षा की तुलना में उच्च प्रस्थिति प्रदान कराने में सहायक है। व्यावसायिक शिक्षा एवं विज्ञान की शिक्षा का अन्तर रोज़गार एवं आय में भी अभिव्यक्त होता है। इसके अतिरिक्त शिक्षा स्थानिक एवं व्यावसायिक प्रवसन को भी उत्पन्न करती है।

13.5.1 शिक्षा एवं राष्ट्रीय विकास

अब तक हम शिक्षा व्यवस्था का विवेचन कर रहे थे तथा यह सिद्ध कर रहे थे कि शिक्षा राष्ट्रीय विकास के लिए क्यों एवं कैसे आवश्यक है। हमने यह पाया कि वे शिक्षक, जो अपने व्यवसाय के उद्देश्यों एवं राष्ट्र के उद्देश्यों के प्रति प्रतिबद्ध एवं समर्पित हैं, सबसे मूल्यवान मानव संसाधन हैं। हमने यह भी पाया है कि शिक्षा किस प्रकार सामाजिक प्रस्थिति को उच्च बनाने में योगदान करती है। अब हम व्यावसायिक एवं सामाजिक गतिशीलता की चर्चा करेंगे। इस चर्चा में हम इस तर्क को अपनी चेतना में रखेंगे कि व्यवसाय, शिक्षा एवं सामाजिक गतिशीलता घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है।

13.6 व्यवसाय एवं सामाजिक गतिशीलता

मुख्यतया गतिशीलता का मापन दो प्रकार का होता है:

1) अन्तःपीढ़ी से सम्बन्धित प्रकार

2) अन्तरापीढ़ी से सम्बन्धित प्रकार

अन्तःपीढ़ी गतिशीलता में (इसी ब्लॉक की इकाई-10 को देखें) हम गतिशीलता की तुलना

1) व्यक्ति और उसके 2) माता-पिता अथवा दादी-दादा के मध्य करते हैं।

अन्तरापीढ़ी गतिशीलता में व्यक्ति की तुलना उसी के भावी कैरियर के साथ की जाती है। अन्तरापीढ़ी गतिशीलता इस दृष्टि से समय सापेक्ष है जिसमें व्यक्ति के वर्तमान पद की तुलना उसके अतीत के पद एवं उपलब्धियों से की जाती है।

प्रत्येक समाज में हम कुछ ऐसे महत्वपूर्ण कारकों को पाते हैं जो सामाजिक गतिशीलता उत्पन्न करते हैं। ये कारक निम्नलिखित हैं—

i) सामाजिक स्तरीकरण

ii) समुदाय का आकार

iii) परिवार में शिक्षा की प्रकृति

iv) प्रौद्योगिकीय एवं औद्योगिक विकास की दर, एवं

v) प्रवसन अथवा स्थानान्तरण

यद्यपि इस यथार्थ को भी हम स्वीकार करते हैं कि उपरोक्त कारकों में से कोई एक सामाजिक गतिशीलता को पूर्णरूपेण उत्पन्न करने वाला कारक नहीं है। तथापि, शिक्षा व्यावसायिक गतिशीलता में अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है। परिभाषा की दृष्टि से शिक्षा उन क्रियाओं का समुच्चय है जिन्हें समाजीकरण के विभिन्न अभिकरणों द्वारा ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार का समाजीकरण उन सभी समाजों में सामाजिक गतिशीलता का वाहक है जिनमें यह पाया जाता है। विद्यालय प्रशिक्षण भी व्यक्तियों को भूमिका निर्वाह में सहायता प्रदान करता है तथा इससे यह भी सिद्ध किया जा सकता है कि व्यक्ति क्या जन्म के आधार पर अपने वर्ग की निरन्तरता को बनाये रख सकता है अथवा निम्न अथवा उच्च वर्ग का सदस्य उपलब्धियों के आधार पर बन सकता है।

13.6.1 शिक्षा एक कारक के रूप में

शिक्षा एक ऐसा माध्यम है जिसके द्वारा पीढ़ी दर पीढ़ी सामाजिक वर्ग से सम्बद्ध पद को स्थिरता/निरन्तरता प्रदान की जा सकती है। शिक्षा सम्बन्धी उपलब्धियों एवं व्यावसायिक उपलब्धियों के मध्य सदैव यह सम्बन्ध देखे जा सकते हैं। भारतीय स्थिति में जाति आधारित असमानता विभिन्न वर्गों पर भी अपना प्रभाव डालती है। अभी कुछ वर्षों पूर्व तक ब्राह्मण जाति का शिक्षा के अवसरों पर लगभग एकाधिकार था। यद्यपि वर्तमान शताब्दी में ब्राह्मणों का यह एकाधिकार काफी कम हुआ है। अब समस्या यह है कि किसी भी जाति के सदस्य को पब्लिक स्कूल में प्रवेश लेने से नहीं रोका जा सकता परन्तु वित्तीय समस्याओं/बाधाओं एवं विद्यालयों के उपलब्ध न होने के कारण वे स्कूल में प्रवेश से वंचित हो जाते हैं।

यह परिवर्तन मुख्य रूप से औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये हैं। अतः आधुनिक समय में शिक्षा ने व्यावसायिक गतिशीलता की दर में आशातीत वृद्धि की है। शिक्षा को सबसे उच्च प्राथमिकता दी गयी है क्योंकि यह आधुनिक समाज की अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है तथा "उच्चस्तरीय गतिशीलता" में अर्थात् विकास के अवसरों की प्राप्ति में सहायक है। अतः यह कहा जा सकता है कि व्यावसायिक उपलब्धियों एवं अवसरों के साथ शिक्षा का उच्च सह सम्बन्ध है।

13.6.2 व्यवसाय एवं सामाजिक प्रस्थिति

व्यवसाय जीविकोपार्जन अथवा जीवन यापन को निर्धारित करता है परन्तु विक्टर डिसूजा के मतानुसार व्यवसाय सामाजिक प्रस्थिति को भी निर्धारित करता है। चण्डीगढ़ जहाँ पर कि विक्टर डिसूजा ने अध्ययन किया, 31.3 प्रतिशत श्रम शक्ति/कार्य शक्ति निदर्श का भाग थी।

स्वास्थ्य, शिक्षा एवं लोक प्रशासन, व्यापार एवं वाणिज्य वे कारक हैं जो प्रमुख रूप से औद्योगिक विभाजन को प्रस्तुत करने में भूमिका निभाते हैं। ये सभी व्यवसायों के लगभग 70 प्रतिशत को निर्मित करते हैं। सबसे प्रमुख नियोक्ता सरकार है। कुछ उत्तरदाताओं को पंजाब विश्वविद्यालय में नौकरी प्राप्त थी (4.5 प्रतिशत)। 7.5 प्रतिशत उत्तरदाता स्व-रोज़गार से सम्बद्ध थे तथा 14 प्रतिशत उत्तरदाता निजी प्रतिष्ठानों में कार्यरत थे। डिसूजा के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि कार्यरत व्यक्तियों का एक बहुत बड़ा बहुमत उन क्षेत्रों में कार्य करता था जो कि उनके आवासीय क्षेत्रों से दूर अथवा अलग थे।

इस अध्ययन से यह भी स्पष्ट है कि व्यावसायिक प्रतिष्ठा का घनिष्ठ सम्बन्ध आय से है। व्यावसायिक समायोजन भी सन्तोषजनक था। अधिकांश व्यक्तियों ने उस प्रकार की प्रतिष्ठित नौकरी प्राप्त कर ली थी जो उन व्यक्तियों के पास चण्डीगढ़ आने के पूर्व अर्थात् दोनों नौकरियों का प्रतिष्ठा स्तर लगभग समान प्रकार का था। अतः शिक्षा व्यावसायिक गतिशीलता में महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह करती है। पश्चिम में शिक्षा व्यक्ति गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण साधन थी आज भारत के संदर्भ में भी यह तर्क दे सकते हैं। 1947 में स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त पिछड़े एवं निर्बल वर्गों को अच्छी सुविधाएं प्रदान कराना

सर्वोच्च प्राथमिकताओं में से एक प्राथमिकता बन गयी। सरकार ने शिक्षा के क्षेत्र में इन पिछड़े वर्गों को अनेक उदार सुविधाएं प्रदान की हैं। इन सुविधाओं को प्रदान करने की पृष्ठभूमि में यह तर्क है कि पिछड़े वर्गों के साथ हुए सामाजिक व आर्थिक शोषण को समाप्त किया जा सकेगा। शिक्षा से सम्बद्ध ये विशेष सुविधाएं सामाजिक-आर्थिक असमानता को समाप्त करेंगी।

13.6.3 सामाजिक गतिशीलता के पक्ष

गतिशीलता उन वस्तुपरक कारकों में से एक है जो व्यावसायिक समूहों में प्रतिबद्धता में या तो वृद्धि करती है अथवा प्रतिबद्धता में कमी लाती है। अतः प्रतिबद्धता को प्रोत्साहित करने में अथवा हतोत्साहित करने में गतिशीलता की प्रमुख भूमिका है। यदि गतिशीलता के अवसर सुचारू रूप से प्रदान किये जाते हैं तो प्रतिबद्धता में वृद्धि होती है क्योंकि गतिशीलता व्यक्ति को प्रोत्साहित करती है परन्तु यदि गतिशीलता के माध्यमों में बाधा है अर्थात् गतिशीलता के अवसर उपलब्ध नहीं हैं तो व्यक्ति हतोत्साहित हो जाता है। यह हतोत्साहन श्रमिक को श्रम की उपेक्षा की तरफ ले जाता है। हम स्थानिक अथवा भौगोलिक गतिशीलता की चर्चा कर सकते हैं जिसके अन्तर्गत व्यक्ति एक ही नगर में एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, एक शहर से दूसरे शहर में अथवा एक नगर से एक गांव में स्थानान्तरित हो जाता है। यह प्रवसन/स्थानान्तरण एक नगर के स्थान पर एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र की तरफ भी हो सकता है। इस स्थानान्तरण से सामाजिक गतिशीलता के अनेक पक्ष प्रभावित होते हैं।

व्यवसाय में गतिशीलता एवं व्यवसाय वे दो व्यापक संकेतक हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति एवं व्यवसाय दोनों की प्रस्थिति एवं प्रतिष्ठा से है। इन उपरोक्त संदर्भों को ध्यान में रखते हुए विभिन्न समितियों एवं आयोगों ने शिक्षक की एवं अध्यापन व्यवसाय की प्रस्थिति एवं प्रतिष्ठा के विषय में विस्तार से पक्ष प्रस्तुत किये हैं। हम इसके अतिरिक्त व्यवसाय के अन्तर्गत लम्बवत् गतिशीलता की चर्चा कर सकते हैं।

13.6.4 सामाजिक गतिशीलता के प्रतिमान एवं प्रकार

अध्यापन व्यवसाय में भारत में गतिशीलता प्रकार एवं प्रतिमान इस प्रकार व्यक्त होते हैं जिनसे आकांक्षा, प्रेरणा एवं नवाचार पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। यद्यपि कुछ ऐसे भी पद हैं जिनका अध्यापन से सम्बन्ध है और जो प्रेरणा, आकांक्षा एवं नवाचार पर सकारात्मक प्रभाव डालते हैं। इस व्यवसाय से सम्बद्ध आनुभविक अध्ययन बहुत कम हुए हैं। ऐसा कोई भी अध्ययन हमें उन माध्यमों को समझने में सहायता देगा जिनके द्वारा शिक्षकों में कुशलता एवं संकल्प की प्रकृति का मूल्यांकन किया जा सके तथा विभिन्न साधनों द्वारा इस संकल्प एवं कुशलता में वृद्धि की जा सके। ये शिक्षक विभिन्न पृष्ठभूमि के हो सकते हैं। यह बात स्पष्ट है कि हमारी कोई भी प्रतिबद्धता राष्ट्र से महान नहीं हो सकती तथा शिक्षकों में इसके परे अन्य कोई प्रतिबद्धता न तो उत्पन्न हो सकती है और न ही ऐसी किसी प्रतिबद्धता में वृद्धि हो सकती है। एक अन्य महत्वपूर्ण कारक जो सामाजिक स्तरीकरण से संबंधित गतिशीलता में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, परिवार की भूमिका के रूप में जाना जाता है। परिवार प्रस्थिति एवं गतिशीलता को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करता है। इस संदर्भ में यह जानना आवश्यक है कि "स्तर गतिशीलता" गतिशीलता का सबसे महत्वपूर्ण प्रकार है। यह गतिशीलता निम्न स्तर से उच्च स्तर की तरफ होती है। उदाहरण के लिए, सहायक प्रोफेसर का सह-प्रोफेसर होना तथा तत्पश्चात् प्रोफेसर बन जाना।

13.6.5 सामाजिक गतिशीलता के कारक

यदि सम्पूर्ण शिक्षण व्यवसाय को अवसर मिल जाएं और वह उनका उपयोग करते हुए सर्वोच्च पद को प्राप्त कर ले तब प्रतिबद्धता एवं उपलब्धि अपने उच्चतम स्वरूप में होगी। क्योंकि इस स्थिति में शिक्षकों को यह महसूस होगा कि वे अधिकांश उच्च पदों एवं क्षमताओं को प्राप्त कर रहे हैं जिनसे उनकी प्रस्थिति एवं प्रतिष्ठा में वृद्धि हो रही है।

यदि भारतीय स्थितियों को ध्यान में रखते हुए शिक्षा व्यवस्था में अपेक्षित सुधार किये जाएं तो वह गतिशीलता का एक महत्वपूर्ण स्रोत हो सकती है। स्वयं संविधान यह घोषणा करता है कि शिक्षकों की भूमिका एवं उनके व्यवसाय का व्यापक रूप में मूल्यांकन किया

जाए। यह इसलिए आवश्यक है क्योंकि परम्परागत सामाजिक संरचनाओं में अनेक उतार-चढ़ाव उत्पन्न हुए हैं।

व्यापक एवं विकसित हो रही सामाजिक व्यवस्था में अधिकांश शिक्षक विद्यालय स्तर पर कार्य करते हैं। यद्यपि यह भी स्पष्ट है कि आवश्यक स्तर पर उच्च शिक्षा एवं सम्बद्ध शिक्षकों का प्रभाव अत्यन्त महत्वपूर्ण है। व्यवसायीकरण एवं व्यावसायिक मांगों के संदर्भ में उपरोक्त तर्क यथार्थ है।

भारतीय उच्च शिक्षा अभिजन के प्रति विषयपरक दृष्टिकोण को सम्मिलित करती है। इन परिस्थितियों में,किसी भी प्रघटना को समझने के लिए दो दृष्टिकोण हो सकते हैं। हमें सबसे पहले यह समझना चाहिए कि निम्नस्तरीय गतिशीलता एवं सापेक्षिक गतिशीलता क्यों उत्पन्न हुई है तत्पश्चात् हमें विद्यालय शिक्षकों की स्थिति को समझना चाहिए। यह भी आवश्यक है कि उच्च शिक्षा में शिक्षकों की स्थिति को समझा जाए।

यह कहा जाता है कि शिक्षण अथवा अध्यापन वह व्यवसाय है जिसमें शिक्षक पूर्ण खंडों में विभाजित है। अतः विद्यालय शिक्षक विश्वविद्यालय शिक्षकों से पूर्णतया पृथक है। अतः व्यवसाय में पाई जाने वाली अन्तरा-व्यावसायिक गतिशीलता लम्बवत् दिशा में कार्य करती है। परन्तु यह स्पष्ट है कि विद्यालय शिक्षक संबंधित संस्तरण में पद प्राप्त करता है जबकि महाविद्यालय शिक्षक अपने संबद्ध संस्करण में पद प्राप्त करता है।

जहाँ तक शिक्षा एवं गतिशीलता का प्रश्न है विद्यालय एवं महाविद्यालय के विद्यार्थी हमारे समाज की भविष्य की श्रम शक्ति हैं।

गुणवत्ता अथवा स्तर में उत्पन्न होने वाली कोई भी गिरावट नागरिकों की गतिशीलता एवं गुणों को प्रभावित करती है।

प्राचीन काल से ही व्यवसाय सामाजिक स्तरीकरण का एक विश्वसनीय संकेतक रहा है। "व्यावसायिक वर्ग" एवं "व्यावसायिक स्थिति" जैसी अवधारणाएं अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। यद्यपि यह "व्यावसायिक क्रम विन्यास" है जो सभी अवधारणाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है (ब्लॉक 2 की आठवीं इकाई में इसका अध्ययन किया गया है, ई.एस.ओ.-04) सामाजिक गतिशीलता के अध्ययनों में व्यावसायिक गतिशीलता अत्यन्त महत्वपूर्ण कारक है। यह प्रश्न सामाजिक स्तरीकरण के सभी अध्ययनों को प्रभावित करता है।

बोध प्रश्न 2

उपयुक्त उत्तर को रेखांकित करें :

1) व्यवसाय में गतिशीलता एवं व्यवसाय की गतिशीलता निम्नलिखित में से किसके दो महत्वपूर्ण संकेतक हैं:
   i) प्रस्थिति एवं प्रतिष्ठा
   ii) उच्च प्रार्थापकता प्राप्त गतिशीलता
   iii) अधिकांश व्यक्तियों ने इन्हें पाया है
   iv) ये आय से घनिष्ठ रूप में संबंधित है
2) विस्तृत हो रही सामाजिक व्यवस्था में अधिकांश शिक्षक निम्न में से किसमें कार्यरत हैं:
   i) महाविद्यालय स्तर
   ii) विद्यालय स्तर
   iii) स्नातकोत्तर स्तर
   iv) शोध कार्य का स्तर

13.7 सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रियाएं

संस्कृतीकरण यह प्रक्रिया है जिसके द्वारा एक जाति का सम्पूर्ण भाग जाति व्यवस्था के

अन्तर्गत अपनी प्रस्थिति को उच्च बनाने का प्रयास करता है। इस प्रक्रिया में निम्न हिन्दु जाति अथवा अन्य समूह अपने रीति-रिवाजों, संस्कार, विचारधारा एवं जीवन पद्धति को उच्च अथवा द्विज जाति की दिशा में परिवर्तित करता है।

संस्कृतीकरण अन्तःजातीय गतिशीलता का महत्वपूर्ण स्रोत है। इतिहास में तथा वर्तमान में यह प्रक्रिया भारतीय उपमहाद्वीप का यथार्थ है। एक अन्य प्रक्रिया पश्चिमीकरण है जो ब्रितानी शासन के लगभग 150 वर्षों में हुए परिवर्तनों को अभिव्यक्त करती है। ये परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता को भी सम्मिलित करते हैं। जैसे-जैसे समाज पश्चिमीकृत होता है वर्ग संरचना लचीली होती जाती है। पश्चिमीकरण ने औद्योगीकरण एवं नगरीयकरण को प्रोत्साहित किया है जो कि सामाजिक गतिशीलता को उत्पन्न करते हैं।

13.7.1 सामाजिक गतिशीलता का मापन

सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न प्रतिमानों को हर दसवें वर्ष में जनसंख्या प्रतिवेदन अर्थात् भारत की जनगणना प्रतिवेदन में प्रस्तुत किया जाता है। यह श्रम/शक्ति की प्रस्थिति को भी बताता है ताकि समस्त परिवर्तनों की जानकारी प्राप्त की जा सके। आवासीय स्थानों एवं कार्य स्थानों में श्रमिकों की सापेक्षिक प्रस्थिति के कारण प्रवसन की प्रक्रिया में भी परिवर्तन देखा जा सकता है। वर्ष की विभिन्न अवधियों में विभिन्न स्थानों पर प्रवासी श्रमिकों द्वारा नौकरियों में संलग्नता गतिशीलता को व्यक्त करती है।

अतः हमारे समाज की संरचना विशेषतः व्यावसायिक संरचना गतिशीलता की मांग को उत्पन्न करती है। औद्योगिक विकास इसमें आगे ले जाने वाले कारक (पुश कारक) की भूमिका निभाता है जबकि कृषि श्रम इसमें पीछे ले जाने वाले कारक (पुल कारक) की भूमिका निभाता है। ये अवधारणाएं अन्तःपीढ़ी गतिशीलता की महत्वपूर्ण शक्तियां अथवा स्रोत हैं।

13.7.2 सामाजिक गतिशीलता की वृद्धि एवं उसमें बाधा उत्पन्न करने वाले कारक

अन्तःपीढ़ी गतिशीलता में वैसे तो अनेक कारक पाये जाते हैं परन्तु स्थानिक गतिशीलता में पलायक एवं आकर्षण कारक एक निवास स्थान से दूसरे निवास स्थान पर परिवार के सदस्यों को जाने के लिए प्रेरित अथवा बाध्य करते हैं। सभी प्रकार के परिवार समूह कभी न कभी इसका अनुभव करते हैं। "स्थानिक गतिशीलता" को हम भौतिक गतिशीलता एवं "पारिस्थितिक गतिशीलता" की भी संज्ञा देते हैं। अतः व्यक्तियों का एक भौगोलिक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना तथा साथ ही आवास स्थल को भी परिवर्तित करना पारिस्थितिक/भौगोलिक गतिशीलता को उत्पन्न करती है। केन्द्रीय वाणिज्यिक जिलों में प्रतिदिन आना एवं जाना एक महत्वपूर्ण यथार्थ है। यदि कोई बदलाव अस्थायी एवं अल्पकालिक है तो उसे गतिशीलता की संज्ञा नहीं दी जा सकती।

एक वर्ग से दूसरे वर्ग में व्यक्ति का प्रवेश सामाजिक गतिशीलता कहलाता है। स्तरीकरण की व्यवस्था में यह गतिशीलता उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय हो सकती है परन्तु ये दोनों ही लम्बवत् गतिशीलता का भाग है। इस गतिशीलता में प्रतिष्ठा में या तो वृद्धि होती अथवा प्रतिष्ठा में कमी आती है। परन्तु वर्ग समाज में एवं एक जाति समाज में सामाजिक गतिशीलता के अर्थ भिन्न-भिन्न हो सकते हैं।

इन दोनों ही समाजों में क्षैतिज एवं लम्बवत् गतिशीलता के भिन्न-भिन्न संदर्भ पाये जाते हैं। अन्तःपीढ़ी गतिशीलता भी महत्वपूर्ण अवधारणा है। यह वह लम्बवत् परिवर्तन है जो एक पीढ़ी की दूसरी पीढ़ी से तुलना करते समय अवलोकित किया जाता है। यह भिन्न-भिन्न प्रकार की शिक्षा का भी परिणाम है। विभिन्न प्रकार के व्यवसायों में उत्पन्न बदलाव भी गतिशीलता के इस पक्ष को उत्पन्न करता है। ये व्यवसाय उच्च प्रतिष्ठा अथवा निम्न प्रतिष्ठा की तरफ गतिवान हो सकते हैं।

13.7.3 शिक्षा, व्यवसाय एवं सामाजिक गतिशीलता

विद्यालय, महाविद्यालय, स्नातकोत्तर इत्यादि स्तर की शिक्षा गतिशीलता को उत्पन्न करने की महत्वपूर्ण कारक कही जाती है। एक विशेष स्तर की शिक्षा अथवा विशिष्ट प्रकृति की शिक्षा कुछ व्यवसायों को अपनाने हेतु अनिवार्य होती है। तभी उस व्यवसाय को उपयुक्त

रूप से किया जा सकता है। अतः शिक्षा एवं व्यवसाय के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध हैं। ये सम्बन्ध गतिशीलता को निर्धारित करते हैं क्योंकि विशेष प्रकार की शिक्षा विशेष प्रकार के व्यवसाय में प्रवेश दिलाती है। शिक्षा एवं व्यवसाय का सम्बन्ध उच्चस्तरीय एवं निम्नस्तरीय सामाजिक गतिशीलता को भी प्रभावित करता है। अतः शिक्षा व्यवसाय एवं गतिशीलता एक दूसरे से घनिष्ठ रूप में सम्बन्धित हैं।

13.8 सारांश

इस इकाई के अन्तर्गत हमने शिक्षा, व्यवसाय एवं सामाजिक गतिशीलता के मध्य अन्तः सम्बन्धों का अध्ययन किया है। सर्वप्रथम हमने आधुनिक शिक्षा के पक्ष, उसके उद्देश्य एवं लक्ष्य एवं परिवर्तन के संदर्भ में शिक्षा का विवेचन किया। हमने यह भी जानने का प्रयास किया कि कैसे संकल्प एवं योग्यता/कुशलता को शिक्षा ने उत्पन्न किया। हमने इस संदर्भ में शिक्षा में अध्यापक की भूमिका का भी विवेचन किया।

तत्पश्चात् हमने शिक्षा से सम्बद्ध करते हुए व्यवसाय एवं गतिशीलता के पक्षों का अध्ययन किया। तथा इन पक्षों को गतिशीलता के स्तरों, प्रतिमानों एवं प्रकारों से सम्बन्धित किया। अन्त में हमने सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रियाओं, 'पलायन' एवं 'आकर्षण' कारकों तथा सामाजिक गतिशीलता के अन्य सम्बद्ध पक्षों का विवेचन किया।

13.9 शब्दावली

शिक्षा: वह प्रक्रिया जिसके द्वारा मस्तिष्क प्राविधिक प्रशिक्षण या तकनीकी प्रशिक्षण प्राप्त करता है जिसके कारण वह व्यक्ति सम्बद्ध विषय का विशेषज्ञ बन जाता है। यह व्यक्ति की चेतना के क्षेत्र को व्यापक करती है। शिक्षा विद्यालयों व महाविद्यालयों में यदि अर्जित की जाये तो औपचारिक है जबकि मित्र समूह की सदस्यता के अन्तर्गत सीखना अनौपचारिक शिक्षा है।

छनन सिद्धांत (फिल्ट्रेशन थियरी): शिक्षा नीति में छनन सिद्धांत इस अनुमान पर आधारित है कि शिक्षण संस्थान केवल नगरों में स्थापित किये जायें जहाँ शिक्षा स्वाभाविक रूप में एक समय अन्तराल के पश्चात् गांवों में प्रवेश कर जायेगी। यह विचार जब उत्पन्न हुआ तो इस आधार पर प्रत्येक जिला केन्द्र पर एक हाई स्कूल को शिक्षा सम्बन्धों के केन्द्र के रूप में स्थापित किया गया।

गतिशीलता: व्यवसाय में क्षैतिज अथवा लम्बवत् रूप में उत्पन्न हुआ बदलाव गतिशीलता है।

व्यवसाय: किसी भी व्यवसाय में श्रम को धन अथवा वेतन के बदले में बेचा जाता है। किसी भी व्यक्ति की प्रस्थिति उसके व्यवसाय से निर्धारित होती है। व्यवसाय में व्यक्ति के पास जो पद है वह उसकी प्रतिष्ठा को भी निर्धारित करेगा।

व्यवसायीकरण: यह प्रक्रिया जिसके द्वारा व्यक्ति अपने व्यवसाय से सम्बद्ध प्रतिबद्धता एवं योग्यता का उच्च स्तर उत्पन्न व विकसित करता है।

13.10 उपयोगी पुस्तकें

डिसूजा, विक्टर, एस. 1968. *सोश्यल स्ट्रक्चर ऑफ ए प्लान्ड सिटी चण्डीगढ़.* नई दिल्ली: ओरियन्ट लॉंगमैन।

दुबे, सत्यमित्र. 1975. *सोशल मोबिलिटी अमंग द प्रोफेशन्स : स्टडी ऑफ द प्रोफेशन्स इन एक ट्रांजिशनल सिटी.* बम्बई पॉपुलर प्रकाशन।

श्री निवास, एम.एन.. 1966. *सोश्यल चेन्ज इन माडर्न इण्डिया*. बर्कले एंड लास एंजिल्स: यूनिवर्सिटि ऑफ कैलीफार्निया प्रेस।

ट्यूमिन, मैल्विन, एम. 1967. *सोश्यल स्ट्रेटीफिकेशन*. एंगिलवुड क्लिफ्स न्यू जर्सी: प्रिन्टस हाल।

13.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i)

2) ii)

बोध प्रश्न 2

1) i)

2) ii)

Notes

Notes

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGSY - 04
सामाजिक स्तरीकरण

खंड
4
भारतीय समाज में स्तरीकरण

इकाई 14

जनजातीय समाजों में स्तरण 5

इकाई 15

भारतीय समाज में जाति और समुदाय : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य 18

इकाई 16

वर्ण और जाति 39

इकाई 17

सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति 52

खंड का परिचय : भारतीय समाज में स्तरीकरण

सामाजिक स्तरण से संबंधित इससे पहले के खंड में सिद्धांत और अवधारणा, समाजों में स्तरण तथा सामाजिक गतिशीलता से परिचित होकर आप इस योग्य हो चुके हैं कि अपने समाज के विषय में आप सवाल कर सकें। वर्तमान खंड में भारतीय समाज में स्तरण का अध्ययन किया गया है जिससे आपको अपने समाज को समझाने में आसानी हो सके। इसमें चार इकाइयाँ हैं: जनजातीय समाजों में स्तरण, भारतीय समाज में जाति और समुदाय: एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य, वर्ण और जाति तथा सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति।

इकाई 14 को जनजातीय समाजों में सामाजिक स्तरण पर केंद्रित किया गया है। जनजातीय समाजों की समझ को लेकर बहुत सी गलत धारणाएं प्रचलित हैं, जैसे जनजातीय समाज संरचना और स्वरूप की दृष्टि से समतावादी होते हैं। इनका जाति आदि से कुछ लेना-देना नहीं है। इस प्रकार की गलत धारणाओं को दूर करना इस इकाई का उद्देश्य है। साथ ही जनजातीय समाजों की गतिशीलता तथा उनमें हो रहे परिवर्तनों को समझना भी इसका उद्देश्य है। जनजातियाँ समांगी समुदाय नहीं हैं। उनमें सामाजिक और आर्थिक क्षेत्रों में भी स्तरण विद्यमान है। जहाँ जाति स्तरण व्यवस्था में हम जातियों की विशेषताओं को खोजते हैं और जाति व्यवस्था के संदर्भ में उसकी हैसियत पद का निर्धारण करते हैं वहीं जनजातीय समाजों के स्तरण में हम कुनबे/कुल के गुणों की तरफ भी ध्यान देते हैं। परिवार और व्यक्ति की खूबियाँ तलाशते हैं और अन्यों के संदर्भ में उनका पद/हैसियत निर्धारित करते हैं।

इकाई 15 में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में जाति और समुदाय के उद्भव और विकास का विवेचन किया गया है। वैदिक काल से लेकर अब तक जाति व्यवस्था को विभिन्न चरणों से गुजरना पड़ा है। इसने अन्य धार्मिक समुदायों को भी प्रभावित किया है जैसे मुसलमान, पारसी, सिक्ख और ईसाई। अनुलोम और प्रतिलोम विवाहों ने जाति प्रथा को बहुत अधिक प्रभावित किया है। भारत में जातियों और जनजातियों के आपसी संपर्क ने जनजातीय समुदायों को हिंदुओं की परिधि में लाने में मदद की है। इस इकाई में ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य को कायम रखते हुए राजनीतिक अर्थव्यवस्था के संदर्भ में भी जाति और समुदाय का विश्लेषण किया गया है।

इकाई 16 में वर्ण और जाति में अंतर करने की कोशिश की गई है। इससे दोनों के बीच का फर्क बहुत साफ तौर पर उजागर हुआ है। जहाँ वर्ण स्वरूप की दृष्टि से समष्टिमूलक संरचना वाला है वहीं जाति का स्वरूप व्यष्टि-संरचनात्मक है। वर्ण अवधारणात्मक स्तर की चीज है, इसकी तुलना जब हम जाति से करते हैं तो इसे हम यथार्थ रूप में देखते हैं। यानी एक संकल्पनात्मक स्तर पर है, दूसरा अस्तित्व के स्तर पर। सैद्धांतिक रूप से जाति का उद्गम स्रोत समाज का चार वर्णों में बंटना अंतर्निहित है। इसके अलावा भारतीय संदर्भ में ऐसा देखा गया है कि जाति और वर्ग में जाति अर्थात् जाति तथा वर्ग में आंगिक संबंध है। जाति व्यवस्था में सीमित अर्थों में जो गतिशीलता है, वह अनुष्ठानों तथा अनुलोम विवाह के चलते होती है और संस्कृतीकरण से मात्र हैसियत में फर्क पड़ता है, उससे जाति की संरचना में कोई परिवर्तन नहीं होता।

इकाई 17 में इस बात पर विचार किया गया है कि जाति व्यवस्था का रूप किस तरह सोपानात्मक है अथवा सोपानात्मक व्यवस्था किस प्रकार जाति को संगठित करने वाला सिद्धांत है। सोपानात्मक व्यवस्था सामाजिक स्तरण से घनिष्ठ रूप से जुड़ी है। यह ऊपर से नीचे की तरफ सामाजिक विभाजन की विस्तृत और स्थापित व्यवस्था है जिसे सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में वर्णन किया गया है। मूलतः जाति को सोपानात्मक व्यवस्था समझा जाता है जिसका आधार धार्मिक सिद्धांत हैं। दूसरी बात यह है कि जाति के सार तत्व के रूप में सोपानात्मक व्यवस्था अन्य विशेषताओं को भी महत्व देती है, जिनको वह ज्यों का त्यों आत्मसात कर लेती है।

इकाई 14 जनजातीय समाजों में स्तरण

इकाई की रूपरेखा

14.0 उद्देश्य
14.1 प्रस्तावना
14.2 जनजातियों के बीच सामाजिक स्तरण
14.3 सामाजिक स्तरण क्या है?
  14.3.1 सामाजिक स्तरण के प्रकार
  14.3.2 सामाजिक स्तरण के महत्वपूर्ण तत्व
14.4 जनजातियों के विषय में किये गए अनुसंधान
  14.4.1 क्या भारतीय जनजातियाँ समतावादी हैं?
  14.4.2 जनजाति का अर्थ
  14.4.3 जनजातियों की विषमांगता
  14.4.4 आधुनिक काल में जनजातियाँ
    14.4.4.1 ब्रिटिश शासन और जनजातियाँ
14.5 जनजातियाँ और स्तरण
  14.5.1 जनजातियाँ और कामकाज के स्तर
14.6 जनजातियों के राजनीतिक पहलू
  14.6.1 साइएम नामक संस्था
14.7 परिवर्तन की प्रक्रिया
  14.7.1 भील जनजाति का विकास
  14.7.2 भीलों में और अधिक विभेदीकरण
  14.7.3 विचारधारात्मक स्तरण
  14.7.4 जनजातियाँ और जाति
  14.7.5 आर्थिक स्तरण
14.8 कृषिक स्तरण का ढाँचा
  14.8.1 जनजातियाँ और आर्थिक कसौटी
14.9 संरक्षणात्मक भेदभाव
14.10 सारांश
14.11 शब्दावली
14.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें
14.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

14.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपके लिए यह सम्भव होगा कि:

- सामाजिक स्तरण या स्तरीकरण के विषय में विचार-विमर्श कर सकें और इसके महत्वपूर्ण तत्वों को बता सकें;
- जनजाति का अर्थ स्पष्ट कर सकें;
- आधुनिक काल की जनजाति के विषय में बता सकें;
- जनजातियों के राजनीतिक पक्ष की व्याख्या कर सकें;
- भीलों में परिवर्तन की प्रक्रिया को समझ सकें; और
- संरक्षणात्मक भेदभाव के विषय में बता सकें।

14.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम अपनी बात को जनजातियों के सामाजिक स्तरण पर केंद्रित करेंगे। उसके

बाद जनजातियों के बारे में किए गए अनुसंधानों की चर्चा करेंगे और यह बताएंगे कि क्या भारत का जनजातीय समाज समतावादी है। इसके बाद कई अन्य पहलुओं से हम जनजातियों का अध्ययन करेंगे। उदाहरण के लिए, हम इस बात का अध्ययन करेंगे कि उनकी गतियां किन स्तरों पर संचालित होती हैं। इसके अलावा स्तरण और ब्रिटिश शासन काल में और आधुनिक काल में जनजातियों की स्थिति क्या है।

इन बातों पर विचार करने के बाद हम जनजातियों के जीवन के राजनीतिक पक्ष की तरफ मुड़ेंगे और साएम : नामक संस्था का अध्ययन करेंगे। यह सब जानने के पश्चात् हम परिवर्तन की प्रक्रिया की जानकारी हासिल करेंगे जिसकी मिसालें भीलों के विकास और उनकी विचारधारा के स्तरण में तथा जनजाति और जाति के संबंधों में दिखाई पड़ती हैं। अंततः कृषिक स्तरण का परिचय प्राप्त करते हुए संरक्षात्मक भेदभाव पर कुछ शब्द कह कर हम अपनी बात समाप्त करेंगे।

14.2 जनजातियों के बीच सामाजिक स्तरण

इस इकाई में हमारे विचार-विमर्श का मुद्दा जनजातीय समाजों में सामाजिक स्तरण होगा। चूँकि जनजातियाँ भारतीय जनसंख्या का काफी महत्वपूर्ण हिस्सा हैं, इसलिए अनेक सामाजिक ढाँचे और सामाजिक संबंधों के प्रतिरूपों को समझना अनिवार्य है जो प्रतिरूप उनके सदस्यों के पारस्परिक संबंधों में इस समय विद्यमान हैं। लेकिन जनजातियों की एक जैसी कोई संभागी कोटि निश्चित नहीं की जा सकी है, इसलिए अलग-अलग जनजातीय समुदाय में विद्यमान स्तरण को हमें देखना होगा। इसलिए भी इस विधि को अनुकूल पाया गया है कि न केवल विभिन्न जनजाति समूहों में क्रियाशील स्तरण प्रक्रिया की इससे एक झलक मिलती है, बल्कि समाज द्वारा अपनाए गए स्तरण के एक भिन्न आधार की इससे हमें जानकारी मिलती है। पढ़ने के बाद आप पाएंगे कि स्तरण का आधार हमेशा एक जैसा नहीं बना रहता है। समय के अंतराल के साथ इसमें परिवर्तन की संभावना बनी रहती है। जनजातीय समाजों के विषय में तो यह बात खासतौर पर सच है जिनकी उन्नति को लक्ष्य में रखकर संविधान में अनेक कदम उठाए गए हैं। विकास कार्यक्रमों और योजनाओं को लागू करने के साथ ही उनका उद्देश्य जनजातियों की भलाई है। लेकिन इन कार्यक्रमों और योजनाओं के चलते जनजातियों के बीच स्तरण की प्रक्रिया और गहरी हुई है। इसके स्तरण का स्वरूप पहले की अपेक्षा अधिक सार्वभौमिक होता गया है।

विभिन्न समाजों से उदाहरण देकर इस बात को स्पष्ट किया गया है। विख्यात समाजशास्त्रियों और नेतृत्वशास्त्रियों ने विभिन्न जनजातियों का अध्ययन किया है। इस इकाई के उदाहरण इन्हीं के अध्ययनों से लिए गए हैं।

14.3 सामाजिक स्तरण क्या है?

इसके पहले कि जनजातीय समाजों के स्तरण पर हम अपनी बात शुरू करें, आइए, हम एक बार सामाजिक स्तरण की व्याख्या को समझ लें।

सामाजिक स्तरण एक भू-वैज्ञानिक रूपक है। मानव समाज की सोपानात्मक व्यवस्था की व्याख्या के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। जिस प्रकार भूमि के पृष्ठ की रचना चट्टान की विभिन्न सतहों से होती है, उसी प्रकार मानव समाज अनेक समूहों से निर्मित होते हैं तथा उसी रूप में वे अपनी भौतिक और सामाजिक विशेषताओं के आधार पर विभिन्न सामाजिक स्तरों में बंटे होते हैं। सामाजिक स्तरण समाज में विद्यमान विविध सोपानों का प्रतिनिधित्व करता है। इसमें अलग-अलग स्तर के सामाजिक अधिकार और अलग-अलग स्तर की सामाजिक सुविधाएँ इनको एक दूसरे से पृथक करती हैं। सामाजिक स्तरण लोगों को आपस में संगठित करने का सिद्धांत है। इस रूप में अपने सदस्यों के आम हित और सामान्य पहचान के आधार पर लोग एक दूसरे से बंधे रहते हैं और दूसरे समूह के सदस्यों को इसी आधार पर अपनी परिधि से बाहर कर देते हैं। जाति भारतीय समाज में स्तरित समाज व्यवस्था का उदाहरण है। हिंदुओं में प्रचलित पवित्रता-अपवित्रता की धारणा इसका आधार है।

14.3.1 सामाजिक स्तरण के प्रकार

मोटे तौर पर सामाजिक स्तरण के दो रूप होते हैं। सामाजिक स्तरण या तो बंद होता है अथवा मुक्त होता है। इसका बंद अथवा मुक्त होना इस बात पर निर्भर करता है कि यह एक स्तर से दूसरे स्तर में जाने की अनुमति देता है या नहीं। स्तरण का रूप जहाँ मुक्त होता है, वहाँ बिना किसी बाधा के व्यक्ति एक स्तर से दूसरे स्तर में पहुँच सकता है लेकिन बंद व्यवस्था में उसकी गतिशीलता काफी सीमित रह जाती है।

सामाजिक स्तर के इन दोनों रूपों में आधारभूत अंतर इनके द्वारा प्रयुक्त अवधारणाओं में निहित है। मुक्त स्तरण में सामाजिक स्थिति का निर्धारण धन, सत्ता और शिक्षा जैसे अर्जित मानदण्डों द्वारा होता है। प्रयास करने के बाद कोई भी व्यक्ति इन विशेषताओं को हासिल कर सकता है। किंतु बंद व्यवस्था में व्यक्ति की सामाजिक स्थिति, प्रजाति, जाति अथवा खानदान जैसी बातों से तय होती है और ये बातें व्यक्ति को अपने द्वारा अर्जित गुणों से नहीं जन्म से प्राप्त होती हैं।

14.3.2 सामाजिक स्तरण के महत्वपूर्ण तत्व

मूल्यांकन का कार्य सामाजिक स्तरण का आधार है। सामाजिक प्राणी की हैसियत से मनुष्य उपयोगिता, वांछनीयता और उपलब्धता की दृष्टि से भौतिक वस्तुओं के मूल्य और महता का लगातार आकलन करता रहा है। इसी तरह मनुष्य अपने सहयोगी व्यक्तियों के व्यवहार और उनकी गुणवत्ता को जांचने-परखने के लिए कुछ मानदण्डों का इस्तेमाल करता है। लेकिन इसकी पूरी संभावना होती है कि गुणवत्ता को नापने वाले ये मानदण्ड सारे समाजों में एक से न हों। हर समाज अपने व्यक्तियों अथवा समूहों के वांछनीय गुणों को मापने के लिए अपनी कसौटी अलग विकसित करता है।

बहरहाल, सामाजिक मूल्यांकन अपने आप में सामाजिक स्तरण नहीं होता है, यद्यपि उसके अस्तित्व की यह जरूरी शर्त तो है। अब असमान हैसियत के आधार पर मनुष्यों अथवा उनके समूहों को वर्गीकृत किया जाता है तब सामाजिक स्तरण का जन्म होता है। इसका मतलब यह है कि असमानता की अवधारणा सामाजिक स्तरण का अविभाज्य अंग है।

इस बात पर गौर करना महत्वपूर्ण होगा कि समाज में असमानता दो रूपों में काम कर सकती हैं: पहला, अपनी निजी अथवा सामाजिक योग्यता के आधार पर व्यक्ति अथवा समूह असमान माने जा सकतें हैं,जैसे एक ब्राह्मण किसी शूद्र से श्रेष्ठ माना जा सकता है। अथवा कोई राजा किसी जनसाधारण से बड़ा माना जा सकता है। दूसरी बात, एक समाज के व्यक्तियों में दूसरे किस्म की असमानता विद्यमान रह सकती है। मसलन शिक्षा तक लोगों की पहुँच, जिसके कारण किसी व्यक्ति की ऊँची हैसियत प्राप्त होती है या नौकरी में कोई ऊँचा ओहदा मिल सकता है जिसके कारण सत्ता और प्रतिष्ठा दोनों ही मिलते हैं। लेकिन स्तरित समाज में असमानता का रूप चाहे जो भी हो, उस व्यवस्था में अपनी सापेक्षिक योग्यता और मूल्य के आधार पर उनकी श्रेणी से उनका पदानुक्रम (हाइरार्की) निर्धारित होता है।

प्रजाति,जाति, पेशा, आमदनी, संपत्ति, प्रतिष्ठा और सत्ता सामाजिक स्तरण को निर्धारित करने वाले कुछ महत्वपूर्ण तत्व हैं।

इस विवेचना का आधारभूत उद्देश्य जनजातीय समाजों में विद्यमान स्तरण के स्वरूप को समझना है। भारत में 1981 की जनगणना से पता चलता है कि भारत में 5 करोड़ 30 लाख जनजातीय आबादी है (भारत की कुल आबादी का यह 7.76 प्रतिशत है)। इस जनसंख्या को आबादी का छोटा सा हिस्सा कहा गया है। यह भी कहा गया है कि ये लोग अपने आप में संतुष्ट हैं। इनका समाज समतावादी है जिसमें विभेदीकरण या तो है ही नहीं और अगर है भी तो वह नाम मात्र का है। वर्ग, श्रेणी तथा हैसियत प्रस्थिति समूह जैसी बातों को इनकी संस्कृति के लिए अजनबी माना गया है।

14.4 जनजातियों के विषय में किये गए अनुसंधान

हाल में किए गए अध्ययनों से बात उजागर हुई है कि जनजातियों को ऐसा समुदाय नहीं

माना जा सकता जहाँ विभेदीकरण का नितांत अभाव हो अथवा संपूर्ण सम्‌दाय समांगी (होमोजिनियस) हो, जैसा कि पहले उनके विषय में विद्वान लोग मानते चले आए थे। यहां तक कि अतीत काल में भी किसी न किसी प्रकार का सामाजिक सोपान (बड़े-छोटे का रूप) उनमें भी विद्यमान था। सत्ता और प्रस्थिति पर आधारित सामाजिक विभेदीकरण जिस प्रकार गैर जनजातियों में प्रचलित था, उतना ही यह जनजातीय समाजों का भी अविभाज्य अंग था।

दूसरी संस्कृतियों के साथ जनजातीय संस्कृतियों के संपर्क ने सामाजिक स्तरण को और बढ़ा दिया है। मसलन, जो जनजातियाँ हिंदुओं के इर्द-गिर्द रहती हैं, उनमें संस्कृति की प्रक्रिया क्रियाशील है। इसके चलते उनमें भी उसी तरह का सामाजिक विभेदीकरण हुआ है जैसे हिंदुओं में विद्यमान है, जैसे जातिगत बंधन।

ये सारी बातें इस तथ्य की ओर इशारा करती हैं कि सामाजिक स्तरण मानव जीवन का अपरिहार्य अंग है। इससे पता चलता है कि समतावादी समाज की परिकल्पना (अतीत में जिसे काफी बड़े पैमाने पर मान्यता मिली थी) कोरी कल्पना जगत की बात थी।

14.4.1 क्या भारतीय जनजातियाँ समतावादी हैं?

"पश्चिम बंगाल की जनजातियों में सामाजिक स्तरण" विषय पर किए गए अपने अनुसंधान में पी.के. बोस इसके लिए दो स्पष्टीकरण पेश करते हैं। उनके विचार से इसकी पहली वजह यह है कि जनजातियों को लेकर अधिकांश अनुसंधान कार्य उपनिवेशवादी नेतृत्वशास्त्रियों ने किया है। ज्यादातर इन लोगों की दिलचस्पी जनजातियों के विषय में मानव विज्ञान संबंधी सूचनाएँ संकलित करने में थी। इन सूचनाओं का संबंध जनजातियों की दिनचर्या, रीति-रिवाज और कर्मकांडों से था। दूसरी वजह यह थी कि जनजातियों की कोई सुनिश्चित या सर्वमान्य परिभाषा भी नहीं की गई थी।

14.4.2 जनजाति का अर्थ

जनजातीय समाज में स्तरण के स्वरूप को ठीक से समझने के लिए महत्वपूर्ण बात यह है कि हम जनजाति शब्द के लाक्षणिक अर्थ को समझें। जैसा कि बोस ने संकेत किया है कि "जनजाति" पद को अवधारणा के स्तर पर परिभाषित नहीं किया गया है। जनजाति शब्द की इस अर्थगत अस्पष्टता के चलते इनके विषय में अध्येताओं के परिप्रेक्ष्य पृथक-पृथक हो गए हैं। मसलन, नेतृत्वशास्त्र में जनजाति का वर्णन अनेक प्रकार से किया गया है जैसे आदिम जनजाति, पिछड़ी हुई जनजाति, पहाड़ी जनजाति, जंगली जनजाति आदि। इसी प्रकार जनजातियों के लिए विभिन्न प्रकार के स्थानीय नामों का उपयोग किया जाता है जैसे गिरिजन, जनजाति, आदिम जनजाति, आदिवासी आदि। लेकिन इनमें से ज्यादातर जनजातियों के विवरण मात्र हैं। किसी सामान्य उद्‌गम सामान्य संस्कृति की ओर ये संकेत नहीं करते हैं।

14.4.3 जनजातियों की विषमांगता

जनजाति शब्द विषमांगी (हेटरोजीनियस) कोटि (कैटेगरी) है। यह देश के अलग-अलग भू-भागों में बिखरी हुई है। प्रत्येक जनजातीय समुदाय की अपनी पृथक विशेषता है जो अन्य समुदायों से उनको अलग करती हैं। प्राकृतिक वास, नृजाति, भाषा, संस्कृति और प्रशासनिक तौर-तरीके के स्तर पर वे एक दूसरे से भिन्न हैं। जैसे मध्य भारत के गोंडों और पूर्वोत्तर भारत के नागा, मिजो या गारो जनजातियों के बीच भाषा, नृजाति या संस्कृति के स्तर पर कुछ भी सामान्य या मिलता-जुलता नहीं है। इसी प्रकार आंध्र प्रदेश के कोया या कोंडा रेड्डियों तथा राजस्थान के भील या मीणा जनजातियों अथवा गुजरात के चौधरियों में बहुत अधिक फर्क है। लेकिन भारत की प्राचीन पोथियों में जनजातियों को "जन" संज्ञा प्रदान की गई है जो जाति से पृथक है।

14.4.4 आधुनिक काल में जनजातियाँ

आधुनिक काल में औपनिवेशिक शासकों के आने के साथ ही "जनजाति" पद अलग कोटि (कैटेगरी) के रूप में सामने आया। इस देश में ब्रिटिश शासकों के आने के पहले अनेक छोटे-छोटे इलाकों पर जनजातियों का पूर्ण नियंत्रण था। इनमें कुछ का दावा तो यहां तक था कि उनके पूर्वज क्षत्रिय थे। मिसाल के तौर पर गोंड, मुण्डा और भील जनजातियों की

संख्या काफी थी और इनके सरदार काफी ताकतवर थे। इसी प्रकार भारत के पूर्वोत्तर तथा अन्य हिस्सों में अधिकांश जनजातियाँ राजनीतिक रूप से स्वायत्त थीं और अपने क्षेत्र पर उनका शासन कायम था।

14.4.4.1 ब्रिटिश शासन और जनजातियाँ

ब्रिटिश शासन की शुरुआत के बाद उनके द्वारा नए प्रशासकीय और वन नियमों के लागू करने से जनजातियों के स्वायत्त शासन में खलल पड़ा। इनमें से कुछ नियम तो जनजातीय जीवन के लिए नितांत अपरिचित थे। इनसे उनके परंपरागत अधिकार और विशेषाधिकार प्रभावित हुए। नतीजा यह हुआ कि कई जनजातियों ने विदेशी शासकों के विरुद्ध विद्रोह का झंडा बुलंद किया।

भविष्य में इस प्रकार का कोई विद्रोह न हो और गैर-जनजाति के लोग जनजातियों का शोषण न कर सकें, इसलिए जिन क्षेत्रों में जनजातियों की संख्या ज्यादा थी, ब्रिटिश शासकों ने उन क्षेत्रों को सीधे अपने नियंत्रण में ले लिया और इनको विशेष क्षेत्र का नाम दिया। इन विशेष क्षेत्रों की नीतियों में अनेक बार परिवर्तन किए गए लेकिन जनजाति शब्द लोगों के दिमाग में पहले की तरह विद्यमान है।

1947 में देश आजाद हुआ और 1950 में संविधान बना। उसमें इन सभी जनजातियों को "अनुसूचित जनजाति" शीर्षक के अंतर्गत रखा गया।

जहां जनजातियों को पहचानना सरल है, वहीं उनको परिभाषित करना काफी कठिन है। आज भी जनजाति की कोई सार्वभौम परिभाषा नहीं है। वास्तव में, भारतीय संविधान में तथा अन्य प्रशासनिक हलकों में जनजातियों को प्रशासनिक कोटि में ही रखा गया है, नृजातीय या प्रजातीय कोटि में नहीं।

बोध प्रश्न 1

1) सामाजिक स्तरण के दो प्रमुख तत्वों के विषय में लिखिए।

   (आपका उत्तर पाँच से आठ पंक्तियों का होना चाहिए)

2) निम्नलिखित से आप क्या समझते हैं?
   i) "मुक्त स्तरण"
   ii) "बंद" स्तरण

14.5 जनजातियाँ और स्तरण

जनजातीय समाजों के अध्ययन में इस बात को ध्यान में रखना महत्वपूर्ण है कि इस अर्थ में जनजातियों की कोई एक समाज व्यवस्था नहीं है कि हर जनजाति को उस समग्र व्यवस्था का एक हिस्सा माना जाए। कोई एक अकेली जनजातीय व्यवस्था नहीं है, जहां अलग-अलग इकाई उस समग्र के अंग के रूप में काम करती हो। हर जनजातीय समुदाय अपने आप में पूर्ण होता है। उसकी अपनी अलग आर्थिक, राजनीतिक, नातेदारी संबंधी और सांस्कृतिक व्यवस्था होती है। इसी प्रकार हर जनजातीय समूह का विभेदीकरण उसके अपने तरीके से किया जा सकता है। यद्यपि भारतीय संविधान में सभी जनजातीय समूहों को एक ही नाम "अनुसूचित जनजाति" के अंतर्गत रखा गया है, लेकिन उनकी एकता केवल सिद्धांतों तक सीमित है। यथार्थ में हर जनजाति की पृथक सामाजिक सत्ता है। इनको सूचियों में रखने के फायदे भी राज्य की सीमाओं से प्रबंधित हैं। मसलन कोई जनजाति एक राज्य में अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में रखी गई हो तो यह जरूरी नहीं कि किसी दूसरे राज्य में भी वह अनुसूचित जनजाति मानी जाती हो।

जनजातियों के स्वायत्त स्वरूप के कारण उनके समाजों के स्तरण का अध्ययन काफी जटिल हो जाता है। यही कारण है कि जनजातीय समाजों के स्तरण अध्ययन में अध्येताओं को ऐसे परिप्रेक्ष्य अपनाने होते हैं जो जाति के अध्ययन में अपनाए गए परिप्रेक्ष्य से भिन्न हैं।

आदित्येन्द्र राय का मानना है कि जाति का स्तरण करते समय अध्येता की दृष्टि जाति (संपूर्ण समूह) पर होती है तथा जाति व्यवस्था के ही आधार पर उसकी श्रेणी तय होती है।

इसके विपरीत जनजाति के स्तरण में अध्येता की निगाह व्यक्तियों की विशेषताओं पर रहती है और उनकी श्रेणी का निर्धारण अन्य व्यक्तियों की सापेक्षता में किया जाता है।

इस प्रकार जाति के स्तरण में, जाति व्यवस्था के अंतर्गत समूहों का सोपानक्रम बना रहता है। इसके विपरीत जनजातीय स्तरण में इस तरह की कोई व्यवस्था नहीं होती बल्कि सदस्यों द्वारा निजी स्तर पर अर्जित प्रतिष्ठा का सोपानक्रम होता है।

14.5.1 जनजातियाँ और कामकाज के स्तर

जनजातीय स्तरण दोनों स्तरों पर कार्य कर सकता है: एक ही जनजाति में व्यक्ति के स्तर पर और अनेक जनजातियों के बीच सामूहिक स्तर पर।

अतीत में जनजातीय समाज में स्तरण को उस समाज के आंतरिक विभेदीकरण के रूप में देखा जाता था। इसमें प्राकृतिक संसाधनों पर नियंत्रण को महत्व दिया जाता था अथवा व्यक्तियों की उनके कुल के आधार पर हैसियत निर्धारित की जाती थी अथवा इस आधार पर कि उनके पास कितनी भौतिक और आध्यात्मिक शक्ति है। भारत के अधिकांश भागों में, जहाँ जनजातियाँ एक दूसरी से कटी हुई अकेली रहती हैं, वहाँ तो उनके बीच परस्पर स्तरण का सवाल ही खड़ा नहीं होता। यद्यपि उनके बीच विभिन्न समूहों में श्रेष्ठता और गैर श्रेष्ठता की मिसालें मौजूद हैं।

बहरहाल, जनजातीय स्तर का वर्तमान स्वरूप तब से लेकर आज तक एक लंबी यात्रा तय कर चुका है। जनजातियों से उपलब्ध साहित्य से पता चलता है कि समय बीतने के साथ ही जनजातीय समाज में स्तरण की दिशा और मार्ग दोनों बदल चुके हैं। समयांतराल के साथ उनके समाज में स्तरण के ढाँचे को निर्धारित करने में उनके कारकों का प्रवेश हो चुका है।

आइए, विभिन्न समाजों से उदाहरण लेकर, उनकी मदद से इस मामले की विस्तार से जाँच करें।

भारत की अधिकांश जनजातियों में नागरिक और राजनीतिक प्रशासन द्वारा किए जाने वाले कार्यों के साथ व्यवस्थित तरीके से स्तरण की प्रक्रिया शुरू हुई। मानव जाति विज्ञान से संबंधित प्रमाणों से पता चलता है कि पुराने समय से ही जनजातीय समाज में किसी न किसी तरह का राजनीतिक विभेदीकरण मौजूद रहा है। उदाहरण के तौर पर पूर्वोत्तर भारत की जनजातियों में मुखिया या सरदार की पुरानी परंपरा है जो समाज को दो हिस्सों में बाँट देती है: वे जिनके पास राजनीतिक शक्ति है, और वे जिनके पास यह शक्ति है।

14.6 जनजातियों के राजनीतिक पहलू

मेघालय की खासी जनजातियों का परंपरागत समाज सोलह राजनीतिक इकाइयों में बंटा हुआ था। इनको साइएम कहा जाता था। प्रत्येक साइएम अपने आप में एक राज्य होता था यू साइएम इसका प्रधान होता था। यह सत्ता की सबसे ऊपरी सीढ़ी होता था। इसके नीचे एक मंत्रिपरिषद् होती थी (इसको काई मिंत्री कहा जाता था)। इसके बाद सोपानक्रम में आम नागरिक आते थे। कुछ हिस्सों में एक चौथी कोटि भी थी। इसमें युद्धबंदियों की संताने आती थीं। समाज में इनका स्थान सबसे नीचे था।

चूँकि मुखिया और मंत्री कुछ खास गोत्र से ही चुने जाते थे, इसलिए इनके गोत्र अथवा वंश के साथ प्रतिष्ठा और सत्ता जुड़ जाती थी। ऐसा माना जाता था कि मुखिया अथवा प्रधान के परिवार के सदस्यों के पास लोगों को रोग मुक्त करने की शक्ति होती है, वे अनेक प्रकार के सामाजिक प्रदूषण से मुक्त हैं तथा उन पर अनेक सामाजिक प्रतिबंध या वर्जनाएं लागू नहीं होती हैं।

इस पर गौर करना काफी दिलचस्प होगा कि उनके पद का आधार किसी गोत्र विशेष में उनको जन्म लेना होता था लेकिन इन लोगों में आयु, परिपक्वता, अनुभव और अच्छे वैयक्तिक गुणों की भी अपेक्षा की जाती थी।

14.6.1 साइएम नामक संस्था

हालांकि खासी जनजातियों में साइएम आज भी विद्यमान है लेकिन वर्तमान समय में राजनीतिक आधुनिकीकरण और आर्थिक विकास की प्रक्रिया ने उनके समाज में नए किस्म के सामाजिक स्तरण को जन्म दिया है। इसके मूल में आर्थिक विभेदीकरण और शिक्षा की प्रमुख भूमिका है।

इसी प्रकार संथालों में स्तरण का आधार राजनीतिक था। अपनी जनता की राजनीतिक, न्यायिक, आध्यात्मिक और आर्थिक जरूरतें पूरी करने के लिए संथालों के पास भिन्न प्रकार के राजनीतिक संगठन थे। प्रधान या मुखिया तथा अन्य राजनीतिक कर्मियों से मिलकर इनका राजनीतिक संगठन बना था। सत्ता तथा अधिकार की दृष्टि से इनका भी एक सोपान-क्रम था।

बहरहाल, सभी समाजों में स्तरण का ढाँचा एक जैसा नहीं है। अपने समाज में सदस्यों को स्तरित सामाजिक ढाँचे में संगठित करने के लिए अलग-अलग समाज अलग-अलग मानदण्ड अपनाते हैं। फिर भी जनजातीय समाजों का बाहर की दुनिया से जब संपर्क होता है तब समाजों में स्तरण का ढाँचा भी बदलता है।

आइए, आनुभविक अध्ययनों के जरिए हम देखें कि ये परिवर्तन किस प्रकार होते हैं।

14.7 परिवर्तन की प्रक्रिया

राजस्थान के बांसवाड़ा जिले के भीलों के एक अध्ययन में आदित्येनद्र राव स्तरण की एक रोचक प्रक्रिया को उजागर करते हैं। यह उनके समाज में धीरे-धीरे चल रही है। तीन ऐतिहासिक कालावधियों के दौरान परिवर्तन की प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए उनको पता चलता है कि हर काल खंड में स्तरण का ढाँचा अलग था और इनका आधार अलग-अलग सामाजिक कारक के रूप में थे।

14.7.1 भील जनजाति का विकास

प्रथम चरण में भील लोग पहाड़ियों और जंगलों में अपेक्षाकृत एकाकी जीवन व्यतीत करते थे। लेकिन इस दौरान भी उनका समाज स्तरण और विभेदीकरण से मुक्त नहीं था। चूँकि इस चरण में भील चोरी तथा लूटपाट के जरिए अपना गुजर बसर करते थे, इसलिए उनके समाज में दो स्तर थे। एक तरफ गिरोहों के सरदार होते थे तो दूसरी तरफ उनके अनुयाई। इस विभाजन का आधार बहादुरी, साहस और निर्भिकता थी।

विकास के दूसरे चरण में राजपूतों की विजय ने उनके एकाकीपन को तोड़ा। इसके चलते वे सवर्ण हिंदुओं के निकट संपर्क में आए। इस कालावधि में उनमें एक नए प्रकार के स्तरण का जन्म हुआ। इस स्तर के आधार थे उनके एकाकीपन की मात्रा यानी समाज के मुख्यधारा के लोगों से उनकी दूरी, उनका पेशा तथा उनके लोगों की आदतें। यदि हम इन कसौटियों, का इस्तेमाल करें तो पाएंगे कि भीलों का विभेदीकरण निम्न प्रकार से था, i) जंगली भील, ii) खेती करने वाले भील, iii) गाँवों में रहने वाले भील। इस काल में पहाड़ी तथा मैदानी क्षेत्रों में रहने वालों में फर्क एकदम स्पष्ट था। पहाड़ियों में रहने वाले भील अपनी लड़कियों की शादी मैदानों में रहने वाले भील परिवारों में नहीं करते थे, हालांकि आर्थिक रूप से मैदानों के भील ज्यादा संपन्न थे।

इस कालावधि में एक अन्य प्रकार का स्तरण भी साफ नजर आता है। ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही राजपूत शासकों ने भीलों को थोड़ी सम्मान प्रतिष्ठा प्रदान की। जिन भीलों को राजपूतों की तरफ से सम्मान मिला था, समाज में उनका स्थान ऊँचा समझा जाता था, उनकी प्रतिष्ठा अधिक थी। रजवाड़ों द्वारा राजनीतिक विभेदीकरण के चलते जनजातीय सामाजिक विभेदीकरण सोपानात्मक रूप धारण करने लगा।

14.7.2 भीलों में और अधिक विभेदीकरण

बहरहाल, विभेदीकरण की प्रक्रिया का यही अंत नहीं हुआ। भील लोग जब पहाड़ी इलाकों से मैदानों में आए और समाज के अन्य तबकों से उनका संपर्क हुआ तब उनको तत्काल

इस बात का एहसास हुआ कि उनका इतिहास तथा उनकी छवि इस मेलजोल के कारण विकृत हुई हैं। उन लोगों ने सवर्ण हिंदुओं की न सिर्फ खानपान की आदतें, धर्म और परिधान की नकल की बल्कि उन्होंने यह भी खोज निकाला कि "भील" शब्द का लाक्षणिक अर्थ "डाकू" या "गंदे" लोगों के साथ जुड़ा हुआ है। इस कलंक से पिंड छुड़ाने के लिए उनमें विभेदीकरण की एक नई प्रक्रिया शुरू हो गई। इससे उनमें नए सामाजिक समूहों का उदय हुआ, जैसे मीणा, दामोर, धरासिया, मिलाला और पेतालिया। यह जानना काफी दिलचस्प है कि इनमें से प्रत्येक उप-समूह अपने को मुख्य समूह से श्रेष्ठ बताता था और अपनी कन्याओं की उच्च वर्णों में शादी कर अपनी ऊँची प्रस्थिति कायम रखने की कोशिश करता था।

इस प्रकार कई जनजातियों में विचारधारा के स्तर पर दूसरी संस्कृतियों के साथ संपर्क ने विभेदीकरण को और गंभीर बनाया है। शुचिता और प्रदूषण (Purity and Pollution) के विचार और शादी-ब्याह के बंधन अनेक जनजातियों की विशेषताओं में शामिल हो चुके हैं, विशेष रूप से उन जनजातियों में जो देश के मध्य तथा पश्चिमी भागों में रहती है। इन समाजों में शादी-ब्याह में लड़कियों का आदान-प्रदान और खान-पान की स्वीकृति या अस्वीकृति सामाजिक स्तरण का निर्णायक कारक हो चुका है।

14.7.3 विचारधारात्मक स्तरण

गौर करने की बात यह है कि विचारधारात्मक स्तरण किसी खास जनजाति तक सीमित नहीं है बल्कि उस क्षेत्र के दूसरे समूहों में भी इसका चलन हो सकता है और है। शादी-ब्याह काफी महत्वपूर्ण कारक हैं। इससे समूहों के बीच परस्पर स्तरण की क्रियायें संपन्न होती हैं। दुल्हन का लेना और देना विभिन्न समूहों में विभेदीकृत प्रस्थिति का प्रतीक माना जाता है। मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र में विभिन्न जनजातियों में इस किस्म का स्तरण विद्यमान है। इसके क्रम में सबसे शिखर पर हलबास जनजाति है और उसके नीचे क्रमशः भत्रास, डोरिया, मुडिया और माड़िया जनजाति का स्थान है।

जनजातियों में हम इसके स्तरण की मौजूदगी ने कुछ विद्वानों को यह निष्कर्ष निकालने के लिए प्रेरित किया है, कि जनजातियाँ जाति व्यवस्था की ओर जा रही हैं। यद्यपि हो सकता है कि यह बात सभी जनजातियों के विषय में सच न हो लेकिन जहाँ सवर्ण तथा जनजातियाँ एक साथ रहते हैं, वहाँ लगता है कि जनजातियों की संस्कृति पर सवर्ण जातियों का जबरदस्त प्रभाव है।

14.7.4 जनजातियाँ और जाति

जनजातियाँ और जाति सामाजिक संगठन की दो भिन्न पद्धतियाँ हैं। अतीत काल से इनका अस्तित्व साथ-साथ बना हुआ है। चूँकि जाति व्यवस्था में रहने वाले लोगों के पास श्रेष्ठ प्रौद्योगिक आधार मौजूद था, इसलिए जनजातियों के लोग इसके प्रभाव क्षेत्र में आसानी से आकृष्ठ हुए। बोस महाशय ने इसको जनजातियों को आत्मसात करने की हिंदू विधि नाम दिया है। लेकिन बोस ने इसका श्रेय हिंदुओं की सहनशीलता की प्रवृत्ति को दिया जिसके कारण जाति व्यवस्था के अंतर्गत भी कोई अपनी अलग पहचान बनाए रख सकता है।

बोस का सिद्धांत इतना ही नहीं सुझाता कि जाति व्यवस्था में दूसरों को समेटने (आत्मसात करने) की ताकत है बल्कि वह इस बात की तरफ भी इशारा करता है कि जनजातियाँ जाति व्यवस्था में सबसे निचले स्तर से प्रवेश करती हैं जिसके कारण दलित वर्ग में उनकी गिनती की जाती हैं।

इस प्रकार दूसरे प्रकार के विचारकों का एक संप्रदाय यह मानता है कि जनजातियों के जाति व्यवस्था की ओर बढ़ने की बात तो कतई सच नहीं है उल्टे ये वर्ग व्यवस्था की ओर बढ़ रही हैं और इनके समाज का विभाजन संपत्ति पर अधिकार और आमदनी आदि कसौटियों के आधार पर संभव है। जनजातियों में आर्थिक विभेदीकरण के आनुभविक अध्ययन के आधार पर इन विद्वानों ने अपने तर्क निगमित किए हैं।

14.7.5 आर्थिक स्तरण

संपत्ति और जायदाद का असमान वितरण आर्थिक स्तरण का स्रोताधार है। अधिकांश समाजों में उत्पादन के साधनों जैसे भूमि तथा पूँजी पर अधिकार या स्वामित्व अन्य लोगों

की तुलना में इनके स्वामी को अधिक ताकतवर बनाता है। जनजातीय समाजों में भी व्यक्तियों तथा समूहों का सोपानक्रम निर्धारित करने में ये कारक काफी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। लेकिन सभी समुदायों में आर्थिक स्तरण समान रूप से प्रमुख नहीं हो सकता है। जो जनजातियाँ भोजन की तलाश में घूमती रहती हैं, उनमें आर्थिक स्तरण मुश्किल से दिखाई पड़ता है लेकिन जो जनजातियाँ एक जगह बस गई हैं तथा खेती करती हैं, उनमें इसके स्पष्ट दर्शन होते हैं।

अधिकांश खेतिहर समाजों में भी भूमि के असमान वितरण के कारण भी आर्थिक असमानता पनपती है तथा जमीन के मालिक और भूमिहीनों के बीच आर्थिक असमानता पैदा होती है। जहाँ तक जनजातीय समाजों की बात है, भूमि के खोने के कारण, (जिसे विद्वान लोग भूमि से अलगाव की संज्ञा देते हैं) बहुत से जनजातीय परिवार भूमिहीन श्रमिक होकर रह जाते हैं।

कृषि क्षेत्र में आधुनिकीकरण से परिचय, जैसे अधिक उपज देने वाली बीजों की किस्में, यंत्रीकरण प्रौद्योगिकी तथा उन्नत खाद के कारण जनजातियों में आर्थिक विभेदीकरण और बढ़ गया है। इसके चलते पूंजी प्रधान खेती का विकास हुआ है ओर बाजारोन्मुख अर्थव्यवस्था को बढ़ावा मिला है। इसके कारण संपन्न तथा गरीब जनजातियों के बीच खाई और गहरी हो गई है। मूल्य वृद्धि का मुकाबला करने में असमर्थ बहुत सी गरीब जनजातियों ने मजबूर होकर अपनी जमीनें संपन्न जनजातियों को बेच दी है। इनमें से लोग या तो मालगुजारी पर खेत लेकर करते हैं या दैनिक मजदूरी पर संपन्न लोगों के खेतों में काम करते हैं।

14.8 कृषिक स्तरण का ढाँचा

घनश्याम शाह ने गुजरात के चौधरी जनजाति का अध्ययन किया है जिसमें इनके समाज में विद्यमान कृषि-स्तरण को उजागर किया गया है। उन्होंने भूमि के मालिकाना अधिकार को आधार बनाकर यह निष्कर्ष दिया है कि इनके समाज को तीन स्तरों में बाँटा जा सकता है: संपन्न, मध्यम और गरीब किसान। उन्होंने 23 गाँवों से एकत्र किए गए आंकड़ों के आधार पर बताया है कि उनका प्रति परिवार वितरण किस तरह का है। यानी किसान परिवारों का प्रतिशत इस प्रकार है:

i) संपन्न या धनी किसान 6 प्रतिशत

ii) मध्यमवर्गी किसान 33 प्रतिशत

iii) निर्धन या गरीब किसान 61 प्रतिशत

(निर्धन किसानों में 5 एकड़ या उससे कम जमीन के मालिक किसानों और निर्धन किसानों को शामिल किया गया है।)

14.8.1 जनजातियाँ और आर्थिक कसौटी

इसी प्रकार की स्थिति पश्चिम बंगाल की जनजातियों में पी.के. बोस को दिखाई पड़ती है। उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व जैसी कसौटी उपयोग करते हुए दैनिक मजदूरी पर काम करने वाले मजदूर या स्वयं अपने हाथ से काम करने या न करने जैसी कसौटी का इस्तेमाल करते हुए बोस ने नीचे दिए गए पाँच सामाजिक स्तर खोजे हैं:

i) भूस्वामी

ii) धनी किसान

iii) मध्यम किसान

iv) गरीब किसान

v) खेत मजदूर

i) **भूस्वामी :** ये वे लोग हैं जिनके पास जमीन तो है लेकिन स्वयं काम नहीं करते हैं। वे पूरी तरह काश्तकारों पर निर्भर होते हैं। ये लगान तथा सूदखोरी से पैसा कमाते हैं।

ii) **संपन्न या धनी किसान** : इनके पास भूमि तो होती है ओर उस पर अपने हाथ से काम भी करते हैं लेकिन ज्यादातर ये मजदूर से काम करवाते हैं।

iii) **मध्यम किसान** : इनके पास भी जमीन होती है और प्रायः अपने हाथ से खेतीबाड़ी का काम करते हैं। काम का दबाव जब बहुत अधिक होता है तभी ये मजदूर रखते हैं। चूँकि ये गुजारे भर से अधिक अन्न नहीं पैदा करते इसलिए अतिरिक्त साधनों के लिए सूदखोरों पर निर्भर होते हैं।

iv) **गरीब किसान** : इनके पास बहुत कम जमीन होती है या इनमें से अधिकांश दूसरों से पट्टे पर जमीन लेते हैं। ये दूसरों के खेतों में मजदूरी भी करते हैं।

v) **खेत मजदूर** : ये पूर्णरूप से मजदूर होते हैं तथा आजीविका के लिए मजदूरी पर भी निर्भर होते हैं।

बहरहाल, जनजातीय लोगों की आर्थिक गतिविधियाँ खेतीबाड़ी तक ही सीमित नहीं है। ग्रामीण इलाकों में बहुत सी जनजातियाँ दस्तकारी और व्यापार में भी लगी हैं। और वर्तमान समय में तो उनकी काफी बड़ी संख्या औद्योगिक मजदूरों के रूप में काम कर रही है।

उनके सामाजिक स्तरण मे एक नया आयाम जुड़ गया है। भारतीय संविधान में उनके हितों की रक्षा के लिए संरक्षणात्मक भेदभाव का प्रावधान है। इसके कारण और आधुनिकीकरण तथा पश्चिमीकरण के साथ उनके संपर्क के कारण उनके समाज में नए-नए परिवर्तन हो रहे हैं।

उपनिवेशवादी शासन की शुरुआत के साथ ही उनके जीवन पर पश्चिमीकरण और आधुनिकीकरण का जुड़वा प्रभाव पड़ने लगा था। ईसाई मिशनरी लोगों के संरक्षण में बहुत बड़ी संख्या में जनजातीय लोगों को पश्चिमी शिक्षा भी मिलती। इससे उनमें शिक्षित अभिजन वर्ग की नींव पड़ी। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र तथा मध्य भारत के जनजातियों में यह प्रवृत्ति काफी स्पष्ट रूप से दिखती है।

14.9 संरक्षणात्मक भेदभाव

संरक्षणात्मक भेदभाव की नीति का एक हिस्सा विकास कार्यक्रम हैं। इनको अमल में लाने की वजह से जनजातियों में वर्ग भेद पैदा हुआ है। जनजातियों में एक वर्ग का उदय हुआ है जिसे आरक्षण तथा अन्य संरक्षात्मक कदमों से फायदा हुआ है। अनेक क्षेत्रों में जनजातियों के एकाध लोग मिल जाते हैं जैसे सरकारी नौकरी के हर स्तर पर सरकारी नियंत्रण वाले उपक्रमों में तथा इंजीनियरिंग, डाक्टरी तथा कानून से जुड़े व्यवसायों में। इनके साथ ही देश के विभिन्न भागों में नई राजनीतिक प्रक्रिया के चलते जनजातियों में नए राजनीतिक वर्ग का भी उदय हुआ है। जनजाति के जो लोग इस श्रेणी में आते हैं, उनके पास न सिर्फ काफी संपत्ति है और ऊँची-ऊँची तनख्वाहें पाते हैं बल्कि अपने गरीब भाइयों से उनकी शैली और उनका दृष्टिकोण भी बहुत अधिक भिन्न है। हालांकि कुल जनजातीय आबादी के अनुपात में उनकी स्थिति ऊँट के मुँह में जीरा जैसी है लेकिन अपने समुदाय के वे मुखर और दबंग सदस्य हैं।

चूँकि जनजातियों में जातीय बंधन या कट्टरता जैसी कोई चीज नहीं होती है अतः सिद्धांत रूप में कोई उपर्युक्त लाभ का हकदार हो सकता है। लेकिन यथार्थ में जिनके पास ताकत और प्रभाव है, उनको गरीब और कमजोर के मुकाबले ये लाभ अधिक आसानी से मिलते हैं।

कुछ विद्वानों ने राय जाहिर की है कि जनजातीय स्तरण में दो नया ढाँचा उभर रहा है: सुविधा प्राप्त वर्ग तथा शोषित वर्ग। अर्थव्यवस्था में सुविधा प्राप्त वर्ग महत्वपूर्ण पदों पर आसीन हैं। राजनीति और समाज में भी वे ऊँचे ओहदों पर कब्जा जमाए हुए हैं। उनकी तुलना में शोषित लोगों की स्थिति नगण्य है।

इस विकासक्रम में चिंता की बात यह है कि समूचे समाज को जो लाभ उपलब्ध कराए जाते हैं उनको प्रायः सुविधासंपन्न वर्ग हथिया लेता है जब कि आबादी का बहुत बड़ा तबका गरीबी और अभाव का जीवन जीने के लिए विवश होता है।

बोध प्रश्न 2

1) क्या सभी जनजातियाँ एक ही समाज व्यवस्था का अंग हैं?

.....

.....

.....

.....

2) संरक्षणात्मक भेदभाव की नीति के क्या परिणाम निकले हैं?

.....

.....

.....

.....

14.10 सारांश

ऊपर के विवेचन से साबित होता है कि अन्य समाजों की तुलना में जनजातीय समाजों में भी कोई कम विभेदीकरण नहीं है। हमने देखा है कि अतीत काल में भी व्यक्तियों और समूहों के बीच किसी प्रकार का फर्क था।

कुछ ऐसे कारक हैं जो जनजातीय स्तरण का निर्धारण करते हैं, जैसे राजनीतिक कारक, विचारधारात्मक कारक, आर्थिक कारक, आदि। यद्यपि सामूहिक रूप से ये कारक सामाजिक स्तरण का निर्धारण करते हैं लेकिन कभी-कभी इनमें से कुछ कारक अन्य कारकों की तुलना में ज्यादा प्रभावशाली भूमिका अदा करते हैं। जनजातीय समाजों में स्तरण की दिशा और दशा निर्धारित करने में इन विभिन्न कारकों की आपसी अंतःक्रिया को जानना काफी दिलचस्प होता है। मसलन खासी जनजातियों में स्तरण का ढाँचा राजनीतिक से आर्थिक में बदल गया और भीलों में यह व्यावसायिक से विचारधारात्मक में परिवर्तित हो गया।

इससे दिखता है कि हर जनजातीय समाज में सामाजिक स्तरण का ढाँचा एक ही नहीं है। अलग-अलग स्तरों में अपने समाज को संगठित करने के लिए अलग-अलग समाजों की कसौटी पृथक होती है। जाति के आधार पर स्तरण से जनजातीय स्तरण का अंतर इसकी महत्वपूर्ण विशेषता है। लेकिन इसके बाद भी कुछ जनजातियों को जाति व्यवस्था के मूल्यों को अपनाने से रोका नहीं जा सका। फिर भी चूँकि इनमें स्तरण के कठोर नियम नहीं हैं इसलिए एक स्तर से दूसरे स्तर में जाने में इसके सदस्यों को कोई परेशानी नहीं उठानी पड़ती है।

ऊपर के विचार-विमर्श से यह बात उभर कर सामने आती है कि धीरे-धीरे जनजातियाँ भी जटिल समाजों के गुण ग्रहण करती चली जा रही हैं। संरक्षणात्मक भेदभाव की नीति ने आधुनिकीकरण की जिन शक्तियों को पैदा किया है, उनके कारण वे भारतीय समाज की मुख्यधारा के काफी करीब आ गए हैं। लेकिन इसके कारण एक ओर उनकी जीवन शैली में सुधार हुआ है और उनकी प्रस्थिति में इजाफा हुआ है, वहीं इसके कारण धनी और गरीब, दो स्पष्ट वर्गों में उनका समाज बंट भी गया है।

जिसे हम जनजातीय स्तरण की विशेषता कहते हैं, उसमें भी भारी बदलाव आ चुका है। अतीत काल में जनजातीय समाजों में स्तर विशुद्ध रूप से प्रकार्यात्मक था। उस समय स्तरण का मकसद समाज में व्यवस्था और स्थिरता बनाए रखना था लेकिन जनजातीय स्तरण का वर्तमान रूप उनमें मौजूद टकराव, प्रतिस्पर्धा और अस्थिरता को प्रतिबिंबित करता है। दो प्रकार के स्तरणों में यह अंतर प्रयुक्त अवधारणाओं में भी अभिव्यक्त होता है। जहाँ प्राचीन स्तरण में इस प्रकार की विशेषताओं को कसौटी के रूप में इस्तेमाल किया जाता था जैसे जन्म, आयु, अनुभव, परिपक्वता, बहादुरी आदि।

इस इकाई में हमने जनजातियों तथा उनके समाजों में स्तरण के विषय में पढ़ा है। हमने यह भी समझा कि स्तरण का क्या अर्थ है और सामाजिक स्तरण के कितने रूप होते हैं। जनजातियों के विषय में जो अनुसंधान हुए हैं उनके आधार पर हमने जनजातियों का अध्ययन किया है। हमें इस बात की भी जानकारी हासिल हुई कि उनका समाज समतावादी है या नहीं और किस तरह से वे अपना काम कर रहे हैं। इसके बाद हमने जनजातियों के राजनीतिक पहलू को देखा तथा भीलों में परिवर्तन की प्रक्रिया का रूप क्या है, इसकी भी, हमें जानकारी मिली। कृषि स्तरण के ढाँचे के बारे में भी हमने अध्ययन किया। अंततः संरक्षणात्मक भेदभाव की नीति का हमने विस्तार से वर्णन किया तथा इसकी क्षमता का भी जायजा लिया।

14.11 शब्दावली

अर्जित कसौटी : ऐसी विशेषता या गुण पर आधारित कसौटी जिसको अर्जित या प्राप्त किया जा सके।

आदिम जाति : मूल निवासा।

प्रदत्त कसौटी : वह कसौटी जिसका आधार कोई गुण या कारक होता है जो किसी व्यक्ति को दी गई है या वह विशेषता जिसके बारे में सोचा जाता हो कि वह उस व्यक्ति में अन्तर्निहित है।

विशेषता : किसी व्यक्ति को दिए गए गुण या विशेषता।

वर्ग : कुछ खास समानताओं या विशेषताओं के आधार पर एक साथ रखे गए लोगों का समूह, आर्थिक हैसियत, रोजगार या सामाजिक प्रस्थिति के आधार पर बनाए गए समूह।

विभेदीकरण : अलग करने वाली विशेषताओं की उपस्थिति या पृथक करने वाली विशेषताओं का विकास।

समतावादी : यह विचार कि सबके अधिकार समान हैं।

मूल्यांकन : किसी वस्तु का मूल्य या उसकी योग्यता निर्धारण का कार्य।

गिरिजन : दबे कुचले लोग, अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों दोनों के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाता है।

सोपानक्रम : लोगों का समूह जिसे प्रतिष्ठा या पद के क्रमानुसार रखा गया है।

असमानता : समानता का अभाव, पद में, हैसियत में अथवा अवसर में अंतर।

जन : एक निश्चित भू-भाग के भीतर लोगों का ऐसा समूह जिनकी संस्कृति और पुरखे एक रहे हों और प्रशासन भी एक हो।

जनजाति : जंगल के निवासी।

जनजाति : अंतर्विवाही जाति।

संस्कृतिकरण : सामाजिक गतिशीलता की वह प्रक्रिया जिसमें निचली जातियाँ ऊँची जातियों की जीवन शैली अपनाती हैं।

आधुनिकीकरण : वैज्ञानिक और दार्शनिक विश्व दृष्टि के प्रति प्रतिबद्धता से उपजी परिवर्तन की प्रक्रिया।

चर : कोई भी अवधारणा (संकल्पना) जो विभिन्न गुणात्मक मूल्यों पर आधारित हो जैसे आमदनी, मूल्य आदि।

14.12 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बोस, पी.के. 1985. ***क्लास एंड क्लास रिलेशंस एमांग ट्राइब्स ऑफ बंगाल,*** **नई दिल्ली : अजंता पब्लिकेशंस।**

देसाई, ए.आर. 1977. ट्राइब्स इन ट्रांजिशन, इन रमेश थापर (सं) *ट्राइब, कास्ट एंड रिलिजन इन इंडिया*, नई दिल्ली: मेकमिलन।

राव, आदित्येंद्र, 1980. *ट्राइबल सोशल स्ट्रैटिफीकेशन* उदयपुर: हिमांशु पब्लिकेशंस।

सिंह, के.एस. 1985. *ट्राइबल सोसाइटी इन इंडिया*, नई दिल्ली: मनोहर।

14.13 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) i) सामाजिक स्तरण मूल्यांकन की क्रिया है अर्थात् मनुष्य अपने साथ के प्राणियों के व्यवहार का मूल्यांकन करता है। यह एक पक्ष है।

   ii) सामाजिक स्तरण उस जगह विद्यमान होता है या अस्तित्व में आता है जब और उनके समूहों को असमान पदों के आधार पर सोपानक्रम में रखा जाता है। इस प्रकार असमानता की संकल्पना सामाजिक स्तरण का अविभाज्य अंग है।

2) i) मुक्त स्तरण में व्यक्ति एक स्तर से दूसरे स्तर में बिना किसी बाधा के जा सकते हैं।

   ii) बंद स्तरण में सामाजिक गतिशीलता प्रतिबंधित या सीमित होती है।

बोध प्रश्न 2

1) जनजातियाँ किसी एक सामाजिक व्यवस्था का अंग नहीं हैं। हर जनजाति को दूसरी जनजाति से पृथक करके देखा जा सकता है। इस प्रकार कोई अकेली जनजातीय व्यवस्था नहीं है जहाँ उसकी घटक इकाइयाँ उस समग्र की आंगिक अन्विति बन कर काम करती हों। इस प्रकार प्रत्येक जनजाति अपने आप में एक संपूर्ण समाज है।

2) संरक्षणात्मक भेदभाव के कारण जनजातियों में भी वर्ग भेद उत्पन्न हो गया है। जनजातियों में एक नया वर्ग पैदा हो गया है जो आरक्षण की सुविधाएं तथा अन्य संरक्षणात्मक उपायों का लाभ उठाने में समर्थ है इसके फलस्वरूप इधर-उधर सरकार के विभिन्न विभागों तथा जीवन के अन्य क्षेत्रों में इन्हीं का प्रतिनिधित्व है। इसके चलते दो वर्गों का उदय हुआ है, सुविधा प्राप्त वर्ग और शोषित वर्ग। सुविधासंपन्न वर्ग अर्थव्यवस्था, राजनीति और समाज में बड़े पदों पर जम गया है जबकि शोषित लोग गरीबी और वंचन का जीवन बिता रहे हैं।

इकाई 15 भारतीय समाज में जाति और समुदाय : ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

इकाई की रूपरेखा

15.0 उद्देश्य
15.1 प्रस्तावना
15.2 जाति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
  15.2.1 वैदिक काल (प्रथम चरण)
  15.2.2 वैदिक काल (द्वितीय चरण)
  15.2.3 वैदिकोत्तर काल
  15.2.4 राज्यों का परिवर्तन
15.3 साम्राज्य का विघटन
15.4 वैदिकोत्तर काल में वर्ण और जाति
  15.4.1 क्लासिकी युग (200-700 ई.)
  15.4.2 उत्तर भारत में क्षेत्रीय राज्यों का उदय तथा दक्षिण भारत की धार्मिक और आर्थिक शक्ति (712-1192 ई.)
    15.4.2.1 जैन संप्रदाय
    15.4.2.2 तुर्कों और अफगानों का आगमन
    15.4.2.3 पारसी समुदाय
    15.4.2.4 नई जातियों का उदय
15.5 पठान काल–दिल्ली सल्तनत (1206-1526)
  15.5.1 राजनीतिक अर्थव्यवस्था
  15.5.2 मुसलमानों में जाति और समुदाय
  15.5.3 हिंदुओं में जाति और समुदाय तथा भक्ति आंदोलन
15.6 मुगल काल (1526-1756)
  15.6.1 सिक्ख संप्रदाय
  15.6.2 हिंदू समाज
15.7 आधुनिक काल (1757-1947)
  15.7.1 राजनीतिक अर्थव्यवस्था
  15.7.2 ब्रिटिश शासन तथा समाज सुधार आंदोलन का प्रभाव
  15.7.3 विधायी निकायों द्वारा जाति में परिवर्तन
  15.7.4 शैक्षिक और राजनीतिक उपायों तथा आंदोलनों द्वारा जाति में परिवर्तन
  15.7.5 जाति : परिवर्तन और यथास्थिति
15.8 सारांश
15.9 शब्दावली
15.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें
15.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

15.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन कर लेने के बाद आप इस स्थिति में हो जाएंगे कि:

- भारतीय इतिहास के विभिन्न कालों को पहचान सकें,
- राज्य व्यवस्था, धर्म, अर्थव्यवस्था और सामाजिक संगठन के पारस्परिक संबंधों को समझ सकें,
- जाति से जुड़े सामाजिक संगठन के विभिन्न रूपों की पहचान कर सकें,
- जाति व्यवस्था को चुनौती देने वाली सामाजिक शक्तियों की पहचान कर इस बात को समझ सकें कि इतने लंबे समय तक किस प्रकार जाति व्यवस्था इस देश में जीवित रह सकी,

- इस बात को समझ सकें कि भारत में जाति व्यवस्था ने अन्य धर्मों को किस प्रकार प्रभावित किया,
- जिन बातों की वजह से जाति व्यवस्था का दायरा बड़ा अथवा छोटा हो रहा है, उनको समझ सकें, और
- एक व्यवस्था के रूप में जाति के स्वरूप तथा एक इकाई के रूप में जाति के बीच अंतर कर सकें।

15.1 प्रस्तावना

जाति व्यवस्था हिंदू सामाजिक पद्धति का महत्वपूर्ण तत्व रहा है। अध्ययन के विभिन्न क्षेत्रों में कार्यरत समूचे विश्व के विद्वानों का इस पद्धति ने ध्यान आकर्षित किया है। समूचे विश्व में जब कभी और जहाँ कहीं व्यक्तियों और समूहों को अलग-अलग स्तरों में बाँटने के सवाल को लेकर विचार-विमर्श चलता है, समाजशास्त्र में जाति नामक संस्था का अध्ययन किया जाता है। हमारे प्रस्तुत पाठ्यक्रम में जहाँ सामाजिक स्तरण की चर्चा की गई है (इ.एस.ओ.-04) वहाँ इसे महत्वपूर्ण स्थान दिया गया है। प्रस्तुत इकाई में हम यह समझने की कोशिश करेंगे कि अपने निर्माण काल में जाति संस्था के रूप में किस प्रकार यह कायम रही, किस प्रकार के प्रतिरोध का इसने सामना किया और उन प्रतिरोधों से कैसे यह निपटी। फिर हम यह देखेंगे कि जाति नामक जो संस्था हिंदू समाज व्यवस्था के एक अंग के रूप में विकसित हुई है, इसने दूसरे धर्मों को किस रूप में प्रभावित किया और अंत में हम यह देखेंगे कि आधुनिकीकरण की ताकतों के प्रति इसकी क्या प्रतिक्रिया रही है। इस इकाई में हम अपना ध्यान भारतीय समाज पर केंद्रित करेंगे और जाति और समुदाय पर ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में विचार करेंगे।

15.2 जाति का ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

जातियों और उससे संबद्ध सामाजिक समूहों की रचना, उनके बने रहने, उनके खिलाफ आवाज बुलंद करने और उनमें परिवर्तन लाने का इतिहास लगभग 3500 वर्षों की लंबी कालावधि में फैला हुआ है। प्रस्तुत इकाई में भारतीय इतिहास के काल विभाजन के मुख्य बिंदुओं की रूपरेखा हम पेश करेंगे। इस क्रम में हम यह जानने की कोशिश करेंगे कि किस प्रकार इन संस्थाओं से संबद्ध विचारों और प्रथाओं का निर्माण किया गया। जाति व्यवस्था को कतिपय उन विचारों से जोड़ा गया है जो हिंदू धर्म दर्शन के अंग हैं। वर्णव्यवस्था (अथवा वर्ण दर्शन) ने जाति व्यवस्था को दार्शनिक भूमि प्रदान की है (इस खंड की सोलहवीं इकाई में हमने वर्ण और जाति के अंतःसंबंधों पर विचार किया है)।

जिन समाजशास्त्रियों ने इन प्रश्नों पर विशेष ध्यान दिया है, पी.वी. काणे, जी.एस. घुरिए और पी.एच. प्रभु उनमें मुख्य हैं। जाति व्यवस्था के विभिन्न स्तरों पर "शुद्धता" और "अशुद्धता" खोजने का उपक्रम फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुई ड्यूमां ने किया है (इस खंड की सत्रहवीं इकाई में विस्तार से इसका विवेचन किया गया है)। भारत में जातियों के निर्माण और उनके कार्य की व्याख्या के लिए इन लेखकों ने प्राचीन भारतीय साहित्य की मदद लेने का विरोध दो प्रकार की विचारधारा वाले समाजशास्त्रियों द्वारा किया गया है। इनमें से एक विचाराधारा के समाजशास्त्रियों का कहना है कि इस कार्य के लिए हमें प्राचीन क्लासिकी साहित्य से आगे जाने चाहिए। क्षेत्र में जाकर स्वयं हम लोगों को इस बात का निरीक्षण करना चाहिए कि जातियाँ किस प्रकार काम करती हैं। एम.एन. श्रीनिवास ने प्राचीन ग्रन्थों में व्यक्ति दृष्टिकोण और अनुसंधानकर्त्ता द्वारा कार्य क्षेत्र से प्राप्त निष्कर्षों के दृष्टिकोण में फर्क किया है तथा ग्रन्थों पर आधारित दृष्टिकोण को अपर्याप्त माना है।

दूसरी विचारधारा के समाजशास्त्री जाति को अनावश्यक महत्व देने की बात से चिंतित हैं। खासतौर पर दार्शनिक स्तर पर जाति को महत्व दिए जाने पर उनको आपत्ति है। इस समूह के लेखक मार्क्सवादी विचारधारा से प्रभावित हैं और इस संदर्भ में निम्नांकित सवाल उठाते हैं:

i) समाज कोई स्थिर वस्तु नहीं है, उसमें परिवर्तन होते रहते हैं।

ii) ये परिवर्तन समाज के आंतरिक अंतर्विरोध के कारण होते हैं।

iii) प्राचीन काल के लंबे दौर में जाति का दार्शनिक स्तर पर औचित्य साबित करने वाले चिंतन और सामाजिक समूहों को सोपानात्मक रूप में रखने का समय-समय पर विरोध होता रहा है।

iv) आर्थिक रूपांतरण की काफी निर्णायक भूमिका होती है।

v) एक समूह ने दूसरों पर अपना नियंत्रण जारी रखने के राजनीतिक ताकत का इस्तेमाल किया है।

15.2.1 वैदिक काल (प्रथम चरण)

वैदिक काल की शुरुआत लगभग साढ़े तीन हजार साल पहले हुई थी। यह काल लगभग एक हजार साल तक चला। दिल्ली की वर्तमान जगह से आर्य लोग पश्चिम-उत्तर से दक्षिण और पूर्व की ओर बढ़ने लगे। वे चरवाहे लोग (पशु चारक) थे। खेती के लिए उन्होंने जमीन साफ करनी शुरू की थी। इस प्रक्रिया में उनकी मुलाकात यहाँ के मूल निवासियों से हुई। इन मूल निवासियों ने इनका काफी प्रतिरोध किया। वैदिक साहित्य में इन लोगों को "दस्यु" कहा गया है।

आर्यों में भी पुरोहितों (ब्राह्मणों) और शासक राजाओं का स्थान वैश्यों से ऊँचा था। वैश्य लोग जमीन जोत कर खेतीबाड़ी का काम करते थे। पुरोहित वर्ग के लोग हवन और यज्ञ (बलि) संबंधी कर्मकांडों का विशेष ध्यान रखते थे। ये देवताओं और मनुष्यों के बीच मध्यस्थ का भी काम करते थे। इस प्रकार ब्राह्मण लोग शुद्ध या पवित्र माने जाने लगे। ऐसा समझा जाने लगा कि इन पुरोहितों में युद्ध में राजाओं तथा उनके सरदारों को आध्यात्मिक लाभ दिलाने की शक्ति है। अनेक अवसरों पर ब्राह्मण लोग उन्हें शाप का भी भय दिखाये थे। ये दोनों समूह, ब्राह्मण और राजन्य एक दूसरे की मदद से संपन्न बनते रहे। वैश्य लोग किसान थे और व्यापार करते थे। दस्यु कहे जाने वाले लोग श्रमिक थे और समाज में उनका स्थान सबसे नीचे था। ऋग्वेद की रचना के बाद सामवेद रचा गया। इसके बाद क्रमशः यजुर्वेद और अथर्ववेद रचे गए। ऋग्वेद की रचना के बाद का समय वैदिक काल का उत्तर चरण माना जाता है, और छठी सदी ई.पू. तक इसका विस्तार माना गया है।

15.2.2 वैदिक काल (द्वितीय चरण)

उत्तर वैदिक काल में नए व्यवसायों का उदय हुआ। जंगलों को साफ किया गया। रथ और दरवाजों के लिए लकड़ी का इस्तेमाल शुरू हो गया। बढ़ई और रथकारों की हालत अच्छी हो गई। इस समय तक लोहे की खोज हो चुकी थी। तीरों की नोक और खेतीबाड़ी के कुछ औजारों में इसका उपयोग होने लगा था। जैसे-जैसे लोग स्थाई निवास बनाकर बसते गए, कुम्हार महत्वपूर्ण होते गए। इसी समय कुछ धातुकर्मियों का अविर्भाव होने लगा। खेती के उत्पादन में सुधार हुआ और व्यापार वाणिज्य की थोड़ी बहुत गतिविधियों की शुरुआत हुई। इस प्रकार इस कोटि में चार वर्णों को स्थान देना पड़ा। शिक्षा के काम में थोड़ी बहुत विशेषज्ञता को भी स्थान मिला।

ब्राह्मण लोग प्रमुख नेता और अध्येता बने रहे। कुछ राजपरिवारों ने भी दिलचस्पी दिखाई और ज्ञानार्जन के क्षेत्र में उन्हें सम्मान मिला। लेकिन ऐसा लगता है कि कानून और व्यवस्था बनाए रखने तथा साम्राज्य विस्तार के लिए विशेष कौशल की जरूरत पड़ती थी। इसलिए राजन्य समूह के काफी लोग, जिन्हें उस समय तक क्षत्रिय कहा जाने लगा था, तकरीबन पूर्णकालिक रूप से इस काम में लग गए थे। अपेक्षाकृत ज्यादा संपन्न किसानों (वैश्यों) ने व्यापार का काम सम्हाल लिया था। इस व्यवसाय को नया रूप मिल गया। इसके बाद में दस्तकारों की श्रेणी थी और वैदिक युग के समाप्त होते-होते दस्यु लोग शूद्र बन चुके थे। आर्थिक धरातल पर घटित होने वाले परिवर्तनों के समानांतर धार्मिक और सामाजिक परिवर्तन भी हुए थे। ब्राह्मणों ने राजा के लिए राजसूय और अश्वमेध यज्ञों का विधान किया। पुरोहितों की ओर से वैश्यों के लिए कई नए देवताओं को मान्यता मिली और विश्वेदेवा: के रूप में उनको श्रेणीबद्ध किया गया। इस तरह ब्राह्मण का स्थान सर्वोपरि हो गया। इसके बाद क्रमशः क्षत्रिय और वैश्य का स्थान बना।

वर्णों के सोपानक्रम को इंगित करने के लिए ऋग्वेद के पुरुष सूक्त की ऋचा को और अधिक विस्तार मिला। इसमें माना गया था कि चतुर्वर्ण का सिद्धांत सर्वोच्च सर्जक (ब्रह्मा) के शरीर से पैदा हुआ। ब्राह्मण उस सर्वोच्च सर्जक (ब्रह्मा) के मुख से पैदा हुआ। मुखा का आशाय "मुँह" तथा प्रथम स्थान दोनों हुआ। कहा गया कि क्षत्रिय का जन्म उसकी भुजा से हुआ। वैश्यों के लिए दो तरह के सिद्धांत गढ़े गए। पहले सिद्धांत में उसको ब्रह्मा के पेट से उत्पन्न हुआ माना गया। इसका आशय यह है कि जहाँ भोजन पहुँचता है, उस जगह से पैदा हुआ है, इसलिए उससे कर वसूल किया जाना चाहिए। दूसरे सिद्धांत में बताया गया कि वह सर्वोच्च पुरुष (ब्रह्मा) की जंघा से पैदा हुआ है। इसका आशय यह निकाला गया कि जंघा व्यक्ति के चलने-फिरने का साधन है और वैश्य इसलिए वाणिज्यिक गतिविधियों में लगा रहता है। शूद्रों का जन्म चरण से माना गया जिसका निहितार्थ यह था कि उसको सबकी सेवा करनी चाहिए। पी.एन. प्रभु ने टिप्पणी की है कि "पुरुष सूक्त की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि इसका प्रतीकात्मक महत्व है। ... इस प्रकार जिस पुरुष के मुख से ब्राह्मण का जन्म हुआ, वह वाक् या वाणी का स्थान है, इसलिए ब्राह्मणों की उत्पत्ति मानव जाति को शिक्षा देने, पढ़ाने-लिखाने के लिए हुई है। क्षत्रियों का काम इस विश्व में शस्त्र धारण करना और जनता की रक्षा करना है। जंघा का आशय शरीर के निचले भाग का प्रतिनिधित्व करना हो सकता है, वह भाग जो भोजन का उपभोग करता है, इसलिए कहा गया है कि वैश्यों की रचना लोगों को उपभोग सामग्री मुहैया कराने के लिए हुई थी। शूद्रों की रचना पैर से होना इस बात का प्रतीक है कि शूद्र को सबसे नीचे रहना है अर्थात् उसको अन्य सभी वर्णों की सेवा करना है। यहाँ पर समूचे सामाजिक संगठन की परिकल्पना प्रस्तुत की गई है। प्रतीक रूप में कहें तो समूचे समाज की संरचना एक व्यक्ति के शरीर की तरह है। कहा जा सकता है कि इसके विभिन्न अवयव अलग-अलग सामाजिक वर्णों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो श्रम विभाजन पर आधारित है।"

इस तरह दो पहलुओं को स्पष्ट किया गया, i) चारों हिस्सों की आंगिक एकता, ii) सोपानक्रम में ऊपर से नीचे की ओर उनका श्रेणीकरण। जो बात पहले नहीं कही गई लेकिन जिसे समाज वैज्ञानिकों ने बाद में स्पष्ट किया, वह यह थी कि इस लोकाचार शास्त्र प्रणेता तो ब्राह्मण ही थे, इसलिए बड़ी चतुराई से उन्होंने सामाजिक सोपानों में अपने को सबसे ऊपर रखा। शूद्रों के ऊपर आध्यात्मिक और लौकिक दोनों प्रकार का वर्चस्व कायम किया। गंगा के मैदानी इलाकों में इस समाज व्यवस्था ने सुदृढ़ और स्पष्ट शक्ल अख्तियार की (घुरिए, 1969)

समाज व्यवस्था में विभिन्न वर्णों की स्थिति संक्षेप में नीचे की सारणी में दर्शाई गई है :

समाज में चार वर्णों की मुख्य स्थिति

(वैदिक काल)

क्रम वर्ण	समाज व्यवस्था में कार्य और स्थिति (सोपानक्रम में प्रस्तुत)
1) ब्राह्मण	विद्वान लोग, इनको कर्मकांडों में विशेषज्ञता हासिल होती थी।
2) क्षत्रिय	थोड़े से विद्वान होते थे, कुछ शासक और प्रशासक होते थे। ये समाज के अभिजन थे, इनमें से कुछ सामान्य जनता के बीच के लोग थे जो फौज के सिपाही थे।
3) वैश्य	कृषि, व्यापार और वाणिज्य कर्म में लगे लोग।
4) शूद्र	अन्य तीनों वर्णों की सेवा-टहल करने वाले लोग।

गौर करने की महत्वपूर्ण बात यह है कि वैदिक काल में वर्ण विशेष के किसी व्यक्ति के लिए किसी खास व्यवसाय का बंधन नहीं था। विभिन्न वर्णों में आपस में खानपान पर भी कोई रोक नहीं थी। शादी-ब्याह के मामले में भी ऊँच-नीच का विचार नहीं किया जाता था। आर्य जाति के विभिन्न वर्णों में आपस में शादी-ब्याह पर कोई प्रतिबंध नहीं था। समाजशास्त्री सी.एच. कूली के शब्दों में लगता है कि वैदिक काल में वर्णमुक्त सामाजिक वर्ण व्यवस्था थी। इनका आधार अधिकांश मामलों में व्यक्तिगत गुण थे जिन्हें हम सात्विक, राजसिक और तामसिक आदि नाम से जानते हैं। इन सबका वंश अथवा कुल से बहुत कम ही संबंध होता था।

15.2.3 वैदिकोत्तर काल

समाज में ब्राह्मणों की स्पष्ट रूप से सर्वोच्चता कायम होने के साथ वैदिकोत्तर काल की शुरुआत होती है। बलि (यज्ञ) से जुड़ी ब्राह्मणों की विशेषज्ञता युक्त सेवाओं का उपयोग क्षत्रियों और वैश्यों ने आरंभ कर दिया था। विद्वानों के कार्यकलापों में कुछ क्षत्रिय राजकुमार भी भाग लेते थे। दो राजकुमार सिद्धार्थ और महावीर कर्मकांडों की जटिलता से ऊब गए थे। इसलिए उन्होंने मुक्ति का अपना निजी मार्ग खोज निकाला। कर्मकांड और बलि (यज्ञ) अब गौण बन गए। इसी के साथ ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा और सर्वोच्चता को चुनौती दी गई। बौद्ध साहित्य में क्षत्रिय को ब्राह्मणों से ऊपर रखा गया था। इस प्रकार धार्मिक अनुष्ठानों और कर्मकांड की भाषा पृष्ठभूमि में चली गई। कुशक राजकुमारों ने सहज मार्ग अख्तियार किया। व्यापारियों और कारीगरों की काफी बड़ी तादाद नए धर्म की ओर आकर्षित हुई। जैन धर्मानुयाइयों ने महावीर द्वारा प्रवर्तित सिद्धांतों को स्वीकार कर, अहिंसा का पाठ पढ़ा, इस हद तक कि वे लोग कीट-पंतगों को भी नहीं मारते थे। इन लोगों ने स्वतंत्र रूप से अपनी विश्व दृष्टि विकसित की।

15.2.4 राज्यों का परिवर्तन

धीरे-धीरे छोटे राज्य समाप्त हो गए। सिकंदर के आक्रमण के बाद नंद वंश का राज्य स्थापित हुआ। यह ब्राह्मणों का वंश था। मौर्य वंश के राजाओं ने बाद में इस राज्य का उत्तराधिकार अपने हाथ में लिया। राजपरिवारों से वैवाहिक रिश्ते कायम कर इस परिवार ने अपनी सामाजिक हैसियत ऊँची करने की कोशिश की। इससे इस बात के संकेत मिलते हैं कि युद्ध में सफलता एवं शादी-ब्याह के संबंध स्थापित करने के बाद क्षत्रिय का दर्जा पाने दावा काफी आगे बढ़ चुका था। साम्राज्य के केंद्रों की स्थापना से शिल्पी लोगों को ऊपर उठने और अपने संघ (संगठन) स्थापित करने का मौका मिला। शुद्धता-अशुद्धता (पवित्रता-अपवित्रता) के आधार पर उनका वर्गीकरण किया गया और दो कोटियाँ—स्वच्छ और अस्वच्छ, स्वीकार की जाने लगीं। विकास के इस चरण में पहुँच कर वाणिज्य और कृषि दोनों ही काफी विकसित हो चुके थे तथा वैश्य लोग व्यापार के काम में विशेषज्ञता हासिल करने लगे।

15.3 साम्राज्य का विघटन

देश के विभिन्न भागों में अलग-अलग राजाओं का शासन कायम होना इस काल की मुख्य राजनीतिक विशेषता थी। उत्तर में भारतीय ग्रीक राज्य थे तथा पूर्व में मगध। देश के मध्य भाग में सातवाहनों का शासन था और दक्षिण में चोल वंश, पाठड्यगण और केरल पुत्र शासन कर रहे थे। उत्तर-पश्चिम की ओर से विभिन्न नस्ल के लोगों का भारत आना जारी रहा। ईरान, अफगानिस्तान और मध्य एशिया से लोग यहाँ आए। शक अपने निवास क्षेत्र से बाहर कर दिए गए थे और भारत में उनका आगमन हो चुका था। उत्तर-पश्चिम में इन लोगों ने अपना राजनीतिक वर्चस्व कायम कर लिया था। वहाँ से ये मध्य पश्चिम और मध्य दक्षिण की तरफ बढ़ गए। कुशाण वंश के लोग पेशावर से शासन चला सकते थे। इनका शासन उत्तर-पश्चिम और दक्षिण-पश्चिम दोनों ओर फैला था। भारतीय समाज व्यवस्था में जगह पाने की उन्होंने पुरजोर कोशिश की लेकिन चार वर्णों वाली ब्राह्मण व्यवस्था (वर्णव्यवस्था) में प्रवेश पाना उनको काफी मुश्किल लगा।

हालांकि राजनीतिक उथल-पुथल और धार्मिक विप्लव का यह काल था। इसके बावजूद नगरों की संवृद्धि और सौदागरों की ताकत बेरोक-टोक बढ़ती रही। आंतरिक और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में बढ़ोतरी हुई। शिल्पकारों ने अपने-अपने विशेषज्ञों वाले क्षेत्र में प्रवेश किया। इनमें कुंभकार, जुलाहे तथा सुनार जैसे दस्तकार शामिल थे। इन लोगों ने अपने-अपने शिल्प संघ बनाए। परिवार इनके युवकों के लिए प्रशिक्षण केंद्र हुआ करते थे और श्रेणी धर्म (श्रेणी के नियमों का पालन) इनकी आचार शास्त्र था। यही शिल्प संघ वस्तुओं की कीमत निर्धारित करते थे शिल्पी समूहों की परंपरागत आचार संहिता को लागू करने के इनके पास अधिकार थे, यहाँ तक कि इनके पर दंड देने और जुर्माना करने का भी अधिकार था। अपनी परंपरा से जुड़े रहने के कारण इनका समूह अंतर्विवाही (सगोत्र विवाही) बन गया। इसके चलते नए-नए समूह बने और नई जातियाँ अस्तित्व में आई।

व्यापारी बन जाने के बाद ब्राह्मण लोग वैश्यों को भी धनी आसामी (या यजमान) मानते थे। नए संरक्षकों को आकर्षित करने के लिए ब्राह्मणों ने नए देवी देवता गढ़े, इस तरह देवी-देवताओं की संख्या और बढ़ी।

भारत में नई जातियों के आगमन से ब्राह्मण व्यवस्था को अपने पुनर्नवीकरण के लिए एक और अवसर मिला। सातवाहनों ने शकों को परास्त कर दिया। आंध्र प्रदेश और उसके इर्द-गिर्द के इलाकों पर उन्होंने अपना शासन कायम कर लिया था। इन लोगों ने ब्राह्मणों को अपना पुरोहित स्वीकार किया और ये दोनों विदेशी जातियों को शक और कुषाण जैसा मानते थे। इन लोगों ने भारत के एक हिस्से पर कब्जा कर लिया था और उसका शासक बन गए थे। इस प्रकार जातियों, शासक गुटों, तथा नई वाणिज्यिक और व्यवसाय संबंधी विशेषज्ञताओं की बहुलता ने चार वर्णों वाली भारतीय जाति व्यवस्था के समक्ष नए तकाजे प्रस्तुत किए। भारतीय इतिहास के अगले काल में ब्राह्मण दर्शन और सामाजिक संगठनों को विकास की इन चुनौतियों का सामना करना पड़ा। इसी के भीतर से कमोवेश एक स्थाई व्यवस्था का जन्म हुआ। भारतीय इतिहास में इस अवधि को आमतौर पर क्लासिकी युग कहा जाता है। भारत में जाति व्यवस्था के अध्ययन के लिहाज से इसमें महत्वपूर्ण बात यह है कि इस व्यवस्था ने ऐसी शक्ल अख्तियार कर ली जिसे कठोर तथा वंश परंपरा पर आधारित व्यवस्था के रूप में उन्नीसवीं सदी तक बरकरार रखा जा सका था। दूसरे खंड में हम उन जटिल कारकों की चर्चा करेंगे जो जाति प्रथा के साथ जुड़ गए थे।

बोध प्रश्न 1

1) नीचे दिए गए वक्तव्यों को ध्यान से पढ़िए तथा उनके सामने सही या गलत का चिह्न लगाइए:

i) वैदिक समाज में दो मुख्य समूह थे—आर्य और दस्यु। ( )

ii) वैदिक काल में ब्राह्मण तथा क्षत्रिय दो महत्वपूर्ण समूह थे। ( )

iii) वैदिक काल में वैश्यों को शूद्रों के साथ रखा जाता था। ( )

iv) वैदिकोत्तर काल में बौद्ध लोग क्षत्रियों को ब्राह्मणों से ज्यादा महत्वपूर्ण मानते थे। ( )

15.4 वैदिकोत्तर काल में वर्ण और जाति

वर्ण और जाति के संबंधों को लेकर समाजशास्त्रियों में काफी लंबी बहस चली है। इस इकाई में बिना विस्तार में गए इतना तो आसानी से कहा जा सकता है कि वर्ण की संकल्पना विचारधारात्मक है। जातियों का संबंध क्षेत्र और स्थानीयता से है। इनकी संख्या हजारों में है इसके विपरीत वर्ण की संकल्पना अखिल भारतीय है।

प्रथम तीन वर्णों को द्विज कहा जाता है (इसका मतलब दो बार जन्म लेना होता है)। दूसरे जन्म का अर्थ अध्ययन की शुरुआत से माना गया है। इसमें उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कार किया जाता है, जनेऊ धारण किया जाता है। शूद्रों को इस कर्मकांड से गुजरने की अनुमति नहीं प्राप्त थी। इसलिए इनका जन्म एक होता है तथा एक जाति या कजा माना जाता है। इस तरह उनके विद्यार्थी जीवन में प्रवेश की कल्पना नहीं की जाती है और यह उम्मीद की जाती है कि वे बलि में भाग लेंगे। पहले तीन वर्णों के कर्तव्य निर्धारित हैं और उनके पालन न करने पर प्रायश्चित स्वरूप तपस्या का विधान किया गया है। क्षत्रियों के कर्तव्य पर अधिक जोर दिया गया है। पुरोहितों को उपहार देना उसका कर्तव्य माना गया है और जनता की कतिपय सुविधाएँ जो ब्राह्मणों को प्राप्त हैं, उनके इस अधिकार का आदर करने के लिए कहा गया है। शिल्पियों के समूह को भी मान्यता मिली है, उनकी संवृद्धि को भी स्वीकार किया गया है। शूद्रों को छोड़ दिया गया है कि वे स्वयं अपने लिए नियम बनाएँ। उनको इतना छोटा माना गया है कि कर्तव्यों की सूची बनाते समय उनका कहीं जिक्र भी नहीं किया गया है। संपूर्ण जीवन को चार भागों (आश्रमों) में बांटा गया है जिन्हें ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास कहा गया है। ब्राह्मण का ब्रह्मचर्याश्रम सबसे पहले शुरू होता है, उसके बाद क्षत्रिय का और सबसे अंत में वैश्यों का। चौथा आश्रम संन्यास है। यह केवल ब्राह्मणों के लिए माना गया है।

विश्वामित्र और वशिष्ठ के बीच संघर्ष का विषय है--ब्राह्मणों का क्षत्रियों पर प्रभुत्व। इसमें ज्ञान तथा शारीरिक कौशल, दोनों ही स्तरों पर विश्वामित्र की विजय हुई थी। यद्यपि विश्वामित्र को "ब्रह्मऋषि" उपाधि पाने में सफलता तो हासिल हुई लेकिन उनको यह उपाधि क्षत्रिय की हैसियत खो कर ही मिल पाई। दूसरी कहानी परशुराम की है जिन्होंने क्षत्रियों का बड़े पैमाने पर संहार किया लेकिन राज्य करना नहीं चाहा।

जहाँ तक वैवाहिक संबंधों की बात है, प्रथम तीनों वर्ण, अपने वर्ण के भीतर ही शादी-ब्याह करते थे। यदि सवर्ण विवाह के नियम को भंग किया जाता तो रक्त दूषित होने का भय था। लेकिन इस प्रकार लीक छोड़ कर वैवाहिक संबंध कायम हुए लेकिन इनको अनुचित कर्म कहा गया। "वर्णासंकर" इसी प्रकार के संबंध से संपन्न संतानें थी। इस प्रकार की संतानों को समुचित प्रतिष्ठा नहीं मिल पाती थी और नए समूहों में इनके वैवाहिक संबंधों की जरूरत होती थी। जाहिर तौर पर राजाओं के अपने नियम होते थे। बाद के उनके शासक क्षत्रियेत कुलों के थे। इनमें नंदवंश, शुंग, मौर्य वंश और आभीर उल्लेखनीय हैं। इनमें से कुछ ने तो अन्य शासकों के साथ संबंध बनाने की कोशिश भी की ताकि अपनी वैध हैसियत के दावेदार बन सकें। बहरहाल कालांतर में अनुलोम और प्रतिलोम विवाह का विचार जन्म ले चुका था। इसमें अनुलोम शास्त्रसम्मत था और प्रतिलोम विवाह शास्त्र विरोधी, इसलिए वर्जित था। और इस बात पर जोर दिया गया कि प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न बच्चे आर्य की श्रेणी से बाहर रखे जाएँगे।

15.4.1 क्लासिकी युग (200-700 ई.)

भारतीय इतिहास में क्लासिकी युग में विज्ञान, वास्तुकला साहित्य और कलाओं का चतुर्दिक विकास हुआ। ये बातें गुप्त वंश के शासन काल में शक्ति संगठन से जुड़ी हुई हैं। माना जाता है कि चंद्रगुप्त प्रथम काफी संपन्न जमींदार था। उसने मगध पर राजनीतिक अधिकार जमा लिया था लिच्छवी वंश की किसी राजकुमारी से उसने विवाह किया। उसके पुत्र समुद्रगुप्त ने कई जनजातीय सरदारों को परास्त कर उनके क्षेत्र पर कब्जा किया। जनजातियों के बीच जो आपसी प्रतिद्वंद्विता थी उसको सवर्ण शासकों की व्यापक शक्ति के बल पर समाप्त कर दिया गया। शासकों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त राजा उसका पुत्र चंद्रगुप्त द्वितीय था जिसको विक्रमादित्य नाम से भी संबोधित किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि पितामह का नाम देने की परंपरा काफी पहले से चली आ रही है (विशेष रूप से दक्षिण भारत में तो इसके अवशेष अभी भी मौजूद हैं)।

जहाँ तक वैवाहिक संबंधों की बात है, हम देखते हैं कि यदि कोई पुरुष अपने से नीचे के वर्ण की कन्या से विवाह करता था तो इस पर कोई आपत्ति नहीं की जाती थी, इसको स्वाभाविक माना जाता था। यदि कोई व्यक्ति अपने वर्ण से उच्च वर्ण की कन्या से विवाह करता था तो उसे प्रतिलोम विवाह कहा जाता था और यह अस्वाभाविक समझा जाता था। इस प्रकार यदि कोई ब्राह्मण क्षत्रिय अथवा वैश्य कन्या से शादी करे तो वह अनुलोम विवाह माना जाता था और इसकी स्वीकृति थी। इसके विपरीत वैवाहिक संबंध को प्रतिलोम विवाह माना जाता था और इस प्रकार के विवाह की अनुमति नहीं थी।

यह प्रथा आगे अनेक सदियों तक जारी रही। यह बाहर से आनेवाले विजेता जातियों को रास आती रही जिनके समूहों में पुरुषों की तुलना में स्त्रियाँ काफी कम होती थीं। कालांतर में जब वे स्थायी रूप से बस जाते थे तो कुछ संतुलन कायम हो जाया करता था। उसके बाद अंतर्जातीय विवाहों को प्रोत्साहित करने की आवश्यकता नहीं होती थी। इस प्रकार दो भिन्न वर्णों के संयोग से पैदा हुए बच्चों को अलग श्रेणियों में रखा जाता था और उनके आपस में वैवाहिक संबंध स्थापित होते थे। इस तरह कई जातियाँ बनती थीं। अनुलोम विवाह से उत्पन्न छः जातियों का याज्ञवल्क्य ने उल्लेख किया है। इसी प्रकार प्रतिलोम विवाह से उत्पन्न संतानों से सात जातियाँ बनी थी। संक्षिप्त रूप में उनके नामों को प्रस्तुत किया जा सकता है:

अनुलोम जातियाँ

(अनुलोम वैवाहिक संबंधों से उत्पन्न)

सं.	पिता का वर्ण	माता का वर्ण	संतान की जाति
1)	ब्राह्मण	क्षत्रिय	मूर्धव सिक्त
2)	ब्राह्मण	वैश्य	अंबस्ट
3)	ब्राह्मण	शूद्र	निषाद, पार्शव
4)	क्षत्रिय	वैश्य	माहिष्य
5)	क्षत्रिय	शूद्र	उग्र
6)	वैश्य	शूद्र	करण

प्रतिलोम जातियाँ

(प्रतिलोम वैवाहिक संबंधों से उत्पन्न)

सं.	पिता का वर्ण	माता का वर्ण	संतान की जाति
1)	क्षत्रिय	ब्राह्मण	सूत (सारथी)
2)	वैश्य	क्षत्रिय	मागध, शाकुद्वीपी
3)	शूद्र	ब्राह्मण	चांडाल
4)	वैश्य	ब्राह्मण	वैदेशिक
5)	शूद्र	क्षत्रिय	क्षत्तार
6)	शूद्र	वैश्य	अथोगव
7)	माहिष्य	करण	रथकार

विभिन्न वर्णों के बीच जहाँ तक अंतर्वर्णा की बात है, "द्विज" शब्द खासतौर से सवर्ण जातियों के लिए इस्तेमाल होने लगा था। शूद्रों को धार्मिक कृत्य की परिधि से एकदम बाहर माना जाता था। उनके लिए दुबारा जन्म (यानी उपयन) वर्जित था। यानि उनका कोई विद्यार्थी जीवन नहीं हुआ करता था जिस जीवन की परिणति वेदों के अध्ययन में होती थी। इसका निहितार्थ यह था कि अध्ययन शुरू करने के लिए जिन कर्मकांडों का विधान किया गया था, उसके भी वे अधिकारी नहीं थे। मुख्य बस्तियों के बाहर उनके घर होते थे। उनका स्पर्श भी अपवित्र माना जाता था। बलि या यज्ञ आदि कार्य के अवसर पर उनकी उपस्थिति अशुभ मानी जाती थी।

लेकिन व्यावहारिक स्पर पर भूस्वामियों और कारीगरों के आपसी कामों को नियमन यजमानी संबंधों के आधार पर होता था। ये कामगार अधिकतर सेवकों के समूह के होते थे और द्विज श्रेणी के बाहर के थे। विशेषाधिकार युक्त और विशेषाधिकार विहीन के लिहाज से कौन समाजिक सोपान के शिखर पर है और कौन सबसे नीचे, इसको साफ शब्दों में परिभाषित किया गया था। ब्राह्मणों ने कुछ मामलों में अपने को सभी नियमों से ऊपर कर रखा था। और ब्राह्मणों को उपहार तथा देवताओं को बलि चढ़ाने के लिए क्षत्रिय लोगों को चेताते रहते थे। कुछ मामलों में पुरोहितों को मंदिरों के रखरखाव तथा विद्यालयों के संचालन के लिए अनुदान के रूप में भूमि दी जाती थी। बौद्धों की ओर से इनको थोड़ी-बहुत चुनौती का सामना करना पड़ता था। बौद्धों ने भी विश्वविद्यालयों की स्थापना की थी। नालंदा उन्हीं में से एक था। इन लोगों ने दो प्रकार के विशाल भवन भी बनाए थे—चैत्य (पूजा के लिए बड़ा हाल) और विहार (रहने के जगह जहाँ बड़ी संख्या में छात्र रहा करते थे)। ब्राह्मण और बौद्ध धर्म में से वैश्यों को बौद्ध धर्म अधिक अनुकूल जान पड़ा क्योंकि बौद्ध धर्म के प्रचार को प्रोत्साहित करता था (साथ ही व्यापार के प्रचार का भी इसमें अवकाश था)। इसमें समुद्र पार दक्षिण पूर्व एशिया की यात्रा के लिए भी प्रतिबंध नहीं था। ब्राह्मण व्यवस्था के प्रबल होने के कारण यवनों तथा म्लेच्छों से भारतीय वैश्यों का संपर्क कम हो गया था। इस प्रकार अरबों तथा यूरोपवासियों से उनका व्यापार कम हो गया था। यूरोप और मध्य एशिया में हूणों के आक्रमण के कारण जो उथल-पुथल हुए, उसके कारण व्यापार में और रुकावटें पैदा हुई। इस प्रकार व्यापारिक गतिविधियाँ देश के

भीतर तक ही सीमित रह गई थीं। इसके कारण एक हद तक व्यापारी वर्ग की सामाजिक हैसियत कमजोर हुई और उनका पद बस शूद्रों से थोड़ा ऊपर रह गया था।

संक्षेप में कहें तो सिद्धांत और व्यवहार दोनों ही दृष्टियों से इस युग में सामाजिक सोपान में ब्राह्मण का स्थान शिखर पर था, शूद्रों का स्थान सबसे नीचे था। अनुलोम विवाह के कारण मध्यवर्ती जातियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई और निचले स्तर पर प्रतिलोम विवाहों ने इनकी संख्या में वृद्धि की। क्षत्रियों की कोटि में नए-नए समुदाय शामिल हुआ और सौदागर समाज का पहले उत्थान और बाद में पतन हुआ। पुराण तथा स्मृति साहित्य को लेखन तक सीमित कर दिया गया। इसके पहले जिन महाकाव्यों की संस्कृत में रचना की गई थी, उनकी भी स्थिति पुराणों और स्मृतियों जैसी थी। गद्य और पद्य दोनों रूपों में संस्कृत भाषा में प्रौढ़ता आई, और यह दार्शनिक वाद-विवाद की भाषा बनी। इसका (ब्राह्मण धर्म का) विरोध करने वाले धर्मों के रूप में जैन धर्म तथा बौद्ध धर्म की तरफ लोगों का ध्यान जाने लगा। राजनीतिक स्तर पर अनेक बार साम्राज्यों का निर्माण हुआ, लेकिन इसकी रोमन साम्राज्य की तरह लगातार विकसित होने की परंपरा भारत में जड़ नहीं जमा सकी। शासक और राजवंश सत्ता में आते रहे और बार-बार क्षेत्रीय शक्तियों के हाथ मात खाते रहे और अपनी सत्ता खोते रहे। विशेष रूप से मध्य भारत और भारत के बाहर की घटनाओं से भारत की सामाजिक शक्तियों का संतुलन प्रभावित हुआ, कहना चाहिए कि यूरोप, उत्तरी अफ्रीका और दक्षिण पूर्व एशिया की घटनाओं का भारत पर काफी असर हुआ। इससे संबंधित जो परिवर्तन हुए, उनमें उल्लेखनीय हैं, संयुक्त परिवार का मजबूत और शक्तिशाली होना, उत्तराधिकार के नियम। राजधर्म को संहिताबद्ध किया गया जिसमें राजा पर विभिन्न समुदायों की परंपराओं को कायम रखने का दायित्व डाला गया क्योंकि पवित्र ग्रंथों में इनकी व्याख्या या परिभाषा नहीं की गई थी। इस समय स्त्रियों के ऊपर प्रतिबंध भी लगे।

उत्तर में बौद्ध और जैन बहुधा चुनौती देते रहे। ये दोनों देश के अन्य भागों में भी फैल चुके थे। इसके अलावा मातृसत्तात्मक सामाजिक व्यवस्था भी कायम थी, विशेष रूप से केरल में।

बोध प्रश्न 2

1) खाली स्थानों को भरें :

   i) वैदिक काल में दस्यु कहे जाने वाले लोग वैदिकोत्तर काल में ..... के रूप में जाने लगे।

   ii) पहला वेद ..... नाम से जाना जाता है।

15.4.2 उत्तर भारत में क्षेत्रीय राज्यों का उदय तथा दक्षिण भारत की धार्मिक और आर्थिक शक्ति (712-1192 ई.)

उत्तर में क्षेत्रीय शक्तियों (राज्यों) का उदय और सामंतीय व्यवस्था का उद्भव भारतीय इतिहास के चौथे काल (चौथे चरण) की विशेषता है। सामाजिक स्तरण के अध्ययन के महत्व की दृष्टि से हम पाते हैं कि इस काल में ब्राह्मणों की स्थिति सर्वोपरि थी, उस पर कोई प्रश्न चिह्न नहीं लगा सकता था। वह धर्म ग्रंथों में पारंगत था। इन धर्म ग्रंथों की टीका व्याख्या के अतिरिक्त उनमें कुछ जोड़ना घटाना संभव नहीं था। पश्चिम एशिया में इस्लाम का उदय हुआ, अरब व्यापारियों का आविर्भाव हुआ भूमि के रास्ते भारत चीन से कट गया। इसके कारण सौदागरों का भारत के उत्तरी और मध्य भाग में महत्व कम हुआ। इससे नगरों और देहात का संबंध कमजोर हुआ। कस्बों का महत्व कम हुआ, उनकी संख्या भी घटी। भूस्वामियों की उन्नति हुई और उनका प्रभाव भी बढ़ा। काफी संख्या में मंदिरों वाले कस्बे (तीर्थों) का जन्म हुआ, इससे शिल्पकारों को संपत्ति के नए स्रोत उपलब्ध हुए। लेकिन दक्षिण भारत में क्षत्रिय और वैश्य वर्ण के लोग नहीं थे। इसलिए चारों वर्णों वाले समाज में इन समूहों के लिए स्थान निर्धारित करने की समस्या दक्षिण भारत में नहीं थी। दक्षिण में, और खासतौर पर तमिल क्षेत्र में मुख्य सामाजिक विभाजन ब्राह्मण और शूद्रों के बीच था इसके बाद शूद्रों का उपविभाजन दक्षिण हाथ समूह और वाम हाथ समूह के रूप में किया गया था—दूसरे शब्दों में स्वच्छ और अस्वच्छ समूह।

शक, कुषाण और हूण जैसी जातियों के बाहर से आने से भारतीय समाज में जो समस्या पैदा हुई उसे दो प्रकार से हल किया गया :

i) विजेता समूह शासक बन गया।

ii) विभिन्न पौराणिक पुरुषों के साथ इनका संबंध बताकर पुरोहितों ने समाज व्यवस्था में इनकी प्रतिष्ठा को वैधता प्रदान की।

15.4.2.1 जैन संप्रदाय

समाज के व्यापारी वर्ग ने जैन धर्म अथवा बौद्ध मत अपनाकर ब्राह्मण व्यवस्था की कट्टरता पर काबू पाने की कोशिश की। वाणिज्य की संवृद्धि तथा व्यापार में विशेषज्ञता प्राप्तकर (और यह कृषि कर्म से एकदम भिन्न था) व्यापारी वर्ग ने वाणिज्य में पूँजी निवेश को अधिक लाभकारी पाया। जैन धर्म का अधिक जोर अहिंसा पर था इसलिए खेतीवाड़ी को इससे प्रोत्साहन नहीं मिला क्योंकि खेत जोतने में कीड़े-मकोड़े मरते थे। वैश्य व्यापारी भी कृषि कर्म से दूर होते चले गए और ब्राह्मणों ने उन्हें अपने अपेक्षाकृत संपन्न संरक्षकों के रूप में पाया। इस प्रकार वैश्यों की हैसियत में सुधार हुआ। बौद्ध धर्म के पतन के बाद जैन अल्प समुदाय ने अपनी स्थिति और सुदृढ़ की और वैश्यों की स्थिति में भी सुधार हुआ। समाज के शेष लोगों के लिए व्यावहारिक स्तर पर जैन लोगों और वैश्य सौदागरों के बीच नाममात्र का फर्क रह गया था। नए सगोत्र विवाह वाले समूह का आविर्भाव होने लगा था, इनमें दोनों ही समूहों के सदस्य थे। इनकी आबादी भारत के पश्चिमी तथा मध्य भाग में ज्यादा थी। जैनी लोग मूलतः नगर निवासी थे, अपने व्यवसाय में दक्ष थे और मंदिरों में तथा उसके आसपास इन्होंने अपना सामाजिक जीवन संगठित किया था। मंदिर के वास्तुशिल्प में नई शैली की वजह से स्तंभों तथा अंदर की छतों पर बारीक पच्चीकारी की गई। जैन उपदेशक अपना उपदेश क्षेत्रीय बोलियों में देते थे। गुजराती और मराठी की साहित्यिक उत्थान में भी उन लोगों ने मदद की लेकिन यहाँ उनको दूसरे आंदोलन ने पीछे कर दिया। इस आंदोलन के पुरोधा लिंगायत संप्रदाय के लोग थे। वीर शैववाद की इन्होंने घोषणा की थी।

15.4.2.2 तुर्क और अफगानों का आगमन

पश्चिम एशिया और खाड़ी क्षेत्र के साथ व्यापारिक गतिविधियों का भारत पर दो तरह का असर हुआ। इस्लाम का प्रसार होने लगा था और अरब सौदागर समुद्री किनारे के रास्ते से आए थे। इन्होंने मालाबार, तमिल नगरों तथा बंगाल की खाड़ी की यात्रा की थी। वे यहाँ रहने के लिए तथा व्यापारिक चौकी बनाने आए थे। दक्षिण के स्थानीय समुदायों के साथ वे मिलकर रहने लगे

इसके एकदम विपरीत उत्तर भारत के मैदानों तथा मंदिरों में अफगान, अरब और तुर्क लोग धन की तलाश में आए थे, उसके बाद जो आए, वे इस्लाम का प्रचार और विस्तार करने के लिए आए थे। नगरपालिका के आकार वाले उत्तर के राज्यों के पास इतनी शक्ति नहीं थी कि इन आक्रमणों और सशस्त्र चढ़ाइयों के सामने टिक सकें। मथुरा, थानेश्वर, कन्नौज और सोमनाथ जैसे मंदिर बहुल नगर मुहम्मद गजनवी (1010-1026 ई.) के विशेष लक्ष्य थे जिसमें सोने की अतृप्त्य पिपासा थी। इसके लिए मंदिर की स्वर्ण मूर्तियों का भंजन आवश्यक था जो उसके नए विश्वास के पालन का जरूरी कर्तव्य था। दक्षिण भारत का अनुभव इससे एक दम अलग था। वहाँ पर व्यापार पर नियंत्रण पर विशेष बल दिया जाता था और वहाँ जब धर्मांतरण हुआ तब मालाबार और लक्षद्वीप के मातृकुलीय समाजों ने इस्लाम में मातृकुलीनता का चित्र पेश किया। इसलिए दक्षिण ने धर्मों का वैसा टकराव नहीं देखा जैसा कि उत्तर भारत में देखा गया था।

15.4.2.3 पारसी समुदाय

ईरान अथवा फारस में इस्लाम की सफलता का एक दूसरा परिणाम भी सामने आया। कुछ फारसी लोगों ने इस्लामी आस्था को नहीं स्वीकार किया और वे लोग मालाबार क्षेत्र के पश्चिमी तट की ओर चले गए। ये लोग अग्निपूजक थे और जोरस्थ्रियनवाद में इनकी आस्था थी। ये भारत आए और व्यापारी समुदाय के रूप में अपने को स्थापित कर लिया। इनका आपस में संबंध काफी मजबूत था, इसलिए इतने अल्पमत में होने के बावजूद भारत जैसे सुदूर देश में ये लोग एक दूसरे से घनिष्ट रूप से बंधे रहे।

ये लोग फारस से आए थे इसलिए इनको फारसी कहा जाता रहा। जोकि शुरू में ये केरल में आकर बसे थे लेकिन इनकी व्यापारिक गतिविधियों का केंद्र बंबई तथा उसके आसपास

का क्षेत्र था। आधुनिक भारत के निर्माण में उनका अनेक रूपों में योगदान रहा है। टाटा उद्योग समूह पारसी समुदाय का ही है। क्रिकेट खिलाड़ी रूसी मोदी, खेल का आँखों देखा हाल बयान करने वाले ए.एफ.एस. तलियार खां, राजनेता दादा भाई नौरोजी और पीलू मोदी तथा फिरोज गांधी आदि ने आधुनिक भारत को संपन्न बनाने में अपना योगदान दिया है। एक प्रसिद्ध समाजशास्त्री स्वर्गीय जे.एफ. बलसाड़ा ने लंदन में शिक्षा प्राप्त की थी। उनके शिक्षक महान समाजशास्त्री बी. मालिनोव्स्की थे। वे पारसी पंचायत के सचिव होकर बंबई आए। पारसियों ने रजवाड़ों में भी अपनी गतिविधियों का विस्तार किया। मेवाड़ की राजधानी में एक बहुत भारी दुकान खोली गई। इसको सामान्यतः "पारसी का बंगला" नाम से जाना जाता है। यहाँ पर राजा स्वयं आकर राज परिवार के उपयोग की सामग्री का आदेश दिया करता था। उन्नीसवीं सदी के अंतिम काल में यह समुदाय भारत में आधुनिकीकरण का प्रमुख वाहक था।

15.4.2.4 नई जातियों का उदय

इस काल में काफी बड़ी संख्या में जातियाँ और उपजातियाँ भारत में अस्तित्व में आई। अनेक नस्लें परस्पर मिलती रहीं और जिन समूहों में परस्पर वैवाहिक संबंधों पर रोक थी, उनमें वैवाहिक संबंध होते रहे, इसकी वजह से और नई जातियों का उदय हुआ। दूसरी बात यह थी कि कुछ नई जातियाँ नए पेशों से जुड़ी, मसलन कायस्थ लोग प्रशासन के लेखा-जोखा रखने का काम करने लगे।

खत्रियों ने व्यापारिक गतिविधियों पर अधिकार कर लिया और इनको भी वैश्यों के समूह में गिना जाने लगा। गुजरों, जाटों और अहीरों की स्वतंत्र जातियाँ बन गई। इन जातियों ने अपने को क्षत्रियों में शरीक करवाने की कोशिश की लेकिन वर्ण व्यवस्था की मुख्य धारा ने इनके दावे को नहीं माना। कायस्थों को संकर मूल का माना जाता था लेकिन सत्ता के काफी करीब होने के कारण उनकी सामाजिक हैसियत काफी ऊँची हो गई थी। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था में शिथिलता आ गई क्योंकि द्विजों तथा शूद्रों की श्रेणी कुछ नई जातियों के नाम से जुड़ गई थी।

अछूत के रूप में शूद्र को कर्मकांड की दृष्टि से परिभाषित किया गया था तथा अन्य वर्णों की तुलना में ब्राह्मण लोग उनसे अधिक दूरी बनाए रखते थे। सामाजिक दूरी कायम रखने के लिए कर्मकांडों के विस्तार, पवित्र ग्रंथों की व्यापक शिक्षा तथा मठों और मंदिरों के निर्माण ने कर्मकांडों की एक जटिल प्रणाली मुहैया कराई। भोजन स्वीकार करने के नियम तथा पूजा और निवास के लिए स्थानों का भी निर्धारण किया गया। अनुलोम विवाह का उल्लंघन अति दंडनीय माना गया। इसे पाप भी माना गया और सामाजिक कानून का उल्लंघन भी। जिन सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों ने इस व्यवस्था को खड़ी करने में मदद की उनको सूत्र रूप में नीचे दिया जा रहा है :

i) सामंतीय व्यवस्था का सुदृढ़ होना,

ii) खेती की गतिविधियों से वैश्यों का अलग होना,

iii) भूमि की आय का सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्रोत बन जाना,

iv) शूद्रों की स्थिति का श्रमिकों जैसी होना, और

v) स्थाई रूप से उनका जमीन (खेती) से बंध जाना।

सामाजिक दूरी के मूल के विषय में तथा इसके विशिष्टीकरण के बारे में हूटन ने थोड़ा भिन्न दृष्टिकोण रखा है। वे सोचते हैं कि सामाजिक दूरी व्यवसायों के बीच अंतर होना माना जाता है। इसके अलावा आवास स्थल, तथा पूजा में जनजातीय विशेषताओं का होना और आर्य पूर्व नस्ल का होना भी इसका कारण है। माना जाता है कि जनजाति के लोगों का विश्वास है कि हर चीज एक सर्वोच्च शक्ति में निहित होती है। इस शक्ति को माना या बोंगा कहा जाता है। उसे प्रसन्न रखने के लिए उसकी पूजा की जानी चाहिए। हर समूह अपने माना को जानता है और यह जानता है कि किस प्रकार उसको सम्हाला जाए। दूसरों का माना अजनवी होता है इसलिए दूसरों के माना से अपने माना की रक्षा की जानी चाहिए। इसलिए इसको पवित्र रखने का विचार ही दूसरों से अलग रहने का दूरी बनाए रखने का विचार है। डी.एन. मजुमदार ने हूटन के आर्य पूर्व के सिद्धांत को समान महत्व दिया है। दोनों में कुछ विशेषताओं को स्वीकारते हुए निष्कर्ष निकाला कि दोनों के विचित्र संयोग के चलते वे स्थितियाँ पैदा हुई कि भारत में जाति के दो तत्वों का आविर्भाव हुआ:

i) दूसरे समूह से दूरी बरतने का आर्य-पूर्व विचार, और

ii) आर्यों के आने के बाद अंतर्जातीय विवाहों का तमाम प्रतिबंधों के बाद भी जारी रहना।

15.5 पठान काल–दिल्ली सल्तनत (1206-1526)

इस भाग में हम राजनीतिक अर्थव्यवस्था, मुसलमानों और हिंदुओं में जाति और समुदाय पर हम अपना ध्यान केंद्रित करेंगे और भक्ति आंदोलन की जाति व्यवस्था पर क्या प्रभाव पड़ा, इसका भी हम अध्ययन करेंगे।

15.5.1 राजनीतिक अर्थव्यवस्था

भारतीय इतिहास के पाँचवें काल खंड की विशेषता है–अफगानों और तुर्कों का नए सिरे से दिलचस्पी लेना। 1192 ई. में मोहम्मद गोरी द्वारा पृथ्वीराज चौहान को पराजित करने के बाद दिल्ली अफगानों की प्रांतीय राजधानी बन गई। मोहम्मद गोरी के मरने के बाद उसके सेनापति, क़ुतुबुद्दीन ऐबक ने शासन की बागडोर अपने हाथ में ले ली और गुलाम वंश का शासन स्थापित किया। तुर्क तथा अफगान लोग भारत में रहने और दिल्ली से शासन करने आए थे। यह राजधानी नया वाणिज्यिक केंद्र बनी। यह राज्य द्वारा संचालित कारखाने थे (इतने बड़े कारखाने जहाँ चार हजार लोगों को काम पर लगाया गया था) सैनिक तथा नागरिक प्रतिष्ठान थे। ये खूब फलफूल रहे थे। ये सुल्तानों के लिए विलासिता की सामग्री तैयार करते थे। नगरीय जनता के लिए जरूरी सामान उपलब्ध कराने के लिए राज्य की ओर से इनमें थोड़े बहुत प्रबंध की जरूरत थी। इसको ग्रामीण उत्पादों को नियंत्रित करके पूरा किया जा सकता था। शासक लोगों का धर्म अलग था, इसलिए अपने साथ वे लोग अपने धर्मशास्त्री भी लेकर आए थे। धर्म के मामलों की देखभाल का काम विशेषज्ञों के जिम्मे था। मदरसों और मस्जिदों के रूपों में अध्ययन के केंद्रों और पूजा स्थलों का आविर्भाव हुआ। बाद में फारस के लोगों ने कागज और उस पर चित्रकारी कला से परिचित कराया।

छोटे पैमाने पर ही सही सूबों में तैनान गवर्नरों की जीवन शैली सुल्तानों जैसी ही थी। प्रमुख रूप से कृषि प्रधान देश में इसकी वजह से भी नागर संस्कृति का विकास और प्रसार हुआ। गुजरात, मालवा, जौनपुर, वारंगल, उड़ीसा, विजयनगर, मेवाड़ और मारवाड़ क्षेत्रों में राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण केंद्रों का उदय हुआ। इसी अवधि में राजनीतिक दृष्टि से महत्वपूर्ण केंद्रों का उदय हुआ। इसी अवधि में (1498) के अंत होते-होते यूरोपीय व्यापारी (पुर्तगाली) भारत में आए। राजनीतिक अर्थव्यवस्था के इस संक्षिप्त विहंगावलोकन से भारत में इस दौर में विभिन्न समुदायों में सामाजिक स्तरण और जातियों की विशेषताओं को समझाने के लिए पृष्ठभूमि प्राप्त होती है।

शकों, हूणों, सिथियनों की विजय तथा अफगानों और तुर्कों की भारत पर विजय में मुख्य फर्क यह था कि तुर्क और अफगान अपने साथ नया धर्म लेकर आए थे और यहाँ की बहुसंख्यक हिंदू जनता के शासक के रूप में यहाँ पर बसे थे। राजधानी का नजारा तो एकदम भिन्न था जहाँ धार्मिक पुरोहित समुदाय, सरदारों और सैनिकों का जमघट था। इनकी सेवा टहल करने वालों का भी एक समूह था। इनका बहुत सरलता से इस्लाम में धर्मांतरण किया जा सकता था। दूसरी ओर राजनीति में ब्राह्मणों का वर्चस्व बहुत कम हो गया। कुछ क्षत्रिय सामंतों के यहाँ उनको संरक्षण मिलना जारी रहा। मंदिर सामूहिक पूजा तथा संगीत के स्थान बने रहे। त्योहार भी यहाँ मनाए जाते थे। मंदिरों के दरवाजे नए शासकों के लिए नहीं खोले गए। आदर्श रूप में इस्लाम का आधार उस धर्म के मानने वालों में समानता का दर्जा है। लेकिन भारत में उसे एक नई समाज व्यवस्था मिली इसके साथ इस्लाम ने अपने तरीके से संतुलन कायम किया यानी समूह की तरह इसमें भी जाति का निर्माण हुआ। अब जिस सामाजिक स्तरण का उनमें आविर्भाव हुआ, उसका संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा सकता है।

15.5.2 मुसलमानों में जाति और समुदाय

धार्मिक स्तर पर उल्लेमा लोगों को कर्मकांडों के संचालन और कुरान तथा शरीयत के नियमों की व्याख्या में विशेषज्ञ माना जाता था। सुल्तान उलेमाओं की मानते थे। सुल्तान ने मस्जिद निर्माण को प्रोत्साहित किया। इसके बदले उलेमा ने कुछ इस प्रकार की व्याख्या

प्रस्तुत की, जिससे सुल्तान को भगवान का प्रतिनिधित्व माना जा सके, उसी प्रकार, जैसे हिंदू राजा ईश्वर का प्रतिनिधि माना जाता था। एक सीमा तक सुल्तान यह उम्मीद करता था कि उलेमा शासक के लिए किसी न किसी रूप में आम जनता का समर्थन जुटाएगा। दूसरी कोटि में उन विद्वानों की गणना होती थी जो जीवनियाँ लिख सकते थे और कुछ इतिहास और अन्य बातें लिख सकते थे लेकिन उनसे उम्मीद की जाती थी कि वे ऐसा कुछ नहीं लिखेंगे जो सुल्तान के अधिकारों पर प्रश्नचिह्न लगाए।

मुसलमान प्रवासी अलग-अलग सामाजिक पृष्ठभूमि से आए थे। अरब लोग मुख्यतः व्यापारी के रूप में आए थे और पश्चिमी तटवर्ती क्षेत्रों में बस गए थे। उन्होंने देश को धनधान्य पूर्ण बनाया क्योंकि वे यहाँ से बाहर नहीं गए। चूँकि इनका राजनीति से कोई लेना-देना नहीं था इसलिए दक्षिण भारत की समाज व्यवस्था ने इनको बर्दाश्त किया। यह समूह अपने वंश परंपरा और उसकी शुद्धता के प्रति काफी सजग था। मूल प्रवासियों को एक सामान्य नाम से पुकारा जाता था जिसे "अशरफ" (जिसका अर्थ था माननीय व्यक्ति) कहा जाता था, ये मुसलमानों के ऊपर के समूह माने जाते थे। उनमें आपस में शादी-ब्याह करने की इजाजत थी और देश में यह विशेषाधिकार प्राप्त अल्पसंख्यक समुदाय था। अधिकांश सामंत और प्रांतों के गवर्नर इन्हीं परिवारों के लोग हुआ करते थे। बाद में चलकर जिन राजपूतों ने अपना धर्म परिवर्तन किया उनको भी इस समूह में शामिल कर लिया गया।

विभिन्न पेशों के आधार पर गठित समूह के कुछ हिंदुओं ने भी अपना धर्म परिवर्तन कर लिया। क्योंकि वे सत्ता के काफी निकट थे और उनको लगा कि इससे उनको कुछ लाभ मिल सकता है। इन लोगों में थे—मजदूरों के मुखिया, धातुकर्मी तथा धोबी और फेरी वाले दुकानदार। यहाँ भी हिंदू जातियों ने सजातीय विवाह की अपनी विशेषता को कायम रखा, इसी के साथ अपनी सांस्कृतिक विशेषताओं के कुछ अंशों को भी उन्होंने नहीं छोड़ा। ऐसा लगता है कि भारत में यहाँ का मूल सामाजिक ढाँचा ही इस्लाम में स्थानांतरित हो गया। वास्तविक व्यावहारिक स्तर पर हालांकि इस्लाम में सबकी बराबरी का आदर्श प्रचारित किया जाता है। जहाँ तक कि खानपान का प्रश्न है लेने और देने में उच्च वर्गों के साथ काफी उदारता बरती गई। लेकिन जिन अछूत हिंदुओं ने धर्म परिवर्तन किया था, व्यावहारिक स्तर पर इस्लाम में भी उनसे दूरी का ही बर्ताव किया गया।

15.5.3 हिंदुओं में जाति और समुदाय तथा भक्ति आंदोलन

हम जिसे भक्ति आंदोलन कहते हैं उसके आविर्भाव के कुछ स्वतंत्र कारण हैं। ये सब उस परम शक्ति की आराधना के सहज मार्ग की वकालत करते हैं। दक्षिण भारत में शिव तथा विष्णु की आराधना को आधार बना कर दो प्रमुख संप्रदाय लोकप्रिय हुए। ग्यारहवीं सदी के मध्य के आसपास रामानुजाचार्य ने विष्णु के 12 अवतारों में से किसी एक अवतार की मूर्ति की पूजा का प्रचार किया। गैर ब्राह्मण श्रेणी के कई संत इस आंदोलन में आए। वास्तव में ये संत नीची कही जाने वाली जातियों के थे। प्रमुख रूप से विद्वानों के बीच विचार-विमर्श की भाषा अभी भी संस्कृत थी किंतु वह भाषा वेदों की भाषा थी। जहाँ तक सामाजिक ढाँचे का सवाल है, जातिगत नियमों में थोड़ी ढील आई। लेकिन मुख्य सामाजिक ढाँचे का असर जारी रहा, यहाँ तक कि उसने इस्लाम के अनुयायियों को भी प्रभावित किया। समतावादी आंदोलनों के फैलने में प्रसिद्ध समाजशास्त्री घुरिये इस्लामी प्रभाव की भूमिका को स्वीकार करते हैं और रोमिला थापर तो उस संदर्भ में कबीर तथा नानक का विशेष रूप से उल्लेख करना नहीं भूलती हैं।

अराधना का सहज रूप प्रचारित किया गया। इसमें अपने आराध्य का नाम भर जपना था। इसको प्रोत्साहित और प्रचारित गैर ब्राह्मण संतों ने किया। इनमें महाराष्ट्र के नामदेव और तुकाराम के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। भारत के विभिन्न भागों में अलग-अलग संतों की प्रेरणा से भक्ति आंदोलन फैला। लेकिन इसके अलग-अलग चरण हैं। इन चरणों को नीचे की सारणी में दर्शाया गया है:

क्षेत्र	मुख्य प्रवक्ता	समय	मुख्य जोर किस पर
दक्षिण भारत	रामानुज तथा वल्लभ	1050	वैष्णव संप्रदाय
पश्चिम (महाराष्ट्र)	नामदेव, तुकाराम	13वीं सदी	"नमः" संक्राति का सूत्र बाद में शिव का नाम।
पूरब (उड़िसा, असम)	चैतन्य, शंकर देव	1485, 1533	कृष्ण चेतना
गंगा का मैदानी क्षेत्र (मथुरा, मेवाड़)	सूरदास, मीरा	15वीं सदी	कृष्ण

इस सूची में कर्नाटक का लिंगायत आंदोलन भी जोड़ा जा सकता है। हाल की समाजशास्त्रीय बहस इस बात पर केंद्रित रही है कि इनमें से कौन से आंदोलन सुधारवादी स्वरूप वाले थे और किनका चरित्र क्रांतिकारी था। लेकिन हमारे देश के सामाजिक ढांचे में इस प्रकार का हर आंदोलन कालांतर में अपनी ऊर्जा खो कर स्थिर हो गया और वह नए संप्रदाय या नई जाति में बदल गया।

कालांतर में चलकर कबीर के अनुयायी कबीरपंथी बन गए, यह हिंदू धर्म के भीतर ही एक संप्रदाय था। इसके सदस्य निचली जातियों के लोग थे। बस उनको सफाई सिखा दिया जाता था। सिक्खों का समुदाय के रूप में आविर्भाव कई चरणों में हुआ। नानक द्वारा संकलित "आदि ग्रंथ" को पवित्र पुस्तक का दर्जा दिया गया है।

15.6 मुगल काल (1526-1756)

1526 में पानीपत की लड़ाई में बाबर की विजय के बाद भारतीय इतिहास में मुगलकाल का श्रीगणेश होता है।

इस्लाम के अनुयायियों की संख्या और सामाजिक समूहों की विविधा में उस समय बढ़ोत्तरी हुई जब विभिन्न जातियों के हिंदुओं ने अपना धर्म परिवर्तन किया। यह आंदोलन औरंगजेब के समय में अपने शिखर पर पहुँच गया जिसका लोकप्रिय नाम आलमगीर था। पंजाब के कुछ इलाकों, पश्चिमी उत्तर प्रदेश और पूर्वी राजस्थान में नए सिरे से लोगों ने अपना धर्म परिवर्तन किया। धर्म परिवर्तन करने वालों में राजपूत, जाट, गुजर और त्यागी लोग थे (इनके अलावा अन्य छोटी जातियाँ भी थी)। धर्म परिवर्तन के 300 वर्ष बाद भी लोगों ने आपस में पर्व-त्योहारों के अवसरों पर तोहफों का आदान-प्रदान जारी रखा। यह बात गंगा-यमुना के ऊपरी दोआब में खासतौर से प्रचलित है। समाज के निचले स्तर पर और विशेष रूप से मेरठ क्षेत्र में धोबी और नाई भी मुसलमान हैं। संघर्ष की या टकरावों की कहानियों के बीच इन प्रवृत्तियों पर विचार करना लाजिमी है।

15.6.1 सिक्ख सप्रंदाय

इस दौरान पंजाब और दिल्ली में सिक्ख समुदाय का उत्थान हुआ और परवर्ती गुरुओं एक धार्मिक व्यवस्था स्थापित करने की दिशा में कार्य किया। धर्म ग्रंथ और तलवार को एक संग जोड़ा गया, वाणी और संगीत का विकास हुआ। सिक्खी के प्रचार के लिए हिंदुओं के प्रवेश के विधान ने इस धर्म के उत्थान और प्रचार में मदद की तथा एक समुदाय के रूप में उभरकर सामने आए।

विभिन्न स्तरों पर यह धर्म फलता-फूलता रहा। विभिन्न जातियों के लोगों को इसमें शामिल किया गया। इस प्रकार इसमें भी जाति वाला सामाजिक ढाँचा कमोवेश जैसे को तैसे कायम रहा। लेकिन पंजाब में आमतौर पर सामाजिक भेदभाव को कठोरता से लागू करने में तथा सामाजिक दूरी कायम रखने में अपेक्षाकृत उदारता बरती गई और खासकर सिक्खों के संदर्भ में यह उदारता जारी रही। इतिहास के इस बिंदु पर सिक्खों को हिंदू धर्म का रक्षक माना जाता था। वे हिंदू धर्म के उतने अभिन्न अंग थे, जितने जैन मतावलंबी।

15.6.2 हिंदू समाज

मुगल शासन के अंत तक हिंदू समाज ने जिस रूप में अपने को ढाला उसकी मोटी-मोटी

विशेषताएँ तकरीबन छः शताब्दियों तक ज्यों की त्यों बनी रही। और आमतौर पर यह कहा जाता है कि अठारवीं सदी के उत्तरार्द्ध और उन्नीसवीं सदी में आकर इसमें अधिक बदलाव आया।

समाजशास्त्री घुरिये ने जाति व्यवस्था की निम्नांकित विशेषताएँ बताई हैं:

i) **समाज का खंडों में विभाजन** : इसके पीछे मुख्य विचार यह है कि समाज अनेक समूहो में विभाजित होता है, इनकी विशेषता एक सी होती है और अपने सदस्यों के जरिए हर जाति अंग (या हिस्से) के रूप में काम करती है। इसकी सदस्यता जन्म से प्राप्त होती है। जीवन के कुछ पहलुओं का नियंत्रण समूह करते हैं।

ii) **सोपानक्रम (हाईराकी)** : सामाजिक सोपान के रूप में समाज की व्यवस्था बनती है। इस सोपान में ब्राह्मण सबसे ऊपर होता है और शूद्र सबसे नीचे, अन्य समूह इसके बीच में स्थित होते हैं।

iii) **भोजन और सामाजिक संपर्क संबंधी नियंत्रण** : विभिन्न प्रकार की भोजन सामग्री को स्वीकारने या अस्वीकारने के संबंध में, विभिन्न जाति समूह कुछ प्रतिबंधों को मानते हैं। विशेष रूप से दक्षिण भारत में शारीरिक दूरी और छुआछूत संबंधी भी नियम थे।

iv) **नागरिक तथा धार्मिक अयोग्यता और विभिन्न तबकों के विशेषाधिकार** : इन नियमं के अंतर्गत निम्नांकित बातें आती हैं विभिन्न क्षेत्रों में आवास, मंदिर प्रवेश की इजाजत यहाँ तक कि कुछ गलियों में निश्चित समय पर जाने पर प्रतिबंध, घरों की बनावट, गहनों और वस्त्रों के रूप में जिनकी इजाजत थी या जिन पर रोक थी।

v) **पुश्तैनी व्यवसाय या पेशा** : इसका अर्थ होता है, बिना किसी रोक-टोक के पेशे के चुनाव के लिए अवसर का अभाव। व्यवसायों की तुलना में जतियों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी इसलिए जाति के साथ पेशे या व्यवसाय का तालमेल कायम रखना संभव नहीं था लेकिन मोटे तौर पर दस्तकार और यजमानी संबंधों से जुड़े सेवक वर्ग ने अपना काम या पेशा बरकरार रखा लेकिन खेतीबाड़ी, सैनिक और अध्यापक का पेशा अपेक्षाकृत अधिक मुक्त था। इसलिए पेशे के आधार पर अंग्रेजी में किसी जाति का अनुवाद किया जाता है तो यह नाम उसके कामकाज का आंशिक ब्यौरा प्रस्तुत करता है। उदाहरण के लिए, एक नाई एक सीमित अर्थ में बाल काटने वाला होता है। इसके साथ यह पुरोहित का सहायक तथा संदेशवाह भी होता है। बड़े पैमाने पर जब भोज-भात का आयोजन होता है तो वह रसोइया का भी काम करता है तथा शादी-ब्याह में दूल्हा-दुल्हन का व्यक्तिगत सेवक भी होता है। कई जातियों के लोग अलग-अलग व्यवसायों में चले जाते हैं लेकिन जाति संबंधी उनकी पहचान बनी रहती है लेकिन उनकी गतिशीलता आमतौर पर पेशे की तरफ ही होती है। अधिक स्वच्छ, माने जाने की वजह से पेशे के चुनाव का अभाव पद उपयोग में लाया गया है।

iv) **सजातीय विवाह** : इसका एक अर्थ अन्य समूहों में शादी-ब्याह पर प्रतिबंध भी होता है तथा गोत्र के बाहर उसी जाति में विवाह भी इसका अर्थ होता है। जहाँ पहले अनुलोम-प्रतिलोम विवाहों के नियमों की चर्चा की गई है, वहाँ इस बात को विस्तार से समझाया जा चुका है। यह भी बताया गया है कि इसके नियमों को तोड़ने के कारण जातियों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई।

घुरिये ने सुझाया है कि कुछ उप-जातियों का उत्थान हो गया तथा बाद में सामाजिक जीवन को नियंत्रित करने में उनका वास्तविक महत्व बढ़ गया।

बोध प्रश्न 3

1) भारतीय इतिहास में मुगलकाल कब आरंभ होता है?

.....

.....

.....

15.7 आधुनिक काल (1757-1947)

ब्रिटिश शासन को आधुनिक काल की आधारभूत विशेषता माना जाता है। शिक्षा के ढाँचे

में परिवर्तन के लिए कुछ विधायी तथा अन्य उपायों तथा समाज सुधार आंदोलनों के कारण काफी हद तक जाति की पकड़ समाज पर ढीली हुई।

15.7.1 राजनीतिक अर्थव्यवस्था

अंग्रेजों द्वारा 1757 में प्लासी की लड़ाई में सफलता पाने तथा मद्रास प्रेसीडेंसी को अपने नियंत्रण में लेने के पूर्व पश्चिम के तटवर्ती इलाकों में पुर्तगालियों तथा डचों ने अपने व्यापारिक केंद्र स्थापित कर रखे थे। कुछ समय तक डच लोग सूरत में रहे तथा वहाँ के स्थानीय लोगों को पावरोटी तथा बिस्कुट बनाना सिखाया। ऐसा हुआ कि घरेलू नौकरों का काम करने के लिए छोटी जातियाँ उपलब्ध थीं। इन्हीं लोगों को थोड़ा बहुत प्रशिक्षण दिया गया। बाद में कुछ धन कमाने में इससे उनको मदद मिली। इस तरह उन्होंने सामाजिक प्रतिष्ठा की दृष्टि से उच्च वर्ग का होने का दावा किया उन्होंने अपने को मध्य वंशी माना।

समुद्र तथा भूमि दोनों स्थानों पर ब्रिटिश लोगों की फ्रांसीसियों से होड़ हुई। फ्रांसीसी लोगों ने टीपू सुल्तान के साथ थोड़ा कामकाजी संबंध कायम कर लिया था लेकिन अंग्रेजों ने इनको पीछे कर दिया। फ्रांसीसियों ने पांडिचेरी तथा कुछ इलाकों में अपना अधिकार कायम रखा था। पांडिचेरी के अलावा आंध्र प्रदेश के कुछ तटवर्ती इलाके तथा बंगाल के कुछ हिस्से थे। ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी की सेवा करने वाला व्यापारी वर्ग ने औपनिवेशिक नीतियों को यहाँ पर लागू किया लेकिन इसकी तात्कालिक सफलता ने सार्वजनिक नैतिकता के गंभीर प्रश्न खड़े किए। एक मध्य वर्ग अस्तित्व में आया। इसने भारतीय समाज को आधुनिक बनाने की कोशिश की। शासकों को अपने जीवन मूल्य तथा अपनी संस्थाएँ भारत में लाने में इसने पहले तो मदद की और बाद में इसने स्वतंत्रता की माँग पेश की। इस प्रक्रिया में भारतीय जीवन पद्धति की आधारभूत विशेषताओं की पुनर्व्याख्याएँ पेश की गई, गौरवशाली अतीत में आस्था व्यक्त की गई और भविष्य में इसे पुनःस्थापित करने के प्रति उम्मीद जाहिर की गई।

जिस घटना क्रम के कारण भारत का सामाजिक-आर्थिक जीवन प्रभावित हुआ, वह उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध में अधिक स्पष्ट रूप से सामने आया प्रथम सूती मिल की स्थापना, रेलों का बिछना, प्रेस तथा नई शिक्षा प्रणाली, और सिंचाई की व्यवस्था। बंबई, मद्रास तथा कलकत्ता जैसे तटवर्ती नगरों का आविर्भाव हो चुका था। ये व्यापारिक गतिविधियों तथा प्रशासनिक कार्यों के पहले से ही केंद्र बन चुके थे। इससे भारत विकास के औपनिवेशिक ढाँचे का ग्राहक बन गया।

15.7.2 ब्रिटिश शासन तथा समाज सुधार आंदोलन का प्रभाव

भारत में ब्रिटिश शासन कायम होने के समय ही अनेक ऐसे प्रौद्योगिकीय और वैधानिक परिवर्तन हुए जिससे अनेक प्रकार से परंपरागत व्यवस्था प्रभावित हुई। यात्रा की नई पद्धति और नई औद्योगिक और नगरीय बस्तियों में लोगों के प्रवास ने संपर्क और निवास पर लगे बहुत से प्रतिबंधों के बंधनों को शिथिल कर दिया। इस दौरान कुछ समाज सुधार आंदोलन शुरू किए गए। कुछ आंदोलन मानवीय आधार पर दलितों के जीवन के उत्थान के लिए चलाए गए जैसे ज्योतिबा फुले का महाराष्ट्र में चलाया गया उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्द्ध का आंदोलन अथवा इसके पहले इस जैसा आंदोलन राजा राम मोहन राय के ब्रह्म समाज ने चलाया और इसी के समानांतर एक दल प्रार्थना समाज द्वारा समाज सुधार के लिए आंदोलन किए गए। आर्य समाज ने धर्म के आदि व्यवस्था की अनेक जटिलताओं को कम करने का प्रयास किया और हिंदुओं को चार वर्णों तक सीमित करने की कोशिश की, शूद्रों को पठन-पाठन की अनुमति दी, स्त्री शिक्षा को आवश्यक माना। इस प्रकार ईसाई मत के प्रोस्टेंट संप्रदाय की तरह हिंदू व्यवस्था के भीतर ही जातिगत बंधनों में परिवर्तन की कोशिश की।

15.7.3 विधायी निकायों द्वारा जाति में परिवर्तन

एक महत्वपूर्ण सवाल यह है कि किस तरह विभिन्न जातियों से एक व्यवस्था बनती है? और इसी से जुड़ा एक सवाल और भी है कि वह कौन से अभिकरण (ऐजेंसी) हैं जो इनके बीच समन्वय स्थापित करते हैं? गाँव के स्तर पर यजमानी प्रणाली से इसका एक उत्तर हमें मिलता है। गाँव के सभी समूह एक दूसरे पर निर्भर होते हैं, सभी प्रमुख अवसरों पर इसके हमको दर्शन होते हैं, अवसर चाहे आर्थिक हों चाहे उत्सव संबंधी या कोई अन्य।

इस बात को स्वीकार किया जाता है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जो असमान समूहों को संगठित रखती है लेकिन साथ में जोर देकर यह बात भी कही जाती है कि इस समन्वय का स्वरूप असमानता पर आधारित है। घुरिए ब्राह्मण की समन्वयकारी भूमिका का जिक्र करते हैं जो परंपरागत व्यवस्था में पुरोहित का काम करता है। यह काम उन सभी जातियों के लिए वह करता है जिनको पूजा यज्ञादि का अधिकार है।

उनकी इस भूमिका को तब आघात पहुँचा जब कलकत्ता, बंबई और मद्रास के उच्च न्यायालयों ने लोगों को अपना निजी पुरोहित चुनने की अनुमति प्रदान कर दी। हालांकि बंबई के उच्च न्यायालय ने इस आशय के आदेश दिए कि परंपरागत पुरोहित को उससे जो नुकसान होगा, उसके लिए उसे उचित मुआवजा मिलना चाहिए। यह निर्णय की पाठगत व्याख्या है। लेकिन व्यवहार में यह हुआ कि हर समूह ने पुरोहिताई का अपना निजी तरीका बनाया और कुछ ने तो यहां तक किया कि जनजातियों में से किसी को अपना पुरोहित बना लिया। इसके चलते होकार्ट नाम के फ्रांसिसी लेखक ने यह सुझाया कि प्रत्येक जाति को उसकी औकात के लिहाज से पुरोहित उपलब्ध होता है। अपराध के लिए सामान्य नियम बने, नंदकुमार को फांसी दी गई जो जाति के ब्राह्मण थे, विलियम बेंटिक ने ठगों का उन्मूलन किया तथा कठोर प्रशासनिक कदमों के जरिए जाति पर आधारित अथवा जनजाति होने के कारण जो प्रथाएँ प्रचलित थी उनको समाप्त कर दिया गया। हिंदू जनता के बीच नागरिक नियम को भी धक्का लगा। 1850 में जाति अयोग्यता अधिनियम बना। इसमें जाति परिवर्तन के बाद भी संपत्ति के अधिकार को जारी रखने का प्रावधान था। शादी-ब्याह के मामले में भी कचहरियों में जाने लगे लेकिन कुछ समय तक कचहरियों में भी जाति संबंधी परंपराओं को बचाए रखने को प्राथमिकता दी गई। शादी-ब्याह तथा पुनर्विवाह से संबंधित के नियम संबंधी तथ्यों को यहाँ देने के दुहरे उद्देश्य हैं:

i) नागरिक मामलों से संबंधी नियम बनाए गए तथा अदालत ने नए विचारों को लागू कराना आरंभ कर दिया।

ii) जातीय परिषदों की गतिविधियों का क्षेत्र संकुचित हो गया और मामलों पर उनके प्राधिकार को अमान्य ठहरा दिया गया। एक समान आपराधिक कानून का प्रभाव वैसा ही हुआ।

15.7.4 शैक्षिक और राजनीतिक उपायों तथा आंदोलनों द्वारा जाति में परिवर्त

दो और क्षेत्र थे जिन पर ध्यान देने की आवश्यकता थी। वे थे शिक्षा और राज्य सेवाओं में तथा विधायी निकायों में अवसर प्रदान करना। राज्य ने अपनी मंशा को स्पष्ट कर दिया कि आंशिक रूप से सहायता प्राप्त स्कूलों का अनुदान रोका जा सकता है यदि स्कूल ने जाति अथवा नस्ल के आधार पर किसी छात्र को सुविधा देने से इन्कार किया तो। 1858 में ही यह घोषणा कर दी गई कि सरकार द्वारा पूरी तरह संचालित जितने स्कूल हैं, उनके दरवाजे सबके लिए खुले रहने चाहिए। उसके बाद 30 वर्षों तक शिक्षा शुल्क में छूट तथा कालेज शिक्षा के लिए छात्रवृत्तियों का प्रावधान किया जाता रहा। इससे निचली जातियों तथा वर्गों को शिक्षा पाने में आसानी हुई। विशेष प्रतिनिधित्व का सवाल बाद में सामने आया जब बीसवीं सदी के दूसरे दशक में मांटेग्यू को दिए गए होम रूल संबंधी अपने स्मरण पत्र में कोल्हापुर के महाराजा ने स्पष्टीकरण देते हुए लिखा कि जाति पर आधारित समाज में होम रूल और लोकतंत्र से कुलीन तंत्र पनपेगा।

बंबई प्रेसीडेंसी के लिए तीन जाति समूह बनाए गए: i) ब्राह्मण और उससे जुड़ी हुई जातियाँ, ii) बीच की जातियाँ जैसे मराठा आदि, और पिछली जातियाँ (इनमें अछूत भी शामिल किए गए थे)। पारसी लोगों को विशेष कोटि में रखा गया था। इन प्रावधानों को प्रभावी बनाने के लिए फार्म में जाति के नाम का उल्लेख करना आवश्यक था। घुरिए का मानना है कि 1901 के बाद से जनगणना आयुक्तों की बौद्धिक उत्सुकता के कारण जनगणना पत्र में जाति का स्तंभ (कालम) रखा गया था। 1931 तक यह प्रथा चलती रही।

राजनीतिक स्तर पर निम्न जातियों की तकलीफें कम करने की तरफ सबसे पहले महात्मा गांधी का ध्यान गया। इसके लिए उन्होंने सामाजिक आंदोलन किया तथा अलग प्रतिनिधित्व के विरुद्ध उन्होंने संघर्ष किया। उन्होंने आमरण अनशन किया। इसके परिणामस्वरूप पूना समझौता हुआ इसमें संयुक्त निर्वाचक मंडल के साथ सीटों के आरक्षण के पक्ष में मामला तय हुआ। यही प्रणाली बाद में चलकर भारतीय संविधान में अपनाई गई।

15.7.5 जाति : परिवर्तन और यथास्थिति

अंततः देखना है कि जाति और जाति व्यवस्था के साथ क्या हो रहा है? निम्नांकित कारणों से अपने सदस्यों के लिए किसी ज़ाति की गतिविधियों का क्षेत्र काफी संकुचित हो गया है :

i) निर्णय से संबंधित कुछ गतिविधियाँ अदालतों के हवाले कर दी गई हैं। इनमें फौजदारी और दीवानी दोनों प्रकार के ही मामले हैं।

ii) किसी जाति के सदस्यों के लिए उपलब्ध पेशों को चुनने का दायरा काफी बढ़ गया है और उनके रोजगारों में विविधता भी आ गई है।

iii) ग्रामीण क्षेत्रों के काफी बड़े हिस्सों में सामाजिक अयोग्यता औपचारिक और कानूनी दोनों स्तरों पर समाप्त कर दी गई है लेकिन व्यवहार में कुछ पुरानी प्रथाएँ अभी भी जीवित हैं जैसे सामाजिक दूरी की प्रथा अभी भी जारी है। मोटे तौर पर जाति के निम्नांकित कार्य अभी भी शेष हैं :

   क) जन्म से हैसियत का प्रावधान,

   ख) अनुलोम (सजातीय) विवाह संबंधी नियम, और

   ग) जीवन क्रम में कर्मकांडों में भागीदारी।

जगतियों का जीवन डेढ़ हजार वर्षों से भी अधिक समय का है। शताब्दियों और पीढ़ियों से इसके लगातार बने रहने को देखते हुए, इन्होंने अपनी निजी शक्ति ग्रहण कर ली है और इनको देखने से लगता है कि ये अमर हैं। इन्होंने अपनी सोच का परिचय दिया है आधुनिकीकरण की ताकतों से निपटने के लिए उन्होंने अपनी गतिविधियों के लिए नए मार्ग खोज निकाले हैं। कुछ नए क्षेत्रों पर हम विहंगम दृष्टिपात कर सकते हैं :

i) कस्बों में अपने निजी मोहल्ले कायम करने के लिए जातियों को प्राथमिकता देना, अपनी जाति के सदस्यों को विशेष सुविधा की शर्तों पर मकान देना तथा एक ही जाति के लोगों की सहकारी समितियाँ बनाना,

ii) अपनी जाति के सदस्यों के छात्रावास को प्रोत्साहन, छात्रवृत्तियों और पुरस्कारों को प्रोत्साहन,

iii) अपने सदस्यों के लिए स्वास्थ्य सुविधाओं की पूर्ति, मनोरंजन के कार्यक्रमों का आयोजन तथा विभिन्न प्रकार की प्रतियोगिताओं का आयोजन,

iv) जातीय पत्रिकाओं का प्रकाशन,

v) राजीय सभाओं का निर्माण, विशेष रूप से बीसवीं सदी में,

vi) राजनीतिक थिगड़ी हासिल करना, खास तौर से वयस्क मताधिकार के प्रारंभ होने के बाद से।

घुरिए को ऐसा महसूस होता है कि अपनी गतिविधि का दायरा बढ़ा कर जाति समुदाय का रूप अख्तियार करती जा रही है। ऐसा इस अर्थ में है कि सामान्य बंधन का आधार केवल स्वार्थ नहीं है, बल्कि जीवन का काफी व्यापक क्षेत्र उसके दायरे में आ जाता है। ऐसा कोई समुदाय संभव नहीं है जिसमें सामूहिक जीवन के सभी आयामों को समेटा जा सके लेकिन यह ऐसा समूह है जो सीमित स्वार्थों से काफी आगे चला जाता है। यह अनेक रूपों में सार्थक बन जाता है। ये रूप निश्चित उद्देश्यों को पाने में मददगार तो हैं ही, साथ ही वे इस अर्थ में प्रभावशाली हैं कि साथ-साथ होने का भी वे सुख प्रदान करते हैं और एक स्तर पर साथ-साथ होने का एहसास भी कराते हैं। श्रीनिवास, वस्तुतः तर्क करते हुए कहते हैं कि लोग जिस रूप में सोचते हैं जाति प्रथा का उस रूप में पतन नहीं हुआ है। अपने जीवन और अनुष्ठानों को संस्कृतिकरण करके जाति अपने सदस्यों की सामूहिक प्रतिष्ठा में इजाफा करना चाहती हैं और एक समूह के रूप में अपना वर्चस्व कायम करने के लिए मिलकर संघर्ष करते हैं।

एक व्यवस्था या प्रणाली के रूप में जाति के साथ क्या हुआ है। इसके आधारभूत लक्षण इस प्रकार थे : पेशे की शुद्धता और अशुद्धता पर आधारित विचार से जुड़ी जाति का सोपानक्रम, ब्याह और धार्मिक अनुष्ठान, और जीवन की सामान्य व्यवस्था के रूप में जातीय सोपानक्रम की मौन स्वीकृति। यजमानी वाले ढाँचे में जाति के इस दृष्टिकोण का

सर्वोत्तम उदाहरण दिखता है। यह यजमानी भी तरह-तरह के दबाव अब झेल रही है। व्यक्तियों के बीच प्रतिस्पर्धा की भावना को भी जाति के माध्यमों से अभिव्यक्ति मिली है, विशेष तौर पर राजनीतिक प्रभाव के इस्तेमाल में। इस अर्थ में जाति अपने सदस्यों को एकजुट करती है ताकि वे अपने जैसे समूहों के साथ संघर्ष अथवा प्रतियोगिता में मुकाबला कर सके। कैंब्रिज के सामाजिक नृतत्वशास्त्री लीच का कहना है कि जातियों के आपसी रिश्ते शत्रुतावपूर्ण हो गए हैं। कुछ वर्गों जैसे—और यदि यह बात ठीक है तो सिद्धांत रूप से जाति ने वर्ग का रूप ले लिया है, यद्यपि इकाई के रूप में जाति अभी भी शक्तिशाली है और जीवित है।

15.8 सारांश

अब तक हम देख चुके हैं कि समाज अपने सदस्यों को विभिन्न समूहों और स्तरों में किस प्रकार विभाजित करता है और इतिहास के लंबे दौर में उनके अंतःसंबंधों को किस प्रकार परिभाषित करने की कोशिश करता है। आरंभ में भारतीय समाज के विभाजन की इकाई वर्ण था। समय के साथ वे चार इकाइयों में संगठित हुए। ऊपर के समूहों के पक्ष में लंबे-चौड़े धार्मिक तर्क गढ़े गए। सभी समूहों को उन सामाजिक मूल्यों में ढाला गया लेकिन व्यवहार में उनमें भटकाव आए। इनके साथ दो तरीकों से निपटा गया।

i) बीच की ज्यादा जातियाँ अथवा समूह बनाकर इस व्यवस्था को फिर से व्यवस्थित करके तथा विरोध का दायरा बढ़ाकर दबाव की रणनीति द्वारा। इसके बावजूद इस व्यवस्था के अंतर्गत ही दो दिशाओं में संघर्ष जारी रहा:

   क) नियमों तथा धार्मिक अनुष्ठानों को और अधिक जटिल बनाकर,

   ख) प्रक्रियाओं को सरल बनाकर तथा अधिक खुलापन लाकर।

आर्य समाज संघर्ष के इन तथ्यों के गवाह हैं। मुसलमानों के आक्रमण के पहले आनेवाली जातियों को हिंदू समाज व्यवस्था का अंग बना लिया गया लेकिन इस्लाम तथा इसाई मत अपने-अपने धर्माचार्य भी साथ लेकर आए थे और समाज के विभिन्न तबकों में अपने धर्म को फैलाने के लिए समय-समय पर उन लोगों ने मिशनरी लोगों और राजनीतिक प्रभाव का इस्तेमाल किया। परिणामस्वरूप जाति पर आधारित और सुदीर्घ परंपरा वाली हिंदू समाज व्यवस्था तब भी कायम रही जब वह समतावादी धर्मों से चारों तरफ से घिर गई थी। प्रतिवाद करने वाले हिंदू धर्म के भीतर के आंदोलनों को विशेष दर्जा दिया गया और जाति व्यवस्था इनको भी आत्मसात कर गई।

जीवन की परिस्थितियों में औद्योगिक क्रांति ने, उपनिवेशवादी शासन ने और पश्चिमी जीवन मूल्यों ने अनेक परिवर्तन किए, ये नए किस्म के परिवर्तन थे। एक क्षण तो ऐसा लगने लगा कि जाति अपना आधार बहुत तेजी से खो रही है लेकिन उसके बाद इसने चुनौतियों का मुकाबला करना शुरू किया और अपने तथा सदस्यों के लिए नई शक्ति का स्रोत तलाशना आरंभ किया। जाति की प्रत्येक इकाई को नए सिरे से ताकत मिलने लगी। व्यवस्था के माध्यम से जातियों को जोड़ने के बजाए, इनको प्रतिस्पर्धी इकाइयों में बदल दिया। इसका महत्वपूर्ण सबक यह है कि मूल्य, अवसर और शक्ति के ढाँचे से जुड़ी शक्तियाँ इतिहास के अलग-अलग काल खंडों में अलग-अलग संयोजन का रूप लेती हैं तथा विभिन्न समूहों के आपसी संबंधों को विशेष रूपाकार प्रदान करती हैं (जैसे वर्ण और जाति)। इन सामाजिक प्रक्रियाओं की अंतःक्रिया को समझने में लेखकों ने तीन प्रकार के स्रोतों का उपयोग किया है:

i) अति प्राचीन काल में पुरानी पोथियों का उपयोग, दूसरे चरण में उन पर लिखी गई टिकाएं, तथा अन्त में विधिनिर्माण के स्रोत। ये सभी तीन आदर्श और औपचारिक स्थिति पेश करते हैं।

ii) महाकाव्य, जातक की कथाएं, ऐतिहासिक स्थलों के अभिलेख, अनुदान पत्रों के रिकार्ड यात्रियों द्वारा दिए गए यात्रा वृतांत, तथा अंत में समाज में वैज्ञानिकों क्षेत्रीय रिपोर्टों से जातियों के कार्यों का चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। यह कार्य वास्तविक स्थितियों में संपन्न किए हुए होते हैं।

iii) संतों और भक्तों का मौखिक साहित्य, विभिन्न विश्वासों के प्रचारकों का साहित्य जैसे बौद्ध लोगों का साहित्य, जैनों का साहित्य, नानक और कबीर के अनुयाइयों का साहित्य। इसके साथ ही अंतिम दौर के समाज सुधारकों का साहित्य उन प्रतिरोधों की अंतर्धाराओं का चित्र प्रस्तुत करता है जो विभिन्न समयों में देश के विभिन्न भागों में दिखाई पड़ीं। अध्ययन के वर्तमान स्तर पर समाजशास्त्र के विद्यार्थी को इन अध्ययनों के नतीजों के प्रति सचेत किया जाता है और उनको याद दिलाया जाता है कि समाजशास्त्रीय चिंता का सरोकार नीचे दी गई बातों से है:

i) आदर्श चित्र

ii) व्यावहारिक यथार्थ, और

iii) एक समाज व्यवस्था की अविच्छिन्नता और उसका विरोध।

15.9 शब्दावली

अनुलोम : ऐसा विवाह जिसका स्वरूप सगोत्रीय अथवा सजाति होता है। उसमें कोई व्यक्ति अपनी जाति की अपने से नीची जाति की स्त्री से शादी कर सकता है लेकिन एक स्त्री या तो अपनी जाति में अथवा अपने से ऊपर की जाति में ही शादी कर सकती है। इस प्रकार की शादी की इजाजत मनु तथा प्राचीन विधि निर्माताओं ने दी थी।

भक्ति आंदोलन : अनेक स्रोतों से आने वाला एक आध्यात्मिक आंदोलन। यह भगवान कृष्ण के प्रति प्रेम की शिक्षा देता है।

सोपानक्रम : वह सिद्धांत जिसके आधार पर जातियों को ऊपर से नीचे की ओर सोपानक्रम में बाँट कर व्यवस्थित किया गया है। इस सोपानात्मक व्यवस्था में ब्राह्मण सबसे ऊपर और शूद्र सबसे नीचे होता है। अन्य जातियाँ इन दोनों के बीच में रखी जाती हैं।

राजनीतिक अर्थव्यवस्था : वह विज्ञान जो उन सामाजिक संबंधों का अध्ययन करता है, जो संबंध जनता के बीच भौतिक लाभों के उत्पादन, वितरण, विनिमय और उपभोग की प्रक्रिया में विकसित होते हैं (या स्वतः बन जाते हैं।)

प्रतिलोम : यह एक प्रकार का विवाह है जिसका स्वरूप ऐसा होता है जहाँ ऊँची जाति की स्त्री निम्न जाति के पुरुष से विवाह करती है। वर्णाक्रम व्यवस्था में यह अवैध और निषिद्ध माना गया है।

वर्ण तथा जाति : जाति व्यवस्था की जड़ में समाज का चार वर्णों में विभाजन है यानी ब्राह्मण, क्षत्रीय, वैश्य और शूद्र। इसमें पाँचवीं कोटि अछूतों की भी है। जाति व्यवस्था का वर्णाधारित प्रतिरूप (मॉडल) अपने स्वरूप में समष्टि प्रधान है। इसके उलटे जाति का स्वरूप व्यष्टिमूलक है इसका संबंध वास्तविक अस्तित्व से होता है जबकि वर्ण व्यवस्था आदर्श स्थिति है। जाति असंख्य गोत्रों और कुलों में विभाजित है और उसका स्वरूप क्षेत्रीय है। इसके विपरीत वर्ण अखिल भारतीय परिघटना है।

15.10 कुछ उपयोगी पुस्तकें

घुरिए, जी.एस., 1969. *कास्ट एंड रेस इन इण्डिया.* बम्बई: पापुलर प्रकाशन।

दुबे, सत्यमित्र, 1981. *मनु की समाज व्यवस्था.* दिल्ली: मैकमिलन इंडिया लिमिटेड।

प्रभु, पी.एच. 1963. *हिंदू सोशल आर्गनाइजेशन: समाज मनोवैज्ञानिक और विचारधारात्मक आधारों का अध्ययन.* बम्बई: पापुलर प्रकाशन।

श्रीनिवास एम.एन. 1962. *कास्ट इन मार्डन इंडिया एंड अदर एसेज.* बम्बई: एशिया पब्लिशिंग हाऊस।

थापर, रोमिला, 1966. *हिस्ट्री ऑफ इंडिया, 1.* हारमाड्सवर्थ: पेंग्विन।

15.11 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

अ) सच

ब) सच

स) गलत

द) सच

बोध प्रश्न 2

i) शूद्र

ii) ऋग वेद

बोध प्रश्न 3

1) 1526 में पानीपत में बाबर की विजय के साथ

2) अ) टुकड़ों में विभाजन

ब) सामाजिक मेल-मिलाप और खान-पान पर प्रतिबंध

स) सोपान तंत्र

द) नागरिक और धार्मिक अयोग्यता

य) पुश्तैनी पेशा

फ) अनुलोम विवाह

इकाई 16 वर्ण और जाति

इकाई की रूपरेखा

16.0 उद्देश्य
16.1 प्रस्तावना
16.2 वर्ण की परिभाषा
  16.2.1 वर्ण और जाति
  16.2.2 सोपानात्मक व्यवस्था की अवधारणा
  16.2.3 वर्ण, जाति और सोपानात्मक व्यवस्था
16.3 जाति की परिभाषा
  16.3.1 जाति व्यवस्था की विशेषताएँ
  16.3.2 जाति और वर्ग
  16.3.3 जाति और वर्ग के अध्ययन के दृष्टिकोण
    16.3.3.1 जाति व्यवस्था
    16.3.3.2 वर्ग व्यवस्था
16.4 जातीय गतिशीलता
  16.4.1 संस्कृतिकरण
  16.4.2 पश्चिमीकरण
  16.4.3 संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण
16.5 जाति, वर्ग संबंध
16.6 सारांश
16.7 शब्दावली
16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

16.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ कर आप में निम्नांकित योग्यता आ जाएगी:

- वर्ण, जाति और वर्ग में भेद कर सकते हैं,
- वर्ण की अवधारणा, जाति की अवधारणा, वर्ग की अवधारणा, गतिशीलता और सोपानात्मक व्यवस्था का अर्थ समझ सकते हैं,
- भारत में जाति और वर्ग को जानने के लिए किए गए विभिन्न अध्ययनों की रूपरेखा बना सकते हैं,
- संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया को स्पष्ट कर सकते हैं, और
- जाति और वर्ग के संबंध को समझ सकते हैं।

16.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हमारे विवेचन का विषय वर्ण और जाति होगा। भारत में सामाजिक स्तरण को लेकर जितनी अवधारणाओं की चर्चा होती है, ये धारणाएँ उनमें से सर्वाधिक व्यापक और आम हैं। यद्यपि सामाजिक स्तरण की अन्य व्यवस्थाओं से जाति व्यवस्था की कुछ विशेषताएँ मिलती हैं लेकिन सारतः यह उनमें से सबसे भिन्न है। यह इस अर्थ में अनोखी है कि यह जन्म पर आधारित है, इसलिए जाति समूहों को सोपानक्रम में रखने से संबंधित है लेकिन यह अपेक्षाकृत व्यापक है। जाति व्यवस्था का उत्सर्ग इसी में है। जाति व्यवस्था आज हमारे जीवन के ताने-बाने में पूरी तरह व्याप्त है।

जाति और वर्ग के भेद को विशेष रूप से रेखांकित करते हुए हम इस इकाई को आरंभ करेंगे। जाति सोपानक्रम के सिद्धांतों से नियंत्रित होती है। इसके बाद जाति और वर्ग की अवधारणा तथा भारत में जाति और वर्ग के संबंध में किए गए अध्ययनों पर हम अपना ध्यान केंद्रित करेंगे।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया से जाति की गतिशीलता पर भी हम विस्तार से चर्चा करेंगे। उसके बाद हम सामाजिक गतिशीलता की संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के बीच भेद को स्पष्ट करेंगे। उसके बाद हम अपनी बात को जाति तथा वर्ग के संबंधों की व्याख्या करते हुए समाप्त करेंगे।

16.2 वर्ण की परिभाषा

हिंदू समाज के इतिहास के पूरे दौर में ये दोनों अवधारणाएँ अत्यंत प्रभावशाली रही हैं क्योंकि विभिन्न तबकों के सामाजिक संबंधों को उन्होंने आकार दिया है। "वर्ण" का शाब्दिक अर्थ रंग होता है लेकिन प्रायः इसका अर्थ "जाति" लगा लिया जाता है। यह भी मानी हुई बात है कि हिंदू समाज को चार वर्गों में बाँटने वाले चार वर्ण हैं। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य को द्विज कहा जाता है लेकिन चौथे वर्ण शूद्र को उपनयन संस्कार (यानी विद्याध्ययन प्रारंभ करने वाले संस्कार) से वंचित रखा गया था। शूद्र के नीचे के लोगों को जाति के बाहर माना जाता था। ऋग्वैदिक समाज में इन चारों वर्णों का प्रतिनिधित्व अलग-अलग पेशों में लगे हुए लोग करते थे। मसलन पुरोहित ब्राह्मण होते थे, योद्धा क्षत्रिय कहलाते थे तथा व्यापार करने वाले वैश्य। कामगार लोगों को शूद्र कहा जाता था ऐसा विश्वास किया जाता है कि इन चारों वर्णों का प्रतिनिधित्व ऊपर से नीचे के क्रम में चार रंग करते थे। ये रंग थे: श्वेत, लाल, पीला और काला। ये क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्र के द्योतक थे।

ये वर्ण न केवल समाज को चार वर्गों में बाँटते थे बल्कि सामाजिक स्तरण की रचना भी करते थे। सोपानक्रम में इस व्यवस्था में प्रत्येक वर्ण को एक खास हैसियत दी गई थी। इसी के साथ उसको काम सौंपा गया था और उसके कर्तव्य निर्धारित किए गए थे। शुरू-शुरू में काम और कर्तव्य को बदलने को लेकर वर्ण विशेष के संदर्भ में कुछ अनिश्चय की स्थिति थी। लेकिन समय के अंतराल के साथ वर्णाश्रम व्यवस्था काफी कठोर हो गई, इनका अलग-अलग ऐसा अभेद घेरा बना गया कि एक वर्ण का दूसरे वर्ण से शादी-ब्याह का संबंध टूट गया। अर्थात् अंतवर्णीय संबंधों की गुंजाइश नहीं रही। अनमनीयता और कठोरता के चलते वर्ण व्यवस्था को अनेक प्रकार के आंदोलनों की चुनौती का मुकाबला करना पड़ा।

बहरहाल जाति से अत्यंत निकटता वर्ण से जुड़े रहे। कुछ संदर्भों में आज भी वर्ण की हाल जाति जैसी ही है। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में जाति की भूमिका का विश्लेषण करते हुए एम.एन. श्रीनिवास स्पष्ट करते हैं कि वर्ण तथा जाति अंतःसंबंध किस प्रकार के हैं। उनकी व्याख्या नीचे दी जा रही है:

i) अखिल भारतीय स्तर पर सोपानक्रम एक ही है, इसमें कोई भी अंतर नहीं है।

ii) कुल सिर्फ चार वर्ण हैं और अगर इसमें "अछूतों" को भी शामिल कर लिया जाए तो कुल पाँच हैं।

iii) सोपानक्रम ऊपर से नीचे की ओर एकदम साफ है।

iv) ये अपरिवर्तनीय या सनातन हैं।

16.2.1 वर्ण और जाति

जाति और वर्ण दोनों अखिल भारतीय स्तर की वस्तुएं हैं क्योंकि समूचे भारतीय समाज में चार मोटे विभाजन तथा विभिन्न जाति समूह मौजूद हैं। सोपानक्रम में सजातीय विवाह इनकी खूबी है। बहरहाल, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाति में भिन्नता दिखाई देती है लेकिन चार अथवा पाँच वर्णों की कोटियों का रूप तो अखिल भारतीय है। वर्णों को कठोर पदक्रम में रखा गया है लेकिन देश के विभिन्न भागों में जाति के संदर्भ में आवश्यक नहीं

कि यह बात लागू होती हो। वास्तविकता में तो "वर्ण" एक विचार अथवा आदर्श रूप है, यह सामाजिक व्यवहार नहीं हैं। जीवन की वास्तविक स्थितियों में जाति एक प्रकार का सामाजिक व्यवहार और संस्थागत क्रियाविधि है। "वर्ण" का आदर्श रूप धार्मिक पवित्रता बन गया है। इसी को जी.एस. घुरिये वर्ण धर्म कहते हैं यानी जाति का नैतिक कर्तव्य। बहरहाल वर्ण धर्म भी यथार्थ न होकर आदर्श ही रह गया है।

योगेन्द्र सिंह का मानना है कि जाति के किसी भी विवेचन में यह जरूरी है कि इसके सैद्धांतिक सूत्रीकरण तथा वास्तविक प्रक्रिया के बीच भेद किया जाएं। सैद्धांतिक स्तर पर जाति व्यवस्था का उत्सर्ग वर्ण व्यवस्था के रूप में समाज का विभाजन है अर्थात् इसको चार श्रेणियों में बाँट दिया गया है जिसे हम लोग ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहते हैं। इसके साथ अछूत की एक पाँचवीं श्रेणी भी मौजूद है। यद्यपि यह जाति में शामिल नहीं किया जाता है लेकिन सामाजिक आनुष्ठानिक सोपानक्रम में इसको सबसे निचला स्थान प्राप्त है। वर्ण पर आधारित जाति व्यवस्था के ढाँचे का स्वरूप समष्टिमूलक है। लेकिन जाति की वास्तविकता यथार्थ में निहित है, उसके बारे में की गई आदर्श परिकल्पना में नहीं जिसका प्रतिपादन वर्ण व्यवस्था का सिद्धांत करता है। वास्तविकता के धरातल पर किसी एक भी वर्ण का अस्तित्व नहीं है जिसके सगे संबंधियों का अखिल भारतीय सामाजिक ताना-बाना हो, व्यवसाय के स्तर पर विशेष योग्यता हासिल हो और सामाजिक अंतःक्रिया में अविच्छिन्नता हो। श्रीनिवास लिखते हैं:

> बात सिर्फ इतनी नहीं है कि कुछ जातियाँ ··· मसलन भड़भूजा, कहार, और बड़तोस (वंशावलियाँ बनाने वाले) ··· नामक जातियाँ देश के कुछ ही भागों में पाई जाती हैं या बात यह भी नहीं है कि एक पेशे की कुछ जातियों की सामाजिक हैसियत, देश के दूसरे क्षेत्रों में रहने वाली उन्हीं जातियों से भिन्न है बल्कि बात यह भी है कि जाति प्रथा क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में ही मुख्यतः काम करती है। यथार्थ में यदि देखें तो समूचे भारत की कौन कहे, एक क्षेत्र में एक भाषा बोलने वाले ब्राह्मण भी एक जातीय विवाह समूह के नहीं हैं। कहीं-कहीं तो इनमें एक दर्जन से ज्यादा भी सजातीय विवाह समूह हो सकते हैं। यहाँ तक कि एक छोटे से क्षेत्र में भी कुछ जातियाँ थोड़ी से कुछ अन्य जातियों से ही बात व्यवहार रखती हैं, सभी से नहीं। बहरहाल कुछ जातियाँ काफी विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई हैं जो अक्सर इस तथ्य को उजागर करने वाली बात है कि एक ही जाति के अलग-अलग हिस्सों में सांस्कृतिक भिन्नता है। एक साधारण किसान के लिए, मिसाल के तौर पर, दूसरे भाषाई क्षेत्रों के लोगों के नाम अर्थहीन होते हैं। उनकी सार्थकता तभी होती है, जब उसे वर्ण व्यवस्था के ढाँचे में रखा जाए।

इसलिए यथार्थ जीवन के स्तर पर जातियाँ असंख्य क्षेत्रीय सजातिय विवाह समूहों में बंटी हुई है। एक तरफ भाषा की अड़चन ने उन्हें और ज्यादा एक दूसरे से अलग करने में मदद की है और दूसरी तरफ क्षेत्रीय सांस्कृतिक भिन्नता, संस्था का रूप धारण करने वाली असमानता की अंतर्निहित व्यवस्था और जातियों में पारस्परिक घृणा ने जाति के स्थानीय और क्षेत्रीय स्वरूप को और मजबूत किया है। इसलिए अनुभव के स्तर पर भारतीय समाज में जाति का अस्तित्व व्यष्टिमूलक है, समष्टिमूलक नहीं। वर्ण का जो आदर्श रूप (मॉडल) ऊपर से अखिल भारतीय स्तर पर दिखाई देता है, वास्तविक कोटि की दृष्टि से वह जाति का सांस्कृतिक खाका है। यह मानक सिद्धांतों का निर्धारण तो करता है लेकिन संरचनात्मक वास्तविक प्रक्रियाओं की भिन्नताओं और यथार्थ रूप में जाति प्रथा की भिन्नताओं से इसका कुछ खास लेना देना नहीं है।

16.2.2 सोपानात्मक व्यवस्था की अवधारणा

अपने विश्लेषण का मुख्य बिंदु वर्ण सिद्धांत को मानते हुए विख्यात फ्रांसीसी विद्वान लुई ड्यूमा ने हिंदू समाज में सोपानात्मक व्यवस्था की अवधारणा का विवेचन किया है। वे इस बात का समर्थन करते हैं कि हिंदू समाज में मूल्यों तथा विचारों को प्रमुखता दी जाती है लेकिन सोपानात्मक व्यवस्था की अवधारणा सर्वव्यापी और काफी व्यापक है। वर्ण तथा जाति की तरह ही सोपानात्मक व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था में पूरा सामंजस्य है, उनका ऐसा मानना है। सोपानात्मक व्यवस्था का संदर्भ धार्मिक दृष्टि से पदक्रम का निर्धारण करने से है तथा देवत्व के आधार पर "प्राणी" के रूप में व्यक्तियों का वर्गीकरण किया जाता है। इसलिए यथार्थ में सोपानात्मक व्यवस्था की परिधि में वर्ण विभाजन और जाति व्यवस्था दोनों ही आ जाते हैं। सोपानात्मक व्यवस्था के घेरे में सत्ता या ताकत भी आती

है। इस प्रकार ड्यूमा के लिए सोपानात्मक व्यवस्था एकदम अनोखी बात है। सोपानात्मक व्यवस्था के विषय में ड्यूमा की समझ की मुख्य बातों को संक्षेप में नीचे दिया गया है:

i) जाति व्यवस्था में मुख्य रूप से हमको धार्मिक विचारों के साथ काम करना पड़ता है। ये विचार शुद्धता की धारणा से जुड़े हुए हैं।

ii) जाति व्यवस्था के अंदर धार्मिक अवधारणाएँ व्याप्त हैं। और इन धार्मिक अवधारणाओं के आधार पर समाज की शुद्धता-अशुद्धता का भय है।

iii) भारत में व्यवसाय के बंटवारे को समझने के लिए हमें शुद्ध और अशुद्ध के पीछे क्रियाशील धार्मिक भाव को जानना होगा।

iv) इन सब के अलावा प्रत्येक समूह के पदक्रम (रैंक) को धार्मिक विचार निर्धारित करते हैं आर्थिक मूल्य नहीं।

v) शक्ति के अवयवों तथा सामाजिक स्तरण के संश्लिष्ट रूप के साथ धार्मिक मूल्य घुल मिल जाते हैं।

16.2.3 वर्ण, जाति और सोपानात्मक व्यवस्था

हाल में यह कहा गया है कि जाति व्यवस्था के सैद्धांतिक विवेचन में ब्राह्मणवादी दृष्टिकोण अनावश्यक जोर दिया जाता है। यह भी कहा गया है कि सामाजिक स्तरण के अध्ययन में जाति प्रथा पर अधिक जोर देकर उसकी जटिलता का हवाला देकर अनुभाश्रित अध्ययन विचारधारा की भूमिका को कम करके आंकते हैं। लुई ड्यूमा का अध्ययन सोपानात्मक व्यवस्था के माध्यम से पूरी व्यवस्था को समझने का दावा करता है। बहरहाल, इस प्रकार के अध्ययन से जाति और वर्ण के अध्ययन में सामाजिक-आर्थिक कोटियों के उपयोग को अनदेखा कर दिया जाता है। ड्यूमा महाशय वर्ण को अखिल भारतीय स्तर की विचारधारा न मानकर सामाजिक व्यवहार समझते हैं। सामाजिक व्यवहार के रूप में वर्ण की समझ सामाजिक जीवन के हर स्तर पर इसके व्यापक प्रभाव को रेखांकित करती है। फिर भी इससे इस बात का संकेत मिलता है कि ड्यूमा साहब वर्ण की विचारधारा को जाति व्यवस्था का सामाजिक व्यवहार मानते हैं। जाति की विचारधारा अस्तित्व और कार्य दोनों ही स्तरों पर वर्ण की विचारधारा से भिन्न है। जाति तथा वर्ण का भेद हम पहले ही बता चुके हैं। आंद्रेबेताई लिखते हैं: "जाति के विषय में बात करते समय लोग दो भिन्न किंतु आपस में जुड़ी व्यवस्थाओं यानी वर्ण और जाति के विषय में बात करते हैं। वर्ण एक योजना, एक अवधारणात्मक आदर्श रूप (मॉडल) का संकेत देता है। यह चार कोटियों वाली व्यवस्था में रखा गया है। वर्ण की सोपानात्मक व्यवस्था सारे देश में एक-सी है और मोटे तौर पर ढाई हजार वर्षों से वैसी की वैसी बनी रही है। इससे भिन्न जातियाँ वास्तविक सामाजिक विभाजन हैं। लोगों का ऐसा समूह है जिसके जरिए रोजमर्रा की जिंदगी में लोगों को पहचाना जाता है।"

बहरहाल जाति और वर्ण के अंतर्भाव के रूप में यदि विचार करें तो जाति व्यवस्था में भिन्नता नजर आती है। वस्तुतः एक अर्थ में दोनों एक दूसरे के पर्याय की तरह इस्तेमाल किए जाते हैं। जब किसी व्यक्ति से उसकी जाति पूछी जाती है तो वह वर्ण के मुहावरे में उत्तर देता है। जब इसके आगे पूछताछ की जाए तो व्यक्ति अपनी जाति अथवा उपजाति का जिक्र करता है। जैसा कि हमने पहले संकेत किया है कि वर्ण हिंदू समाज व्यवस्था की व्यापक योजना का अर्थ देता है। वर्ण व्यवस्था सामाजिक यथार्थ को व्यक्त नहीं करता लेकिन यह एक विचारधारात्मक खाका पेश करता है। कई हजार जातियों को हम किस प्रकार चार वर्णों के खाँचे में रख सकते हैं? सभी जातियाँ अंतर्वेशी और बहिर्वेशी हैं।•

अब वर्ण एक तरह का विचार या बोध रह गया है और अनुभव के धरातल पर तकरीबन इसका कोई अस्तित्व नहीं रह गया है। लेकिन बोध या विचार होते हुए भी विभिन्न स्तरों पर एक वास्तविकता है हालांकि इसके स्वरूप में एकरूपता नहीं है। जाति में काफी गतिशीलता रही है, इसके चलते जाति और समुदायों को जिनमें गतिशीलता अधिक रही है, वर्ण के सोपानात्मक व्यवस्था में रखना मुश्किल हो गया है। जाति के भीतर प्रतिष्ठा और हैसियत के मूल्यांकन को लेकर दावे और प्रतिदावे किए गए हैं, यहाँ तक कि उनमें परस्पर तनाव और टकराव की नौबत भी आई है। इतना ही नहीं जाति के बाहर जाने पर भी यही हुआ है। अब किसी गाँव अथवा कस्बे को वर्ण के संदर्भ से नहीं समझा जा सकता है क्योंकि मिसाल के तौर पर एक अकेले गाँव में तरह-तरह की चालीस से भी अधिक जातियाँ रहती हैं। जाति की श्रेणी में भी एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में अंतर आ जाता है।

इसलिए कि एक ही जाति सभी क्षेत्रों में एक जैसी प्रभावशाली नहीं है। भारत के अलग-अलग हिस्सों में जातियाँ एक जैसी कठोर अथवा लचीली नहीं हैं। आम तौर पर उत्तर की तुलना में दक्षिण में जाति संबंधी कठोरता ज्यादा है। पश्चिमी तथा पूर्वी भारत में भी इतनी कठोरता नहीं है।

जैसा कि हमने अब तक देखा है कि वर्ण का आधार गुण, विशेषता अथवा चमत्कारिक विशेषताएँ हैं जैसे सत्व, रजस् और तमस् क्रमशः इनका संबंध पवित्रता, वीरता और अंधकार से है। गुण की धारणा के अलावा एक विचार का संबंध कर्म से है कि मनुष्य के पूर्व जन्म के कर्म उसका वर्ण निर्धारित करते हैं, उसके भावी कार्य भी इसी से निर्धारित होते हैं। इस प्रकार गुण तथा कर्म के रूप में वर्ण सिद्धांत हिंदू समाज की व्याख्या है। बहरहाल, गुण तथा कर्म के इन दो सिद्धांतों पर आधारित जाति सही अर्थों में कोई व्यवस्था नहीं है। बहुत सामान्य तरीके से आज भी लोग अपने अतीत, वर्तमान और भविष्य की जिंदगी का औचित्य खोजने के लिए इन सिद्धांतों का सहारा लेते हैं।

16.3 जाति की परिभाषा

"कास्ट" (जाति) शब्द की व्युत्पति शब्द "कास्टस" से हुई है जिसका अर्थ होता है शुद्ध। भारतीय सामाजिक वर्गीकरण को व्यक्त करने के लिए पुर्तगालियों ने इस शब्द का सबसे पहले प्रयोग किया था क्योंकि उनका विचार था कि रक्त की शुद्धता को बनाए रखने के लिए इस व्यवस्था को सुरक्षित रखा गया था। जाति प्रथा विशेष रूप से भारत में है और यह काफी जटिल भी है। समाजशास्त्रियों और सामाजिक नृतत्व शास्त्रियों ने निम्नांकित रूप में जाति को परिभाषित किया है:

सेनार्ट कहते हैं कि जाति एक सुगठित संस्था है और हर प्रकार से सिद्धांत रूप में कट्टरता पूर्वक वंशपरंपरा पर आधारित है। रिसले कहते हैं कि जाति को परिवारों के समुच्चय या परिवारों के समूह के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। उस जाति का सामूहिक नाम होता है, उनका सामूहिक रूप से एक पूर्वज होता है, वह मिथकीय भी हो सकता है और दैवी भी या मनुष्य भी। जाति का नाम आमतौर पर किसी खास पेशे से जुड़ा होता है। इस अर्थ में यह सजातीय विवाह वाला समूह होता है कि किसी जाति का सदस्य अपनी ही जाति में शादी कर सकता है। सभी सदस्यों द्वारा एक ही पुरखे से उत्पत्ति में विश्वास तथा एक ही परंपरागत पेशे से जुड़ाव गेट के अनुसार किसी जाति की मुख्य विशेषताएँ होती हैं। जाति को परिभाषित करते हुए केतकर कहते हैं कि यह एक सामाजिक समूह होता है तथा इसकी दो खूबियाँ हैं:

i) इसकी सदस्यता उन लोगों तक सीमित रहती है जो सदस्यों की ही संतानें हो, इस प्रकार जन्मे सभी लोग इसमें शामिल होते हैं, और

ii) समूह से बाहर विवाह करने के लिए एक कठोर सामाजिक नियम के जरिए सदस्यों पर प्रतिबंध होता है (मनाही होती है)।

जाति की विभिन्न परिभाषाओं को पढ़ने के बाद हम कह सकते हैं कि वर्तमान समय की जाति प्रथा की सर्वाधिक स्पष्ट विशेषताएँ इस प्रकार हैं:

i) अंतर्जातीय विवाह वर्जित होते हैं,

ii) विभिन्न जातियों के सदस्यों के बीच परस्पर भोजभात (सामूहिक खान-पान) पर रोक होती है,

iii) कई मामलों में विभिन्न जातियों में पुश्तैनी पेशे भी निश्चित होते हैं।

iv) जब तक जातीय नियमों का कोई उल्लंघन करके जाति से बाहर न कर दिया जाए तो उसकी जाति जन्म मात्र से निर्धारित होती है।

v) किसी विशेष जाति में जन्म के आधार पर सामाजिक हैसियत निर्धारित होती है।

कुछ अनुमानों के आधार पर कहा जाता है कि इस समय भारत में तीन हजार से भी अधिक जातियाँ हैं। इनका आकार बहुत अधिक भिन्न है। कुछ जातियों के मुट्ठी भर सदस्य हैं और कुछ की सदस्य संख्या लाखों में है।

16.3.1 जाति व्यवस्था की विशेषताएँ

जाति व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ नीचे दी गई हैं:

i) **समाज का खंडों में विभाजन** : जाति ऐसा समूह होता है जिसमें उसके सदस्यों के साथ न्याय की पूरे समुदाय से अलग व्यवस्था होती है। जाति एक छोटी लेकिन अपने आप में काफी जटिल दुनिया होती है। प्रत्येक जाति दूसरी से भिन्न होती है क्योंकि इसकी हैसियत या तो बड़ी होती है या छोटी तथा दूसरों से उसका पेशा अलग होता है।

ii) **सोपानात्मक व्यवस्था** : सोपानात्मक व्यवस्था की ऊँची जाति को आदेश देने वाली सीढ़ी (सोपान) पर तथा नीची जाति को आदेश पालन वाली सीढ़ी पर आसानी करती है। जजमानी व्यवस्था में इस तरह की व्यवस्था हम मेलजोल के संबंधों में पाते हैं। जाति व्यवस्था श्रेणीबद्ध ढाँचा है जो धार्मिक संस्कारों और अनुष्ठानों पर आधारित है।

iii) **भोजभात और सामाजिक संसर्ग पर प्रतिबंध** : जाति व्यवस्था में आमतौर पर विशेष अवसरों पर जाति के सदस्य आपस में मिलते हैं। वे साथ-साथ भोजन करते हैं। ऐसे समय में सामान्यत: दूसरी जाति के लोगों को शामिल नहीं किया जाता।

iv) **विभिन्न वर्गों की नागरिक और धार्मिक अयोग्यताएँ और विशेषाधिकार** : जाति समूहों अथवा जातियों के व्यक्तियों के साथ अलगाव नागरिक विशेषाधिकारों अथवा अयोग्यता का स्पष्ट लक्षण है। कमोवेश एक खास शक्ल में यह प्रचलित रहता है।

v) **मनचाहा पेशा चुनने पर रोक** : आमतौर पर कोई जाति या मित्र जातियों का कोई समूह एक ही व्यापार को अपना पुश्तैनी (वंशगत) पेश समझते हैं (जाति पर आधारित व्यावसायिक कौशल)।

vi) **शादी पर प्रतिबंध** : जाति एक गोत्राधारित वैवाहिक समूह है। किसी भी स्त्री या पुरुष को जाति के बाहर शादी की अनुमति नहीं दी जाती है। यदि वे ऐसा करते हैं तो उन्हें अपने जाति विरादरी से बाहर कर दिया जाता है। इसके बाद भी निम्न कुल की कन्या से विवाह स्वीकार्य है लेकिन उच्च कुल कन्या से विवाह वर्जित है।

16.3.2 जाति और वर्ग

कुछ समाजशास्त्रियों ने भारत में जाति और वर्ग का विश्लेषण किया है। लेकिन इन दोनों के संबंध में कुछ गलतफहमियाँ भी हैं। वे इस प्रकार हैं:

i) जाति तथा वर्ग को एक दूसरे के एकदम विपरीत माना जाता है।

ii) जाति की जगह धीरे-धीरे वर्ग लेता जा रहा है।

iii) जाति ग्रामीण परिघटना है जबकि नगर के औद्योगिक क्षेत्र में वर्ग का अस्तित्व है।

iv) जाति एक आरोपित व्यवस्था है यानी यह जन्म से निर्धारित होती है जबकि वर्ग उपलब्धियों और सिद्धांतों पर आधारित है।

v) जाति एक बंद व्यवस्था है। यह अपने सदस्यों की गतिशीलता की स्वीकृति नहीं देती है।

16.3.3 जाति और वर्ग के अध्ययन के दृष्टिकोण

वर्ग तथा जाति के संदर्भ में यह गलत धारणा बनी हुई है कि भारत वर्ष में तो जाति व्यवस्था है तथा पश्चिमी देशों में वर्ग व्यवस्था इसलिए पश्चिमी समाज के अध्ययन का आधार वर्ग व्यवस्था होगी। भारत में वर्ग और जाति के अध्ययन के लिए विभिन्न दृष्टियों को इस प्रकार वर्गीकृत किया जा सकता है:

i) परस्पर क्रिया संबंधी बनाम गुण संबंधी

ii) संरचनात्मक बनाम सांस्कृतिक

iii) मार्क्सवादी बनाम क्रियावादी या प्रकार्यवादी

ये दृष्टियाँ पश्चिम से उधार ली गई हैं। भारत के सामाजिक स्तरण के अध्ययन में इनकी छाया साफ-साफ दिखाई पड़ती है।

इसमें कोई शक नहीं है कि जाति का प्रतिरूप परंपरागत भारतीय समाज की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताओं पर ध्यान केंद्रित करता है लेकिन दो कारणों से यह असफल है:

) जब इसको बहुत आम बना दिया जाता है तो इसे तकरीबन हर समाज पर लागू किया जा सकता है। इसलिए किसी समाज की विशेष खूबियों के बारे में हमें यह कोई सूचना नहीं देता और जब

i) इसको बहुत विशेषीकृत बना दिया जाता है तो आर्थिक और राजनीतिक जीवन की कुछ अत्यंत महत्वपूर्ण विशेषताओं के विषय में हमें यह कुछ नहीं बताता है।

ii) अनेक समाजशास्त्रियों के लिए जाति स्पर्धाहीन व्यवस्था है तथा विभिन्न जातियों में आपस में कोई विरोध नहीं है। जहाँ कहीं भी जाति समूह संस्थान के रूप में दूसरी जातियों की प्रतिस्पर्धा में काम करती हुई दिखती है, वहाँ वास्तव में जाति के सिद्धांतों की अवज्ञा करती हुई काम करती हैं। प्रतिस्पर्धा वर्ग का संकेत देती है और सहयोग जाति का संदर्भ प्रकट करता है। वास्तव में जाति तथा वर्ग के विषय में यह दृष्टिकोण त्रुटिपूर्ण है, वह भी भारत के बारे में जाति के संदर्भ में। पश्चिमी समाजों वर्ग दृष्टिकोण से पाश्चात्य विद्वान भारत की जाति व्यवस्था को देखते हैं।

16.3.3.1 जाति व्यवस्था

जाति अद्वितीय व्यवस्था है। भारत समस्त हिंदू समाज में यह व्याप्त है। यह व्यवस्था अपनी गिरफ्त में सबको लिए हुए है। इस प्रकार पुश्तैनी विशेषज्ञता, सोपानात्मक सांगठनिक व्यवस्था पारस्परिक तिरस्कार जाति व्यवस्था को खास तौर से निश्चित स्वरूप प्रदान करते हैं। हिंदू समाज में यह इतनी गहराई तक घुसी हुई है जो दुनिया के दूसरे लोगों के लिए अनजान है। दूसरे समाजों में भी जाति की थोड़ी बहुत भूमिका होती है लेकिन भारत के संपूर्ण सामाजिक जीवन में यह मन के धागे की तरह है। इसी अर्थ में जाति को हम परिघटना (फेनोमेना) कहते जो अकेले भारत की विशेषता है। जाति व्यवस्था में धार्मिक मूल्य काफी महत्वपूर्ण होते हैं। जाति व्यवस्था में कर्मकांडों की भूमिका भी कोई कम नहीं होती। धार्मिक मूल्य पवित्रता, अपवित्रता के इर्द-गिर्द केंद्रित हैं। धर्म में सत्ता (अधिकार) भी शामिल है, इसलिए पुरोहिताई का स्वरूप निरपेक्ष नहीं होता। ब्राह्मण तथा क्षत्रियों के संबंध पारस्परिक आदान-प्रदान के रूप में पारिभाषित किए गए हैं, मसलन ब्राह्मण धार्मिक ताकत का प्रतिनिधि होता है तथा क्षत्रिय राजनीतिक सत्ता का। अपने-अपने हित में दोनों एक दूसरे का समर्थन करते हैं।

जाति कोई अलग से सांस्कृतिक व्यवस्था नहीं है। जाति और वर्ग सामाजिक स्तरण के भिन्न रूप हैं। जाति व्यवस्था में जाति समूहों को श्रेणीबद्ध किया जाता है जबकि सामाजिक स्तरण में पदों को श्रेणीबद्ध किया जाता है (खास तौर पर वर्ग स्तरण के संदर्भ में)। सजातीय विवाह वाले समूहों की श्रेणीबद्धता (शादी-विवाह के नियम के रूप में सगोत्र विवाह पद्धति नहीं) जाति व्यवस्था की प्रमुख पहचान है। इस प्रकार जाति प्रथा में परिवर्तन से सदस्यों के निजी गुण भी बदले हैं। कोई वंशगत समूह जाति व्यवस्था में वर्ग के रूप में जारी रह सकता है। इस तथ्य से जाति और वर्ग में समरूपता स्पष्ट हो जाती है।

सामाजिक स्तरण के अनेक अध्ययन जाति के प्रतिरूप से भटक गए हैं। जाति की परिधि में आर्थिक हैसियत नहीं आती है। राजनीतिक शक्ति भी जाति के घेरे से बाहर है। सत्ता और वर्ग के अर्थों में कोई जाति अपने अंदर से विभेदीकृत हो सकती है। इस प्रकार हैसियत की असमरूपता, सापेक्षिक खुलापन, गतिशीलता तथा प्रतिस्पर्धा उदीयमान सामाजिक स्तरण की मुख्य विशेषताएँ हैं।

इस प्रकार जाति और वर्ग हिंदू समाज के अध्ययन में दो भिन्न विचार (या सोच) हैं। जब आर्थिक और राजनीति प्रभुत्व को इस विचार में हम शामिल करते हैं तब उसमें समरूपता विद्यमान होती है। किसी खास जाति के भीतर परिवार की हैसियत उसके वर्ग से पहचानी जाती है। इसमें आव्रजन (एक जगह से दूसरी जगह जाकर बसना) भी मददगार होता है।

आमतौर पर भारत में जाति में परिवर्तन के नतीजे के रूप में वर्ग को देखा जाता है, इसको सह-अस्तित्व वाली और सहगामी तथा जाति व्यवस्था के अविभाज्य अंग के रूप में नहीं देखा जाता।

जातिगत सोपानात्मक व्यवस्था और सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन को लेकर कुछ सवाल उठाए जा सकते हैं। गतिशीलता के कारण जाति के ढाँचे में बदलाव की परिकल्पना

की गई है। इसके पीछे संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की प्रक्रिया काम कर रही है। जाति के सोपानात्मक व्यवस्था में ऊपर अधिक जोर, भारत में समाज और संस्कृति के अध्ययन के लिए संस्कृतिशास्त्रीय दृष्टिकोण को वैधता प्रदान करता है। इस दृष्टि से किए जाने वाले अध्ययन में "प्रभावशाली जाति और संस्कृतिकरण" की संकल्पनाएँ केंद्रीय महत्व की होती हैं। खास तौर से आर्थिक और राजनीतिक पहलुओं की संकल्पना में परिवार तथा व्यक्ति के स्तर पर गतिशीलता और सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं के अध्ययन की तरफ लोगों का ध्यान अधिक गया है।

16.3.3.2 वर्ग व्यवस्था

वर्ग जाति से भिन्न होता है क्योंकि इसका संकेत लोगों के ऐसे समूह की ओर हैं जिनके आर्थिक स्वार्थ एक से होते हैं। फिर भी जाति पर आधारित श्रम विभाजन जाति व्यवस्था के आर्थिक पक्ष को स्पष्ट करता है। परंपरागत अर्थव्यवस्था पर आधारित समाजों की तुलना में औद्योगिक रूप से उन्नत समाजों में वर्ग संबंध अधिक स्पष्ट होते हैं। व्यक्ति और उसकी उपलब्धियाँ इस समाज की प्रमुख विशेषताएँ हैं। इनका आधार आर्थिक कसौटी होती है। यही सामाजिक हैसियत निर्धारित करती हैं। यानी आर्थिक हैसियत सामाजिक प्रतिष्ठा का नियामक होती है।

भारत में जाति और सत्ता के साथ-साथ वर्ग का अस्तित्व रहा है। भारतीय संदर्भ में जाति में वर्ग तथा वर्ग में जाति मिले होते हैं। भारतीय समाज को ठीक से और पूरी तरह से समझने के लिए मात्र वर्ग आधारित दृष्टि अथवा परिप्रेक्ष्य कोई मदद नहीं कर सकता है। लेकिन यह बात भी सच है कि जाति, वर्ग और सत्ता में कभी भी पूर्ण संगति नहीं रही है। प्राचीन तथा मध्यकालीन भारत में गतिशीलता और आव्रजन बहुत सामान्य गतिविधियाँ थी। लेकिन स्वतंत्रता के पहले भारत में जाति, वर्ग और सत्ता में संगति थी। भूमि सुधार और राजनीतिकरण की वजह से जाति मुक्त क्षेत्र अस्तित्व में आए तथा असंगतियाँ पैदा हुईं।

यह जरूरी नहीं है कि वर्ग में खुलापन गतिशीलता ओर कुछ ऐसी विशेषताओं का संयोग बने ही वे संयोग जो लोकतांत्रिक समाज के लक्षण होते हैं और जिसकी आमतौर पर पाश्चात्य समाजशास्त्री परिकल्पना करते हैं। सभी व्यावहारिक विचारों के लिए जातियाँ वर्ग रूप में काम करती रही हैं। वर्ग संबंध उतने ही पुराने हैं जितने जाति संबंध यहाँ तक कि वे जाति संबंधों से भी पुराने हैं। भौतिक और सांस्कृतिक परंपराओं में काफी संगति रही है तथा वर्गीय रूपांतरण की नए साम्राज्यों के उदय में महत्वपूर्ण भूमिका रही है। स्थाई निवास बनाकर खेती करने, व्यापार करने, नगर बसाने, बैंक और अन्य संगठनों के निर्माण में भी वर्ग संगठन महत्वपूर्ण रहे हैं।

आमतौर पर गैर-मार्क्सवादी विद्वान विश्लेषणात्क अमूर्तन पर भरोसा करते रहे हैं। वर्ग को संकल्पनात्मक स्तर पर वे अमूर्त कोटि मानते हैं। जाति की तरह समुदाय के रूप में वर्ग का अस्तित्व नहीं होता है। कुछ सूचकांकों के आधार पर कार्य के स्तर पर वर्ग को परिभाषित किया जाता है। भारत में वर्गों के विषय में निम्नांकित बातें कही गई हैं:

i) भारतीय समाज में स्तरण प्रणाली के रूप में वर्ग उसी प्रकार नहीं दिखते हैं जैसे जातियाँ यहाँ अपनी जड़ जमाए हुए हैं।

ii) वर्ग सामाजिक स्तरण की सार्वभौमिक परिघटना नहीं है।

iii) वर्गों की पहचान के लिए कोई वस्तुगत कसौटी नहीं है।

iv) यह बात स्पष्ट नहीं है कि वर्ग कोई कोटि है अथवा ठोस इकाई जिसका अन्य इकाइयों के साथ अंतःक्रिया होती है।

वर्ग और जाति के अध्ययन के लिए अपनाए गए दृष्टिकोणों में विचारधारात्मक झुकाव है। जाति को सामाजिक संरचना न मान कर अपनी परिधि में सबको समेटने वाली संस्था माना जाता है। इसकी परिधि में हिंदू समाज के अन्य सभी पक्ष आ जाते हैं। बहरहाल वास्तविकता में जाति आनुष्ठानिक पद्धति भर नहीं थी, वह और भी बहु कुछ थी। अपने अंतर्वेशी स्वरूप के कारण यह तमाम तरह की शक्तियों और दबावों का झटका बर्दाश्त कर सकती थी। यदि यह सिर्फ आनुष्ठानिक व्यवस्था होती तो अपने भारी भरकम स्वरूप के कारण यह बहुत पहले समाप्त हो गई होती। जाति एक ऐसी संस्था है जिसमें सबका अंतर्भाव है। वर्गी संबंधों इसमें शामिल हैं। जाति से किसी भी प्रकार का भटकाव जाति, प्रतिष्ठा और संपत्ति के समरूप नहीं माने जाते हैं, इसलिए वर्ग संबंधों का आविर्भाव हुआ।

भारतीय समाज में सदियों से जाति में वर्ग समाहित रहा है और वर्ग में जाति। और आज भी भारतीय समाज में यह संश्लेषण अविभाज्य रूप से विद्यमान है, जो कि आज यह मिश्रण अधिक जटिल हो गया है। जाति व्यवस्था के अंतर्गत महिलाओं का अपने बराबर या ऊँची हैसियत वाली जाति में शादी करने की परंपरा से धन तथा पद की भूमिका स्पष्ट हो जाती है। एक जाति के भीतर वर्ग जैसा फर्क तथा एक ही वर्ग में जाति जैसी शैली सामाजिक जीवन के अंग हैं।

जाति के अंदर ही वर्ग एक अंतर्निर्मित व्यवस्था रही है, इसलिए जाति को केवल आनुष्ठानिक या कर्मकाण्ड वाली व्यवस्था नहीं माना जा सकता है तथा वर्ग को मुक्त व्यवस्था नहीं कहा जा सकता है।

बोध प्रश्न 1

1) जाति और वर्ग में अंतर स्पष्ट कीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) वर्ण की व्याख्या करते हुए किसने सोपानात्मक व्यवस्था की संकल्पना पेश की?

.....

.....

.....

.....

16.4 जातीय गतिशीलता

संस्कृतिकरण और आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के माध्यम से जातीय गतिशीलता को जाना समझा जा सकता है। जाति व्यवस्था एक अनमनीय व्यवस्था है जिसमें उसके प्रत्येक अवयव (अंग) का स्थान हमेशा के लिए निश्चित किया गया होता है। इसमें गतिशीलता हमेशा संभव रही है, खास तौर पर सोपानात्मक व्यवस्था के मध्यवर्ती क्षेत्र में।

16.4.1 संस्कृतिकरण

एक या दो पीढ़ियों के बाद नीची जाति सोपानात्मक व्यवस्था में अपनी हैसियत ऊँची कर सकी है। मद्यपान त्याग कर और अपने कर्मकाण्डों और देव कुलों का संस्कृतिकरण करके इस कार्य को वह अंजाम दे सकती है। जहाँ तक संभव हो ब्राह्मणों तथा अन्य ऊँची जातियों के रीति-रिवाज, संस्कार और विश्वासों को यह अपना लेती है। नीची जातियों द्वारा ब्राह्मणीय जीवन पद्धति को अपनाने की घटना अक्सर होती रही है, जो कि सैद्धांतिक स्तर पर इसकी मनाही रही है। इस प्रक्रिया को संस्कृतिकरण के नाम से जाना जाता है। जातीय सोपानात्मक व्यवस्था में आमतौर पर इस प्रकार का परिवर्तन करके नीची जाति ऊँची हैसियत का दाव करती है।

आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व की परिघटना का महत्व बढ़ जाता है। शक्ति और प्रभुत्व की परिघटना में संस्कृतिकरण के विभिन्न प्रतिरूपों की मध्यस्तता, सांस्कृतिक संचारण की प्रक्रिया में प्रभावशाली जातियों के महत्व पर जोर देती है। यदि स्थानीय रूप से प्रभावशाली जाति ब्राह्मण है तो संस्कृतिकरण में ब्राह्मणवादी प्रतिरूप का संचारण करेगी और यह जाति राजपूत या बनिया है तो क्षत्रिय या वैश्य जीवन पद्धति का संचारण करेगी। इससे साफ जाहिर होता है कि प्रत्येक पद्धति में संस्कृतिकरण का अर्थ और अंतर्वस्तु ही नहीं भिन्न होगी बल्कि एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भी इसमें फर्क होगा। यह जातिगत भिन्नता तथा स्थानीय सोपानात्मक व्यवस्था के संबंधों पर निर्भर करेगा।

16.4.2 पश्चिमीकरण

संस्कृतिकरण की तुलना में पश्चिमीकरण अपेक्षाकृत सरल अवधारणा है। श्रीनिवास ने इसकी परिभाषा इस प्रकार की है : "150 वर्षों से भी अधिक समय तक भारत के सामाजिक सांस्कृतिक स्वरूप में ब्रिटिश शासन के फलस्वरूप जो परिवर्तन हुए उन्हें संस्कृतिकरण कहा जाता है। प्रत्येक स्तर पर सर्वग्रासी परिवर्तन का पद घटित हो रहा है" प्रौद्योगिकी, संस्थान, विचारधारा और मूल्य सभी स्तरों पर।" मानवतावाद और विवेकवाद पर जोर देना पश्चिमीकरण का हिस्सा है जिनके चलते भारत में अनेक सांस्थानिक और सामाजिक सुधार किए गए हैं। वैज्ञानिक, प्रौद्योगिक और शैक्षिक संस्थाओं की स्थापना, राष्ट्रवाद, नई राजनीतिक संस्कृति और नेतृत्व का देश में उदय आदि सभी पश्चिमीकरण के नतीजे हैं। श्रीनिवास के मतानुसार, पश्चिमीकरण के बढ़ने से संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में रुकावट नहीं आती हैं, दोनों सहगामी हैं, और कुछ हद तक पश्चिमीकरण में बढ़ोत्तरी से संस्कृतिकरण की प्रक्रिया और तेज हो जाती है। मिसाल के तौर पर, डाक तार की सुविधाएँ, रेल यातायात, बसें, समाचार पत्र माध्यम सब भारत पर पश्चिमी प्रभाव के नतीजे हैं। इनसे तीर्थ यात्रा, सभाएँ तथा जातीय एकजुटता को मदद मिलती है। ये पहले की तुलना में अब कहीं ज्यादा सुलभ हैं।

16.4.3 संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण

जाहिर तौर तर संस्कृतिकरण और पश्चिमीकरण की अवधारणा मुख्यतः सांस्कृतिक परिवर्तन पर केंद्रित रहती है। सामाजिक संरचना में परिवर्तन की सुविव्यवस्थित व्याख्या के लिए इसमें कोई गुंजाइश नहीं है।

जिस जाति के विषय में हम विचार कर रहे हैं, संस्कृतिकरण के परिणामस्वरूप उसमें गतिशीलता ऊपर की ओर होती है लेकिन यह गतिशीलता बिना पश्चिमीकरण के भी घटित हो सकती है। बहरहाल संस्कृतिकरण से जुड़ी गतिशीलता से व्यवस्था के भीतर परिवर्तन होता है, यानी एक पद से दूसरे पद पर सीधी रेखा में। इससे सामाजिक ढाँचा नहीं बदलता है। इसका आशय यह हुआ कि किसी जाति के कुछ लोगों की जीवन शैली बदल जाती है लेकिन अपने से ऊँची जातियों से यह जाति आगे नहीं जाती है। यह सिर्फ उन सदस्यों से बड़ी हो जाती है जो अपने बदलने की स्थिति में नहीं हैं। इस प्रकार एक ही धरातल पर और अधिक भेद पैदा होता है। इसमें व्यवस्था में कोई बदलाव नहीं आता है।

सामाजिक सांस्कृतिक आंदोलनों के माध्यम से बहुत से जातीय समूहों ने सामाजिक गतिशीलता की इच्छा जाहिर की है। एक ही धरातल पर एकजुटता में वृद्धि हुई है। यातायात के साधनों में सुधार के कारण और संचार साधनों में बढ़ोत्तरी के चलने दूर के क्षेत्रों में बिखरी जातियों को परिवर्तन की प्रक्रिया में आसानी हुई है। देश के विभिन्न भागों में जातीय संगठनों का जन्म हुआ ताकि अपनी जाति के सदस्यों के लिए कल्याणकारी कदम उठाएं जाएं। अपनी जाति के कल्याण के लिए कुछ ने पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन किया। अपनी जाति के छात्रों को छात्रवृत्ति देने के लिए धन एकत्र किया, छात्रावास बनवाए और जातिगत प्रथाओं में सुधार के कार्यक्रम हाथ में लिए। आमतौर पर इन सुधारों का मकसद अपनी जाति के लोगों की जीवन शैली का संस्कृतिकरण करना था। इनका उद्देश्य शादियों के खर्चे तथा मरणोपरांत पर दिए जाने वाले ब्रह्म भोज के खर्चों में कमी करना था। प्रभावशाली जातियों और समुदायों ने इस प्रकार के प्रयासों के प्रति गुस्सा जताया है और इसका विरोध किया है ताकि नीची जातियों को अपने नियंत्रण में रख सकें। अपना हक माँगने वाले हरिजनों तथा ऊँची जातियों के बीच टकराव की सूचनाएँ पूरे देश के अलग-अलग भागों से मिलती रही हैं। इससे जाहिर होता है कि भारतीय समाज के दबे-कुचले लोगों में बराबरी की आकांक्षाएँ उठ रहीं हैं। जैसे-जैसे अधिक तादात में हरिजन शिक्षित होते जा रहे हैं और सांविधानिक अधिकारों को लागू करवाना चाहते हैं, संभावना है कि टकरावों की संख्या बढ़ेगी।

16.5 जाति, वर्ग संबंध

न तो जाति सामाजिक रचना को समग्रता में व्यक्त करती है और न ही जाति के एकदम विरोधी छोर पर स्थित वर्ग। भारत में वर्ग जाति और सत्ता के साथ विद्यमान रहा है।

भारतीय संदर्भ में जाति में वर्ग और वर्ग में जाति का समाहार है। न तो अकेले जाति आधारित दृष्टिकोण और न ही वर्ग आधारित परिप्रेक्ष्य भारतीय समाज को पूर्णता में समझने में मदद करेगा। जरूरी तौर पर वर्ग का मतलब खुलापन नहीं होता है। इसका अर्थ गतिशीलता और कुछ विशेषताओं का संगम भी नहीं होता जैसा कि पश्चिम के समाज वैज्ञानिक आमतौर पर परिकल्पना करते हैं। सभी व्यावहारिक दृष्टियों से जाति वर्ग के रूप में काम करती चली आ रही है। वर्गों के संबंध उतने ही पुराने हैं जितने जाति संबंध या कहें वे जाति संबंधों से भी पुराने हैं।

समग्र संरचनात्मक व्यवस्था में परिवर्तन से जाति तथा वर्ग की संरचना बदलती है। जैसे भूमि सुधार, शिक्षा का प्रसार, सामाजिक कानून, लोकतंत्रीकरण, उद्योगीकरण और नगरीकरण। इन समष्टिगत संरचनात्मक कारकों ने कुछ मामलों में जाति और वर्ग को बदला है, कुछ मामलों में इसको अनुकूल बनाया है, कभी-कभी टकराव की स्थितियाँ भी पैदा हुई हैं। जाति और संगठन-समूह वर्ग की तरह काम करते हैं। इससे पुनः यह तथ्य उजागर होता है कि काफी हद तक जाति और वर्ग दोनों ही एक संरचनात्मक यथार्थ का प्रतिनिधित्व करते हैं। विभिन्न जातियों में आर्थिक वंचकता विभिन्न जातियों और वर्गों में वर्ग चेतना की बात उठाने के लिए जिम्मेदार है।

जाति आधारित संगठनों का गैर जाति जैसे कार्यों में लगना अभी हाल की घटना है। जाति पर आधारित संस्थाएँ अपने सदस्यों के भौतिक लाभ के लिए प्रयास करती हैं। इस प्रकार उनकी वंचकता के प्रति और संरचनात्मक बाधाओं के प्रति उन्हें जागरूक बनाती हैं। ये सभी संगठन जाति इतर कार्यों में लगे हुए हैं। उनके सदस्य आपस में वर्ग के रूप में सहयोग करते हैं लेकिन किसी और अर्थ में उनकी हैसियत वर्ग की नहीं है। क्योंकि इन संगठनों में एक ही जाति के लोग होते हैं और इस जाति में आर्थिक दृष्टि से कई वर्गों के सदस्य हो सकते हैं।

जाति व्यवस्था को आर्थिक संबंधों की व्यवस्था भी कहा जाता है। यदि एकदम नीचे से ऊपर की तरफ देखें तो इस व्यवस्था की दो प्रभावशाली विशेषताएँ दिखाई देती हैं:

i) सबसे नीचे की जनता की दृष्टि से जाति से आर्थिक शोषण के अत्यंत प्रभावी व्यवस्था के रूप में काम किया है (और अब भी कर रही है)।

ii) जाति व्यवस्था में अनेक कामों में एक काम यह भी है कि उद्देश्य की एकता अथवा आम हितों के आधार पर बनने वाली वर्ग संरचना को रोका जा सके।

मार्क्सवादी दृष्टिकोण जाति व्यवस्था को शोषणकारी व्यवस्था मानता है न कि परस्पर निर्भरता और आदान-प्रदान की व्यवस्था। जाति के आधार पर सामाजिक स्तरण को वर्ग संघर्ष और सर्वहारा चेतना के विकास में रुकावट पैदा करने वाला माना जाता है।

विचार करने की सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि वर्ग स्तरण की उस रूप में कोई व्यवस्था नहीं है जैसे जाति का भारतीय समाज में गहरे तक प्रवेश है और जाति व्यवस्था के चलते पैदा होने वाली अधिकांश समस्याओं का स्वरूप वर्ग का है ये आर्थिक प्रभुत्व अथवा आर्थिक दासता से जुड़ी हुई हैं, विशेषाधिकारी और वंचना, भयानक बर्बादी और येनकेन प्रकारेण जीवन रक्षा से जुड़ी हुई हैं। इस तरह भारत में जाति तथा वर्ग का आंगिक संबंध है। जाति व्यवस्था के भीतर से वर्गीय तत्वों को बाहर करना बहुत कठिन है क्योंकि हमको निश्चित तौर पर पता नहीं है कि जाति में कहाँ वर्गीय अवशेष हैं जब कोई उद्धार करने या चीड़-फाड़ की प्रक्रिया में लगा हो।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तर पर ✓ का निशान लगाइए:

1) क) संरचनात्मक परिवर्तन होता है,

ख) सांस्कृतिक परिवर्तन होता है,

ग) पद में परिवर्तन होता है,

घ) उपर्युक्त में से कोई भी परिवर्तन नहीं होता है।

2) भारत में जाति में वर्ग शामिल होता है:

अ) लेकिन वर्ग में जाति शामिल नहीं होती,

ब) और वर्ग में जाति शामिल होती है,

स) इससे खुलापन, गतिशीलता आदि आते हैं,

द) लेकिन सत्ता शक्ति नहीं आती है।

3) भारत में वर्ग में निम्नांकित शामिल हैं:

अ) सत्ता

ब) जाति

स) आर्थिक शोषण

द) ऊपर की सारी बातें

16.6 सारांश

इस इकाई में सबसे पहले हमने वर्ण तथा जाति के बीच अंतर को उजागर किया। सोपानात्मक व्यवस्था के सिद्धांतों का अध्ययन किया जिसकी परिधि में जाति तथा वर्ण दोनों आ जाते हैं। वर्ण तथा जाति में भेद जान लेने के बाद हमने जाति और वर्ग की धारणा पर विचार किया। इसके बाद भारत में वर्ग तथा जाति पर किए गए विभिन्न अध्ययनों पर विचार किया।

जाति विषयक कोई भी अध्ययन जाति की गतिशीलता के संदर्भ के बिना अधूरा है। यह गतिशीलता संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा संपन्न होती है। वर्ग तथा जाति पर किए गए अध्ययनों पर विस्तार से प्रकाश डालने के बाद इस बात का अध्ययन किया गया कौन क्या है। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया पर भी विचार किया गया। अंत में हमने पाया कि भारतीय संदर्भ में जाति में वर्ग तथा वर्ग में जाति सम्मिलित हैं।

16.7 शब्दावली

जातीय गतिशीलता : जातीय स्तरण व्यवस्था में लोगों का एक जातीय स्थिति से दूसरी में पहुँचना। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया द्वारा बहुत सीमित अर्थ में यह घटित होता है।

संस्कृतिकरण : इस पद को एम.एन. श्रीनिवास ने गढ़ा था। यह किसी समूह की गतिशीलता की प्रक्रिया को द्योतित करता है जिसके माध्यम से नीची जातियाँ प्रभावशाली जातियों के तौर-तरीके और जीवन पद्धति अपनाते हैं। संस्कृतिकरण से हैसियत में ही परिवर्तन होता है, इससे किसी प्रकार का संरचनात्मक परिवर्तन नहीं होता है।

हाइपरगैमी : शादी का एक रूप, जिसमें ऊँची जाति का व्यक्ति निम्न जाति की कन्या से विवाह करता है। मनु ने इसका विधान किया था। यह प्रतिलोम विवाह से भिन्न है। प्रतिलोम विवाह प्रतिबंधित था क्योंकि ऊँची जाति की स्त्री को अपनी जाति से नीची जाति से शादी करने की अनुमति नहीं थी। अनुलोम विवाह की सामान्य स्वीकृत प्रथा अंतर्गत हाइपर गैमी एकमात्र अपवाद था।

16.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

श्रीनिवास एम.एन., 1989. *आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन*, नई दिल्ली: राजकमल प्रकाशन।

दुबे, सत्यमित्र, 1981. *मनु की समाजव्यवस्था*, दिल्ली: मैकमिलन।

सिंह योगेंद्र, 1986. *माडर्नाजेशन ऑफ इंडियन ट्रेडिशन*, जयपुर: रावत प्रकाशन।

16.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) वर्ण का स्वरूप समष्टिगत संरचनात्मक होता है और जाति व्यष्टिगत संरचनात्मक। चार जातीय श्रेणियों के वर्ण-विभाजन से जाति व्यवस्था का जन्म हुआ है। जाति का यथार्थ अस्तित्व के स्तर पर है आदर्शात्मक प्रकारात्मक स्तर पर नहीं जिसका संबंध वर्ण व्यवस्था से है। जातियाँ हजारों प्रकार के सगोत्रीय वैवाहिक समूहों में विभाजित हैं जब कि वर्ण का प्रतिरूप जाति के सांस्कृतिक ढाँचे का काम करता है, यह निरपेक्ष कोटि है।

2) लुई ड्यूमा

बोध प्रश्न 2

1) स

2) ब

3) द

इकाई 17 सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति

इकाई की रूपरेखा

17.0 उद्देश्य
17.1 प्रस्तावना
17.2 सोपान की अवधारणा
  17.2.1 सोपान का अर्थ क्या है?
  17.2.2 सामाजिक स्तरीकरण के रूप में सोपान
17.3 सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति
  17.3.1 जाति का अर्थ
  17.3.2 सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति
  17.3.3 जाति एवं स्तरीकरण के अन्य स्वरूप
  17.3.4 सोपान के रूप में जाति का विचारात्मक आधार
17.4 सारांश
17.5 शब्दावली
17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

17.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप:

- सोपान की अवधारणा को समझ सकेंगे,
- सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति को समझ सकेंगे,
- सामाजिक स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों व जाति के मध्य के संबंधों की चर्चा कर सकेंगे, और
- जातिगत सोपान के विचारात्मक आधार पर विवरण दे सकेंगे।

17.1 प्रस्तावना

इस इकाई में सोपान के रूप में जाति संबंधी अवधारणा की चर्चा की गई है। अनेक खंडों की इकाइयों का अध्ययन करते हुए आपने जाति के संबंधों को पढ़ा होगा। इससे पूर्ववर्ती इकाइयों में आपने वर्ग, जाति, उनके अंतर व अंतःसंबंधों के बारे में अध्ययन किया है। आपने यह अध्ययन किया होगा कि जाति व्यवस्था भारतीय समाज की न केवल एक अद्वितीय विशेषता है। यह भारतीय समाजशास्त्र की सर्वाधिक चर्चित अवधारणा ही नहीं है। अपितु एक जटिल अवधारणा है। यह जटिलता जाति व्यवस्था के यथार्थ में निहित है। भारतीय समाज के विभिन्न भागों में इसके अनेक आयाम हैं और यह किसी न किसी रूप में सामाजिक जीवन के सभी पक्षों से जुड़ा हुआ है।

जाति व्यवस्था की सर्वोपरि विशेषता यह है कि इसके अंतर्गत व्यक्तियों को उच्च व निम्न समूहों में स्तरीकृत किया जाता है। यदि आप अपने पड़ोस, गाँव, कस्बे या नगर में लोगों को देखें तो आप पाएँगे कि ये लोग विभिन्न जातियों के हैं तथा ये जातियाँ एक सीढ़ी की तरह उच्च व निम्न समूहों में व्यवस्थित हैं। कुछ जातियों को ऊँचा, कुछ को नीचा, कुछ को सर्वोच्च व कुछ को निम्नतम माना जाता है। इसी को सोपान कहते हैं।

इस इकाई में हम सोपान के रूप में जाति को समझने का प्रयास करेंगे। इस इकाई के भाग 17.2 में सोपानात्मक व्यवस्था की अवधारणा को पहले शब्द के रूप में और बाद में एक समाजशास्त्रीय अभिव्यक्ति के रूप में समझाया गया है। भाग 17.3 में सोपान के संदर्भ में जाति के अर्थ की विवेचना की गई है। जातिगत सोपान की दो प्रकार की अवधारणाओं को

बताया गया है। अन्य प्रकार की सामाजिक असमानताओं से जाति की अंतःक्रिया का विवरण भी दिया गया है। अंततः जातिगत सोपान के विचारात्मक आधार की विवेचना की गई है।

17.2 सोपान की अवधारणा

सामाजिक असमानता सर्वव्यापी है। सामान्यतया समाजशास्त्री इस बात को मानते हैं कि सामाजिक असमानता प्रत्येक समाज में प्रत्येक काल व समय में पाई जाती है। समाज में सामाजिक असमानता अनेक प्रकार के स्वरूपों में पाई जाती है। उदाहरण के लिए यौन, वर्ग, प्रजाति, जातियों, नस्ल, प्रस्थितियों, शक्ति, सत्ता व पीढ़ियों की असमानता आदि।

सामाजिक असमानता की वास्तविकता को सामाजिक स्तरीकरण सामाजिक विभेदीकरण, वर्ग व सोपान जैसी अवधारणाओं के माध्यम से अनेक रूपों में समझा व विवेचित किया जाता है। अत्यधिक प्राचीन हिन्दू जाति व्यवस्था को समझाने के लिये सोपान की अवधारणा को आमतौर पर प्रयुक्त किया जाता है। सोपान के रूप में जाति को समझने के लिये सोपान शब्द की व्याख्या सहायक होगी। अतः सर्वप्रथम सोपान का अर्थ स्पष्ट किया गया है।

17.2.1 सोपान (Hierarchy) का अर्थ क्या है?

अंग्रेजी का शब्द (Hierarchy) हायरैरकी (सोपान) लैटिन शब्द **हायरैरका** से उत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है, पवित्र वस्तुओं या व्यक्तियों में शासन।

आरंभ में हायरैरकी का अर्थ "धार्मिक शासन की व्यवस्था" अर्थात् "पुजारियों या पादरियों की क्रम-विन्यास वाली संगठित व्यवस्था" से था। परंतु सामान्यतया इसे "व्यक्तियों की उस व्यवस्था के लिये प्रयुक्त किया जाता है, जिसमें व्यक्ति एक दूसरे के ऊपर या नीचे के क्रम में श्रेणियों, वर्गों अथवा पदों में स्तरीकृत होते हैं। (ऑक्सफोर्ड इंग्लिश डिक्शनरी खंड-V), यह स्पष्ट है कि सोपान का अर्थ वर्गों को क्रमिक श्रेणियों में स्तरीकृत करना है। सामाजिक असमानता से इसका तात्पर्य व्यक्तियों का किसी मापदंड पर लंबवत् विभाजन है।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि किसी भी समग्र तत्व अथवा किसी भी समाज के व्यक्ति किसी निश्चित सिद्धांत के आधार पर स्तरीकृत होते हैं। वह सिद्धांत व्यावहारिक, उपयोगितावादी या शोषक हो सकता है, परंतु किसी विचारधारा या धर्म पर आधारित होता है। अतः यह तर्क दिया जाता है कि सोपान एक सिद्धांत की व्यवस्था पर आधारित है। दूसरे शब्दों में, सोपान का अर्थ किसी सिद्धांत के आधार पर व्यक्तियों का वर्गों अथवा श्रेणियों में विभाजन की व्यवस्था से है।

17.2.2 सामाजिक स्तरीकरण के रूप में सोपान

यह बताया गया है कि समाज में अनेक प्रकार की सामाजिक, असमानताएँ होती हैं। वस्तुतः समाज में दो प्रकार के खंडात्मक विभाजन होते हैं। इनमें से एक को समाज का क्षैतिज विभाजन व दूसरे को लंबवत् विभाजन कहा जा सकता है। समाज के क्षैतिज विभाजन के उदाहरण, यौन समूह, प्रजातीय समूह, पीढ़ियाँ आदि हैं। सैद्धांतिक रूप से इन विभाजनों अथवा समूहों को एक दूसरे के ऊपर या नीचे की व्यवस्था में श्रेणियों, क्रमों अथवा वर्गों में विभक्त नहीं किया जा सकता। किसी भी समूह को ऊपर या नीचे क्रमबद्ध नहीं किया जा सकता। यह एक अन्य बात है कि कुछ समाजों में, व्यवहार में, किसी एक यौन या प्रजाति या पीढ़ी के पास शक्ति व सुविधाएँ होती हैं और इस कारण इस यौन, प्रजाति या पीढ़ी को अन्य से उच्च माना जाता है। फिर भी समाजशास्त्रीय रूप ये यह समाज का क्षैतिज विभाजन है, जिसे आमतौर पर सामाजिक विभेदीकरण कहा जाता है।

समाज भी आर्थिक दशाओं, राजनीतिक शक्तियों, सामाजिक प्रस्थिति, प्रतिष्ठा या सम्मान के संदर्भ में लंबवत् रूप से विभक्त है। वस्तुओं, सेवाओं, अधिकारों व कर्तव्यों, शक्ति व प्रस्थिति का यह असमान वितरण संस्कृतिकरण कहलाता है। ये सभी समाज में स्थितियों या पदों के गण हैं लेकिन व्यक्तियों के गुण नहीं हैं। प्रकृति द्वारा व्यक्तियों में स्वास्थ्य,

शारीरिक शक्ति, बुद्धि, त्वचा के रंग में असमानता दी गई है, परंतु ये भिन्नताएँ सामाजिक संस्कृतिकरण का आधार नहीं बनती। फिर भी, इन वैयक्तिक भिन्नताओं का संबंध सामाजिक असमानताओं से विशेषतः लंबवत् प्रकार की भिन्नताओं से होता है। इन वैयक्तिक भिन्नताओं व सामाजिक असमानताओं के मध्य संबंधों को समझने के लिये विशिष्ट समाजशास्त्रीय प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि आय में भिन्नता के कारण स्वास्थ्य संरक्षा में भिन्नता होती है अथवा त्वचा के रंग में भिन्नता दक्षिण अफ्रीका या संयुक्त राज्य अमेरिका में अच्छी शिक्षा प्राप्ति में बाधक बन सकती है।

सामाजिक संस्कृतिकरण समाज की संरचना की एक विशेषता से संबंधित है। इसका अर्थ यह है कि सामाजिक स्थिति की एक अथवा अनेक विशेषताओं के वितरण में समाज अनियमितता या महत्वपूर्ण व्यवधान दर्शाता है, जिसके परिणामस्वरूप स्तर वर्ग या जातियों नामक समूह गठित हो जाते हैं। ये स्तृत असमान माने जाते हैं तथा एक दूसरे के ऊपर क्रम-विन्यासित होते हैं। इस प्रकार सोपान सामाजिक संस्कृतिकरण से गहन रूप से संबंधित होता है। समाज के लंबवत् विभाजन का कोई भी विस्तृत, एवं स्थापित स्वरूप का अर्थ सोपान होता है। सभी प्रकार के सरकारी अथवा औद्योगिक प्रशासन तंत्रों की विशेषता सोपान है। एक प्रकार से आरंभिक दास व्यवस्था, सामंतवादी व्यवस्था एवं जाति व्यवस्था में भी सोपानात्मक व्यवस्था निहित हैं। जाति व्यवस्था सोपानात्मक व्यवस्था का एक प्रमुख उदाहरण है।

बोध प्रश्न 1

अ) सोपान का क्या अर्थ है?

1) लंबवत् (vertical) विभाजन
2) क्षैतिज (horizontal) विभाजन
3) लंबवत् व क्षैतिज दोनों विभाजन
4) न लंबवत् व न क्षैतिज विभाजन

ब) निम्न समूहों में जो समाज का क्षैतिज व लंबवत् विभाजन करतें हैं, उन्हें क्रमशः अलग कीजिए:

पुरुष व स्त्री समूह, वर्ग, जागीरें, प्रजाति, जातियाँ, पीढ़ियाँ, प्रस्थिति समूह, जनजातियाँ

17.3 सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति

जाति हिंदू सामाजिक संरचना की सर्वाधिक मूलभूत इकाई है। यह कहा जाता है कि भारत में व्यक्ति की पहचान उसकी जाति पर निर्भर होती है। पारंपरिक समाज में, व्यक्ति की प्रस्थिति बहुत सीमा तक जन्म से निर्धारित होती है। परंतु विश्व में कहीं भी यह हिंदू समाज इतने कठोर रूप से आनुवंशिक नहीं है और न इसका क्रम-विन्यास इतना विस्तृत व व्यापक है।

17.3.1 जाति का अर्थ

अंग्रेजी का शब्द "कास्ट" पुर्तगाली शब्द "कास्टा" से बना है, जिसका अर्थ "प्रजाति, वंश या नस्ल" होता है। भारत में जाति समूहों के लिए प्रमुख रूप से दो शब्द प्रयुक्त होते हैं, **वर्ण** एवं **जाति**। पिछली इकाई में आपने **वर्ण एवं जाति** में अंतर के बारे में सीखा है। इन अवधारणाओं के मध्य अंतर जानने के बाद आप कास्ट अथवा जाति के अर्थ को समझने के लिए सक्षम हो गए हैं।

भारत में जाति व्यवस्था पर बहुत से साहित्य उपलब्ध हैं। जाति व्यवस्था पर महत्वपूर्ण अध्ययनों की समालोचना से जाति की अवधारणा पर कुछ महत्वपूर्ण विचारों का पता चलता है। हिन्दू समाज अनेक सामाजिक रूप से विशिष्ट जाति नामक आनुवंशिक समूहों में बँटा हुआ है। जाति व्यवस्था की विशेषताएँ सोपानीकृत क्रम-विन्यास, अंतर्विवाह, प्रत्येक जाति का पारंपरिक व्यवसाय, कर्मकांडीय प्रस्थिति, जातियों के मध्य खान-पान, हुक्का पानी व सामाजिक अंतःक्रिया पर निषेध, सुविधाएँ तथा निर्योग्यताएँ, जाति संगठन,

तथा सेवा व वस्तु विनियम की एक व्यवस्था है, जिसे भारत के भिन्न-भिन्न भागों में विभिन्न नामों से संबोधित किया जाता है: उत्तर में जजमानी, महाराष्ट्र में बड़ा बलूटे, तमिलनाडु में मीरासी, कर्नाटक में अडाडे आदि हैं। पारंपरिक रूप से जाति व्यवस्था को दैवीय देन मानते हैं।

समग्रवादी परिप्रेक्ष्य में जाति व्यवस्था में उपरोक्त सभी विशेषताएँ हैं। पारंपरिक जाति व्यवस्था में ये सभी गुण अंतर्निहित हैं। आजकल अनेक परिवर्तन हो रहे हैं। इतने लंबे समय में चाहे जाति शब्द वही रहा हो, परंतु उसकी वास्तविकता परिवर्तित हो रही है। कुछ विशेषताएँ, अन्य विशेषताओं की तुलना में अधिक तीव्रता से परिवर्तित हो रही हैं। उदाहरण के लिए, पारंपरिक जातिगत व्यवसाय व्यवस्था, जातियों के मध्य सामाजिक दूरी, अर्थव्यवस्था की जजमानी प्रथा आदि। उद्योगवाद की मुद्रा, अर्थव्यवस्था से लेकर हितों के मुखरन व प्रतिनिधित्व की जनतांत्रिक राजनीति तक अनेक कारक जाति व्यवस्था में परिवर्तन ला रहे हैं। कभी-कभी जातिवाद राजनीतिक दल, संसद, शिक्षा, विश्वविद्यालय, सार्वजनिक प्रशासन तंत्र आदि जैसी आधुनिक संस्थाओं को प्रभावित कर रहा है।

इस संदर्भ में, यह बात उल्लेखनीय है कि कभी-कभी जाति की एक अथवा एक से अधिक विशेषताओं को इस सीमा तक आवश्यक माना जाता है, कि जाति व्यवस्था प्रमुख रूप से या एक मात्र उसी विशेषता अथवा विशेषताओं पर आधारित माना जाता है। कर्मकांडीय प्रस्थिति, अंतर्विवाह, विशिष्टता, सोपान आदि को जाति का मूल सार माना गया है। कभी इन विशेषताओं को अपने आप में विशिष्ट अथवा कभी एक दूसरे के साथ मिलाकर मूल सार माना जाता है। जाति को सोपान के रूप में मानना एक ऐसा ही उदाहरण है।

17.3.2 सोपानात्मक व्यवस्था के रूप में जाति

सोपान के रूप में जाति को दो प्रकार से परिभाषित किया गया है। सर्वप्रथम, जाति को मूलभूत रूप से एक धार्मिक सिद्धांत पर आधारित सोपान व्यवस्था के रूप में समझा गया है। दूसरा दृष्टिकोण सोपान को जाति का सार मानता है तथा अन्य विशेषताओं को भी महत्व देता है।

प्रथम दृष्टिकोण के मुख्य प्रतिपादक लुई ड्यूमाँ हैं। इनके अनुसार जाति व्यवस्था एक अत्यंत अद्वितीय व्यवस्था है तथा इसे आधुनिक मानसिकता के संदर्भ में नहीं समझा जा सकता, विशेषतः यूरोपीय प्रकार की मानसिकता के संदर्भ में नहीं समझा जा सकता, जो समानता को एक आधारभूत मूल्य के रूप में मानती है। ड्यूमाँ के अनुसार सोपान व असमानता मानव के लिये स्वाभाविक है। यूरोपियन समाज ने कम से कम असमानता को सैद्धांतिक रूप से अस्वीकृत कर दिया है तथा समानता को आधारभूत मानवीय मूल्य के रूप में स्वीकार किया है, जबकि हिंदू समाज ने प्रस्थिति भिन्नता पर आधारित सोपान के अन्य मूल्य को चैतन्य रूप से स्वीकार कर लिया है। उसका यह भी मत है कि हिन्दू समाज में समग्र को प्राथमिकता दी जाती है। यह समग्र सोपान के रूप में संरचित है। सोपानीकृत विभाजन के लिये सिद्धांत धर्म देता है। वस्तुएँ, भोजन, मानव, उनके गुण, कर्मकांड, संस्थाएँ सभी सोपानीकृत हैं व इसको धार्मिक मान्यता प्राप्त है। जाति व्यवस्था सोपान का ज्वलंत उदाहरण है।

ड्यूमाँ की यह राय है कि शुद्ध व अशुद्ध के मध्य द्विशाखीकरण जातिगत सोपान के विभिन्न स्तरों में व्यक्तियों के क्रम-विन्यास का निर्धारण करता है। हिंदू समाज का चार वर्ण अथवा जाति समूहों में विभाजन इसका उदाहरण है। अन्य की तुलना में ब्राह्मण अधिक शुद्ध माने जाते हैं तथा ब्राहमण व क्षत्रिय शूद्रों की तुलना में अधिक शुद्ध माने जाते हैं व उच्चतम तीन वर्ण द्विज व अधिक शुद्ध माने जाते हैं, जबकि शूद्र अन्य की तुलना में अधिक अशुद्ध माने जाते हैं। अतः इन्हें निम्नतम माना गया है, यही सोपान है। यह स्पष्ट है कि ड्यूमाँ, जाति को कर्मकांडीय प्रस्थिति की शुद्धता व अशुद्धता के संदर्भ में सोपान के आधार पर परिभाषित करते हैं।

ड्यूमाँ का यह तर्क है कि शक्ति तथा सोपान य कर्मकांडीय प्रस्थिति में विभाजन रेखा है। यह बताया गया है कि पारंपरिक रूप से राजा व ब्राहमण परस्पर रूप से विशिष्ट स्थितियों का उपयोग करते थे। यह आवश्यक नहीं था कि राजनीतिक अथवा आर्थिक रूप से शक्तिशाली जाति की उच्च कर्मकांडीय प्रस्थिति हो अथवा इसके ठीक विपरीत हो। अतः जातिगत सोपान का राजनीतिक अथवा आर्थिक शक्ति से कोई संबंध नहीं है। जातिगत सोपान आधारभूत रूप से शुद्ध व अशुद्ध के धार्मिक विचारों पर आधारित हैं।

यह दृष्टिकोण आवश्यक रूप से जाति का "किताबी दृष्टिकोण" है, जो जाति के धार्मिक विचारों के पक्ष में सशक्त रूप से झुका हुआ है। आप यह देखेंगे कि यह दृष्टिकोण सोपान (हायरैरकी) के मूल अर्थ का अनुसरण करता है, जिसके अनुसार पवित्र धार्मिक आधारों के संदर्भ में व्यक्तियों का श्रेणियों या वर्गों में क्रम-विन्यासीकरण होता है। जातिगत सोपान के निर्धारण में यह अन्य कारकों के प्रभाव की उपेक्षा करता है। जातिगत असमानता किसी एक आधार पर आधारित नहीं है, बल्कि अनेक आधारों पर आधारित है जो प्रायः मिल जुलकर ऐसा प्रभाव उत्पन्न करते हैं। आर्थिक व राजनीतिक शक्ति प्रायः जुड़ी होती है तथा प्रायः किसी एक विशिष्ट जाति के पास होती है, जिसके कारण जातिगत सोपान में इसकी एक निर्धारित प्रस्थिति होती है। इसके अतिरिक्त, आनुभाविक रूप से यह पाया गया है कि राजनीतिक शक्ति उन जातियों के पास होती है, जिनकी कर्मकांडीय प्रस्थिति उच्च होती है तथा जिसमें ब्राह्मण जाति शामिल है।

सोपान के रूप में जाति की अवधारणा के बारे में अन्य दृष्टिकोण भी है, जिसे श्रीनिवास ने दिया है। यह सोपान को एक वृहत् अर्थ में देखता है तथा इसको धार्मिक या विचारधारा के स्तर पर सीमित नहीं करता। इस दृष्टिकोण के अनुसार, "जाति व्यवस्था में सोपान का विचार सर्वव्यापी है, न केवल अनेक जातियाँ सोपान बनाती हैं, अपितु उनके व्यवसाय, भोजन, रीति-रिवाज आदि सब अलग-अलग सोपान बनाते हैं।"

यदि हम वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में सोचें तो सोपान बहुत सरल व स्पष्ट है, जिसमें ब्राह्मण को सर्वोच्च व शूद्र को निम्नतम स्थान प्राप्त है। परंतु आप जानते हैं कि जातियाँ चार नहीं हैं बल्कि अनेक हैं। भारत में इतनी जातियाँ हैं कि सबकी गणना असंभव है। देश के प्रत्येक भाषायी क्षेत्र में सैकड़ों जातियाँ हैं। जातियाँ हजारों उपजातियों में विभाजित हैं। सोपान सिर्फ जातियों में ही नहीं होता, अपितु जातियों व उप-जातियों में भी होता है। अतः वर्णगत सोपान का अत्यधिक सरलीकृत प्रारूप जाति व्यवस्था की जटिल व विस्तृत सामाजिक विभक्तियों को समझने में असफल रहता है।

जैसा कि श्रीनिवास ने कहा है कि जातियों का सोपान वृहत् सिद्धांतों तथा क्षेत्रीय कारकों पर निर्भर रहता है। प्रत्येक जाति का सोपानीकृत क्रम इसके कर्मकांडों, प्रथाओं, पारंपरिक सुविधाओं तथा निर्योग्यताओं, इसके उद्भव संबंधी मिथकों, खान-पान अन्य जातियों से पानी, हुक्का या पका हुआ भोजन स्वीकारने या अस्वीकृत करने की योग्यता, भू-संपत्ति का आकार, राजनीतिक शक्ति आदि पर निर्भर होता है। सोपान में स्थिति के दावे के संबंध में न केवल मध्यम स्तर पर विवाद है, अपितु सर्वोच्च व निम्नतम स्तर पर भी विवाद है। "केरल में नम्बूदरी ब्राह्मण अपने आपको तमिल ब्राह्मणों से उच्च मानते हैं तथा नंबूदरी ब्राह्मणों में भी जिनके पास वेद अध्ययन का आनुवंशिक अधिकार है, वे अपने आपको अन्य से उच्च होने का दावा करते हैं।"

17.3.3 जाति एवं स्तरीकरण के अन्य स्वरूप

ऐसी जातियों के उदाहरण हैं, जिनके पास राजनीतिक व आर्थिक शक्ति तो है, परंतु जिनकी कर्मकांडीय प्रस्थिति ऊँची नहीं है। इस प्रकार के मामलों में, देर सबेर, संस्कृतिकरण घटित होता है। अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने के उद्देश्य से ऐसी जाति द्विज जातियों का अनुसरण करने लगती है। हम जातिगत स्थिति के तीन प्रमुख आधार बता सकते हैं : कर्मकांडीय, राजनीतिक व आर्थिक। किसी भी एक क्षेत्र में उच्च स्थिति की प्राप्ति से प्रायः अन्य क्षेत्रों में उच्च स्थिति की प्राप्ति होती है। कभी-कभी ऐसा नहीं होता। ऐसा संभव है कि एक धनी जाति की कर्मकांडीय स्थिति निम्न हो, या राजनैतिक रूप से शक्तिशाली जाति की निम्न कर्मकांडीय परिस्थिति हो, अथवा कर्मकांडीय सोपान में उच्च स्थान प्राप्त जाति निर्धन हो या राजनीतिक रूप से कम शक्तिशाली हो। परंतु सामान्यतया जातिगत सोपान के इन तीन प्रकारों : कर्मकांडीय, राजनीतिक व आर्थिक के मध्य निश्चित संबंध होते हैं।

प्रभुत्वशील जाति का अर्थ है, जाति की संख्यात्मक शक्ति तथा शैक्षणिक स्तर जैसे पक्षों के अतिरिक्त कर्मकांडीय प्रस्थिति, राजनीति शक्ति व आर्थिक स्वामित्व से संबंधित होते हैं। यह जाति के विभिन्न पक्षों के मध्य अंतःसंबंध भी दर्शाता है।

17.3.4 सोपान के रूप में जाति का विचारात्मक आधार

जाति के सोपान के आधार हिंदू धर्म व विचारधारा में हैं। यह तर्क दिया जाता है कि गुण,

कर्म तथा धर्म जैसी कुछ निश्चित अवधारणाएँ जाति व्यवस्था का औचित्य सिद्ध करती हैं तथा इसके लिए विचारात्मक आधार प्रदान करती हैं। वस्तुतः वेदोत्तर काल में ब्राह्मणों की शक्ति में वृद्धि हुई। इसी काल में ब्राह्मण लेखकों ने प्रत्येक जाति के कर्तव्य, अधिकार व उसके सोपानीकृत क्रम को सूत्रबद्ध व प्रस्तावित किया। सोपान के लिए सभी प्रकार के तर्क औचित्य व वैधता प्रस्तुत की गई।

धर्म स्थापित व्यवस्था से संबंधित होता है, जिसमें प्रत्येक जाति से विशिष्ट रूप से जुड़ा सामाजिक एवं पारलौकिक तथा विशेष आचार संहिता एवं कर्तव्य शामिल होते हैं। किसी भी व्यक्ति को श्रेष्ठता प्राप्त करने के लिए समुचित व्यवहार संहिता का पालन करना चाहिए। कर्म के सिद्धांत में श्रेष्ठता निहित है। यदि कोई मनुष्य श्रेष्ठता अर्जित कर लेता है, तो उसका पुनर्जन्म उच्चतर स्तरों में होता है और यदि वह धर्म की अवहेलना करता है, तो उसका पुनर्जन्म निम्नस्तर स्तृत में होता है। अपने क्रमिक पुनर्जन्मों को यदि वह सही-सही पालन करता है, तो उसे पुर्नजन्म व मृत्यु के चक्र से मुक्ति मिल सकती है। इस प्रकार यह निर्धारित किया गया है कि मनुष्य को अपनी ही जाति में अनुशासनबद्ध रहकर उन कर्तव्यों व प्रकार्यों का पालन करना चाहिए, जो उस जाति के लिए नियमानुकूल हों।

बोध प्रश्न 2

1) जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषताओं को सूचीबद्ध कीजिए।

.....

2) निम्न में से कौन सा कथन गलत है?

   अ) ड्यूमाँ शुचिता और प्रदूषण के द्विभाजन को जातिगत सोपान का निर्धारक कारक मानते हैं।

   ब) ड्यूमाँ के अनुसार जातिगत क्रम-विन्यास, आवश्यक रूप से धार्मिक प्रकृति का होता है।

   स) ड्यूमाँ का यह तर्क है कि कर्मकांडीय प्रस्थिति व राजनीतिक शक्ति में सहसंबंध है।

3) उन पाँच कारकों को बताइए जिन पर जाति का क्रमविन्यास निर्भर करता है।

.....

.....

.....

17.4 सारांश

इस इकाई में हमने सोपान के रूप में जाति की अवधारणा की चर्चा की है। सर्वप्रथम यह समझाया गया है कि सोपान किसी सिद्धांत के आधार पर व्यक्तियों की श्रेणियों अथवा स्तरों में क्रम-विन्यासी व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त, सोपान का अर्थ समाज के लंबवत् विभाजन से है, अतः, यह सामाजिक स्तरीकरण के स्वरूपों से घनिष्ठ रूप से जुड़ा हुआ है। इसके बाद जाति व्यवस्था की मुख्य विशेषताओं को बताया गया है, जिनमें विशिष्ट आनुवांशिक समूह, सोपान, अंतर्विवाह, पारंपरिक व्यवसाय, कर्मकांडीय प्रस्थिति, सामाजिक दूरी, जाति संगठन एवं **जजमानी प्रथा** शामिल है। तदुपरांत सोपान के रूप में जाति की अवधारणा पर दो दृष्टिकोणों की चर्चा की गई है। प्रथम दृष्टिकोण जाति को धार्मिक सोपान अथवा कर्मकांडीय प्रस्थिति के संदर्भ में परिभाषित करता है। यह जातिगत सोपान को सामाजिक स्तरीकरण के अन्य स्वरूपों के सोपानों से भिन्न व पृथक मानता है। दूसरा दृष्टिकोण सोपान के रूप में जाति का वृहत्तर एवं व्यापक विचार रखता है। यह जाति को आवश्यक रूप से सामाजिक अंतःक्रिया से विभिन्न गुणों की शुद्धता व अशुद्धता के संदर्भ में कर्मकांडीय प्रस्थिति के सोपान को मानता है। परंतु यह अन्य सोपानगत विभक्तियों का भी उल्लेख करता है, जिसमें कर्मकांडीय सोपान से जुड़े राजनीतिक एवं आर्थिक विभाजन, तथा जातिगत सोपान के विचारात्मक आधार के रूप में **गुण, कर्म** एवं **धर्म** शामिल हैं।

17.5 शब्दावली

प्रदत्त प्रस्थिति : जन्म से प्राप्त प्रस्थिति।

जाति संगठन : *जाति पंचायत* जैसा संगठन, जिसके माध्यम से कोई भी जाति एक संगठन के रूप में संगठित होती है।

अंतर्विवाह : समूह के अंदर विवाह।

मुद्रा अर्थव्यवस्था : वह अर्थव्यवस्था, जिसमें मुद्रा द्वारा विनिमय होता है।

संस्कृतिकरण : संस्कृतिकरण सामाजिक गतिशीलता की वह प्रक्रिया है, जिसमें निम्न जाति द्विज जातियों के प्रारूप का अनुसरण करती है।

सामाजिक स्तरीकरण : सामाजिक स्तरीकरण का अभिप्राय आर्थिक स्थिति, राजनीतिक शक्ति अथवा सामाजिक प्रस्थिति के आधार पर समाज का असमान समूहों में विभाजन है।

17.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

दुबे, सत्य मित्रा, 1981. *मनु की समाज व्यवस्था*, दिल्ली : मैक्मिलन।

डिसूजा, विक्टर, एस. 1981. *इनइक्वैलिटी एंड इट्स पर्सेप्चुएशन : थ्योरी ऑफ सोश्यल स्ट्रैटीफिकेशन*, दिल्ली : मनोहर।

ड्यूमाँ, एल. 1970. *होमो हायरैरक्किक्स : द कास्ट सिस्टम एंड इट्स इंप्लिकेशन्स*, लंदन, वाइडनफैल्ड एंड निकल्सन।

श्रीनिवास, एम.एन. 1962. *कास्ट इन मॉडर्न इंडिया*, बंबई, एशिया।

17.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) अ)

ii) क्षैतिज विभाजन : पुरुष व स्त्री समूह, प्रजातियाँ, पीढ़ियाँ, तथा
लंबवत् विभाजन : वर्ग, जागीरें, जातियाँ, एवं प्रस्थिति समूह।

बोध प्रश्न 2

i) 1) विशिष्ट अनुर्वंशिय समूह
2) कर्मकांडीय प्रस्थिति
3) सोपानगत क्रम-विन्यास
4) अंतर्विवाह
5) पारंपरिक जातिगत व्यवसाय
6) सामाजिक अंतःक्रिया पर निषेध
7) खान-पान व हुक्के-पानी पर निषेध
8) सुविधाएँ एवं निर्योग्यताएँ
9) जाति-संगठन

) अ)

i) अ) कर्मकांडीय प्रस्थिति

ब) पारंपरिक सुविधाएँ तथा निर्योग्यताएँ

स) भोजन की वस्तुएँ

द) प्रथाएँ

इ) उत्पत्ति के मिथक

Notes

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

UGSY - 04
सामाजिक स्तरीकरण

खंड
5

भारत में जाति अध्ययन के उपागम

इकाई 18
जाति के गुण-धर्मात्मक उपागम-I 5

इकाई 19
जाति के गुण-धर्मात्मक उपागम-II 22

इकाई 20
जाति के अंत: क्रियात्मक उपागम-I 27

इकाई 21
जाति के अंत: क्रियात्मक उपागम-II 38

इकाई 22
जाति एवं गतिशीलता 46

इकाई 23
पृथक्करण एवं अस्पृश्यता 59

खंड परिचय खंड 5

यह ई.एस.ओ.-04 का पंचम खंड है। पूर्ववर्ती खंडों से आपने सामाजिक स्तरीकरण से जुड़ी अनेक अवधारणाओं से परिचय प्राप्त किया। इस खंड का प्रयास जाति की संख्या से संबंधित कुछ विशिष्ट सिद्धांतों व अवधारणाओं को बताना है। शायद आपको ज्ञात होगा कि भारतीय जाति व्यवस्था की ओर विद्वानों व आम व्यक्तियों का वर्षों से समान रूप से ध्यान आकर्षित होता रहा है। इतिहासवेत्ता, अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री तथा सामाजिक मानवशास्त्रियों ने इसकी जटिलताओं से निपटने का प्रयास किया तथा इसके उद्भव, विस्तार, विशेषताओं, प्रकार्यों व परिवर्तनों को समझने का प्रयास किया है।

यह खंड अपेक्षाकृत बड़ा है– इसमें छह इकाइयाँ हैं। इसके अध्ययन के दौरान, आपको ऐसा अनुभव हो सकता है कि अनेक शब्दों व अवधारणाओं से आप परिचित हो रहे हैं। अतः आपको यह सलाह दी जाती है कि आप इसे धीरे-धीरे तथा सावधानीपूर्वक पढ़ें। आपका अध्ययन अधिक रुचिकर तथा उपयोगी हो सकता है यदि आप अपने आस-पास के समाज को ध्यान में रखें तथा यह देखने का प्रयास करें कि ये नए विचार व अवधारणाएं किस प्रकार वास्तविक जगत में कार्यशील होती हैं। समाचार-पत्र, पत्रिकाएं, रेडियो तथा दूरदर्शन कार्यक्रम, उपन्यास तथा फिल्में और आपका स्वयं का अवलोकन इस खंड को जीवंत बनाने में सहायक होगा।

आइए, अब हम इसकी सभी इकाइयों को सूचीबद्ध करें, जिनका आप अध्ययन करेंगे।

इकाई 18 एवं 19 "गुण-धर्मात्मक उपागम" के बारे में है, जिसमें जाति संबंधी गुण-धर्मों अथवा विशेषताओं के संदर्भ में अध्ययन किया गया है।

इकाई 20 एवं 21 जाति के अध्ययन हेतु एक वैकल्पिक उपागम, अर्थात् "अंतः क्रियात्मक उपागम" के बारे में है।

इकाई 22, सामाजिक गतिशीलता के बारे में है तथा जाति के कठोर ढाँचे के अंतर्गत किस प्रकार गतिशीलता की संभावनाएं सृजित व प्रयुक्त की जाती हैं।

इकाई 23, जाति के सर्वाधिक दमनात्मक पक्ष अर्थात् "अस्पृश्यता" एवं "पृथक्करण" के बारे में है। इस इकाई में अस्पृश्यता उन्मूलन के विभिन्न प्रयासों का भी विवरण दिया गया है।

इकाई 18 जाति के गुण-धर्मात्मक उपागम-I

इकाई की रूपरेखा

18.0 उद्देश्य
18.1 प्रस्तावना
18.2 जाति व्यवस्था का उद्भव
  18.2.1 दैवीय उद्भव
  18.2.2 तीन गुण
  18.2.3 प्रजाति एवं वर्ण
18.3 जाति की स्वरूपात्मक व्याख्या
  18.3.1 कार्ल मार्क्स
  18.3.2 मैक्स वैबर
  18.3.3 सेलेस्टिन बुग्ले
18.4 गुण-धर्मों द्वारा जाति की स्वरूपात्मक व्याख्या
  18.4.1 जी.एस. घुरिए
  18.4.2 जे.एच. हट्टन
  18.4.3 एम.एन. श्रीनिवास
  18.4.4 लुई ड्यूमां
  18.4.5 श्रीनिवास एवं ड्यूमां: एक तुलना
18.5 सारांश
18.6 शब्दावली
18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

18.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद :

- जाति के उद्भव संबंधी पूर्व की व्याख्याओं की रूपरेखा दे सकेंगे,
- जाति के संदर्भ में मार्क्स, वैबर एवं बुग्ले द्वारा दिए गए बिंदुओं का विवरण दे सकेंगे, तथा
- कुछ आधुनिक विद्वानों द्वारा दिए गए जाति के प्रमुख गुण-धर्मों पर प्रकाश डाल सकेंगे।

18.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों (15, 16 एवं 17) के अध्ययन के आधार पर आप भारतीय समाज की प्रकृति के बारे में यह अध्ययन कर चुके हैं कि किस प्रकार से यह जाति पर आधारित है। इसके फलस्वरूप, आपको ज्ञात होगा कि व्यक्तियों के मध्य अंतःक्रिया एवं संबंधों को निर्धारित करने में जाति क्या भूमिका निभाती है। परंतु समझने हेतु इससे अधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि किस प्रकार जाति व्यवस्था व्यक्तियों के समूह को समाज में एक क्रम-विन्यास अथवा सोपान में रखती है। इससे हमारा यह तात्पर्य है कि जाति व्यक्तियों को ऊँची व नीची असमान स्थितियों में व्यवस्थित करके उनके मध्य सामाजिक असमानताएं उत्पन्न करती है। जातियों को क्रम-विन्यासित करने वाले गुण-धर्मों की चर्चा से पूर्व, हम आपको जाति व्यवस्था के गुण-धर्मों तथा उसके उद्भव के बारे में विद्वानों द्वारा दिये गये तर्कों के बारे में बताएंगे। यह प्रथम अनुभाग होगा। द्वितीय अनुभाग में आप 19वीं शती के कतिपय विद्वानों के विचारों को जानेंगे और फिर तृतीय एवं अंतिम अनुभाग में, 20वीं शती के कुछ विद्वानों के विचारों के बारे में अध्ययन करेंगे। इस प्रकार के अध्ययन से आपको यह ज्ञात होगा कि किस प्रकार जाति को इसके गुण-धर्मों के आधार पर समझा जा सकता है। आइए, अब हम जाति के उद्भव के बारे में कुछ सिद्धांतों पर विचार करें।

18.2 जाति व्यवस्था का उद्भव

यह इकाई मूलतः लंबे समय से विद्वानों द्वारा भारत की अद्वितीय जाति संस्था को समझने व समझाने के प्रयासों के बारे में है। यद्यपि विद्वानों ने इसके लिए अनेक तरीके अपनाए हैं, परंतु हम आपका ध्यान जाति के अध्ययन हेतु एक विशिष्ट पद्धति पर केंद्रित करेंगे। जाति के विशिष्ट 'गुण-धर्मों' अथवा विशेष लक्षणों के संदर्भ में जाति की व्याख्या पर यह पद्धति आधारित है। इसका अभिप्राय यह है कि हम जाति की अंतर्निहित अथवा उसकी अभिन्न विशेषताओं के आधार पर जाति की व्यवस्था को समझाने का प्रयास करें। ये गुण-धर्म जाति व्यवस्था में जातियों के व्यवहार तथा अंतःक्रिया में 'बाह्य रूप से प्रेक्ष्य' हैं।

आपको यह ध्यान रखना होगा कि,

1) ये गुण-धर्म जाति को परिभाषित करने के आधार हैं,

2) किसी भी स्थिति में 'बाह्य रूप से प्रेक्ष्य' व्यवहार में ये गुण-धर्म परिलक्षित होने चाहिए।

हम सर्वप्रथम जाति के उद्भव की व्याख्या संबंधी विद्वानों के अनेक प्रयासों की ओर ध्यान देंगे। आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि जाति की व्यवस्था का लंबे समय तक इतिहासवेत्ताओं, समाजशास्त्रियों तथा दार्शनिकों द्वारा ही अध्ययन नहीं किया गया है, बल्कि यात्रियों, ईसाई मिशनरियों एवं प्रशासकों द्वारा भी अध्ययन किया गया है। अतः इस सामाजिक संस्था की अद्वितीय प्रकृति की चर्चा ईसा पूर्व तीसरी शती में सम्राट चंद्रगुप्त मौर्य के दरबार में यूनानी राजदूत, मेगस्थनीज़ ने भी अपनी कृतियों में की है तथा 11वीं शती में महमूद गजनी के इतिहासवेत्ता-साथी अलबेरूनी ने भी इसकी चर्चा की है। इससे हमें यह पता चलता है कि भारत में निरंतर बिना किसी बाधा के यह हजारों वर्षों से चला आ रहा है। जाति की प्राचीन प्रकृति को सिद्ध करते हुए हमारे सामने महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि जाति कहाँ से आई अथवा जाति व्यवस्था का क्या उद्भव रहा है? इस संस्था के उद्भव में हमारी रुचि इसलिए है कि उद्भव के अनेक सिद्धांतों में जाति के गुण-धर्मों के बारे में अस्पष्ट चर्चा देखने को मिलती है। इन गुण-धर्मों में हमारी भी रुचि है। जाति के उद्भव के बारे में अनेक व्याख्याएँ व तर्क दिये गये हैं। हम इसके विषय में तीन व्याख्याओं पर विचार करेंगे।

18.2.1 दैवीय उद्भव

यह तर्क दिया गया है कि जाति व्यवस्था का आधार हिंदू धर्म में है। यहाँ हमारा आशय, ऋग्वेद में उल्लिखित 'मूल बलि' से है। ऐसी मान्यता है कि इस बलि से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों की उत्पत्ति हुई। ऋग्वेद के पुरुष सूक्त ऋचा के अनुसार समाज की चार व्यवस्थाओं का दैवीय उद्भव होता है। यह दैवीय उद्भव क्या होता है? यह हमारे पारंपरिक ग्रंथों में इस विचार से संबंधित है कि सृजक (पुरुष) अथवा आदि पुरुष के स्व बलिदान से वर्ग व्यवस्था उत्पन्न हुई। इसके शरीर के प्रत्येक भाग से एक विशिष्ट वर्ण का जन्म हुआ। (जातियां कालांतर में मिश्रण, सम्मिश्रण से उत्पन्न हुईं।) अतः इससे हमें यह पता चलता है कि पुरुष के सिर या मस्तिष्क से ब्राह्मण, उसकी भुजाओं से क्षत्रिय, उसकी जंघाओं से वैश्य तथा उसके पैरों से शूद्र उत्पन्न हुए। यहाँ यह महत्वपूर्ण नहीं है कि शरीर के विशिष्ट अंगों से वर्ण उत्पन्न हुए अपितु उनमें प्रत्येक को एक सामाजिक स्थिति तथा क्रम प्रदान किया गया। यह क्रम इस बात पर आधारित था कि वर्ण शरीर के किस अंग से उत्पन्न हुआ है। अतः ब्राह्मणों को सर्वोच्च स्थान, क्षत्रियों को दूसरा स्थान, तथा वैश्यों को तीसरा स्थान मिला और शूद्रों को सोपान क्रम अथवा सामाजिक क्रम-विन्यास में निम्नतम स्थान प्राप्त हुआ और इस प्रकार इसका सृजन हुआ। सोपानक्रम पर प्रत्येक समूह को एक निश्चित स्थान प्रदान करने के अतिरिक्त इस उद्भव के प्रत्येक वर्ण के साथ एक कर्तव्य भी जोड़ा। इस प्रकार हम यह पाते हैं कि :

1) सर्वोच्च वर्ण अथवा ब्राह्मणों का कर्तव्य पवित्र ज्ञान उपार्जन एवं अध्यापन तथा बलि करना था। यह तर्क दिया जा सकता है कि चूंकि ब्राह्मण पुरुष के सर्वोच्च स्थान सिर जिसे विद्वता का स्थान माना जाता है उससे उत्पन्न हुए माने जाते हैं, अतः उन्हें इसी से संबंधित ज्ञान उपार्जन व विद्या दान का कर्तव्य सौंपा गया।

2) क्षत्रियों की उत्पत्ति आदि पुरुष की भुजाओं से हुई मानी जाती है, इसलिए उन्हें खेतों में काम करने का दायित्व सौंपा गया। इसके अतिरिक्त इन्हें व्यापार एवं वाणिज्य में काम करने का भी अधिकार था।

3) इसी प्रकार वैश्य जिसकी उत्पत्ति आदि पुरुष की जंघाओं से मानी जाती है, खेतों में काम करने का दायित्व सौंपा गया। इन्हें व्यापार एवं वाणिज्य में व्यस्त होने का भी अधिकार था।

4) शूद्रों की उत्पत्ति आदि पुरुष के पैरों से मानी जाती है, इसलिए इनका कार्य अन्य सभी समूहों की सेवा करना था।

दूसरे शब्दों में सामाजिक व्यवस्था में दैविक उद्भव तथा असमान क्रम-विन्यास में विश्वास प्रत्येक समूह के कर्तव्यों को भी निर्धारित करना था। धीरे-धीरे ये कर्तव्य इन व्यवस्थाओं अथवा वर्णों के व्यवसाय में विकसित हुए जिस पर इनका एकाधिकार था। उद्भव की इस व्यवस्था ने क्रम-विन्यास निर्धारण के अतिरिक्त समूहों के मध्य अंतःक्रिया पर कुछ निश्चित निषेध भी लगाए। अतः प्रथम तीन समूहों का मिल-जुलकर एक संवर्ग (कैटेगरी) बना जिसे 'द्विज' जातियां कहा गया, क्योंकि इन्हें यज्ञोपवीत संस्कार का अधिकार प्राप्त था जबकि शूद्रों को यह अधिकार प्राप्त नहीं था अतः उन्हें 'एकज' अथवा 'एकजाति' कहा गया। प्रत्येक उन जातियों को पारंपरिक कर्तव्य से परिभाषित किया गया जिनके कर्तव्य आनुवंशिक थे। दूसरे शब्दों में कोई भी समूह क्या करता था या क्या नहीं करता था, यह उसकी सामाजिक स्थिति पर निर्भर करता था तथा इस बात पर भी निर्भर करता था कि 'पुरुष' की बलि में वह किस अंग से जन्मा है।

18.2.2 तीन गुण

दैवीय उद्भव का सिद्धांत आदि पुरुष के अस्तित्व एवं उसकी बलि के मिथकीय स्रोत पर आधारित है, जिसमें यह माना गया है कि उस आदि पुरुष की बलि ने समाज में क्रम-विन्यासित समूहों की असमान व्यवस्था को जन्म दिया। कालांतर में समाज के सोपानीकृत क्रम-विन्यास के उद्भव की व्याख्या मिथकशास्त्र से हटकर दार्शनिक विचारों पर निर्भर हो गयी, जो इन विभिन्न समूहों के अस्तित्व व उनसे संबंधित गुण-धर्मों की व्याख्या करते हैं। इसी को हम गुण सिद्धांत कहते हैं। यह एक दार्शनिक सिद्धांत है, जो तीन अंतर्निहित गुणों को महत्व देता है तथा जो विभिन्न वस्तुओं अथवा व्यक्तियों में पाए जा सकते हैं। ये गुण निम्नलिखित हैं।

1) 'सत्व' यह अच्छाई, सत्य, विद्वता, सौंदर्य तथा उत्तमता का गुण है।

2) 'रजस', यह उन्माद का गुण है, जो किसी भी भयावह, उग्र, सशक्त एवं सक्रिय रूप में पाया जाता है।

3) 'तमस', यह मंदबुद्धि, उदासी व मूर्खता का गुण है।

इन तीन गुणों की विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए समाज की सोपानीकृत व्यवस्था की व्याख्या की गई है–

1) ब्राह्मण, जो कि उत्तम और बुद्धिमान थे, उन्हें सात्विक कहा गया क्योंकि वे शाकाहार जैसी सात्विक प्रथाओं का पालन करते थे,

2) क्षत्रियों व वैश्यों में 'राजसी' गुण माने गए, तथा

3) शूद्रों में तामसिक गुण माने गए।

18.2.3 प्रजाति एवं वर्ण

जैसा कि हम उपरोक्त दो स्थितियों में देख चुके हैं, एक ओर सोपानीकृत समूहों का विकास एक मिथकीय व्यक्ति से उद्जनित होना माना गया। तथा दूसरी ओर, इन समूहों के अस्तित्व को तीन गुणों के संदर्भ में स्पष्ट किया गया। इन गुणों को प्रत्येक समूह का गुण माना गया, जिनके कारण किसी भी विशिष्ट समूह को 'राजसी' अथवा 'तामसिक' रूप में पहचानना आसान हो गया। अब हम उद्भव के अंतिम सिद्धांत की चर्चा करेंगे, जो दो संस्कृतियों के मध्य वास्तविक सांस्कृतिक संपर्क से विकसित समाज की सोपानीकृत व्यवस्था के विचार पर आधारित है। इनमें से एक विदेशी संस्कृति व अन्य स्थानीय संस्कृति थी। इस व्याख्या के प्रमाण अटकलवादी इतिहास पर आधारित हैं। इसका अर्थ यह है कि उपलब्ध ऐतिहासिक तथ्यों के कुछ स्वरूपों का विद्वानों द्वारा पारंपरिक समाज को समझने के लिये आधार के रूप में प्रयोग किया गया है। इतिहासवेत्ताओं का यह तर्क है कि जब इंडो-आर्यन प्रजाति ने सैकड़ों वर्ष पूर्व भारत जीता था तो वह अपने साथ पारंपरिक सामाजिक संस्थाएँ एवं मूल्य भी लाई थी, जिसे उसने स्थानीय जनता पर थोपा था। ये विजेता आर्य प्रजाति के थे तथा लंबे, गोरे

और तीखे नाक-नक्श वाले थे। इनका रंग अथवा वर्ण उस प्रजाति से भिन्न था, जिस पर उन्होंने विजय पाई थी। हारी हुई प्रजाति के लोग ठिगने, काले एवं गठे हुए शरीर वाले थे।

इन भौतिक विशेषताओं तथा रंग या वर्ण जैसे अन्य प्रजातीय गुणों के अंतर के आधार पर आर्यों ने एक द्विशाखी वर्गीकरण किया, जिसमें आर्य वर्ग तथा दास वर्ण, अथवा अनार्य वर्ग (यहां दास शब्द हारे हुए लोगों के लिये प्रयुक्त किया गया) थे। इतिहासवेत्ताओं की यह भी मान्यता है कि आर्य अपने साथ-साथ और उपविभाजन भी लाए। हम यह देखते हैं कि आर्य दो संवर्गों में विभक्त थे– द्विज व अद्विज। अनार्य स्थानीय जन या दास तथा विदेशी या म्लेच्छ में विभक्त थे। इनमें से प्रत्येक समूह अपने कुछ निश्चित गुण-धर्मों के आधार पर उच्च अथवा निम्न के सोपानीकृत क्रम-विन्यास में व्यवस्थित था।

इन अनेक गुण-धर्मों में से चार को अत्यधिक महत्वपूर्ण माना गया है। वे थे:

अ) किसी का मनुष्य एवं पशुओं पर आधिपत्य है या नहीं,

ब) कोई द्विज है या नहीं,

स) किसी के पुरोहित वाले अथवा पवित्र कर्तव्य हैं या नहीं, तथा

द) कोई आर्य है या अनार्य।

यदि हम इन गुण-धर्मों को ध्यान में रखते हुए समाज व्यवस्था की प्रकृति की व्याख्या करना चाहें तो रूपरेखा के स्तर पर यह इस प्रकार होगी–

1) हमारे उपरोक्त कथन के अनुसार समाज में पाँच समूह हैं:
   - ब्राह्मण
   - क्षत्रिय
   - वैश्य
   - शूद्र
   - अनार्य, जिन्हें दास व म्लेच्छ में उपविभाजित किया गया। ऐसे चार गुण-धर्म हैं, जिनके होने अथवा न होने के आधार पर इन समूहों को सोपानक्रम में विन्यासित करने में मदद मिलती है। ये गुण-धर्म निम्न हैं:
   - पवित्रता संबंधी प्रकार्य (एस)
   - आधिपत्य (डी)
   - द्विज(टी)
   - आर्य (ए)

इन गुण-धर्मों के होने की स्थिति में हम धन (+) व न होने की स्थिति में ऋण (–) के चिन्ह का प्रयोग करेंगे। किसी भी वर्ण में कितने धन चिन्ह हैं, इससे उसकी सापेक्षिक प्रस्थिति का पता चलेगा। जितने अधिक धन चिन्ह होंगे, वर्ण की उतनी ही ऊँची प्रस्थिति होगी। अतः उपरोक्त वर्गीकरण वाले गुण-धर्मों के आधार पर हमें वर्ण, प्रस्थिति व सोपानक्रम का निम्न रेखाचित्र प्राप्त होगा:

	एस	डी	टी	ए
ब्राह्मण	+	+	+	+
क्षत्रिय	—	+	+	+
वैश्य	—	—	+	+
शूद्र	—	—	—	—
अनार्य	—	—	—	—

इस रेखाचित्र का अर्थ निम्न है:

1) ब्राह्मणों के पवित्र प्रकार्य होते हैं, तथा उनका आधिपत्य भी है। वे द्विज व आर्य भी हैं,

2) क्षत्रियों के पास पवित्र प्रकार्यों के अतिरिक्त वह सब कुछ हैं जो ब्राह्मणों के पास हैं,

3) वैश्यों के पास पवित्र प्रकार्यों व आधिपत्य के अतिरिक्त वह सब कुछ हैं, जो ब्राह्मणों के पास है ,

4) शूद्र, सिर्फ आर्य हैं, तथा

5) अनार्य के पास इनमें से कोई भी गुण-धर्म नहीं है। अतः वह निम्नतम है।

इस प्रकार ब्राह्मणों के पास चार धनचिन्ह हैं, क्षत्रियों के पास तीन धनचिन्ह हैं, वैश्यों के पास दो धनचिन्ह हैं, शूद्रों के पास एक धनचिन्ह है तथा अनार्यों के पास कोई भी धनचिन्ह नहीं है, जिससे उन्हें समाज के बाहर रखा गया है।

इस रेखाचित्र प्रस्तुति से यह ज्ञात होता है कि गुण-धर्मों के कारण ये समूह अथवा वर्ण एक सोपानीकृत क्रम-विन्यास में व्यवस्थित होते हैं, जिसमें ब्राह्मण, जिसके पास चार धनचिन्ह अथवा सारे गुण-धर्म हैं, वे सर्वोच्च हैं व अनार्य जिनके पास एक भी धनचिन्ह नहीं है वे निम्नतम हैं। विद्वानों का यह तर्क है कि समाज में इस प्रकार के विभाजन के अतिरिक्त, अपनी प्रजातीय शुद्धता व श्रेष्ठता बनाए रखने हेतु आर्यों ने स्थानीय लोगों से संपर्क करने पर अनेक पाबंदियाँ अथवा निषेध लगाने शुरू कर दिए। उन्होंने दो प्रमुख समूहों में परस्पर विवाह तथा अनेक प्रकार के सामाजिक संपर्कों पर रोक लगाई। इस प्रकार किसी भी प्रकार के मिश्रण के मामले में, वर्णसंकरण, बच्चों को अपने माता-पिता से भिन्न प्रस्थिति प्राप्त होती थी। दूसरे शब्दों में, समाज में विभिन्न समूह-जातियाँ धीरे-धीरे विकसित हुईं तथा प्रत्येक समूह की विशिष्टता बनाए रखने हेतु एक दूसरे से अलग हो गईं। इन संवर्गों में निषेधों के जुड़ जाने से प्रत्येक संवर्ग धीरे-धीरे जाति जैसा स्वरूप लेने लगा, क्योंकि प्रत्येक समूह के अपने अलग मूल्य, अभिवृत्तियाँ, व्यवसाय आदि थे।

इस अनुभाग में अभी तक हमने निम्न कार्य किया है। अब हम इस प्रश्न पर प्रकाश डालेंगे कि जाति कहाँ से आई अर्थात् इसका उद्भव कैसे हुआ। हमने इसके उद्भव के बारे में तीन विभिन्न सिद्धांतों को देखा है– दैवीय उद्भव का सिद्धांत, तीन गुणों का सिद्धांत तथा प्रजातीय संपर्क का सिद्धांत। इनमें से प्रत्येक सिद्धांत यह देखने का प्रयास करता है कि गुणों के आधार पर बलि से तथा विजय द्वारा कैसे जाति भिन्न रूप से उद्जनित हुई। प्रत्येक सिद्धांत में समाज व्यवस्था में किसी समूह की प्रकृति एवं प्रस्थिति निर्धारित करने में गुण-धर्मों की भूमिका के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष संबंध की चर्चा की गई है। तृतीय सिद्धांत जाति को परिभाषित करने में गुण-धर्मों की भूमिका स्पष्ट रूप से परिभाषित करने के अतिरिक्त वर्ण से जाति के विकास के बारे में भी हमें बताता है। जिन गुण-धर्मों की चर्चा ऊपर की गई है, वे हैं: उद्भव की प्रकृति आर्य हैं या अनार्य, पवित्रता संबंधी प्रकार्य हैं या नहीं, अन्य पर आधिपत्य सिद्ध किया जाता है या नहीं तथा अंततः द्विज हैं या नहीं। हमने देखा है कि किस प्रकार इन गुण-धर्मों की सहायता से सामाजिक समूहों अथवा वर्णों को सोपानक्रम में रख सकते हैं तथा वर्णों के मध्य अंतःक्रिया स्थापित कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 1

1) निम्न के उत्तर 4-5 पंक्तियों में दीजिए–

अ) 'तीन गुण' क्या हैं तथा उनसे जुड़े हुए गुण क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

.....

ब) स्थानीय पर आर्यों की विजय के प्रभाव का संक्षिप्त विवरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

2) निम्नांकित को परस्पर मिलाइये:

अ) क्षत्रिय	इ) सेवा
ब) ब्राह्मण	फ) उत्पादन
स) शूद्र	ग) ज्ञान-उपार्जन
द) वैश्य	ह) कृषि

3) निम्नांकित कथन सत्य हैं या असत्य बताइए:

अ) ब्राह्मणों के पवित्रता संबंधी प्रकार्य नहीं होते अपितु उनका इन पर आधिपत्य है।

ब) शूद्र द्विज होते हैं, आर्य नहीं होते।

18.3 जाति की स्वरूपात्मक व्याख्या

इससे पहले के अनुभागों में आपने जाति के उद्भव से संबंधित अनेक व्याख्याओं को समझने का प्रयास किया। आपको इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि जाति विजय जैसी कुछ प्रक्रियाओं का परिणाम मात्र नहीं है, बल्कि जाति को उसके गुण-धर्मों अथवा बाह्य रूप से अवलोकन योग्य पहलुओं के संदर्भ में भी समझना आवश्यक है। आपको यह ध्यान रखना चाहिए कि जाति को सामाजिक अंत:क्रिया के स्वरूपों में देखने पर ये गुण-धर्म न केवल जाति को समझने में सहायक होते हैं। ये पहलू निम्न हैं।

1) जातियों के सोपानीकरण में सहायता देते हैं,
2) जातियों के मध्य अंत:क्रिया निर्धारित करने में सहायक होते हैं, तथा
3) किसी जाति के सदस्यों के व्यवहार को निर्धारित करते हैं।

अर्थात् ये जाति के गुणधर्म हैं, जो यह निर्धारित करते हैं कि कोई व्यक्ति किसके साथ बैठ सकता है, किसके साथ खा सकता है तथा किसके साथ विवाह कर सकता है, आदि। अब हम उन कुछ विद्वानों के लेखों पर प्रकाश डालेंगे, जिन्होंने जाति व्यवस्था के अध्ययन के समय इन गुण-धर्मों को ध्यान में रखा है। इनके लेख इस बात के द्योतक हैं कि उन्होंने जाति के उद्भव से संबंधित अटकलबाजियाँ नहीं की बल्कि वस्तुपरक, सामाजिक रूप से परिलक्षित गुण-धर्मों का भी अध्ययन किया। आइए, इसे कार्ल मार्क्स की कृतियों के अध्ययन से प्रारंभ करें।

18.3.1 कार्ल मार्क्स

19वीं शती में, जर्मन विद्वान कार्ल मार्क्स ने समाज की प्रकृति और समाज व्यवस्था की प्रकृति किस प्रकार महत्वपूर्ण तरीके से अर्थव्यवस्था से प्रभावित होती है, इस पर प्रकाश डाला। एशियाटिक उत्पादन के तरीके के बारे में लिखते हुए उन्होंने अपने अध्ययन में ग्रामीण सामाजिक संगठन की प्रकृति पर संक्षेप में लिखा है। मार्क्स के अनुसार किसी भी समाज में किसी भी समूह की स्थिति का निर्धारण उस समूह की जमीन के साथ के संबंधों पर आधारित होता है। यह इस बात से भी निर्धारित होता है कि ये सामाजिक समूह भूमि स्वामित्व रखते हैं या नहीं। अत: ग्रामीण भारतीय समाज में परस्पर आंतरिक रूप से निर्भर दो प्रकार की जातियों के अस्तित्व को परिभाषित किया गया जो निम्न हैं:

अ) भूमि पर काम करने वाली जातियाँ, तथा

ब) दस्तकार एवं सेवक जातियाँ

भूमि पर श्रम करने वाली जातियाँ अतिरिक्त उत्पादन करती हैं और इसे वे दस्तकार जातियों को देती हैं। ये दस्तकार जातियाँ, इसके बदले में उन्हें पारंपरिक दस्तकारी की निर्मित वस्तुएँ देती हैं। इस प्रकार की व्यवस्था में जहाँ दोनों जातियाँ अपनी स्वयं की आवश्यकताओं के लिये तथा परस्पर विनिमय के लिये उत्पादन करती थीं इस तरह एक प्रकार की सुव्यवस्था विद्यमान थी। सामाजिक संगठन की प्रवृत्ति लगभग परिवर्तनहीन थी तथा इसकी विशेषता यह थी कि इसमें संघर्ष और परिवर्तन का अभाव था अर्थात् इस प्रकार की व्यवस्था में जातियाँ अर्थव्यवस्था से उत्पन्न हो रही थीं अथवा मार्क्स के शब्दों में उत्पादन के तरीकों से उत्पन्न हो रही थीं। इस जाति का विशिष्ट गुण-धर्म यह था कि यह अर्थव्यवस्था से जुड़ी हुई थी। अत: जहाँ हम यह पाते हैं कि मार्क्स सामाजिक संरचनाओं को आर्थिक आधारों पर समझने का प्रयास करता है, वहीं मार्क्स का समकालीन जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वैबर समाज में इसके सोपान के आधार पर व्याख्याएँ ढूँढता है।

18.3.2 मैक्स वैबर

मैक्स वैबर ने जाति प्रणाली को इसकी विशेषताओं के आधार पर परिभाषित करने का प्रयत्न किया। उसने जाति को प्रस्थिति समूह के रूप में देखा अर्थात् ऐसा समूह जिसमें सदस्यों को उनकी सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति तथा जीवन-स्तर के आधार पर जाना जाता है। इस प्रकार के समूहों पर उनकी सामाजिक अंतःक्रिया को सुनिश्चित करने के लिए प्रतिबंध लगाए जाते थे। उदाहरण के लिए कौन किससे शादी कर सकता है और एक व्यक्ति क्या काम कर सकता है? समय के अंतराल के बाद इसने जाति की विशेषताओं का रूप ले लिया क्योंकि इन विशेषताओं ने जातियों को परिभाषित करना आसान बना दिया। जातियों के बीच संबंधों को भी सुनिश्चित किया गया और वास्तव में इसकी सुनिश्चितता या दूसरे महत्वपूर्ण वैचारिक सिद्धांत द्वारा कायम रखा गया है। यह शुचिता और प्रदूषण की स्थिति के बीच धार्मिक संस्कारों के स्तर पर विरोध था, जो स्वयं को वस्तुओं एवं चीजों से संयुक्त कर सका।

इसका अर्थ क्या है इसे नीचे दिया जा रहा है। ऐसा माना जाता था कि जातियों को सोपानात्मक क्रम में रखने का एक महत्वपूर्ण कारण, जातियों में विद्यमान धार्मिक कर्म की शुचिता की मात्रा है। पूजा जैसे 'स्वच्छ व्यवसाय' को करने वाली उच्च श्रेणी की जातियों को कर्मकाण्ड की दृष्टि से अन्य जातियों की अपेक्षा अधिक शुद्ध माना जाता था।

वैबर के अनुसार, सामाजिक संगठन ब्राह्मण विचारधारा पर आधारित था। हिन्दुओं के कर्म, धर्म एवं संस्कार के दार्शनिक विचारों की मान्यता की ओर संकेत करता है। हिन्दू मान्यता के अनुसार, प्रत्येक पवित्र हिन्दू अपने पूर्व जन्म के कर्म एवं धर्म के कारण विशेष जाति के कुल में जन्म लेता है। अतः प्रत्येक जाति के लिए अपनी पहचान को कायम रखना अति आवश्यक हो जाता है और उसे यह भी चेष्टा करनी पड़ती है कि समाज में उसकी स्थिति न गिरे। इस प्रकार अपनी स्थिति को बनाए रखना, किसी प्रदूषित तत्व या व्यक्ति से किसी भी प्रकार के संबंध (चाहे वह प्रत्यक्ष अर्थात् शारीरिक हो या अप्रत्यक्ष अर्थात् भोजन इत्यादि के द्वारा हो) से दूर रहना चाहिए क्योंकि उन्हें इस बात का भय था कि इस प्रकार के संबंध या मेल-मिलाप से कोई व्यक्ति अपनी प्रस्थिति से गिर सकता है। अब हम इस विशेष लक्ष्य पर बल देने वाले सेलेस्टिन बुग्ले के योगदान पर प्रकाश डालेंगे।

18.3.3 सेलेस्टिन बुग्ले

मैक्स वैबर द्वारा जाति को कुछ विशिष्ट गुण-धर्मों के सामाजिक एवं कर्मकाण्डीयआधार पर समझने के प्रयासों को फ्रांसीसी विद्वान सेलेस्टिन बुग्ले के लेखन से और अधिक स्पष्ट किया है। उन्होंने जाति पर 20वीं शताब्दी के आरंभ में लिखा था। जाति को परिभाषित करने के प्रयास में काफी हद तक मैक्स वैबर के विचारों को दोहराया गया है। अतः बुग्ले के अनुसार हम यह पाते हैं कि:

1) जाति व्यवस्था ने संपूर्ण समाज को समूहों की वृहत् संख्या में विभक्त कर दिया।
2) ये समूह आनुवंशिक प्रकृति के थे, जिसका अर्थ यह है कि इनके समूहों की सदस्यता जन्म से थी, अर्थात् कोई भी व्यक्ति जाति में जन्म लेता है।
3) ये समूह पर एक दूसरे से भिन्न होते हैं तथा कुछ निश्चित निषेध इन समूहों के मध्य दूरी बनाकर रखते हैं,
4) यह दूरी विवाह संबंधी निषेधों में अभिव्यक्त होती है। ये अंतर्विवाह अर्थात् अपने ही समूह में विवाह पर महत्व देते हैं। दूसरा, ये खान-पान पर निषेध लगाते हैं अर्थात् कौन किसके साथ भोजन कर सकता है या कौन किससे भोजन ग्रहण कर सकता है।
5) इस दूरी के बावजूद इन समूहों में एक प्रकार के संबंध पाए जाते हैं। ये संबंध पारंपरिक व्यवसायों की विशिष्टीकृत प्रकृति या श्रम विभाजन पर आधारित अंतर्निर्भरता स्वरूप ग्रहण कर लेते हैं,
6) ये कारक या गुण-धर्म मिलकर एकमात्र सिद्धांत को व्यक्त करते हैं– शुचिता व प्रदूषण के मध्य कर्मकांडीय विपरीतता।

अतः बुग्ले के अनुसार, जाति के सोपानक्रम में उसका स्थान व उसके सदस्यों के व्यवसाय, उनकी सामाजिक अंतःक्रिया (वैवाहिक अथवा व्यावसायिक) तथा उन पर लगाए गए निषेधों से पहचाना जाता है। सोपानक्रम व समूहों के मध्य ऐसी गुण-धर्म दूरी थी जो किसी भी जाति की प्रस्थिति को सोपानक्रम में रखती थी तथा जातियों के मध्य अंतःक्रिया को निर्धारित करती थी।

बोध प्रश्न 2

1) निम्न कथनों को पूरा कीजिए:

अ) कार्ल मार्क्स के अनुसार, समाज में किसी समूह की स्थिति उसके ..... से संबंधों पर निर्भर होती है।

ब) वैबर के अनुसार, जाति एक ..... है।

स) वैबर के अनुसार, भारतीय सामाजिक संगठन एक ..... विचारधारा पर आधारित है।

2) सेलेस्टिन बुग्ले द्वारा पहचानी गई जाति व्यवस्था के गुण-धर्म बताइए। सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) वैबर ने कर्मकांडीय शुचिता और प्रदूषण पर बल क्यों दिया? लगभग सात पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

18.4 गुण-धर्मों द्वारा जाति की स्वरूपात्मक व्याख्या

अनुभाग 18.3 में हमने आपको यह बताने का प्रयास किया है कि किस प्रकार किन्हीं निश्चित गुण-धर्मों के आधार पर जाति व्यवस्था के अध्ययन की एक शुरुआत हुयी। इन गुण-धर्मों व प्रकृति व अर्थ का जैसा विवरण मार्क्स, वैबर एवं बुग्ले ने दिया है, उससे यह स्पष्ट हो गया है कि जाति की विशेष प्रकृति निर्धारण में ये गुण-धर्म क्या भूमिका निभाते हैं। इस अनुभाग में, हम यह देखेंगे कि गुण-धर्मों के आधार पर जाति व्यवस्था की व्याख्या की यह पद्धति किस प्रकार बीसवीं शताब्दी में एक प्रकार के उपागम के रूप में विकसित हुयी। आइए अब हम इस संदर्भ में जी.एस. घुरिए के योगदान की चर्चा करें।

18.4.1 जी.एस.घुरिए

1930 में जाति पर लिखते हुए, जी.एस. घुरिए ने कुछ निश्चित गुण-धर्मों को जाति के निश्चित निर्धारक तत्व माने। घुरिए के अनुसार जाति के निम्न 6 गुण-धर्म अति महत्वपूर्ण हैं।

1) समाज का खंडात्मक विभाजन

घुरिए जाति को उन सामाजिक समूहों के संदर्भ में देखते हैं जिनकी सदस्यता जन्म और प्रस्थिति से प्राप्त होती है। किसी भी जाति की सामाजिक स्थिति उसकी पारंपरिक महत्ता पर निर्भर होती है। समाज का खंडात्मक विभाजन अनेक समूहों के उस विभाजन की ओर संकेत करता है, जिसमें प्रत्येक समूह का अपना एक सामाजिक जीवन था तथा अन्य जातियों से वे उच्च निम्न स्तर के संबंधों से जुड़े हुए थे।

2) सोपानक्रम

जाति का द्वितीय महत्वपूर्ण गुण-धर्म इसी से निकलता है। यह सोपानक्रम का गुण-धर्म अथवा समाज में अनेक खंडों के एक सुनिश्चित योजना के अंतर्गत व्यवस्थीकरण है। इस योजना ने समूहों को श्रेष्ठता एवं हीनता अथवा उच्च और निम्न स्थितियों में रखा। इन समूहों के क्रम-विन्यास में पूर्वगामिता का एक मान्य नियम था, जिससे सोपानक्रम में सबसे ऊपर ब्राह्मणों को तथा निम्नतम स्थान पर अछूतों को रखा गया।

3) योजन, पोशाक, भाषा तथा प्रथा पर निषेध

घुरिए के अनुसार, उपरोक्त दो गुण-धर्म दूरी के विचार से प्रतिबिंबित होते हैं। समूहों के मध्य दूरी तथा सोपानक्रम को विभिन्न समूहों के सदस्यों पर योजन संबंधी, विवाह संबंधी पोशाक, भाषा एवं प्रथा संबंधी निषेधों को लगाकर बनाया जाता था। इसी के अंतर्गत उच्च व निम्न जातियों को भौतिक रूप से भी एक दूसरे से दूर रखा जाता था। इसका तात्पर्य यह है कि निम्न जाति के लोग उच्च जातियों की भाषा, पोशाक, प्रथाओं का अनुकरण नहीं कर सकते थे, क्योंकि ऐसा करने से जातिबद्ध समाज के आधारभूत नियमों की अवहेलना होती थी और यही नियम प्रदूषण को नियंत्रित करता था।

4) प्रदूषण

शुचिता का विचार उस वस्तु के बारे में होता है, जो शूद्र नहीं है अथवा उस क्रिया के बारे में होता है, जो अपनी शुचिता को छोड़कर प्रदूषित बन जाए। इस प्रकार शुचिता की क्षति प्रदूषित करने वाली वस्तुओं (जैसे—मल, मूत्र आदि) अथवा मनुष्य (अछूत) के संपर्क में आने से होती है। निम्नतम जातियों को सर्वाधिक प्रदूषित माना गया। वस्तुतः प्रदूषण की मात्रा किसी भी समूह की अयोग्यताओं में प्रतिबिंबित होती है। सर्वाधिक प्रदूषित जातियाँ सबसे अधिक सुविधाहीन थीं। इन अयोग्यताओं ने अनेक स्वरूप धारण किए और ये अयोग्यताएँ निम्न जाति को गाँव के कुएँ तथा मंदिर से वंचित रखती थीं। इन निम्न जातियों को गाँव की प्रमुख सीमा से बाहर रहने के लिए मजबूर किया जाता था। वस्तुतः अनेक गाँवों को सड़कों तथा गलियों में विभक्त किया गया था, जिनमें कुछ विशिष्ट जातियाँ ही प्रवेश कर सकती थीं तथा रह सकती थीं। उदाहरण के लिए, हम तंजौर में कुंबापेहई गाँव में हिंदू जातियों के तीन प्रमुख विभाजन पाते हैं। ब्राह्मण, गैर-ब्राह्मण तथा आदि द्रविड़ (अछूत)। गाँव में ये भिन्न-भिन्न गलियों में रहते थे, जिसमें ब्राह्मण उत्तर में और आदि द्रविड़ गाँव के दक्षिण में रहते थे। इन दोनों क्षेत्रों को धान के खेत व मुख्य सड़कें अलग करती थीं।

इसी प्रकार निम्न जाति के किसी व्यक्ति की उपस्थिति तथा परछाईं भी अछूत मानी जाती थी। मराठा और पेशवा के शासन में महार जाति (निम्न जाति के खेतिहर मजदूर) को पूजा स्थल के दरवाजों पर सुबह नौ बजे के पूर्व व दोपहर तीन बजे के बाद प्रवेश नहीं करने दिया जाता था, क्योंकि इस समय परछाईं बहुत लंबी होती है और अनजाने में किसी उच्च जाति के व्यक्ति पर पड़कर उसे प्रदूषित कर सकती थी। कुछ क्षेत्रों में विशेष रूप से मालाबार क्षेत्र में निम्न जातियाँ ऐसा कुछ भी प्रयोग नहीं कर सकती थीं अथवा पहन सकती थीं, जो उच्च जाति के वस्त्राभूषण शैली का अंग हो। इसके अंतर्गत जूते पहनने, छतरी रखने अथवा स्वर्णभूषण पहनने पर निषेध था।

5) व्यावसायिक संघ

घुरिए के अनुसार प्रत्येक जाति एक पारंपरिक व्यवसाय से जुड़ी हुई थी। इसकी चर्चा हम जाति व्यवस्था के उद्भव से संबंधित अनुभाग में कर चुके हैं। चूँकि व्यवसायों के मध्य भी शुचिता व प्रदूषण में भेद किया जाता था, अतः आनुवंशिक व्यवसाय किसी भी जाति की स्थिति के द्योतक थे। उदाहरण के लिए, ब्राह्मण पुजारी का व्यवसाय करते थे, जबकि निम्न जातियों ने नाई, मोची, धोबी आदि व्यवसायों को अपना रखा था।

6) अंतर्विवाह

अंततः प्रत्येक जाति अपने सोपानक्रम व प्रस्थिति को बनाए रखने के लिए अंतःक्रिया व व्यवसाय पर ही निषेध नहीं लगाती थी बल्कि वैवाहिक संबंधों पर भी निषेध लगाती थी। विभिन्न जातियों के मध्य अंतर्विवाह निषिद्ध होता था। अतः एक जाति के सदस्यों का विवाह उसी जाति के सदस्यों से होता था, अर्थात् अंतःविवाह प्रथा का प्रचलन था। प्रत्येक जाति को उपभागों या उपजातियों में बाँटा गया क्योंकि ये अंतःविवाह की इकाइयां थीं। उदाहरण के लिए, वैश्य सोपानक्रम। बनिया जाति को श्रीमाली, पोरवाल, ओध जैसी अनेक उपजातियों में बाँटा गया। पोरवाल उपजाति को दस्सा व बीसा में फिर विभक्त किया गया। दस्सा दो प्रकार के होते हैं, जो सूरत व बम्बई में रहते हैं। सूरत व बम्बई दस्सा के मध्य विवाह होता है।

रेखाचित्र के माध्यम से इसे निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है।

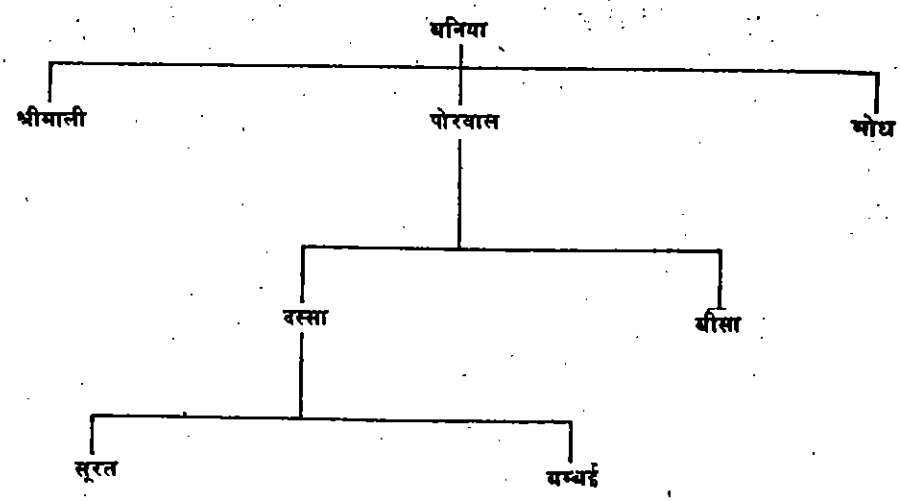

यहाँ विवाह एक जाति के उपभागों में होना है। अब हम संक्षेप में यह देखेंगे कि किस प्रकार जे.एच. हट्टन ने जाति के गुण-धर्मों का वर्णन किया है।

18.4.2 जे.एच. हट्टन

घुरिए के कार्य के साथ-साथ जे.एच. हट्टन की विचारधारा का प्रमुख योगदान है। 1946 में प्रकाशित हुई, अपनी पुस्तक 'कास्ट इन इंडिया' में हट्टन ने जाति व्यवस्था की संरचना का वर्णन किया है। उन्होंने जाति से जुड़े अंत:समूहात्मक व अंत:वैयक्तिक व्यवहार पर लागू निषेधों व नियंत्रण की भी चर्चा की है। उन्होंने जाति को बहुत जटिल संस्था माना है। जिसका मूल आधार अंत:विवाह की धारणा में है। उन्होंने आगे यह बताया है कि कौन व्यक्ति किसके साथ खान-पान करता है इस पर निषेध है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति का एक निश्चित आनुवंशिक व्यवसाय भी है। इसके साथ सभी जातियों में विखंडन (ठीक जैसे अणु विभाजित होकर परमाणुओं की लघुतर इकाइयों में विखंडित होता है) तथा संलयन (ठीक जैसे अणु मिलकर तत्व जैसी वृहत् इकाइयों में एकीकृत हो जाते हैं) की प्रक्रियाएँ भी चलती रहती हैं। उदाहरण के लिए, 1931 में, पशु रखने वाली अहीर, ग्वाला, गोप जैसी अनेक जातियाँ एक नए नाम-यादव के अंतर्गत मिल गईं।

हट्टन की यह भी मान्यता है कि जातियाँ परस्पर वैवाहिक निषेध द्वारा अलग-अलग बनी हुई हैं, फिर भी उनके लिए यह निषेध है कि किसी अन्य जाति द्वारा पकाया हुआ भोजन स्वीकार नहीं करना चाहिए। इस भोजन संबंधी निषेध से अन्य महत्वपूर्ण कारकों पर भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ:

1) भोजन बनाने के लिए पानी कौन लाया व किसने भोजन पकाया?
2) किस बर्तन में पानी लाया गया अथवा किस बर्तन में भोजन पकाया गया, अर्थात् मिट्टी के बर्तन, पीतल या ताँबे के बर्तन में? इनमें से प्रत्येक एक दूसरे से कम या अधिक प्रदूषित हैं।
3) किस प्रकार का अर्थात् 'कच्चा' या 'पक्का' भोजन परोसा गया? जल में पकाया गया भोजन (ऐसे भोजन को समजाति या उच्च जाति के लोगों से ही स्वीकार किया जा सकता है) कच्चा भोजन होता है, तथा घी में पका भोजन पक्का भोजन होता है, जिसे अन्य जाति के लोगों द्वारा भी स्वीकार किया जा सकता है।
4) अंतत: भोजन के विभिन्न प्रकारों में भी सोपान है। इसलिए शाकाहारी भोजन, माँसाहारी भोजन से उच्चतर माना जाता है। ब्राह्मण सामान्यतया शाकाहारी होते हैं, परंतु कुछ स्थानों पर जैसे बंगाल व कश्मीर में वे माँस व मछली खाते हैं।

विशेष ध्यान देने से यह पता चलता है कि खान-पान संबंधी निषेध समूहों के मध्य दूरी व सोपान की प्रकृति के द्योतक हैं। भोजन की अस्वीकृति सोपान की श्रेष्ठता का परिचायक है। अंत:क्रिया के इस प्रकार के निषेधों से जुड़ी हुई मुख्य धारणा अशुद्धि की है। इस बात की चर्चा, घुरिए के अध्ययन के अंतर्गत जाति व्यवस्था अनुभाग में की गई थी।

भारत के कुछ भागों में विशेषतः दक्षिण भारत में, संपर्क द्वारा अशुद्धि के भय ने उच्च व निम्न जातियों के मध्य शारीरिक दूरी का स्थान ले लिया है। निम्न जातियों को न केवल गाँव के कुएँ व मंदिर से दूर रहना पड़ता है, बल्कि उच्च जातियों के लोगों से अंतःक्रिया के दौरान शारीरिक दूरी भी बना कर रखनी पड़ती है। उदाहरण के लिए, दक्षिण भारत में, तियान नामक ताड़ी बनाने वाली निम्न जाति को नंबूदरी ब्राह्मणों की उच्च जाति से छत्तीस कदम की दूरी रखनी पड़ती थी अथवा, पुलायन नामक खेतिहर जाति को छियानवे कदम की दूरी रखनी पड़ती थी।

इस प्रकार हट्टन ने जाति की व्याख्या का प्रयास किया है कि किस प्रकार लोग एक दूसरे के साथ संबंधित होते हैं तथा अंतःक्रिया करते हैं या एक दूसरे से दूरी बनाकर रखते हैं। किस तरह वे किसी जाति के गुण-धर्म (प्राथमिक रूप से शुद्ध या अशुद्ध विवाह योग्य या विवाह अयोग्य) जातियों के मध्य संबंधों को निर्धारित करते हैं।

इस प्रकार घुरिए तथा हट्टन की कृतियों में हमने देखा है कि जाति व्यवस्था की प्रकृति को किस प्रकार जाति की अंतर्विवाह प्रथा, खान-पान संबंधी निषेध और उच्च व निम्न जातियों के मध्य संपर्क के आधार पर समझा जा सकता है। बीसवीं शताब्दी के आरंभ में ये विद्वान इस बात पर अधिक ध्यान देते हैं कि किस प्रकार जातियों के मध्य संबंध उनके गुण-धर्मों द्वारा निर्धारित होते हैं। वहीं पर बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध के विद्वान इस बात पर अधिक ध्यान देते हैं कि किस प्रकार ये गुण-धर्म कार्य करते हैं, जिससे जाति के चरित्र तथा जातियों के मध्य अंतःक्रिया को प्रत्यक्ष रूप से निर्धारित कर सके। अब हम एम.एन. श्रीनिवास तथा लुइ ड्यूमाँ की कृतियों का अध्ययन करेंगे।

18.4.3 एम.एन. श्रीनिवास

इससे पहले कि हम जाति के गुण-धर्मों के अध्ययन पर श्रीनिवास के योगदान की विस्तृत चर्चा करें, आपको एक महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान में रखना है। ये सभी विद्वान जिनका अध्ययन हम कर चुके हैं तथा इनका आगे भी अध्ययन करेंगे। ये सभी विद्वान एक ही सामाजिक संस्था—जाति व्यवस्था की व्याख्या का प्रयास कर रहे हैं। इनकी व्याख्या के लिए प्रयुक्त आधार—किसी जाति के गुण-धर्म—भी समान ही हैं। फिर भी, इन विद्वानों की कृतियों में अंतर है। यहाँ इस अंतर से हमारा आशय यह है कि हट्टन और घुरिए हमें यह बताते हैं कि जाति के विभिन्न गुण-धर्म क्या हैं तथा ये किस प्रकार से जातियों के मध्य संबंधों को प्रभावित करते हैं। श्रीनिवास तथा डयूमाँ भी इन गुण-धर्मों का अध्ययन करते हैं परंतु उनके अध्ययन का केंद्र बिंदु भिन्न है। उनके लिए यह मात्र जातियों के लिए महत्वपूर्ण गुण-धर्म ही नहीं है बल्कि जातियों के मध्य इन गुण-धर्मों के आधार पर उभरने वाले संबंधों की संरचना भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। जैसे-जैसे आप आगामी अनुभागों का अध्ययन करेंगे, वैसे-वैसे इसका अर्थ आपको स्पष्ट हो जाएगा।

श्रीनिवास जाति को एक खंडात्मक व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनके अनुसार प्रत्येक जाति उपजातियों में बँटी है जो निम्न हैं:

1) अंतर्विवाह की इकाइयाँ,
2) जिसके सदस्य समान व्यवसाय करते हों,
3) सामाजिक एवं कर्मकांडीय जीवन की इकाइयाँ,
4) जिसके सदस्यों की संस्कृति समान हो,
5) जिसके सदस्य पंचायत नामक समान सत्तात्मक संस्था द्वारा नियंत्रित होते हों।

उपजाति के इन कारकों के अतिरिक्त, श्रीनिवास के अनुसार, कुछ निश्चित गुण-धर्म भी बहुत महत्वपूर्ण हैं। ये निम्न हैं:

1) सोपानक्रम

श्रीनिवास के अनुसार, सोपानक्रम जाति व्यवस्था का सार है। यह आनुवंशिक समूहों के क्रम-विन्यास से संबंधित है। उन्होंने यह भी बताया है कि सोपानक्रम के संदर्भ में सिर्फ सर्वोच्च स्थान वाला ब्राह्मण अथवा निम्नतम स्थान वाले अछूतों की प्रस्थिति ही सर्वाधिक स्पष्ट है। सोपानक्रम के मध्य क्षेत्र के बारे में काफी लचीलापन है, यहाँ प्रश्न इस बात का है कि मध्यम क्षेत्र के अंदर कौन से सदस्य आएंगे। वस्तुतः श्रीनिवास के अनुसार सोपानक्रम में पारस्परिक स्थितियों के बारे में विवाद है। इसका अर्थ यह है कि सोपानक्रम में अ, ब, स, तथा द चार जातियाँ हो सकती हैं और ऐसा भी हो सकता है कि इनमें से एक जाति को जो

स्थान प्राप्त हुआ है उसे वे स्वीकार न करें। उनके स्थान पर वह एक वैकल्पिक स्थान प्राप्त करने की कोशिश करे। यहाँ इस बात की कोई निश्चितता नहीं है कि किसी जाति द्वारा चाही गई नई स्थिति उसे मिल जाएगी। उदाहरण के लिए दक्षिण भारत में लोहारों के एक समूह ने द्विज प्रस्थिति का दावा किया। वे अपने आपको विश्वकर्मा ब्राह्मण कहते हैं, परंतु अन्य जातियाँ इसका प्रतिरोध करती हैं और यहाँ तक कि हरिजन भी उनके हाथ का पानी नहीं पीते। चूँकि किसी भी जाति का सोपानक्रम या प्रस्थिति उसके गुण-धर्मों से बहुत गहराई तक जुड़ा होता है, इसलिए सोपान में प्रस्थिति बदलने की इच्छा का अर्थ है उस जाति के गुण-धर्मों की प्रकृति में भी परिवर्तन लाया जाए। यह प्रयास, 'संस्कृतिकरण' नामक एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया का आधार बन जाता है, जिसके बारे में हम आगे चर्चा करेंगे।

2) व्यावसायिक संघ

श्रीनिवास ने किसी भी जाति व उसके व्यवसाय के मध्य एक घनिष्ठ सबध पाया है। उनके अनुसार जाति 'व्यावसायिक विभेदीकरण के व्यवस्थीकरण' से अधिक कुछ भी नहीं है। जातियाँ उनके व्यवसाय द्वारा पहचानी जाती हैं तथा अनेक नाम उनके व्यवसाय से जुड़े होते हैं (उदाहरणार्थ, लोहार, सुनार, कुम्हार, चमार, तेली आदि)। उन्होंने इस बात पर भी बल दिया है कि व्यवसाय उच्च व निम्न के सोपानक्रम में व्यवस्थित होते हैं।

3) खान-पान, पोशाक, भाषा एवं प्रथा संबंधी निषेध

ये सभी जातियों में पाये जाते हैं। भोजन की स्वीकृति पर भी भोजन संबंधी सोपानक्रम व निषेध होते हैं।

4) प्रदूषण

जातियों के मध्य दूरी प्रदूषण के सिद्धांत पर टिकी होती है। श्रीनिवास का यह भी मत है कि उच्च जातियों को किसी भी ऐसी वस्तु या व्यक्ति के संपर्क में नहीं आना चाहिए जो प्रदूषित हो। प्रदूषित के संपर्क में आने से जाति अशुद्ध हो जाती है तथा उसे शुद्धिकारक धार्मिक रीतियाँ पूरी करनी पड़ती हैं। यदि अशुद्धि गंभीर हो जैसे यदि किसी उच्च जाति के व्यक्ति का अछूत के साथ यौन संबंध स्थापित हो जाए तो उच्च जाति के व्यक्ति को जाति से निकाला भी जा सकता है।

5) जाति पंचायत व सभाएँ

उपरोक्त जाति के गुण-धर्मों के अतिरिक्त प्रत्येक जाति पर एक व्यवस्था बनाए रखने वाली सभा या पंचायत का नियंत्रण होता है। किसी भी गाँव में प्रत्येक जाति के बुजुर्ग सामूहिक रूप से अपनी सत्ता का प्रयोग करके सामाजिक व्यवस्था बनाए रखते हैं, और प्रत्येक जाति के सदस्य को अपनी जाति सभा की सत्ता माननी पड़ती है। किसी भी जाति सभा की सत्ता गाँव की सीमा के बाहर अन्य गाँवों की जातियों पर भी लागू हो सकती है।

उपरोक्त चर्चा से यह स्पष्ट है कि किसी भी जाति के गुण-धर्म निश्चय ही अंतःजातीय संबंधों की प्रकृति को निर्धारित करते हैं। ये जातीय गुण-धर्म अथवा प्रथाएँ ही जाति की सोपान स्थिति को निश्चित करती हैं। यह बात श्रीनिवास की संस्कृतिकरण या जाति गतिशीलता पर लिखी गई कृति से बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है।

संस्कृतिकरण

हम यह पहले ही अध्ययन कर चुके हैं कि किस प्रकार प्रत्येक जाति को जातिगत सोपानक्रम में इसके गुण-धर्मों के शुचिता व प्रदूषण के आधार पर प्रस्थिति मिलती है। मैसूर गाँव के अध्ययन में, श्रीनिवास ने यह पाया कि किसी न किसी समय, प्रत्येक जाति, अपने गुण-धर्मों को त्याग कर व अपने से ऊँची जातियों के गुण-धर्मों को अपनाने का प्रयास करके, सोपानक्रम में अपनी प्रस्थिति को ऊँचा उठाने का प्रयास करती है। किसी भी जाति द्वारा निम्न स्तर पर परिभाषित करने वाले गुण-धर्मों को त्यागकर तथा अपने से उच्च प्रस्थिति वाले गुण-धर्मों को अपनाकर अपनी प्रस्थिति उच्च बनाने वाले प्रयासों की प्रक्रिया, संस्कृतिकरण कहलाती है। इस प्रक्रिया में मूलतः खान-पान में परिवर्तन--माँसाहार से शाकाहार, व्यवसाय में अस्वच्छ व्यवसाय से स्वच्छ व्यवसाय में परिवर्तन आते हैं। इस प्रक्रिया के बारे में आप विस्तार से इस खंड की इकाई 22 में अध्ययन करेंगे।

हमने इस अनुभाग को इस बात से आरंभ किया था कि किस प्रकार श्रीनिवास के लिए जाति के गुण-धर्मों से अधिक महत्वपूर्ण, जातियों के आस-पास उभरने वाले संबंधों की संरचना है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी जाति के गुण-धर्म, उनके मध्य अंतःक्रिया के आधार बनते हैं। अंतःक्रिया व अंतःसंबंधों के प्रतिमान के गठन की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति श्रीनिवास द्वारा

प्रयुक्त अवधारणा 'डोमिनेंट कास्ट' या 'प्रभुत्वशील जाति' में होती है। आइए, इसके बारे में हम संक्षिप्त अध्ययन करें।

प्रभुत्वशील जाति

जातियों में पहले से उपस्थित सामान्य गुण-धर्मों में तीन अन्य गुण-धर्मों का योग होता है। जो निम्न हैं:

1) संख्यात्मक शक्ति
2) भू-स्वामित्व के माध्यम से आर्थिक शक्ति, तथा
3) राजनीतिक शक्ति।

कोई भी प्रभुत्वशील जाति वह है, जो ग्रामीण समुदाय में उपरोक्त तीनों गुण-धर्म रखती है। इस धारणा का रोचक पक्ष यह है कि किसी भी जाति की कर्मकांडीय प्रस्थिति अब सामाजिक सोपान में उसकी प्रस्थिति के लिए महत्वपूर्ण आधार नहीं रहती। यदि कोई जाति सामाजिक सोपान में निम्न स्थान में होने के कारण निम्न प्रस्थिति की होती है, तो भी वह उस गाँव में प्रभुत्वशील जाति या समूह बन सकती है। यदि उसके पास संख्यात्मक शक्ति, भू-स्वामित्व तथा ग्रामीण मामलों में राजनीतिक प्रभाव हो। निस्संदेह, अपेक्षाकृत रूप से उच्चतर कर्मकांडीय प्रस्थिति वाली जाति को प्रभुत्वशील बनने में शायद अधिक आसानी होगी। परंतु ऐसा सदैव नहीं होता।

उपरोक्त बात को स्पष्ट करने के लिये हम मैसूर के रामपुर गाँव का एक उदाहरण लेंगे। इस गाँव में ब्राह्मण, किसान व अस्पृश्य सहित अनेक जातियाँ रहती हैं। किसानों की कर्मकांडीय प्रस्थिति ब्राह्मणों से निम्न होती है, परंतु गाँव की सारी भूमि का स्वामित्व किसानों के पास है तथा ये लोग संख्या में भी अधिक हैं और ग्रामीण मामलों में राजनीतिक प्रभाव रखते हैं। फलस्वरूप हम यह देखते हैं कि इनकी निम्न कर्मकांडीय प्रस्थिति के बावजूद, गाँव में किसान प्रभुत्वशील जाति है। गाँव की अन्य सभी जातियाँ प्रभुत्वशील जाति के साथ सेवा का संबंध रखती हैं, अर्थात् प्रभुत्वशील जाति की अनुगामी व आश्रित होती हैं। इसको स्पष्ट करने के लिए हम आपको एक और उदाहरण देते हैं।

सन् 1950 के लगभग, उत्तरी-पूर्वी उत्तर प्रदेश के खालापुर गाँव में इकतीस जातियाँ रहती थीं। खालापुर के राजपूत (क्षत्रिय प्रस्थिति) प्रभुत्वशील जाति के थे, क्योंकि राजपूतों के पास संख्यात्मक शक्ति थी तथा वे लोग ग्रामीण जनसंख्या के बयालीस प्रतिशत भाग थे, उनके पास आर्थिक शक्ति थी, क्योंकि उनका गाँव की नब्बे प्रतिशत भूमि पर स्वामित्व व नियंत्रण था। उनके पास राजनीतिक शक्ति भी थी इसलिए सभी निम्न जातियों को राजपूतों की बात माननी पड़ती थी। दूसरी ओर ब्राह्मण प्रभुत्वशाली नहीं थे, क्योंकि उनके पास प्रभुत्व की कोई विशेषता नहीं थी। ग्रामवासियों की यह मान्यता थी कि खालापुर राजपूतों का गाँव है। यद्यपि उनकी कर्मकांडीय प्रस्थिति ब्राह्मणों से नीचे थी। श्रीनिवास के अनुसार उपरोक्त बातों से हमें यह पता चलता है कि आर्थिक व राजनीतिक कारक उनके साथ कार्यरत होते हैं, जिनके पास आर्थिक प्रभाव होता है। वे इस आर्थिक व राजनीतिक शक्ति के योग को सामाजिक सोपान में अपनी प्रस्थिति ऊपर उठाने में लगाते हैं। गुण-धर्मों के इसी योग को कोई भी जाति अपनी सामाजिक प्रस्थिति को ऊपर उठाने तथा जाति के संस्कृतिकरण करने में प्रयुक्त करती है। श्रीनिवास द्वारा दिए गए कुछ महत्वपूर्ण विचारों की संक्षिप्त समीक्षा के बाद यह उचित होगा कि इस बिंदु पर लुई ड्यूमाँ के योगदान की भी चर्चा की जाए।

18.4.4 लुई ड्यूमाँ

जाति गुण-धर्मों पर स्पष्ट कथन व अंतःक्रियाओं के प्रतिमानों या संरचनाओं को गठित करने में ये कैसे कार्यशील होते हैं, इसका स्पष्ट संकेत फ्रांसीसी विद्वान लुई ड्यूमाँ की लेखनी में मिलता है। अपनी पुस्तक **होमो हायरारकिकस** (1970) में, ड्यूमाँ ने जाति व्यवस्था की व्याख्या का प्रयास किया है। यहाँ हम संक्षेप में यह देखेंगे कि ड्यूमाँ क्या कहना चाहते हैं तथा ड्यूमाँ व अन्य विद्वानों के विचारों में कोई अंतर है या नहीं, और यदि अंतर है तो क्या है?

ड्यूमाँ के अनुसार जाति व्यवस्था की व्याख्या का आरंभ बिंदु बुग्ले की कृति है (देखिए 18.2.3)। अतः यहाँ पर जाति के निम्न तीन प्रमुख गुण-धर्मों पर बल दिया गया है:

1) सोपानक्रम
2) दूरी, तथा
3) श्रम-विभाजन

ड्यूमाँ के अनुसार जाति व्यवस्था का आधारभूत सिद्धांत शुचिता व प्रदूषण के मध्य विपरीतता का सिद्धांत है।

ड्यूमाँ भी जाति को विभक्त रूप में देखता है, उसके अनुसार, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जाति सिर्फ उपभागों में बँटी है और प्रत्येक उपभाग एक दूसरे से स्वतंत्र हैं। बल्कि प्रत्येक खंड अपने ऊपर वाले खंड का भाग है। यह कुछ-कुछ प्याज के छिलके की भाँति है। एक छिलका उतारने पर एक नयी परत सामने आती है, जिसके नीचे वैसी ही कई और परतें होती हैं। ये सभी परतें मिलकर प्याज बनाती हैं।

ड्यूमाँ के अनुसार जाति व्यवस्था खंडों का योग है। प्रत्येक खंड दूसरे खंड के साथ सोपानबद्ध संबंध में व्यवस्थित होता है तथा इसमें दूसरा खंड शामिल होता है। जातियों की इस असमानता एवं संबंध को ड्यूमाँ ने 'दी एंकम्पासिंग' (जो अन्य को अपने में समेट लेता हो) व 'दी एन्कम्पास्ड' (जो किसी में सिमटा हुआ है, निहित हो) कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्येक जाति अपने स्वरूप में नीचे वाली जाति को सोपान में निहित करती है, अर्थात् ब्राह्मण की स्थिति का अपने आप में कोई अर्थ नहीं है। यद्यपि यह क्षत्रिय से श्रेयस्कर है, परंतु क्षत्रिय के विपरीत व क्षत्रिय के साथ तुलना में ब्राह्मण की कर्मकांडीय श्रेष्ठता होती है।

इसके साथ ही ड्यूमाँ द्वारा दिया गया जाति का द्वितीय सर्वाधिक महत्वपूर्ण गुण-धर्म, दूरी है। यह जाति के शुचिता अथवा प्रदूषण सोपानक्रम का द्योतक है तथा इसके साथ ही यह जाति की कर्मकांडीय प्रस्थिति को बनाए रखने में भी सहायता करता है। वस्तुतः जातियों के मध्य यह दूरी तथा इस दूरी को इसी तरह बनाए रखने की आवश्यकता, श्रम विभाजन तथा प्रत्येक जाति द्वारा किसी व्यवसाय से पारंपरिक संबंधों के कारण (जिनमें इस जाति की विशिष्टता तथा एकाधिकार होता है) संभव हुआ है। शुचिता व प्रदूषण का सिद्धांत खान-पान व विवाह संबंधी क्षेत्रों में जातियों के मध्य संबंधों का आधार है।

कौन किसके साथ भोजन करेगा या विवाह करेगा, इसके बारे में निषेध तथा इस संबंध में शामिल जातियों के शुचिता व प्रदूषण सोपानक्रम पर आधारित होता है। भोजन व विवाह संबंधों के लिये केवल शुचिता या उच्च या समान जातियाँ ही विचार योग्य मानी जाती हैं।

इस प्रकार ये संबंध जाति की शुचिता या प्रदूषण वाले गुण-धर्म द्वारा निर्धारित होते हैं। ये जातियों के मध्य दूरी व सोपानक्रम के भी द्योतक हैं।

18.4.5 श्रीनिवास एवं ड्यूमाँ: एक तुलना

इस अनुभाग का समापन करते हुए हम श्रीनिवास व ड्यूमाँ की कृतियों के अंतर की चर्चा करेंगे। ये अंतर निम्न हैं। हमने देखा है कि श्रीनिवास व अन्य विद्वानों के लिये, भोजन, विवाह, पोशाक, भाषा, प्रथा आदि निषेध के गुण-धर्म, जातियों व जातियों के पद क्रम के मध्य दूरी व सोपानक्रम के द्योतक हैं। इसके अतिरिक्त, श्रीनिवास के अनुसार किसी भी जाति की प्रस्थिति सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक जैसे अनेक कारकों की सम्मिलित कार्यशीलता का परिणाम थी। जबकि दूसरी ओर, ड्यूमाँ के अनुसार ये गुण-धर्म जाति की प्रस्थिति के द्योतक नहीं थे बल्कि जाति की शुचिता व प्रदूषण द्वारा निर्धारित होते थे। इस अर्थ में, ड्यूमाँ के अनुसार, जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषता स्वयं कर्मकांडीय शुचिता व प्रदूषण की विपरीतता ही है। दूसरी बात यह है कि जहाँ श्रीनिवास के अनुसार जाति की सामाजिक प्रस्थिति अनेक कारकों द्वारा निर्धारित होती है, वहीं ड्यूमाँ के अनुसार स्थिति ठीक विपरीत है। वह प्रस्थिति व शक्ति के क्षेत्रों को बिल्कुल अलग करते हैं और जिसके पास प्रस्थिति है उसके लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसे शक्ति प्राप्त हो। ब्राह्मण के पास कर्मकांडीय प्रस्थिति कर्मकांडीय शुचिता के कारण प्राप्त है, परंतु क्षत्रिय के पास शक्ति है, प्रभुत्व है। ग्रामीण समुदाय में क्षत्रिय के पास सत्ता होगी न कि ब्राह्मण के पास। यह बात इस तथ्य में देखी गई है कि किसी भी गाँव में ब्राह्मण कर्मकांडीय रूप से श्रेष्ठ है, परंतु गाँव का मुखिया सामान्यतया क्षत्रिय ही होता है, जो राजनीतिक प्रमुख होता है व जिसके पास सत्ता होती है। ड्यूमाँ की कृति की चर्चा हम पुनः एक बार इस खंड की इकाई 21 में करेंगे।

बोध प्रश्न 3

1) निम्न के उत्तर 6-8 पंक्तियों में दीजिए।

   अ) घुरिए द्वारा दिये गये जाति के प्रमुख गुण-धर्मों को बताइए।

   .....

   .....

.....
.....
.....
.....

ब) ड्यूमाँ की सोपानक्रम की अवधारणा का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....

2) निम्न को मिलाइए:

अ) 'पक्का' भोजन	1) खालापुर के राजपूत
ब) संस्कृतिकरण	2) श्रीनिवास
स) होमो हायरारकिकस	3) भोजन संबंधी
द) प्रभुत्वशील जाति	4) लुई ड्यूमाँ

18.5 सारांश

अनेक विद्वान जाति व्यवस्था के अध्ययन में रुचि रखते हैं। जाति व्यवस्था को भारत में सामाजिक संगठन का विशिष्ट स्वरूप माना गया है जो प्रार्थामिक रूप से हिंदुओं में पाया जाता है। परंतु यह अन्य समुदायों में भी पाया जाता है। जाति को समझने के आरंभिक प्रयास इसके संभाव्य उद्भव के बारे में थे। इस प्रकार जाति को चार वर्णों से जोड़ा गया जिनका वर्णन ऋग्वेद में आदि मानव के संदर्भ में आता है कि आदि मानव ने मनुष्य को उत्पन्न करने के लिये अपनी बलि चढ़ा दी उसके विभिन्न अंगों से ये चार वर्ण उपजे। प्रत्येक वर्ण (जिसमें बाद में सभी जातियाँ आ गईं) को शरीर के उस अंग के प्राकृतिक गुणों से ओत-प्रोत माना गया। वैदिक काल में भारतीय तत्वमीमांसीय चिंतन ने गुण की अवधारणा विकसित की, अर्थात् प्राकृतिक व अंतर्निहित गुण, और प्रत्येक जाति की विशेषता इन गुणों के संदर्भ में बताई गई। एक तृतीय व्याख्या आर्यों द्वारा भारत पर विजय की स्थिति में प्रजातीय गुण-धर्मों के आधार पर की गई। ये तीनों व्याख्याएँ भौतिक गुण-धर्मों के संदर्भ में की गई हैं।

जाति के समाजशास्त्रीय सिद्धांत निम्न गुण-धर्मों पर ध्यान केंद्रित करते हैं:

1) सामाजिक व्यवस्था, विशेषतः उत्पादन के तरीके (मार्क्स)
2) सांस्कृतिक विचारधारा, विशेषतः कर्म-धर्म-संसार (वैबर), तथा
3) शुचिता–प्रदूषण (बुग्ले)

आरंभिक समाजशास्त्रीय सूत्रों को आधार बनाकर बाद में विद्वानों ने गुण-धर्म वाले उपागम को विकसित किया। घुरिये तथा हट्टन ने एक विस्तृत उपागम विकसित किया, जिसमें भोजन संबंधी निषेधों, विवाह प्रथाओं, व्यावसायिक विशिष्टीकरण, प्रजातीय उद्भव आदि जैसे कारकों को प्रमुख स्थान दिया गया। श्रीनिवास की कृति में अनवरत सामाजिक अंतःक्रिया पर बल दिया गया। उसने 'प्रभुत्वशील' उच्च या निम्न जातियों के सामाजिक गुण-धर्मों को पहचाना। इनके अंतर्जातीय संबंधों पर होने वाले प्रभावों को प्राथमिकता दी गई। ड्यूमाँ ने जाति के गुण-धर्मों की सूची बनाने की अपेक्षा इसके उन संरचनात्मक नियमों को पहचाना जो उसके अनुसार जाति व्यवस्था की व्याख्या के लिये कुंजी का कार्य करते हैं। उनके अनुसार मूल सिद्धांत सोपानक्रम है, शुचिता के विपरीत प्रदूषण है परंतु उसमें प्रदूषण शामिल है। कर्मकांडीय प्रस्थिति के विपरीत शक्ति है परन्तु उसमें शक्ति निहित है।

18.6 शब्दावली

गुण-धर्म : गुण या विशेषताएँ।

भोजन संबंधी : साथ मिलकर भोजन करना।

अटकलपच्चू इतिहास : सूचना का प्रयोग करके एक संभावित व्याख्या की रचना।

प्रभुत्वशील जाति : वे जातियाँ जो कर्मकांडीय रूप से 'उच्च न हों, परंतु फिर भी संपत्ति, राजनीतिक शक्ति एवं संख्यात्मक शक्ति के आधार पर उच्च प्रस्थिति रखती हों।

एन्कम्पासिंग तथा एन्कम्पास्ड : जातिगत सोपानक्रम के वर्णन हेतु ड्यूमाँ द्वारा प्रयुक्त अवधारणा। प्रत्येक जाति में उससे नीचे की जाति निहित होती है तथा एक उससे ऊपर की जाति में वह निहित होती है।

अंत:विवाह : एक विशिष्ट समूह के अंदर विवाह।

सोपानक्रम : जिसमें वस्तुएँ आदि 'उच्च' या 'निम्न' के स्तर पर रखी जाती हैं।'

उत्पादन के तरीके : आर्थिक व्यवस्था की विशिष्ट प्रकृति का वर्णन करने हेतु मार्क्स द्वारा प्रयुक्त अवधारणा। इसके अंतर्गत उत्पादन की वे विशिष्ट शक्तियाँ या संबंध आते हैं, जो प्रत्येक युग में विशिष्ट होते हैं।

संस्कृतिकरण : श्रीनिवास द्वारा पहचानी गई एक ऐसी प्रक्रिया जिसमें निम्न जातियाँ उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण करके उच्च जाति प्रस्थिति प्राप्त करने का प्रयास करती हैं।

18.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

ड्यूमाँ, लुई, 1970, *'होमो हायरारकिकस'*, शिकागो : द यूनिवर्सिटी ऑफ शिकागो प्रेस।

घुरिए, जी.एस. 1950, *कास्ट एंड क्लास इन इंडिया*, बम्बई : पॉपुलर प्रकाशन।

श्रीनिवास, एम.एन., 1966, *'सोशयल चेंज इन मॉडर्न इंडिया'*, बर्क ले : यूनिवर्सिटी ऑफ केलीफोर्निया प्रेस।

18.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अ) 'तीन गुण' निम्न हैं :
   i) 'सत्व' जो अच्छाई, सत्य, बुद्धि, सौंदर्य व उत्तमता से जुड़े होते हैं।
   ii) 'रजस' जो उन्माद, क्रियाशीलता, हिंसा व बल प्रयोग से जुड़े होते हैं, तथा
   iii) 'तमस' जो उदासी, निराश व मंदबुद्धि से जुड़े होते हैं।

   ब) आर्यों ने स्थानीय लोगों पर विजय पाई तथा उन पर अपनी पारंपरिक सामाजिक संस्थाएँ तथा मूल्य थोप दिये। विजित लोगों को उन्होंने 'दास' माना तथा उन्हें सोपान में नीचे रखा।

2) अ) फ)
   ब) ग)
   स) इ)
   द) ह)

3) अ) असत्य
   ब) असत्य

बोध प्रश्न 2

1) अ) भू-स्वामित्व

ब) प्रस्थिति समूह

स) ब्राह्मणवादी

2) बुग्ले के अनुसार जाति व्यवस्था के गुण-धर्म हैं:

1) समाज अनेक समूहों में विभक्त है,

2) इन समूहों की आनुवंशिक सदस्यता थी,

3) इनके मध्य दूरी बनाई गई,

4) अंत:विवाह, भोजन संबंधी निषेधों को बनाए रखा गया।

5) ये अंत:निर्भर थे, तथा

6) शुद्धता व अशुद्धता के मध्य कर्मकांडीय विपरीतता थी।

3) वैबर के अनुसार, शुचिता एवं प्रदूषण के मध्य कर्मकांडीय विपरीतता ने जातिगत सोपानक्रम को प्रभावित किया। कुछ जातियों को कर्मकांडीय रूप से 'शुचिता' माना जाता है तथा वे 'स्वच्छ' व्यवसाय अपनाती हैं। अत: उन्हें सोपनक्रम में उच्च प्रस्थिति प्राप्त होती है। निम्न प्रस्थिति वाली जातियाँ इसके ठीक विपरीत होती हैं। यही वह विचारधारात्मक सिद्धांत था, जिस पर जातिगत सोपानक्रम आधारित था।

बोध प्रश्न 3

1) अ) घुरिए द्वारा बताए गए जाति के गुण-धर्म निम्न हैं:

1) समाज का खंडात्मक विभाजन

2) इन खंडों का सोपानगत क्रम-विन्यास

3) विभिन्न जातियों के मध्य दूरी बनाए रखने के लिये भोजन, पोशाक, भाषा, प्रथा आदि पर निषेध।

4) 'अशुद्धता' का विचार

5) आनुवंशिक व्यवसाय

6) जाति एवं उपजाति अंत:विवाह।

ब) डयूमाँ ने जाति को खंडों में देखा। परंतु उनकी यह मान्यता थी कि ये खंड अंत:निर्भर हैं। प्रत्येक खंड अपने से ऊपर वाले खंड का भाग है। प्रत्येक खंड अन्य खंड के साथ सोपानक्रम के संबंध में होता है, परन्तु यह अन्य खंड को भी अपने में निहित किए होता है। उसने जाति के सोपानक्रम के वर्णन हेतु 'द एन्कम्पासिंग' व 'द एन्कम्पास्ड' अवधारणाओं का प्रयोग किया है।

2) अ) 3)

ब) 2)

स) 4)

द) 1)

इकाई 19 जाति के गुण-धर्मात्मक उपागम-II

इकाई की रूपरेखा

19.0 उद्देश्य
19.1 प्रस्तावना
19.2 पुनरावलोकन : गुण-धर्मात्मक उपागम
19.3 गुण-धर्मात्मक उपागम की आलोचना
19.3.1 मैकिम मैरियट द्वारा की गई आलोचना
19.3.2 कुछ अन्य आलोचनाएं
19.4 सारांश
19.5 शब्दावली
19.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
19.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

19.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- जाति के अध्ययन पर गुण-धर्मात्मक उपागम द्वारा दिए गए प्रमुख बिंदुओं का सार समझ सकेंगे, तथा
- गुण-धर्मात्मक उपागम की आलोचना कर सकेंगे।

19.1 प्रस्तावना

पिछली इकाई (इकाई 18) में आपने जाति व्यवस्था की प्रकृति का अध्ययन किया था और 'गुण-धर्म' वाले उपागम पर ध्यान केंद्रित करके इसकी व्याख्या करने का प्रयास किया था। यह उपागम कुछ अंतर्निहित गुणों के विशिष्ट समूह अथवा गुण-धर्मों के प्रयोग पर आधारित है। ये गुण-धर्म जाति की विशेषता माने जाते हैं और यहाँ तक कि एक सोपानक्रम में जातियों की प्रस्थिति निर्धारित करते हैं। इसके प्रमुख प्रतिपादक आरंभिक शास्त्रीय लेखकों से लेकर बीसवीं शताब्दी के विद्वान रहे हैं। वर्तमान इकाई में हम एक बार पुन: इस उपागम के प्रमुख बिंदुओं को दूसरे प्रथम अनुभाग में संक्षिप्त में प्रस्तुत करेंगे। आगामी अनुभाग में हम इस उपागम की कुछ आलोचनाएँ देंगे।

गुण-धर्म वाले उपागम की आलोचनात्मक समीक्षा का उद्देश्य इसको अस्वीकार करना नहीं है, बल्कि यह देखने का प्रयास है कि गुण-धर्मों के संदर्भ के बिना भी क्या जाति-व्यवस्था की व्याख्या का कोई वैकल्पिक तरीका हो सकता है। इस खंड की इकाई 20 व 21 "अंत:-क्रियात्मक उपागम" नामक वैकल्पिक उपागम के बारे में हैं। इस इकाई में दी गई आलोचना आपको अंत:क्रियात्मक उपागम को गहराई से समझने में सहायता करेगी।

19.2 पुनरावलोकन : गुण-धर्मात्मक उपागम

आइए, सबसे पहले हम गुण-धर्मात्मक उपागम के प्रमुख बिंदुओं का संक्षिप्त रूप से अध्ययन करें।

1) हमने जाति-व्यवस्था के उद्भव के बारे में कुछ आरम्भिक सिद्धांतों की चर्चा से प्रारंभ किया था।
2) इनमें से प्रत्येक सिद्धांत, जाति-गुण, प्रजातीय विशेषताओं आदि की चर्चा अवश्य करते हैं।

3) तत्पश्चात् हमने जाति के कुछ हाल के अध्ययनों की चर्चा की है, जिसमें दूरी, सोपान तथा कर्मकांडीय शुचिता एवं प्रदूषण की धारणा (जैसे गुण-धर्मों की भूमिका) पर बल दिया गया है।

4) सोपानक्रम में जातियों के पद क्रम को बनाने व बनाए रखने वाले, उपरोक्त गुण-धर्मों से संबंधित, योजन व व्यावसायिक निषेध जैसे– कुछ अन्य गुण-धर्मों की भूमिका पर चर्चा की है।

5) ये गुण-धर्म जिस बात के लिए महत्वपूर्ण हैं, उन गुण-धर्मों के आधार पर हमने यह पाया है कि किसी भी जाति की 'उच्चता' या 'निम्नता' मात्र गुण-धर्मों की शुचिता या प्रदूषण ही नहीं है, बल्कि, इन गुण-धर्मों की उपस्थिति, अनुपस्थिति या मात्रा भी है। यहाँ यह बात भी किसी जाति के शुचिता या प्रदूषित व्यवसाय की धारणा से जुड़ी हुई है।

6) शुचिता व प्रदूषण की धारणा के संदर्भ में हमने देखा है कि किस प्रकार 'पौरोहित्य' जैसे 'स्वच्छ' व्यवसाय वाली, शाकाहार जैसे खान-पान के निषेध की अनुगामिनी, तथा अंतर्जातीय विवाह प्रथा मानने वाली जाति को इन 'शुद्ध' गुण-धर्मों के आधार पर उच्च जाति का स्थान प्राप्त होगा।

7) इसके विपरीत 'निम्न' जातियाँ हैं जो सफाई या धुलाई व्यवसाय में लगी हुई हैं, तथा जो खान-पान संबंधी नियमों का कठोरता से पालन नहीं कर पातीं। वे माँसाहारी हैं और मद्यपान भी कर लेती हैं तथा अंतर्जातीय विवाह प्रथा को गंभीरता से नहीं लेतीं।

8) उपरोक्त बिंदुओं से हमने यह पाया है कि किस प्रकार किसी भी जाति को परिभाषित करने व कर्मकांडीय मूल्यों के पैमाने पर आधारित सोपानक्रम में इस जाति की स्थिति निर्धारित करने व बनाए रखने में खान-पान व्यवसाय व विवाह प्रथा संबंधी शुचिता के आधारभूत गुण-धर्म थे।

गुण-धर्मात्मक उपागम के प्रमुख तर्कों के पुनरावलोकन के पश्चात् अब हम इस उपागम की आलोचना व एक वैकल्पिक सिद्धांत के प्रस्ताव पर चर्चा करेंगे।

बोध प्रश्न 1

1) निम्न कथनों में से सही कथन पर (✓) का निशान लगाइए।

   अ) मद्यपान उच्च जाति प्रस्थिति का प्रतीक है।

   ब) कपड़े धोना व शौचालय की सफाई करना 'स्वच्छ' व्यवसाय माना जाता है।

   स) शाकाहार उच्च कर्मकांडीय प्रस्थिति का द्योतक है।

2) उन तीन आधारों की सूची बनाइए, जो उच्च कर्मकांडीय प्रस्थिति के द्योतक हैं।

   अ) .....

   ब) .....

   स) .....

19.3 गुण-धर्मात्मक उपागम की आलोचना

जब भी किसी नए सिद्धांत का उपागम का सूत्रीकरण होता है, तब उसकी सत्यता, उपयोगिता अथवा व्यावहारिकता का सत्यापन तब तक नहीं हो सकता, जब तक कि उसका परीक्षण न हो। इसी प्रकार गुण-धर्मात्मक उपागम का परीक्षण उन कुछ विद्वानों द्वारा किया गया, जो जाति के अध्ययन में, इस उपागम के विश्लेषणात्मक मूल्य के बारे में बहुत आश्वस्त नहीं थे।

गुण-धर्मात्मक उपागम के आलोचकों ने इसके आधारभूत तर्कों (अर्थात् गुण-धर्मों की भूमिका) का विशिष्ट परिस्थितियों में जातिगत संबंधों को समझने में परीक्षण किया है। इस क्षेत्र में मैकिम मैरियट का कार्य महत्वपूर्ण है।

19.3.1 मैकिम मैरियट द्वारा की गई आलोचना

मैरियट ने उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले में किशनगढ़ी नामक गाँव में फील्ड वर्क (क्षेत्रीय अनुसंधान) किया। उसने ग्रामीण सामाजिक सोपान की प्रकृति को समझने के लिए जाति के

गुण-धर्मों की धारणा को प्रयुक्त करने का निश्चय किया। गाँव का चरित्र बहु-जातीय व बहु-व्यवसायी था, जिसमें कुल चौबीस समूह थे, ब्राह्मण, काश्तकार, माली, नाई, कुम्हार, भंगी आदि थे। विशिष्ट जातियों के सोपानक्रम के बारे में ग्रामवासियों से प्रश्न पूछने पर उसने पाया कि उसे सदैव उचित उत्तर नहीं मिले। इसके अतिरिक्त, उसने देखा कि उसके अध्ययन में जातियों के सोपानक्रम उनके गुण-धर्मों के अनुरूप नहीं हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि सामाजिक सोपानक्रम में जातियों का स्थान उनके गुण-धर्मों की उच्चता या निम्नता का परिणाम नहीं है। वस्तुतः खान-पान व व्यवसाय संबंधी निषेधों जैसे—गुण-धर्मों से जातियों में कोई विभेदीकरण नहीं होता।

उदाहरण 1

मैरियट ने यह पाया कि भोजन के 'पक्का' या 'कच्चा' होने के कारण उसकी उच्चता या निम्नता (गुण-धर्म के बारे में जैसा कि पहले बताया गया है) तथा,समजाति से भोजन ग्रहण करने की स्वीकृति व निम्न जाति से अस्वीकृति को जातियों के मध्य विभेदीकरण के लिये प्रयुक्त नहीं किया जा सकता, क्योंकि सभी जातियाँ दोनों ही प्रकार के भोजन पकाती व खाती हैं। वस्तुतः, इस गाँव में, धोबी जैसी शाकाहारी तथा चमार जैसी माँसाहारी, जातियों को समान सोपानक्रम प्राप्त था। यह बात गुण-धर्म की इस धारणा के विपरीत है कि शाकाहारी जाति को माँसाहारी जाति से उच्चतर सोपानक्रम प्राप्त होता है।

उदाहरण 2

इसी प्रकार, व्यवसायों की शुचिता के आधार पर जातियों के सोपानक्रम या व्यवसायिक सोपानक्रम के बारे में मैरियट ने देखा कि जातियों की सोपानक्रम में स्थिति उनके व्यवसायों की उच्चता या निम्नता पर निर्भर नहीं है। अतः जो जातियाँ स्वच्छ व्यवसाय करती थीं, उनको भी अलग-अलग सोपानक्रम मिले हुए थे। बढ़ई की सामाजिक स्थिति माली से ऊँची थी व माली की स्थिति काश्तकार से ऊँची थी। जबकि दूसरी ओर, विभिन्न व्यवसायिक शुद्धता वाली जातियों का सोपानक्रम भिन्न नहीं था। अतः, नाई, गडरिया व कहार (पानी भरने वाला) को स्थानीय सोपानक्रम में समान स्थिति प्राप्त थी। जातियों के गुण-धर्म व उनके सोपानक्रम में ऐसी अनियमितता पाने पर मैरियट इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि जाति सोपानक्रम के आधार के रूप में व जातीय संबंधों को समझने में गुण-धर्मों के प्रयोग से समस्याएँ उठती हैं। मैरियट की कठिनाइयों के अतिरिक्त, कुछ अन्य विद्वानों ने भी आनुभविक अवलोकन के आधार पर कुछ आलोचनाएँ दी हैं। यहाँ कुछ आलोचनाओं की संक्षिप्त चर्चा की जाएगी।

19.3.2 कुछ अन्य आलोचनाएँ

आलोचना 1

प्रायः यह देखा गया है कि जब कोई किसी जाति की प्रस्थिति की प्रकृति एवं ग्रामीण स्तर पर अंतःक्रिया का अध्ययन करता है, तब कभी-कभी तथ्य सिद्धांत के अनुरूप नहीं मिलते। ऐसा हमने मैरियट के अध्ययन में पाया है। इसी प्रकार कुछ अन्य विद्वानों ने भी अध्ययन करके बताया है कि प्रायः स्वच्छ व शुद्ध व्यवसाय व खान-पान वाली जातियों का सोपानक्रम उन जातियों से निम्न होता है, जो कम शुद्ध अथवा अधिक प्रदूषित व्यवसाय करती हैं।

उदाहरण के लिए, श्रीनिवास द्वारा अध्ययन किए गए मैसूर के एक गाँव में शाकाहारी व माँसाहारी, स्वच्छ व अस्वच्छ व्यवसाय वाली दोनों जातियाँ रहती हैं। व्यापारी जाति शाकाहारी भी होती है तथा किसान जैसी अन्य जातियों की तुलना में स्वच्छ व्यवसाय करती है। परंतु किसान जैसी जातियों का सोपानक्रम व्यापारी जाति से उच्चतर है। यह बात जाति के गुण-धर्म व जाति के सोपानक्रम में अनियमितता दर्शाती है।

आलोचना 2

यदि हम यह मान लें कि किसी जाति के गुण-धर्म (अर्थात् उसकी भोजन व व्यवसाय संबंधी आदतें)उस जाति के सोपानक्रम को निर्धारित करते हैं वस्त्र धोने जैसे कुछ ऐसे कार्य हैं, जो सभी जातियाँ अपने लिये करती हैं, अथवा दक्षिण भारत में, कुछ जातियाँ अपने निजी भोजन के लिये बकरे मारती हैं। वस्त्र धोना व पशु मारना दोनों ही प्रदूषित कार्य हैं। परंतु जब सामाजिक स्थितियों का अवलोकन किया जाता है तो यह देखा जाता है कि इन कार्यों से होने वाला प्रदूषण सिर्फ उन जातियों को प्रभावित नहीं करता जो पारंपरिक रूप से वस्त्र धोने व पशु मारने के व्यवसाय में लगी हुई हैं।

यहाँ एक महत्वपूर्ण प्रश्न यह उठता है कि, क्या गुण-धर्म सिर्फ पारंपरिक रूप से चयनित व्यवसायों के लिये ही हैं? यदि यह बात सही है, और मान लीजिए कि एक ही जाति दो विभिन्न क्षेत्रों में भिन्न-भिन्न व्यवसाय करती है, तो इन जातियों का सोपानक्रम कैसे निर्धारित किया जाएगा।

आलोचना 3

तीसरी समस्या गुण-धर्मों के महत्व की है। कर्मकांडीय मूल्यों के मापदण्ड पर कौन सा गुण-धर्म सोपानक्रम के लिए महत्वपूर्ण है? प्रायः यह देखा जाता है कि किसी जाति के गुण-धर्मों का एक मिश्रण होता है, अर्थात् शुद्ध व्यवसाय वाली जाति माँसाहारी हो सकती है अथवा एक जाति प्रदूषित व्यवसाय के होते हुए भी शाकाहारी व अंतर्जातीय विवाह प्रथा वाली हो सकती है। इस प्रकार दोनों प्रकार की जातियों में शुचिता व प्रदूषण गुण-धर्मों का मिश्रण होता है। इस प्रकार के मामले में, इन दोनों जातियों में से किस जाति को तथा किस गुण-धर्म के आधार पर उच्चतर सोपानक्रम में रखा जाए।

इस संदर्भ में उत्तरी, पूर्वी व दक्षिण भारत में कुछ ब्राह्मण जातियों का एक रोचक उदाहरण है। गुण-धर्मात्मक उपागम के अनुसार, ब्राह्मण वे हैं, जिनके व्यवसाय की शुचिता के गुण-धर्म, अर्थात् पौरोहित्य, भोजन की शुचिता अथवा विशुद्ध शाकाहारी तथा मद्यनिषेध होते हैं। इन 'शुचिता' गुण-धर्मों के कारण इनका स्थान सोपानक्रम में उच्चतम होता है।

परंतु, जब हम कश्मीर, बंगाल व दक्षिण भारत (कोंकण क्षेत्र) के ब्राह्मणों का उदाहरण लेते हैं, तो हम यह पाते हैं कि वे माँसाहारी होते हुए भी अपनी महत्वपूर्ण सामाजिक स्थिति को बनाए हुए हैं। अतः अब हम अपना वह प्रश्न उठा सकते हैं कि सोपानीकरण हेतु कौन सा गुण-धर्म महत्वपूर्ण होता है? क्या प्रदूषित व्यवसाय वाली शाकाहारी जाति निम्न है या शुचिता व्यवसाय वाली माँसाहारी जाति निम्न है? यह एक समस्या मूलक बात है।

आलोचना 4

जैसा कि मैकिम मैरियट ने अपने ग्रामीण अध्ययन में यह पाया है कि भोजन व व्यवसाय के समान गुण-धर्मों वाली जातियों का बहुधा सोपानक्रम भिन्न होता है। इसी प्रकार के प्रमाण अन्य स्थानों में भी पाए गए हैं।

उड़ीसा के बिसीपारा ग्राम के अपने अध्ययन में एफ.जी. बेली ने बताया है कि किस प्रकार गाँव में सभी इक्कीस जातियाँ माँसाहारी हैं (यहाँ तक कि ब्राह्मण भी बकरियाँ मार कर खाते हैं) परंतु फिर भी ग्रामवासी उनको भिन्न-भिन्न सोपानक्रम प्रदान करते हैं।

हमने आपको ऊपर कुछ उदाहरण दिए हैं कि किस प्रकार गुण-धर्मात्मक उपागम सभी स्थितियों में लागू नहीं होते अथवा विभिन्न प्रकार की स्थितियों की व्याख्या करने में असफल रहते हैं। आलोचकों के अनुसार, इससे इस बात का पता चलता है कि जिस प्रकार से जाति की व्याख्या हेतु गुण-धर्मों का प्रयोग किया जाता है, उसमें किसी प्रकार की त्रुटि है। यह जाति की व्याख्या हेतु एक वैकल्पिक तरीके की संभावना को भी बताता है। आलोचकों ने जाति व्यवस्था व उसकी प्रकृति के बारे में कुछ निश्चित निष्कर्ष निकालने के लिए, इन्हीं गुण-धर्मों का प्रयोग करते हुए एक वैकल्पिक उपागम प्रस्तावित किया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, कि यह एक अंतःक्रियात्मक उपागम है। जातियों के सामाजिक सोपानक्रम के आधार के रूप में यह जातियों के मध्य अंतःक्रिया के महत्व पर बल देता है। अगली दो इकाइयों में आप इसका विस्तार से अध्ययन करेंगे।

बोध प्रश्न 2

1) किशनगढ़ी गाँव के मैरियट के अध्ययन के दो आनुभविक निष्कर्ष बताइए जिनके कारण उसने गुण-धर्मात्मक उपागम को अपर्याप्त माना है। छह से आठ पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

19.4 सारांश

वर्तमान इकाई में हमने आपको यह बताना चाहा है कि किस प्रकार गुण-धर्मात्मक उपागम जाति की व्याख्या के लिये सदैव एक बहुत उपयोगी तरीका नहीं है। उसे हमने गुण-धर्मात्मक उपागम के आधारभूत तर्कों की जानकारी से प्रारंभ किया है। पुनः हमने यह देखा है कि किस प्रकार विद्वानों ने इसकी आनुभविक प्रयोगधर्मिता का परीक्षण किया है। हमने किशनगढ़ व अन्य गाँवों के उदाहरण से यह पाया है कि जातियों के सोपानक्रम निर्धारण में अकेले गुण-धर्मों की उपयोगिता ही काफी नहीं है। यह विशेषतः तब होता है जब किसी जाति में शुचिता व प्रदूषण दोनों गुण-धर्मों का सम्मिश्रण देखने को मिलता है।

19.5 शब्दावली

आनुभविक : तथ्यों अथवा प्रयोगों के निष्कर्षों पर आधारित।

'पक्का' एवं 'कच्चा' भोजन : पक्का भोजन घी या तेल में पकाया जाता है। जबकि कच्चा भोजन या तो पानी में पकाया जाता है या पकाया ही नहीं जाता। ऐसी मान्यता है कि कच्चे भोजन के माध्यम से प्रदूषण अधिक आसानी से होता है। अतः इसे न 'प्रदूषित' जातियों से ग्रहण किया जाता है और न उनके साथ बैठकर खाया जाता है।

19.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मैरियट, मैकिम, 1959. 'इंटरएक्शनल एण्ड एट्रीब्यूशनल थ्योरीज ऑफ कास्ट रैंकिंग' इन *मैन इन इंडिया*, खंड 34, संख्या 2.

19.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) स
2) अ) अंतर्विवाह
   ब) भोजन संबंधी निषेध
   स) 'शुद्ध' व्यवसाय करना

बोध प्रश्न 2

1) अपने क्षेत्रकार्य के आधार पर मैरियट ने यह पाया कि जातिगत सोपानक्रम पर शाकाहार का कोई विशेष प्रभाव नहीं होता है। धोबी (शाकाहारी) व चमार (माँसाहारी) का सोपानक्रम समान था। व्यवसाय व जातिगत सोपानक्रम में संबंध भी बहुत सफल सिद्ध नहीं हुआ, उदाहरणार्थः नाई, कहार (पानी भरने वाले) तथा गडरिया जातियों की प्रस्थिति जातिगत सोपानक्रम में समान थी।

इकाई 20 जाति के अंत:क्रियात्मक उपागम-I

इकाई की रूपरेखा

20.0 उद्देश्य
20.1 प्रस्तावना
20.2 गुण-धर्मात्मक उपागम एवं अंत:क्रियात्मक उपागम : विभिन्न मत
20.3 जाति के अंत:क्रियात्मक उपागम
  20.3.1 एफ.जी. बेली का अध्ययन
  20.3.2 एड्रियन मेयर का अध्ययन
  20.3.3 मैकिम मैरियट का अध्ययन
20.4 अंत:क्रियात्मक उपागम की आलोचनाएँ
20.5 सारांश
20.6 शब्दावली
20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

20.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- जाति के अध्ययन हेतु गुण-धर्मात्मक उपागमों व अंत:क्रियात्मक उपागमों में अंतर स्पष्ट कर सकेंगे,
- जाति के अध्ययन हेतु अंत:क्रियात्मक उपागमों की व्याख्या एवं विश्लेषण (जैसा कि बेली, मेयर एवं मैरियट के कार्यों में देखा गया है) कर सकेंगे,
- अंत:क्रियात्मक उपागमों का आलोचनात्मक मूल्यांकन कर सकेंगे।

20.1 प्रस्तावना

भारतीय समाज को समझने के लिए, जाति व्यवस्था को समझना अनिवार्य है। जाति व्यवस्था भारतीय समाज की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता है। अनेक विद्वानों का मत है कि जाति व्यवस्था एक अद्वितीय भारतीय व्यवस्था है। समकालीन भारतीय जीवन के सभी क्षेत्रों में जाति का प्रभाव दिखाई पड़ता है।

इस खंड की 18 व 19 इकाइयों में आपका परिचय, जाति की व्याख्या हेतु गुण-धर्मात्मक उपागमों से कराया गया था। आपने जाति के उद्भव से संबंधित अनेक सिद्धांतों के बारे में जानकारी प्राप्त की है। तत्पश्चात् आपको जाति पर अनेक पाश्चात्य विद्वानों के विचारों से अवगत कराया गया। अपने गुणों के माध्यम से जाति व्यवस्था के व्याख्या की पद्धति तथा इस प्रकार के एक गुण-धर्मात्मक उपागम की कमियों का अध्ययन किया।

इस इकाई में हम जाति के अध्ययन हेतु कुछ अंत:क्रियात्मक उपागमों की विस्तृत चर्चा करेंगे। आरंभ में हम गुण-धर्मात्मक एवं अंत:क्रियात्मक उपागमों के विभिन्न मतों पर चर्चा करेंगे। आपको इस प्रक्रिया में अंत:क्रियात्मक उपागम की महत्वपूर्ण विशेषताओं की जानकारी उपलब्ध होगी। इस इकाई का यह प्रथम अनुभाग होगा, इकाई के दूसरे अनुभाग में जाति की व्याख्या के लिए एड्रियन मेयर एवं मैकिम मैरियट के योगदानों का वर्णन किया जाएगा। तृतीय व अंतिम अनुभाग में इस उपागम की कुछ आलोचनाओं पर संक्षिप्त प्रकाश डाला जाएगा।

20.2 गुण-धर्मात्मक उपागम एवं अंत:क्रियात्मक उपागम : विभिन्न मत

गुण-धर्म क्या है? कोई भी गुण-धर्म किसी व्यक्ति या समूह की विशेषता का गुण है। अंत:क्रिया क्या है? अंत:क्रिया व्यक्तियों या समूहों के मध्य संचारात्मक व्यवहार है। इन दोनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंतर यह है कि अंत:क्रिया एक संबंध की द्योतक होती है, जबकि गुण-धर्म में ऐसा नहीं होता। परंतु आपको एक बात ध्यान में रखनी चाहिए कि जब हम गुण-धर्म व अंत:क्रिया में अंतर करते हैं, तो हम इन दोनों में दो तरफा संबंधों को नहीं नकार सकते। दूसरे शब्दों में, हम यह जानते हैं कि गुण-धर्म एवं अंत:क्रिया एक-दूसरे को प्रभावित कर सकते हैं।

उदाहरण के लिए, आइए हम इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के एक अध्ययन समूह को लें। इस अध्ययन समूह के गुण-धर्म क्या हैं? आप विद्यार्थियों के आयु अनुपात व छात्र व छात्राओं के अनुपात की बात गुण-धर्म के रूप में कर सकते हैं। आप इसे अंत:क्रियात्मक तरीके से कैसे देख सकते हैं? इसके लिए अध्ययन समूह के विभिन्न विद्यार्थियों के मध्य संबंधों व विभिन्न विद्यार्थियों व अध्यापक-परामर्शदाताओं के मध्य संबंधों का प्रेक्षण करना होगा।

अब आप कल्पना कीजिए कि आप भारतीय गाँवों के किसी एक गाँव का अध्ययन कर रहे हैं। वहाँ कुछ समय रहने के पश्चात् यदि कोई आपसे यह पूछे कि "जाति क्या है?" आप कह सकते हैं कि यह एक अंतर्विवाही समूह है, या यह अनेक समूहों का एक सोपानक्रम है। ये गुण-धर्म है। (देखिए इकाई 18, भाग 18.4) आइए अब अंत:क्रिया के बारे में विचार करें। इसका वर्णन आप इस तरह कर सकते हैं कि किसी विशिष्ट गाँव में धोबी जाति ब्राह्मण से कैसे अंत:क्रिया करती है अथवा काश्तकार जाति द्वारा विवाह भोज में किस प्रकार का भोजन दिया गया और वहाँ राजपूत परिवार ने भोजन किया या नहीं। अंत:क्रियात्मक उपागम के अंतर्गत, हम आपसे यह पूछ सकते हैं कि "गाँव में बढ़ई या किसान् में से कौन 'उच्च' है?" आप यह उत्तर दे सकते हैं कि "गाँव में 'बढ़ई' को किसान से उच्च प्रस्थिति प्राप्त है, क्योंकि ऐसे अवसर पर आपको यह याद आता है, जबकि गाँव में बढ़ई के घर पर ब्राह्मण ने पूजा-पाठ किया था, परंतु उसने किसान के घर में वैसा ही करने से मना कर दिया था"।

जैसा कि आप पूर्ववर्ती इकाई में अध्ययन कर चुके हैं कि 'गुण-धर्मों' के माध्यम से जाति को समझने में अनेक कठिनाइयां आती हैं। उदाहरण के लिए, शाकाहार का विषय लीजिए। यदि किसी विशिष्ट गाँव में अनेक जातियाँ शाकाहारी हैं तथा यदि कोई 'शाकाहार' को उच्च सोपानक्रम प्रस्थिति का गुण मानता है, तो हम इन सभी शाकाहारी जातियों की सोपानक्रम प्रस्थिति को कैसे निर्धारित करेंगे? अन्य अनेक जातियों में जब सभी अपने-अपने घरों में वस्त्र धोते हैं, तो गाँव की जाति-व्यवस्था में हम धोबी की सोपानक्रम प्रस्थिति को नीचा क्यों कहें। समस्याएँ तभी उठती हैं, जब एक ही जाति के गुण-धर्म विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होते हैं। परंतु उनकी 'उच्च' सोपानक्रम प्रस्थिति एक जैसी होती है। इसका एक विशिष्ट उदाहरण, ब्राह्मण जाति का है। सामान्यतया जातिगत सोपानक्रम में ब्राह्मणों की सोपानक्रम प्रस्थिति 'उच्च' होती है, और यह दावा किया जाता है कि ऐसा उनकी 'शुचिता' के कारण होता है। जैसा कि आप जानते हैं कि सामान्यतया ब्राह्मण मांसाहारी नहीं होते। परंतु हम इस तथ्य की क्या व्याख्या कर सकते हैं कि बंगाली ब्राह्मण मछली खाते हैं व उत्तर प्रदेश के ब्राह्मण अंडे खाते हैं, परंतु फिर भी दोनों अपनी सोपानक्रम प्रस्थिति 'उच्च' होने का दावा करते हैं।

इस विषय में निम्न प्रश्न विचारणीय हैं :

1) 'यदि अनेक जातियों के समान गुण-धर्म हैं, तो उनकी सोपानक्रम प्रस्थिति कैसे निर्धारित होती है?"
2) किस संदर्भ में जाति का गुण-धर्म संदर्भ संगत होता है?
3) जब एक ही सोपानक्रम प्रस्थिति की जातियों के गुण-धर्म विभिन्न स्थानों पर भिन्न-भिन्न होते हैं, तो हम उनकी व्याख्या कैसे कर सकते हैं।

उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर तभी संभव हैं जब हम

1) जाति के बारे में अपनी सीमा को स्थानीयकृत करें,

2) किसी विशिष्ट क्षेत्र अथवा गाँव में युगों से चली आ रही ऐतिहासिक शक्तियों के बारे में जानें,
3) किसी क्षेत्र अथवा गाँव में विभिन्न जातियों के मध्य अंतर्संबंधों तथा किसी जाति के आंतरिक विभाजन (उप-जातियों, वंश एवं संयुक्त परिवारों में) का भी ध्यान रखें,
4) किसी गाँव में विभिन्न जातियों के मध्य दिन-प्रतिदिन की अंतःक्रिया (इसके आर्थिक, राजनीतिक एवं सामाजिक-धार्मिक आयामों) का ध्यानपूर्वक प्रेषण करें। उपरोक्त प्रश्न समूह के उत्तरों व तदुपरांत दिए गए निर्देश बिंदुओं के ध्यानपूर्वक अध्ययन से हमें जाति की व्याख्या हेतु एक अंतःक्रियात्मक उपागम प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।

जाति व्यवस्था की व्याख्या हेतु अंतःक्रियात्मक उपागम के आरंभ में अनेक रोचक बातें जुड़ी हुई हैं :

1) जब सामाजशास्त्रीय अध्ययनों में 'क्षेत्रीय कार्य' पर अधिक महत्व दिया जाने लगा तो उस काल में अंतःक्रियात्मक उपागम को बल मिला।
2) अंतःक्रियात्मक उपागम : पाठ्यपुस्तक अध्ययनों से हटकर क्षेत्रीय कार्य पर आधारित अध्ययनों की ओर झुकाव बढ़ा जिसका परिणाम जाति की एक बेहतर स्थानीयकृत व्याख्या थी।
3) जिस जाति को अभी तक एक अखिल भारतीय व्यवस्था माना जाता था, अब उसकी गाँव-गाँव व क्षेत्र-क्षेत्र की भिन्नताओं को समझा जाने लगा।
4) अंतर्जातीय अंतःक्रिया का प्रेक्षण अधिक गहराई से किया जाने लगा, जिसके परिणामस्वरूप अंततः एक ओर तो कुछ निश्चित पाश्चात्य सिद्धांतों को स्थानीय-संदर्भ में देखा जाने लगा तथा दूसरी ओर भारतीय समाज को समझने के लिए भारतीय अवधारणाओं का विकास हुआ।

जाति की व्याख्या हेतु इन दो उपागमों के भिन्न-भिन्न महत्व के संक्षिप्त अध्ययन के बाद, आइए अब हम कुछ महत्वपूर्ण अंतःक्रियात्मक उपागमों का विस्तृत अध्ययन करें। चूंकि आप अंतःक्रियात्मक उपागम की मुख्य विशेषताओं व महत्व के बारे में पहले ही जान चुके हैं, इसलिए आपके लिए आगामी भाग को समझना अधिक आसान होगा।

बोध प्रश्न 1

1) गुण-धर्मात्मक उपागम व अंतःक्रियात्मक उपागम के मध्य कुछ अंतरों को बताइए। अपना उत्तर आठ पंक्तियों में दीजिए।

.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....
.....

20.3 जाति के अंतःक्रियात्मक उपागम

इस अनुभाग में आपका परिचय बेली, मेयर एवं मैरियट के अध्ययनों से करवाया जाएगा। अंतःक्रियात्मक उपागम के माध्यम से जाति को बेहतर समझने के लिए उन्होंने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन तीनों विद्वानों में से, मैरियट के अध्ययन पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है, क्योंकि उसके सिद्धांत में हमें भारतीय समाज के सामान्य सिद्धांत के बीज मिलते हैं। इन तीनों विद्वानों ने अपने अध्ययन में गाँवों/क्षेत्रों में अंतर्जातीय अंतःसंबंधों को समीपता से देखा व प्रलेखित किया है। उन्होंने सोपानक्रम में विभिन्न जातियों के क्रम-विन्यास हेतु इस प्रकार के अंतर्जातीय अंतःक्रिया के महत्व की चर्चा भी की है। फिर भी

इनके अध्ययनों का केंद्र बिंदु भिन्न है तथा इन्होंने अलग-अलग बातों पर बल दिया है। आइए, सबसे पहले हम बेली के कार्यों का अध्ययन करें। इनके अध्ययनों से ऐसा प्रतीत होता है कि इन्होंने अंतर्जातीय अंत:क्रिया के राजनीतिक आयाम को अधिकांश महत्व दिया है।

20.3.1 एफ.जी. बेली का अध्ययन

बेली के अनुसार, जाति समूह पृथकता एवं सोपानक्रम दो सिद्धांतों द्वारा एक व्यवस्था में एकीकृत है। बेली के अनुसार (1963 : 123), जातियाँ 'अंत:क्रिया के नियमों में अभिव्यक्त कर्मकांडीय एवं लौकिक (राजनीतिक, आर्थिक) सोपानक्रम में व्यवस्थित होती हैं।' बेली, जाति व्यवस्था को गतिशील मानते हैं। इनके अनुसार कर्मकांडीय व्यवस्था सदैव राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति के संपर्क में उस पर छाई रहती है। जातियों के मध्य संबंध स्थापित करना मात्र कर्मकांडीय व्यवहार की ही बात नहीं है। यह शक्ति का मामला है, क्योंकि जाति व्यवस्था में सदैव एक प्रभुत्वशील जाति उभरती है, जिसके अधीन अनेक अन्य जातियाँ होर्त हैं। वस्तुत: प्रभुत्वशील जाति के हाथों में शक्ति (एवं बल) के केंद्रीभूत होने के कारण जाति व्यवस्था एक सूत्र में बंधी रहती है। चूँकि कर्मकांडीय प्रस्थिति सदैव राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति के साथ सुसंगत होती है, इसलिए जब भी कोई जाति धनाढ्य हो जाती है तो वह अन्य जातियों से अपना अंत:क्रिया विन्यास बदल लेती है, जिससे वह कर्मकांडीय प्रस्थिति में अधिक ऊँचे क्रम का दावा कर सके। दूसरे शब्दों में सोपानक्रम में जाति का क्रम, अन्य जातियो के साथ इसके अंत:क्रिया विन्यास द्वारा अभिव्यक्त होता है। इस स्थिति में अंत:क्रिया विन्यास सोपानक्रम में कर्मकांडीय प्रस्थिति का संकेतक बन जाता है। अंत:क्रिया विन्यास से हमारा अभिप्राय भोजन की स्वीकृति व उसके वितरण, सेवा की स्वीकृति व उनके विस्तार, जल की स्वीकृति एवं अस्वीकृति, साथ मिलकर धूम्रपान करने की इच्छा या अनिच्छा, साथ बैठने या अलग बैठने की प्रवृत्ति से है। उपहार का आदान-प्रदान भी इसी सूची में आता है।

बेली ने एक क्षेत्र के विभिन्न गाँवों की समान जातियों के मध्य अंत:क्रिया की भी चर्चा की है। किसी विशिष्ट क्षेत्र में फैली कोई जाति परस्पर समीप आ सकती है तथा विवाह द्वारा अपने संबंध मजबूत कर सकती है। जब पूरे क्षेत्र में ये संबंध मजबूत होते हैं, तो जाति राजनीति क्षेत्र में शक्ति पाने के लिए प्रयास कर सकती है। आइए हम उपरोक्त विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए बिसीपारा गाँव में अंतर्जातीय अंत:क्रिया पर दृष्टिपात करके व्याख्या करें। बेली ने बिसीपारा गाँव का अध्ययन किया था।

बिसीपारा गाँव का अध्ययन

बेली ने उड़ीसा के बिसीपारा गाँव में अपना क्षेत्रीय कार्य किया। बिसीपारा में 22 जाति समूह थे, जिनकी जनसंख्या एक व्यक्ति से लेकर 150 तक थी। बिसीपारा में ब्राह्मण, योद्धा (क्षत्रिय), बेली, गडरिए, नाई, कुम्हार तथा ताड़ी बनाने वाली जैसी अनेक जातियाँ थीं।

सामान्यतया, सोपानक्रम के सर्वोच्च व निम्नतम स्थानों पर हमें कर्मकांडीय, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थिति में पूरी-पूरी सुसंगतता देखने को मिलती हैं। बिसीपारा में जातिगत कर्मकांडीय सोपानक्रम में क्षत्रियों का स्थान, एक मात्र ब्राह्मण परिवार के बाद सर्वोच्च ही था। परंतु राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थितियों के लौकिक सोपानक्रम में क्षत्रिय प्रधान थे। इनके पास गाँव की अधिकांश भूमि थी व गाँव पंचायत में इनका दबदबा था।

परंतु अंत:क्रियात्मक उपागम के दृष्टिकोण से हमारे लिए यह अधिक महत्वपूर्ण है कि बिसीपारा में स्वातंत्र्योत्तर परिवर्तनों के बाद क्या हुआ। परिवर्तन की आँधी के बाद क्षत्रिय व कर्मकांडीय सोपानक्रम प्रस्थिति अस्पष्ट हो गई, क्योंकि उनकी अधिकांश भूमि छिन गई। अब क्षत्रियों के पास गाँव की 30 प्रतिशत से भी कम भूमि थी, जबकि पन जाति के लोगों ने 20 प्रतिशत से अधिक भूमि प्राप्त कर ली थी। इसके अतिरिक्त वैश्य जाति व ताड़ी निकालने वाली जाति ने कर्मकांडीय सोपानक्रम में ब्राह्मणों के बाद की प्रस्थिति का दावा पेश किया। इनमें से कोई भी जाति अब एक दूसरे के यहाँ भोजन या पानी ग्रहण नहीं करती थी। अत: कर्मकांडीय सोपानक्रम में अपनी प्रस्थिति हेतु क्षत्रियों व ताड़ी बनाने वालों के मध्य संघर्ष विकसित हो गया।

ब्राह्मणों की भाँति, क्षत्रिय गडरिया जाति से तो जल ग्रहण कर लेते थे परंतु ताड़ी बनाने वालों से जल ग्रहण नहीं करते थे। इस प्रकार, परोक्ष रूप से क्षत्रिय ताड़ी बनाने वालों को कर्मकांडीय सोपानक्रम में गडरिए से निम्न मानते थे। दूसरी ओर, गडरिए क्षत्रियों से तो भोजन व जल ग्रहण कर लेते थे, परंतु ताड़ी बनाने वालों से जल ग्रहण नहीं करते थे। इसके प्रतिक्रिया स्वरूप, ताड़ी बनाने वालों ने ब्राह्मणों के अतिरिक्त किसी से भी भोजन व जल

ग्रहण करना बंद कर दिया। इस प्रकार बिसीपारा के ताड़ी बनाने वालों ने धनसमृद्धि अर्जित करने के बाद क्षत्रियों की आर्थिक प्रस्थिति के कमजोर होने पर स्वयं के लिए ब्राह्मणों के बाद की प्रस्थिति का दावा पेश किए।

ताड़ी बनाने वालों के उदाहरण से यह पता चलता है कि जब भी किसी जाति की राजनीतिक व आर्थिक प्रस्थिति में उत्थान होता है, तो जातियाँ अपने अंतःक्रिया विन्यास बदल देती हैं, जिससे कर्मकांडीय सोपान में अधिक ऊँचा स्थान प्राप्त कर सकें। आइए अब हम एड्रियन मेयर के अध्ययन को देखें।

20.3.2 एड्रियन मेयर का अध्ययन

एड्रियन मेयर, गाँव को एक ठोस यथार्थ मानता है, क्योंकि वह मानवीय संबंधों को प्रभावित करता है। किसी गाँव की विभिन्न जातियों के मध्य अंतःक्रिया से जातियों का सोपानक्रम उभरता है। मेयर अंतर्जातीय संबंधों तथा उनका गांव की एकता के साथ संबंधों का विश्लेषण करता है। मेयर के अनुसार जातिगत सोपानक्रम के निर्धारक कारक आर्थिक व राजनीतिक अंतःक्रिया होती है तथा सर्वाधिक महत्वपूर्ण कारक खान-पान के संबंध होते हैं।

आर्थिक व राजनीतिक कारकों के साथ समस्या यह है कि यह हो सकता है कि सभी सदस्य एक साथ मिलकर आर्थिक व राजनैतिक क्षेत्रों में न आएं। यह भी एक तथ्य है कि सभी जातियों में आर्थिक धन समृद्धि हो सकती है, अर्थात् यह समृद्धि जाति से बँधी हुई नहीं होती। दूसरे शब्दों में, 'उच्च' जाति के किसी व्यक्ति की आर्थिक प्रस्थिति निर्धन हो सकती है। इन समस्याओं का निराकरण कर्मकांडीय प्रस्थिति में हो जाता है। सोपानगत कर्मकांडीय प्रस्थिति किसी जाति में सभी सदस्यों की समान होती है। अंतःक्रिया प्रतिमान में भी 'खान-पान संबंधी सोपानक्रम' ही जातियों के मध्य संबंधों की एक जटिल व्यवस्था प्रदान कर सकता है। मेयर के अनुसार (1986 : 59) "जातियों का क्रम-विन्यास कहीं पर भी इतना स्पष्ट दिखाई नहीं देता, जितना खान-पान व हुक्का-पानी के नियमों में दिखाई देता है।" संक्षेप में हम कह सकते हैं कि मेयर के अनुसार, राजनीतिक व आर्थिक कारक महत्वपूर्ण होते हुए भी जातिगत सोपानक्रम को निर्धारित नहीं करते। उसके अनुसार एक मात्र महत्वपूर्ण कारक, खान-पान संबंधी नियम हैं, जो गाँव के सोपानक्रम को स्पष्ट रूप से दर्शाते हैं। आइए इस बिंदु को हम रामखेड़ी गाँव के मेयर के क्षेत्रीय कार्य के अध्ययन द्वारा और अधिक स्पष्ट करें।

रामखेड़ी गाँव का अध्ययन

रामखेड़ी गाँव, मध्य प्रदेश के देवास नामक एक छोटे से कस्बे के पास है। रामखेड़ी में पच्चीस हिंदू व दो मुस्लिम जातियाँ थीं। खान-पान संबंधी नियमों का कठोरता से पालन होता था, यद्यपि यदाकदा इनमें ढील भी संभव थी। खान-पान के संबंधों के सोपानक्रम को समझने के लिए, मेयर ने निम्न बातें देखीं :

1) गतिविधि का प्रकार : भोजन, पेयजल ग्रहण, धूम्रपान
2) भोजन का प्रकार : 'पक्का' भोजन, 'कच्चा' भोजन
3) भोजन का स्थान व संदर्भ : विवाह या मृत्यु
4) भोजत करते समय कौन किसके समीप बैठता है?
5) भोजन कौन देता है? किसने भोजन पकाया?
6) किस बर्तन—पीतल या मिट्टी के—में पानी दिया गया?

खान-पान संबंधी सोपान इस मान्यता पर आधारित हैं कि निम्न जाति से एक निश्चित प्रकार के खान-पान संबंधी संपर्क से किसी जाति की कर्मकांडीय शुचिता कम हो सकती है या प्रदूषित हो सकती है। अतः उच्च जाति निम्न जातियों के बर्तनों में पका भोजन नहीं खाती। किसी अन्य जाति द्वारा पकाए भोजन को खाने का अर्थ उस जाति से समानता का बोध है।

रामखेड़ी गाँव के ब्राह्मण अपनी ही जाति अथवा उनकी उपजाति के सदस्यों द्वारा पकाया 'कच्चा' भोजन खाते हैं। अन्य सभी जातियाँ द्वारा पकाया भोजन करती हैं तथा उनके मिट्टी के घड़ों से पानी आसानी से पीती हैं। आइए अब हम, मेयर द्वारा अवलोकित कुछ और खान-पान संबंधी नियमों की चर्चा करें।

ब्राह्मणों के बाद सोपानक्रम में जातियों के दो समूह हैं, एक समूह शाकाहारी है व अन्य समूह मांसाहारी है। राजपूत मांसाहारी होते हैं। परन्तु नाई व कुम्हार को निम्न समझा जाता है क्योंकि वे अपने से निम्न बढ़ई या किसान से भोजन ग्रहण कर लेते हैं और वह भी कच्चा

भोजन ग्रहण कर लेते हैं। रामखेड़ी के दूधिए (धोबी, जो दूध का व्यवसाय करते हैं) सिर्फ ब्राह्मणों से कच्चा भोजन ग्रहण करते हैं। परंतु उनसे कुछ अत्याधिक निम्न जातियों (जुलाहे, चमड़ा रंगने वाले, भंगी) को छोड़ कर कोई भोजन ग्रहण नहीं करता। ठीक उसी प्रकार, रामखेड़ी के तेली, दूधियों से कुछ अधिक ऊँचे माने जाते हैं क्योंकि कुछ ऊँची जाति के लोग उनसे भोजन ग्रहण कर लेते हैं। बढ़ई, माली, लोहार, किसान व दर्जी जातियाँ सिर्फ ब्राह्मणों से ही कच्चा भोजन ग्रहण करती हैं। बढ़ई को ऊँचा माना जाता है क्योंकि वह ब्राह्मण से ही भोजन ग्रहण करता है, जबकि किसान को बढ़ई से निम्न स्थान प्राप्त है क्योंकि वह राजपूतों व कुम्हारों से भी भोजन ग्रहण कर लेता है। सोपान में इनसे भी निम्न स्थान पर मेयर ने भिलाला, मीणा, नाथ व ढोली जातियों को शामिल किया है। इनमें से कोई जाति एक दूसरे का 'कच्चा' भोजन स्वीकार नहीं करती।

सोपानक्रम के निम्नतम क्रम में जुलाहों, चमड़ा रंगने वालों व भंगी को वर्गीकृत किया गया है। रामखेड़ी गाँव में भंगी को सभी जातियों से निम्नतम माना जाता है क्योंकि वह ही एकमात्र है जो कि अन्य जातियों की थालियों से झूठन खाता है।

ऊपर हमने रामखेड़ी गाँव में खान-पान संबंधी सोपानक्रम को अत्यधिक सारगर्भित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। अब आपको यह स्पष्ट हो गया होगा कि रामखेड़ी गाँव में, खान-पान के संबंध, सोपान में अनेक जाति समूहों की कर्मकांडीय प्रस्थिति को इंगित व अभिव्यक्त करते हैं। रामखेड़ी गाँव एक उदाहरण अथवा नमूना मात्र है इस प्रकार की अंतःक्रिया अनेक अन्य भारतीय गाँवों में पाई जा सकती है। अब अगले उप-अनुभाग के अध्ययन से पूर्व क्यों न आपकी प्रगति की जांच कर ली जाए?

बोध प्रश्न 2

निम्न प्रश्नों के उत्तर छः से आठ पंक्तियों में दीजिए।

1) बेली के अनुसार, किस प्रकार आर्थिक या राजनैतिक प्रस्थिति में परिवर्तन कर्मकांडीय प्रस्थिति को प्रभावित करते हैं? एक उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

2) 'खान-पान संबंधी सोपानक्रम' किस पर आधारित होता है? मेयर के अध्ययन से एक उदाहरण दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

3) निम्न कथन सत्य (स) है या असत्य (अ), बताइए।

अ) बेली के अनुसार, जातियों की कर्मकांडीय व गैर-कर्मकांडीय प्रस्थितियाँ एक दूसरे से स्वतंत्र होती हैं।

ब) बेली के अनुसार, जब भी किसी जाति की आर्थिक प्रस्थिति का उत्थान हो जाता है, तो वह विशिष्ट व महत्वपूर्ण हो जाती है।

स) रामखेड़ी में, ब्राह्मण सभी जातियों से आसानी से जल ग्रहण करते हैं।

द) रामखेड़ी में भंगी को अत्यधिक सम्मान प्राप्त होता है क्योंकि वह जूठन खाता है।

20.3.3 मैकिम मैरियट का अध्ययन

जैसा कि पहले बताया जा चुका है कि मैरियट का कार्य विशेष ध्यान देने योग्य है। मैरियट जातिगत सोपानक्रम को स्थानीय संदर्भ में देखता है। इसका अर्थ यह है कि वह विशिष्ट संदर्भ में विशिष्ट व स्थानीय कारकों की भूमिका का अध्ययन करता है।

यदि समूहों को सोपानक्रम में क्रमान्वयांमित करना है तो ग्राम समुदाय में विभिन्न जातियों के मध्य अंतर्क्रिया को स्तरीकृत करने की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, यदि जातियों को स्पष्ट रूप से क्रमविन्यासित करना हो तो समुदाय के लोगों में स्पष्ट मतैक्य होना चाहिए। यदि सभी लोग समुदाय द्वारा प्रतिपादित अंतर्क्रिया प्रतिमान का कठोरता से पालन करें, तो समुदाय में सोपानक्रम के बारे में मतैक्य उभरेगा।

किशनगढ़ी व राम नगला गाँवों में जातियाँ किस प्रकार सोपानीकृत हैं इस बारे में मैरियट ने अध्ययन किया। इन गाँवों में मुख्यतया कर्मकांडीय अंत:क्रिया के सोपानक्रम पर जातियों का सोपानक्रम आधारित होता था। बेली की ही भांति, मैरियट ने अनुभव किया कि कर्मकांडीय सोपानक्रम अंतर्क्रिया की आर्थिक, राजनैतिक तथा ऐसे ही अन्य गैर-कर्मकांडीय सोपानक्रमों से उभरता है व इन सोपानक्रमों को अभिव्यक्त करता है। जातियों के आर्थिक व राजनैतिक सोपानक्रम प्राय: कर्मकांडीय सोपानक्रम से संगत होते हैं। अर्थात् किसी भी विशिष्ट गाँव में जाति का सोपानक्रम अंत:क्रिया के दोनों कर्मकांडीय व गैर-कर्मकांडीय सोपानक्रमों से प्रभावित होता है, यद्यपि कर्मकांडीय सोपानक्रम अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। जब विभिन्न जातियों के लोगों के मध्य सोपानक्रम के बारे में स्पष्ट मतैक्य उभरता है, तो विभिन्न जातियों के मध्य अंत:क्रिया के स्तरीकृत प्रतिमान को ग्राम समुदाय सामूहिक रूप से स्वीकृति दे देता है। आइए अब उन क्षेत्रीय कार्यों का अध्ययन करें जिनके आधार पर मैरियट ने अपने निष्कर्ष निकाले।

एकल अध्ययन : किशनगढ़ी एवं राम नगला

किशनगढ़ी व राम नगला, उत्तर प्रदेश के अलीगढ़ जिले में दो गाँव हैं। जब मैरियट ने 1952 में आँकड़े एकत्रित किए थे, उस समय किशनगढ़ी में 24 जातियाँ व 857 व्यक्ति थे और राम नगला में 300 व्यक्ति 7 जातियों में विभक्त थे। मैरियट के आँकड़ों के अनुसार इन गाँवों में जातिगत सोपानक्रम काफी स्पष्ट व मतैक्य पर आधारित था। इन दोनों गाँवों में कोई भी जाति अनूठे सोपानक्रम वाली नहीं थी। मैरियट के उत्तरदाताओं ने उसे बताया कि वे लोग स्थानीय संदर्भ में उनकी कर्मकांडीय अंत:क्रिया के आधार पर जाति का स्पष्ट सोपानक्रम निर्धारित करने में सक्षम थे। अर्थात्, सोपानक्रम तभी संभव है जबकि कोई जाति के बारे में भली-भाँति जानता हो। इस प्रकार जाति एक स्थानीय प्रघटना है।

पहले यह बताया जा चुका है कि सोपानीकरण स्थानीय संदर्भ में दिन-प्रतिदिन के कर्मकांडीय अंत:क्रिया पर आधारित होता है। किशनगढ़ी व राम नगला में सोपानीकरण हेतु दो अंत:क्रियाएं महत्वपूर्ण हैं। वे हैं :

1) वो अंतर्क्रियाएं, जो कुछ निश्चित प्रकार के भोजन के आदान-प्रदान को नियंत्रित करती हैं।

2) वो अंत:क्रियाएं, जिसमें सम्मानजनक प्रथाओं, व व्यवहार, प्रतीकों का आदान-प्रदान निहित होता है। राम नगला व किशनगढ़ी में उस जाति को उच्च स्थान प्राप्त होता है, जिसके सदस्य उच्च जाति से विशिष्ट प्रकार के भोजन (उच्च किस्म के भोजन) प्राप्त करते हैं। दूसरी ओर, यदि भोजन निम्न जाति से प्राप्त किया जाए अथवा निम्न प्रकार का भोजन, तो उस जाति का सोपानक्रम निम्न होगा। भोजन की ही भाँति, जिन जातियों को सम्मानजनक व्यवहार प्रतीक प्राप्त होते हैं अर्थात् जो उच्च कर्मकांडीय पूजापाठ में मुख्य भूमिका निभाते हैं, उन्हें उच्च सोपानक्रम प्राप्त होता है।

किशनगढ़ी में ब्राह्मणों को उच्च प्रस्थिति प्राप्त है, क्योंकि वे बहुत ही विशिष्ट कर्मकांड करते हैं तथा साथ ही साथ सभी सेवक जातियों से पूर्ण सेवाएं प्राप्त करते हैं। ब्राह्मण केवल पक्का भोजन (उच्च किस्म का भोजन) ही स्वीकारते हैं वह भी उच्च जातियों के एक विशिष्ट समूह से। किसी भी जाति को उच्च माना जा सकता है। यदि ब्राह्मण उनसे उच्च (पक्का) भोजन ग्रहण करें। इस प्रकार की 'उच्च' जातियां किशनगढ़ी में दस थीं व राम

नगला में चार थीं। निम्नतम जाति वह होती है जो अन्य से किसी भी प्रकार की सेवा प्राप्त नहीं करती, परन्तु सभी की सेवा करती है और सबसे निम्न भोजन ग्रहण करती है। भोजन और सेवा के विनिमय के नियम प्रमुख नियम हैं, यद्यपि धूम्रपान, मकान, शारीरिक संपर्क, भोजन पकाने के नियम, भोज देने व परोसने के नियम जैसे अन्य कम महत्वपूर्ण नियम भी हैं। सोपानक्रम और प्रमुख विनियम के मध्य संबंध पर अधिक मतैक्यता। किशनगढ़ी तथा उसके आस-पास के क्षेत्रों में राजनैतिक एवं आर्थिक प्रभुत्ता कर्मकांडीय सोपानक्रम से पूर्णतया मेल खाती है। आइए यह देखें कि किस प्रकार कर्मकांडीय प्रस्थिति तथा भू-स्वामित्व (आर्थिक शक्ति) परस्पर मेल खाते हैं इसके लिए एक रेखाचित्र की सहायता ली जा सकती है।

कर्मकांडीय सोपानक्रम तथा भू-स्वामित्व : किशनगढ़ी

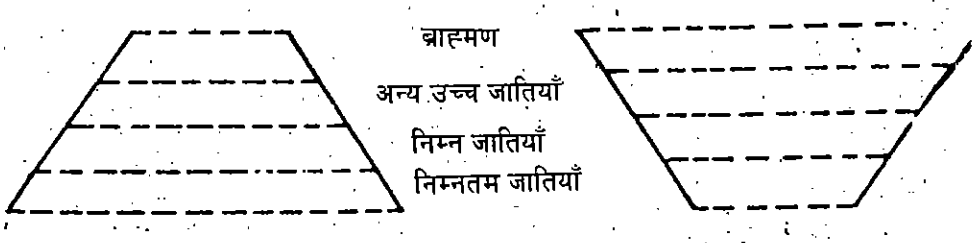

जातियों में यह एक सामान्य प्रवृत्ति होती है कि वे अपनी राजनैतिक एवं आर्थिक परिस्थिति को कर्मकांडीय प्रस्थिति में परिवर्तित कर लें। उदाहरण के तौर पर, किशनगढ़ी में किसान किशनगढ़ी के बाहर के अन्य क्षेत्रों के किसानों की तुलना में बेहतर प्रस्थिति में हैं, क्योंकि ग कुछ वर्षों में किशनगढ़ी के किसान धनी हो गए हैं।

अंत:क्रिया प्रतिमान में असंगतता संभव है जब किसी जाति की शक्ति और आर्थिक समृद्धि उसके कर्मकांडीय सोपानक्रम से मेल नहीं खाती। मैरियट के अनुसार इस प्रकार की असंगतता गतिशीलता को प्रोत्साहित कर सकती है। विगत कुछ वर्षों में किशनगढ़ी में कसाई, चमार तथा धोबी जैसी निम्न जातियों ने आर्थिक व राजनैतिक शक्ति प्राप्त की है, जिसके परिणामस्वरूप उन्होंने उच्च जातियों को पारंपरिक कर्मकांडीय सेवाएं देनी बंद कर दी हैं, तथा भीख मांगना भी बंद कर दिया है। चूंकि अब निम्न जातियों के अंत:क्रिया प्रतिमान में अनियमितता आ गई है, अत: वे प्राय: कर्मकांडीय सोपानक्रम में उच्च प्रस्थितियों का दावा करते हैं।

अंत:क्रिया प्रतिमान एक गाँव से दूसरे गाँव में भिन्न हो सकते हैं। उदाहरण के लिए किशनगढ़ी में सोपानक्रम में वैश्य, किसान से नीचे माने गए हैं, जबकि राम नगला में उन्हें किसानों से ऊपर स्थान प्राप्त है। राम नगला में वैश्य धनिक लोग हैं, परंतु किशनगढ़ी में केवल एक निर्धन वैश्य विधवा है। यह सत्य है कि सोपानीकरण में अंत:क्रिया का स्थानीय प्रतिमान महत्वपूर्ण होता है, परन्तु कभी-कभी सोपानक्रम में उच्च प्रस्थिति के दावे के लिए अन्य गाँव या क्षेत्रों का हवाला भी दिया जा सकता है। उदाहरण के लिए किशनगढ़ी के कसाई राजपूत होने का दावा करते हैं और अपने कुलनाम राजपूत वंशनामों जैसे रखते हैं और विवाह और वंशानुक्रम को वें उस कसाई जाति से जोड़ते हैं जो कि कहीं और रहती है और उन जैसे ही राजपूत कुल नाम वाली है।

इस प्रकार मैरियट ने व्याख्या की, कि कर्मकांडीय सोपानक्रम सदैव राजनैतिक एवं आर्थिक प्रभुता के साथ सुसंगत होता है, और इस प्रक्रिया में एक सोपान बन जाता है। दिन-प्रतिदिन के अंतर्क्रिया प्रतिमान से सोपानीकरण प्रतिमान उभरता है। हमने अभी हाल ही में तीन प्रमुख अंत:क्रियावादी सिद्धांतशास्त्रियों के कार्यों का अध्ययन किया। आइए अब हम जाति के अध्ययन के इस उपागम के विरुद्ध कुछ आलोचनाओं पर संक्षिप्त प्रकाश डालें।

20.4 अंत:क्रियात्मक उपागम की आलोचनाएँ

अब तक आपको यह पूर्ण रूप से स्पष्ट हो गया होगा कि किस प्रकार अंत:क्रियावादी सिद्धांतशास्त्रियों ने गुण-धर्मात्मक सिद्धांतों के कुछ प्रमुख दोषों का निराकरण किया है।

(देखिए इकाई 20.2)। सामान्यतया ऐसा प्रतीत होता है कि अन्तःक्रियावादी सिद्धांतशास्त्री इस बारे में एकमत हैं कि जाति-सोपानीकरण अंतःक्रियात्मक प्रतिमान पर निर्भर करता है। उनका यह भी तर्क है कि कर्मकांडीय सोपानक्रम सदैव गैर-कर्मकांडीय सोपानक्रम (अर्थात् आर्थिक एवं राजनैतिक प्रस्थिति) से मेल खाता है। अब ये तर्क पुनः समस्याओं को जन्म देते हैं।

इसकी एक प्रमुख आलोचना यह है कि यद्यपि अन्तर्क्रियात्मक सिद्धांत गुण-धर्मात्मक सिद्धांतों की तुलना में ज़ाति की अधिक संपूर्ण व्याख्या करते हैं, परन्तु वास्तव में अंतःक्रियात्मक सिद्धांत गुण-धर्म और अन्तःक्रिया दोनों पर ही आधारित होते हैं। उदाहरण के लिए यदि सेवाएं प्राप्त करना ही सोपानीकरण का आधार है तो राजा का सोपानक्रम ब्राह्मण से ऊँचा होना चाहिए। ब्राह्मण की तुलना में राजा को अधिक विशिष्ट सेवाएं मिलती हैं और सभी जातियाँ उसकी सेवाएं करती हैं। परन्तु जैसा कि आप जानते हैं, अंतःक्रियात्मक सिद्धांतशास्त्री ब्राह्मणों को राजा से उच्चतर प्रस्थिति प्रदान करते हैं। शायद यह ब्राह्मण के गुण-धर्मों के कारण है। अर्थात् सोपानक्रम में जाति के क्रम विन्यास के लिए अंतःक्रिया एक मात्र आधार नहीं बन सकती। गुण-धर्मों का कुछ हवाला देना अनिवार्य हो जाता है।

एक अन्य समस्या है। अन्तःक्रियात्मक उपागम सोपानक्रम को बहुत हद तक स्थानीकृत कर देता है तथा यह बात बताता है कि सोपानीकरण अंतःक्रिया पर आधारित होता है। इसके परिणामस्वरूप 'सोपानक्रम' के स्थान पर 'दूरी' पर महत्व दिया जाता है। डूयूमाँ जैसे समाजशास्त्रियों ने तर्क दिया है कि अंतःक्रिया में सोपानक्रम का भाव छुपा होता है और यह बात सम्पूर्ण भारत पर लागू होती है। 'शुचिता एवं प्रदूषण' वे अवधारणाएँ हैं जो कि मात्र स्थानीय संदर्भ के स्थान पर सम्पूर्णता के संदर्भ में कार्य करती है। स्थानीयकरण के साथ-साथ अंतःक्रिया को आवश्यकता से अधिक महत्व के परिणामस्वरूप जातीय व्यवस्था के विचारधारात्मक पक्षों की उपेक्षा की जाती है। जाति व्यवस्था विचारों की एक ऐसी व्यवस्था भी है जो संपूर्ण भारत पर लागू होती है। ठीक इसी आयाम पर अगली इकाई में चर्चा होगी।

बोध प्रश्न 3

1) निम्न कथनों को पूरा कीजिए :

   अ) मैरियट ने सोपानक्रम को इसके ..... में अध्ययन किया।

   ब) यदि जातियों का सोपानीकरण स्पष्ट रूप से किया जाना है तो समुदाय के लोगों में ..... महत्वपूर्ण है।

   स) मैरियट के अनुसार, कर्मकांडीय सोपानक्रम गैर-कर्मकांडीय सोपानक्रमों से ..... है, एवं ..... करना है।

2) कर्मकांडीय एवं गैर-कर्मकांडीय सोपानक्रम के मध्य संबंध की प्रकृति क्या है? किशनगढ़ी में मैरियट के निष्कर्षों के संदर्भ में अपने उत्तर को दीजिए। अपने उत्तर के लिए लगभग दस पंक्तियाँ प्रयुक्त कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

20.5 सारांश

इस इकाई ने, जाति व्यवस्था को समझने के लिए विभिन्न अंतःक्रियात्मक उपागमों को आपके समक्ष प्रस्तुत करने का प्रयास किया।

अनुभाग 20.2 में, जाति के गुण-धर्मात्मक उपागमों की तुलना जाति की अंत:क्रियात्मक उपागमों से की गई। हमने यह अध्ययन किया कि किस प्रकार बहु-जातीय गाँव में अंत:क्रियात्मक उपागम में विभिन्न जातियों के मध्य संबंधों पर ध्यान केंद्रित किया जाता है। जो विद्वान अंत:क्रियात्मक उपागम का अनुसरण करते हैं वे प्राय: ये तर्क देते हैं कि सोपानक्रम में जातियों का क्रम-विन्यास, दिन-प्रतिदिन की अंत:क्रिया प्रतिमान पर निर्भर होता है।

तदुपरांत, हमने जाति के अध्ययन हेतु एक वृहत अंत:क्रियात्मक उपागमों की विस्तार से चर्चा की। ब्रिसीपारा, रामखेड़ी, किशनगढ़ी एवं राम नगला गाँवों के उदाहरणों के साथ-साथ बेली, मेयर व मैरियट के निष्कर्षों को प्रस्तुत किया गया। बेली ने जाति के राजनैतिक आयाम को महत्व दिया तथा यह दर्शाया कि किस प्रकार कर्मकांडीय सोपानक्रम में किसी भी प्रस्थिति किसी की आर्थिक व राजनैतिक प्रस्थिति से समर्पित होती है। मेयर ने रामखेड़ी गाँव के अपने अध्ययन में दर्शाया कि किस प्रकार सोपानक्रम में खान-पान संबंधी विनिमय किसी भी कर्मकांडीय प्रस्थिति की व्याख्या करते हैं।

मैरियट ने भी किशनगढ़ी व राम नगला गाँवों के अपने अध्ययन में लगभग ऐसे ही निष्कर्ष निकाले। मैरियट ने भी बताया कि कर्मकांडीय सोपानक्रम गैर-कर्मकांडीय सोपानक्रम के साथ समंगत हो जाता है और अंतत: दोनों एक हो जाते हैं।

अंत:क्रियात्मक उपागम भी समस्याविहीन नहीं हैं। हमने बताया कि हर हाल में अंत:क्रियात्मक सिद्धांत भी गुण धर्मों को प्रयोग में लेते हैं। यह भी बताया गया कि किस प्रकार स्थानीय विशेषताओं व संदर्भों के प्रयोग से अंतर्क्रियात्मक सिद्धांत, जाति व्यवस्था में अंतर्निहित मूल्य व्यवस्था अथवा विचारधारा के प्रभावों की उपेक्षा कर जाते हैं।

20.6 शब्दावली

खान-पान के नियम : भोजन की स्वीकृति व ग्रहण करने संबंधी नियम।

अंतर्विवाह : अपनी ही उपजाति/जाति में विवाह।

'कच्चा' भोजन : पानी में पकाया भोजन, अधिकांश प्रमुख भोज्य पदार्थ 'कच्चे' होते हैं प्रतिदिन खाए जाते हैं, जैसे कि चावल, दाल आदि।

'पक्का' भोजन : 'घी' के माध्यम से आटे व चीनी आदि से बना भोजन इसे प्राय: उत्सवों पर खाया जाता है। पक्के भोजन की अपेक्षा कच्चे भोजन के विनियम पर अधिक कठोर नियम हैं। पक्का भोजन, क्योंकि 'घी' से बनता है जो कि गाय द्वारा प्रदत्त है। अत: ऐसी मान्यता है कि उसमें अशुद्धता की प्रतिरोध क्षमता होती है।

प्रदूषण : वह दशा, जब कोई कर्मकांडीय रूप से 'अस्वच्छ' जातियों व उनकी वस्तुओं के संपर्क में आता है।

शुचित : वह दशा, जब कोई सभी प्रकार की अशुद्धियों से मुक्त रहता है।

20.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मैण्डलबॉम, डेविड जी. 1987. *सोसायटी इन इंडिया*. बम्बई: पॉपुलर प्रकाशन।

मेयर, एड्रियन सी., 1986. *कास्ट एंड किनशिप इन सैंट्रल इंडिया*. यूबीएस : नई दिल्ली।

श्रीनिवास, एम.एन. (एडि.), 1985. *इंडियाज़ विलेज़िज़*, एम पी पी : बम्बई।

20.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) गुण-धर्मात्मक उपागम जाति के गुण-धर्मों या विशेषताओं पर ध्यान केंद्रित करता है जबकि अंत:क्रियात्मक उपागम जातियों के मध्य संबंधों पर ध्यान केंद्रित करता है।

गुण-धर्मात्मक उपागम का तर्क है कि जातिगत प्रस्थिति किसी विशिष्ट जाति के गुण-धर्मों पर निर्भर है, जबकि अंतर्क्रियात्मक उपागम के अनुसार, जाति की प्रस्थिति प्रतिदिन के अंतर्क्रिया प्रतिमान पर निर्भर होती है। इसके अतिरिक्त, अंतर्क्रियात्मक उपागम जाति का अध्ययन इसके स्थानीय संदर्भ में करता है।

बोध प्रश्न 2

1) गैर-कर्मकांडीय प्रस्थिति में परिवर्तन कर्मकांडीय प्रस्थिति में परिवर्तन ला सकता है। अर्थात् जैसे कोई जाति आर्थिक धन समृद्धि अर्जित कर लेती है, खान-पान संबंधी विनियम प्रतिमान में परिवर्तन लाकर कर्मकांडीय प्रस्थिति में उच्च प्रस्थिति का दावा करने का प्रयास करती है। उदाहरण के लिए बिसीपारा गाँव में, ताड़ी बनाने वाली जाति ने धनाढ्य होने के बाद अपनी कर्मकांडीय प्रस्थिति को ब्राह्मणों के बाद सर्वोच्च कहने का दावा किया। इस कर्मकांडीय प्रस्थिति का दावा, उन्होंने क्षत्रियों से भोजन अस्वीकार करके व सिर्फ ब्राह्मणों से भोजन ग्रहण करके किया।

2) खान-पान संबंधी सोपानक्रम इस मान्यता पर आधारित हैं कि निम्न जातियों के साथ खान-पान संबंधी संपर्क से किसी भी विशिष्ट जाति की कर्मकांडीय शुचिता या तो घट जाएगी या प्रदूषित हो जाएगी। इस प्रकार, उदाहरणतः उच्च जाति निम्न जाति के भोजन पकाने के बर्तन में खाने में परहेज करती है। रामखेड़ी गाँव के ब्राह्मण अपनी ही जाति या उप-जाति के सदस्यों से 'कच्चा' भोजन स्वीकारते थे।

3) अ) असत्य
   ब) सत्य
   स) असत्य
   द) असत्य

बोध प्रश्न 3

1) अ) स्थानीयकृत संदर्भ
   ब) मतैक्य
   स) उभरता, अभिव्यक्त

2) किशनगढ़ी व राम नगला गाँवों के अपने अध्ययन के आधार पर मैरियट इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि कर्मकांडीय सोपानक्रम आर्थिक, राजनैतिक व अंतःक्रिया के अन्य इसी प्रकार के गैर-कर्मकांडीय सोपानक्रमों से अभिव्यक्त करता है व उभरता है। किशनगढ़ी में, कर्मकांडीय सोपानक्रम में ब्राह्मणों की 'उच्च' प्रस्थिति उनकी आर्थिक धनाढ्यता अर्थात् भूस्वामित्व द्वारा समर्पित थी। यह भी संभव है कि जब आर्थिक समृद्धि व राजनैतिक शक्ति कर्मकांडीय सोपानक्रम से मेल नहीं खाए, तो असंगतताएँ विकसित हो जाएं।

इकाई 21 जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम-II

इकाई की रूपरेखा

21.0 उद्देश्य
21.1 प्रस्तावना
21.2 जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम : लुई ड्यूमाँ का योगदान
  21.2.1 ड्यूमाँ की सामान्य सैद्धान्तिक प्रणाली
21.3 ड्यूमाँ के अन्तःक्रिया संबंधी विचार
  21.3.1 आर्थिक अन्तःक्रिया : जजमानी व्यवस्था
  21.3.2 सहभोज विनिमय
  21.3.3 ड्यूमाँ के उपागम की आलोचना
21.4 सारांश
21.5 शब्दावली
21.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
21.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

21.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप निम्नलिखित पक्षों के विषयों में समझ जाएंगे :

- बेली, मायर एवं मैरियट द्वारा प्रयुक्त अन्तःक्रियात्मक उपागमों का सारांश एवं आलोचन
- लुई ड्यूमाँ की आधारभूत सैद्धांतिक प्रणाली का विवेचन
- किस प्रकार ड्यूमाँ ने अन्तःक्रियात्मक उपागम का प्रयोग भारतीय समाज में आर्थिक अन्तःक्रिया एवं भोजन संबंधी अन्तःक्रिया (सहभोजी विनिमय) को जानने हेतु किया है
- लुई ड्यूमाँ के जाति संबंधी सिद्धांत की परिसीमायें।

21.1 प्रस्तावना

इकाई 20 के माध्यम से हमने आपके सम्मुख जाति से सम्बद्ध अन्तःक्रियात्मक सिद्धांतों को प्रस्तुत किया। यह इकाई (इकाई 21) फ्रांसीसी विचारक लुई ड्यूमाँ के विचारों का विवेचन प्रस्तुत करती है। ड्यूमाँ ने मुख्यतया जाति व्यवस्था की विचारधारा से सम्बद्ध चिन्तन को महत्व दिया है। यह चिन्तन एक स्तर तक अन्तःक्रियात्मक सिद्धांत की परिसीमाओं को कम करता है। यद्यपि ड्यूमाँ के सिद्धांत में भी अनेक परिसीमायें अनुभव की जा सकती हैं जिनकी चर्चा हम करेंगे।

यह इकाई दो भागों में विभाजित की गई है। पहले भाग में उन महत्वपूर्ण तर्कों की संक्षेप में चर्चा की गई है जिनका अध्ययन आप बीसवीं इकाई में कर चुके हैं। ड्यूमाँ की सैद्धांतिक प्रणाली अ[illegible] जाति से सम्बद्ध उनके महत्वपूर्ण विचारों की भी इस भाग में चर्चा की गई है

दूसरे भाग में [illegible] अन्तःक्रिया के उन दो विशिष्ट प्रकारों की चर्चा करेंगे जिनका ड्यूमाँ ने अध्ययन किया है ये दो प्रकार क्रमशः आर्थिक अन्तःक्रिया एवं सहभोजी विनिमय है। आर्थिक अन्तःक्रिया में "जजमानी व्यवस्था" को सम्मिलित किया गया है जबकि सहभोजी विनिमय में उन पद्धतियों अथवा माध्यमों का उल्लेख है जिनके द्वारा भोजन संबंधी व्यवहार अथवा क्रिया का नियमन होता है। ड्यूमाँ के सिद्धांत की मुख्य परिसीमाओं का भी इसमें उल्लेख किया गया है।

प्रारंभ में हम अन्तःक्रिया उपागमों के विभिन्न प्रकार एवं उनके मुख्य तत्वों की एक बार पुन चर्चा करेंगे।

21.2 जाति के अन्तःक्रियात्मक उपागम : लुई ड्यूमाँ का योगदान

इकाई 20 में आपको बेली, मायर एवं मैरियट, उन तीन विचारकों से परिचित कराया गया था जिन्होंने जाति के अध्ययन हेतु अन्तःक्रियात्मक उपागम को विकसित किया है। इन तीन विचारकों ने भिन्न प्रकृति के विवेचन एवं मुख्य बिन्दु प्रस्तुत किए हैं परंतु ये तीनों विचारक इस तर्क से सहमत हैं कि स्थानीय संदर्भ में प्रतिदिन की अन्तःक्रिया के प्रतिमानों के आधार पर जाति के क्रम विन्यास को प्रस्तुत किया जा सकता है। इस स्थानीय संदर्भ का अध्ययन इन विचारकों ने क्षेत्रीय अध्ययन के आधार पर किया है जो वस्तुतः अन्तःक्रियात्मक उपागम का महत्वपूर्ण गुण है। अन्तःक्रियात्मक उपागम से सम्बद्ध एक महत्वपूर्ण तर्क यह भी है कि संस्कारगत प्रस्थिति को सदैव गैर संस्कारगत प्रस्थितियों (जैसे आर्थिक एवं राजनीतिक प्रस्थिति) के साथ सम्बद्ध किया जाना चाहिए।

एफ.जी. बेली जाति को एक गत्यात्मक व्यवस्था के रूप में पाते हैं जिसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध प्रभुत्व जाति की शक्ति से है। बेली के अनुसार सांस्कारिक प्रस्थिति एवं गैर-सांस्कारिक प्रस्थितियां घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध हैं। उदाहरण के लिए बिसीपाड़ा गांव में बेली ने सांस्कारिक, राजनीतिक एवं आर्थिक प्रस्थितियों के मध्य पारंपरिक अन्तःप्रभाव के तत्व पाए। योद्धा बिसीपाड़ा की प्रभुत्व जाति से थे। जब योद्धा जाति के पास समृद्धि कम हो गई तो शराब बेचने का व्यवसाय करने वाली जाति ने योद्धा जाति के समकक्ष प्रस्थिति का दावा किया। सांस्कारिक संस्तरण में ब्राह्मण जाति के पश्चात् योद्धा जाति को प्रतिष्ठा क्रम में प्रस्थिति प्राप्त है। योद्धा एवं शराब का व्यवसाय करने वाली जातियों ने तत्काल भोजन संबंधी आदान-प्रदान के अपने प्रतिमानों में परिवर्तन कर लिए ताकि अपनी "श्रेष्ठता" को तथा प्रतिद्वंद्वी जाति की "हीनता" को सिद्ध किया जा सके। एडरियन मायर-ने एक गाँव में निवास कर रही विभिन्न जातियों के मध्य पाई जाने वाली अन्तःक्रियाओं की प्रकृति का अध्ययन किया। मायर का मत है कि संस्तरण को समझने का सबसे उपयुक्त माध्यम सांस्कारिक प्रस्थिति है। दैनिक अन्तःक्रियाओं, जैसे भोजन, जल, धूम्रपान (हुक्का) संबंधी अन्तःक्रियाएं, में सांस्कारिक प्रस्थिति अभिव्यक्त होती है जो कि जाति के प्रत्येक सदस्य पर समान रूप से लागू होती है। भोजन से सम्बद्ध अन्तःसंबंध जाति की प्रस्थिति को, आर्थिक एवं राजनीतिक अन्तःसंबंधों की तुलना में, अधिक प्रभावशाली रूप में निर्धारित करते हैं।

मायर ने मध्य भारत के रामखेड़ी गाँव का अध्ययन किया। मायर ने भोजन संबंधी सम्पर्कों से जुड़े अनेक नियम एवं व्यवहार प्रतिमानों का प्रेक्षण किया। उदाहरण के लिए रामखेड़ी के राजपूत, जो कि माँसाहारी हैं, कुम्हार एवं नाइयों को निम्न मानते हैं क्योंकि ये दोनों जातियां अपने से निम्न जाति बढ़ई से 'भोजन-सम्पर्क' रखती हैं। इसका अभिप्राय यह है कि यदि कोई व्यक्ति अन्य जाति से भोजन स्वीकार कर लेता है तो उस व्यक्ति की प्रस्थिति भोजन स्वीकारने वाली जाति के समकक्ष हो जाती है। परिणामस्वरूप उस व्यक्ति को क्रम विन्यास में उच्च पद नहीं दिया जा सकता जिसने निम्न जाति के साथ भोजन सम्पर्क स्थापित किए हैं।

मैकिम मैरियट का मत है कि स्थानीय संदर्भ में पाए जाने वाले कारक जाति संस्तरण की गत्यात्मकता को प्रभावित करते हैं। सामाजिक अन्तःक्रिया के प्रतिमान एवं गाँव में निवासियों के मध्य विद्यमान एकमत की भावना संस्तरण में जाति की प्रस्थिति को निर्धारित करने वाले कारक हैं। किशनगढ़ी एवं राम नगला गाँवों के अध्ययन द्वारा मैरियट इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अन्तःक्रिया मूलतः संस्तरण की निर्धारक है परन्तु इसे गैर-सांस्कारिक प्रस्थितियाँ जैसे आर्थिक एवं राजनीतिक प्रस्थितियाँ और सुदृढ़ आधार प्रदान करती हैं। मैरियट के मतानुसार सांस्कारिक संस्तरण अधिकांशतः गैर-सांस्कारिक संस्तरणों से घनिष्ठ रूप में सम्बद्ध है। अन्तःक्रियात्मक उपागमों की अपनी परिसीमाएं भी हैं। क्रम विन्यास के विवेचन हेतु दैनिक जीवन के अन्तःक्रिया प्रतिमानों के अतिरिक्त ये उपागम अन्य तत्वों अथवा कारकों पर भी बल देते हैं। स्थानीय संदर्भ पर इन उपागमों का अत्याधिक बल है जिससे जाति की वैचारधारा वाले पक्षों की उपेक्षा हो जाती है। इस दृष्टि से लुई ड्यूमाँ के योगदान की चर्चा महत्वपूर्ण हो जाती है। ड्यूमाँ ने अन्तःक्रियात्मक उपागम की कुछ कठिनाइयों के निराकरण का प्रयास किया है। जाति को समझने में निश्चय ही ड्यूमाँ का योगदान अत्यंत महत्वपूर्ण है।

21.2.1 ड्यूमाँ की सामान्य सैद्धांतिक प्रणाली

इकाई 19 के उपभाग 19.4 में दी गई जानकारी से आप ड्यूमाँ के योगदान से परिचित हो चके हैं। जाति के विषय में चर्चा करते हुए ड्यूमाँ विशेषताओं के स्थान पर संबंधों पर बल

देते हैं। एक जाति की विशेषताओं का विवेचन उस जाति के अन्य जातियों से संबंध के आधार पर किया जा सकता है। ड्यूमाँ मैरियट की भाँति विभिन्न जातियों के बीच संबंधों को स्पष्ट करने का प्रयास करते हैं। लेकिन इसके साथ ही ड्यूमाँ आनुभविक वास्तविकताओं के आधार पर व्यापक अमूर्त सैद्धांतिक व्यवस्था अथवा चिन्तन को भी प्रस्तुत करते हैं। स्थानीय अन्त:क्रियाएं क्रम विन्यास के निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं। परन्तु यह क्रम विन्यास संस्तरण प्रणाली की भावना के लिए प्रतिक्रिया भी है जो सम्पूर्ण व्यवस्था के विस्तार से सम्बद्ध है। ड्यूमाँ की दृष्टि में जाति आर्थिक, राजनीतिक एवं नातेदारी व्यवस्थाओं से संबंधित अन्त:क्रियाओं अथवा अन्त:संबंधों की जटिलता है। अन्त:संबंधों की यह जटिलता कुछ मूल्यों से, जो कि धार्मिक प्रकृति के हैं, प्रोत्साहन प्राप्त करती हैं।

ड्यूमाँ अपने काल के फ्रांसीसी बौद्धिक परिवेश से अत्याधिक प्रभावित था। जाति व्यवस्था पर उनका अध्ययन 'होमो हाईरारकिकस' शीर्षक से सम्बद्ध के रूप में 1967 में फ्रांसीसी भाषा में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक का अंग्रेजी अनुवाद 1969 में प्रकाशित हुआ। ड्यूमाँ की दृष्टि में 'समानता' एवं 'असमानता' विपरीत प्रकृति की अवधारणाएं हैं। उनके मतानुसार समतावादी तंत्र पश्चिमी मूल्य है जबकि संस्तरण पूर्वी मूल्य है। ड्यूमाँ का तर्क है कि जाति वर्ग की भाँति स्तरीकरण का स्वरूप नहीं है। उनके अनुसार जाति असमानता का एक विशेष स्वरूप है जिसके आवश्यक तत्वों का अर्थ समाजशास्त्रियों द्वारा निकाला जाना चाहिए। विभिन्न जातियों के मध्य संबंध कुछ आधारभूत मान्यताओं द्वारा निर्मित होते हैं। ये मान्यताएं जाति के आवश्यक तत्वों के रूप में व्यक्त की जाती हैं। ड्यूमाँ की दृष्टि में 'संस्तरण' जाति का आवश्यक मूल्य है जिसे हिन्दू धर्म का समर्थन प्राप्त है। संस्तरण न केवल व्यक्तियों को विभिन्न प्रकार के क्रम प्रदान करता है अपितु जटिल भारतीय समाज में सहयोग व निकटता को भी निरंतरता प्रदान करता है। दूसरे शब्दों में 'संस्तरण' वह मूल्य व्यवस्था है जो हमारे समाज में एकता उत्पन्न करती है।

प्रारंभ में हम ड्यूमाँ द्वारा दी गई जाति की परिभाषा का विवेचन करेंगे। ड्यूमाँ की परिभाषा बुग्ले के विचारों से अत्यधिक प्रभावित है। आप बुग्ले के विचारों का अध्ययन इकाई 18 में कर चुके हैं। बुग्ले के अनुसार जाति की निम्नलिखित विशेषताएं हैं :

1) बड़ी संख्या में स्थायी समूह,

2) ये समूह विशिष्टीकरण को व्यक्त करते हैं,

3) ये समूह एक दूसरे से पृथक हैं,

4) ये समूह संस्तरण संबंधों द्वारा एक दूसरे से सम्बद्ध हैं।

ड्यूमाँ का मत है कि उपरोक्त समस्त विशेषताओं का आधारभूत तत्व शूचिता एवं प्रदूषण के मध्य विरोध है। 'शूचिता' 'प्रदूषण' से उच्च है तथा इसे सदैव प्रदूषण से पृथक करके प्रस्तुत किया जाता है। ड्यूमाँ (1970 : 43) का कथन है कि 'सम्पूर्ण आवश्यक रूप से दो विरोधियों की संस्तरणात्मक उपस्थिति अथवा सह अस्तित्व पर निर्भर करता है'। जाति व्यवस्था जाति से सम्बद्ध व्यक्तियों के लिए तार्किक है क्योंकि इसमें शूचिता एवं प्रदूषण के मध्य का विरोध विद्यमान है। उदाहरण के लिए एक गाँव में ब्राह्मण एवं अस्पृश्य दोनों ही जातियों के सदस्य निवास करते हैं। ब्राह्मण सर्वोच्च हैं क्योंकि वे शुचिता हैं। इस सर्वोच्चता एवं शुचिता के कारण ब्राह्मण गाँव के केन्द्रीय स्थान में निवास करते हैं जबकि अस्पृश्य अथवा प्रदूषित होने के कारण निम्न हैं अत: वे गाँव के बाहर निवास करते हैं।

ड्यूमाँ के मतानुसार भारत में संस्तरण क्रम विन्यास को अभिव्यक्त करता है। यहाँ संस्तरण शक्ति एवं सत्ता को अभिव्यक्त नहीं करता। संस्तरण वह सिद्धांत है जिसके माध्यम से तत्वों को 'सम्पूर्ण' के संबंध के साथ सम्बद्ध करते हुए उच्चता-निम्नता के क्रम प्रदान किए जाते हैं। अनेक समाजों में धर्म 'सम्पूर्ण' को समझने का आधार है अत: वहाँ क्रम विन्यास की प्रकृति भी मूलत: धार्मिक है। 'वर्ण' व्यवस्था में चार श्रेणियां हैं। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यों की एक श्रेणी है। ये चार श्रेणियां दो में विभाजित हैं जिन्हें (1) शूद्र एवं (2) अन्य के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है। 'अन्य' श्रेणी दो विरोधी समूहों वैश्य एवं अन्य में वर्गीकृत की जा सकती हैं। अन्त में ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के रूप में विरोधी श्रेणियों का उल्लेख किया जा सकता है। भारत में 'प्रस्थिति' (ब्राह्मण) सदैव 'शक्ति' (राजा) से पृथक रही है। साथ ही 'शक्ति' प्रस्थिति से निम्न रही है अथवा 'प्रस्थिति' का 'शक्ति' पर नियंत्रण रहा है। राजा सदैव पुरोहित के नियंत्रण में रहा है। इसका अभिप्राय यह भी है कि आध्यात्मिकता को भारत में कभी राजनीतिक अवसर प्रदान नहीं किया गया। जबकि अनेक पश्चिमी देशों में धार्मिक नेता को शक्ति प्राप्त होती है। कैथोलिक ईसाई धर्म में वेटिकन नगर के मुखिया धर्म गुरु पोप को राजनीतिक शक्ति प्राप्त होती है।

भारतीय समाज में राजा को धर्म गुरु की तुलना में निम्न प्रस्थिति प्राप्त है अर्थात् राजा पर धर्म गुरु का नियंत्रण रहा है। परन्तु दोनों ने साथ मिलकर सम्पूर्ण परिवेश पर अपना नियंत्रण स्थापित किया है। राजा एवं धर्म गुरु एक दूसरे पर निर्भर भी हैं। राजा बलि का आदेश कर सकता है परंतु धर्म गुरु ही इस बलि संबंधी कृत्य को कर सकता है। अन्य समाजों की भाँति यहाँ प्रस्थिति शक्ति की तुलना में निम्न न होकर उच्च है। साथ ही शुचिता अथवा शुद्र एवं प्रदूषण अथवा अशुद्ध के मध्य आधार भूत विरोध है। संस्तरण की प्रकृति सांस्कारिक है जिसे धर्म का समर्थन प्राप्त है। जब शक्ति प्रस्थिति से निम्न होती है तब इस प्रकार का शुचिता संस्तरण विकसित हो सकता है। ब्राह्मण, जो कि शुचिता का साकार रूप है, सर्वोच्च है तथा सम्पूर्ण व्यवस्था पर प्रभुत्व अथवा वर्चस्व स्थापित करता है। परंतु ब्राह्मण राजा के साथ मिलकर 'वर्ण' व्यवस्था की अन्य श्रेणियों का विरोध करता है।

यदि आपने ड्यूमाँ के तर्कों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया है तो आप ड्यूमाँ एवं अन्त:क्रियात्मक उपागम से सम्बद्ध अन्य विचारकों के चिन्तन का तुलनात्मक विवेचन कर सकते हैं। अन्य अन्त:क्रियात्मक विचारकों ने जहाँ सांस्कारिक संस्तरण एवं इहलौकिक संस्तरण की चर्चा की है वहीं ड्यूमाँ ने केवल सांस्कारिक संस्तरण अथवा कर्मकाण्डीय संस्तरण की चर्चा की है। वस्तुत: ड्यूमाँ का यह मत है कि इहलौकिक संस्तरण का तो अस्तित्व ही नहीं है क्योंकि संस्तरण की प्रकृति ही कर्मकाण्डीय अथवा सांस्कारिक है। उदाहरण के लिए जजमानी व्यवस्था को अनेक विचारकों ने आर्थिक प्रणाली के रूप में समझने का प्रयास किया है जबकि जजमानी व्यवस्था एक धार्मिक प्रणाली अथवा सांस्कारिक अभिव्यक्ति है। इस इकाई में हमने यह जानने का प्रयास किया है कि किस प्रकार ड्यूमाँ ने जाति व्यवस्था को नवीन दृष्टिकोण से समझा है। 'विचारधारा' अथवा 'मूल्य व्यवस्था' को जाति व्यवस्था का मूलाधार बताते हुए ड्यूमाँ शुचिता एवं प्रदूषण के आधारभूत भेद अथवा विरोध को जाति से सम्बद्ध करते हैं। ड्यूमाँ की दृष्टि में संस्तरण का मूल स्वरूप सांस्कारिक है। अब आगामी चर्चा के पूर्व आवश्यक है कि बोध प्रश्नों के उत्तर दिए जाएं।

बोध प्रश्न 1

1) अन्त:क्रियात्मक उपागम की महत्वपूर्ण परिसीमाएं क्या हैं? चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) ड्यूमाँ के मतानुसार 'शक्ति' किस प्रकार 'प्रस्थिति' से भिन्न है? चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

3) निम्नलिखित पक्षों के मध्य उपयुक्त संबंध स्थापित करें :

1) मायर	अ) किशनगढ़ी एवं राम नगला
2) बेली	ब) शुचिता एवं प्रदूषण के मध्य विरोध
3) मैरियट	स) सहभोज आदान-प्रदान पर आधारित क्रम विन्यास
4) ड्यूमाँ	द) जाति व्यवस्था के शक्ति संबंधी पक्ष

21.3 ड्यूमाँ के अन्त:क्रिया संबंधी विचार

इस भाग में हम यह जानने का प्रयास करेंगे कि ड्यूमाँ ने अपने सैद्धांतिक ढाँचे को किस प्रकार पूर्त स्थितियों पर लागू किया है। सर्वप्रथम हम ड्यूमाँ के जजमानी व्यवस्था संबंधी विश्लेषण

का विवेचन करेंगे तत्पश्चात् ड्यूमाँ के सहभोज संबंधी व्यवहार से सम्बद्ध विचारों की समीक्षा की जाएगी।

21.3.1 आर्थिक अन्तःक्रिया : जजमानी व्यवस्था

ड्यूमाँ (1979 : 80) का मत है कि जजमानी व्यवस्था "वंशानुगत व्यक्तिगत संबंधों के माध्यम से श्रम विभाजन को व्यक्त करती है"। प्रत्येक परिवार के पास एक ऐसा परिवार होता है जो विशिष्ट सेवाएं प्रदान करता है। सेवाएं प्रदान करने वाले इस परिवार पर सेवा पाने वाले परिवार का एक प्रकार से अधिकार होता है। एक धोबी का परिवार अन्य जाति (उच्च) के परिवार को पूरे वर्ष तक सेवाएं प्रदान करता है। एक शूद्र परिवार उच्च जाति के परिवार को किसी बाध्यता के अंतर्गत कृषि संबंधी सेवाएं प्रदान कर सकता है। ये सेवाएं व्यक्तिगत हैं तथा पारिश्रमिक का एक बड़ा भाग वस्तु (कृषि उत्पाद जैसे अनाज) के रूप मे दिया जाता है। विभिन्न उत्सवों एवं समारोहों के अवसर पर भी सेवा करने वाली जातियों व वस्त्र एवं अनाज उपहार में दिए जाते हैं।

मूलतः जजमानी व्यवस्था श्रम विभाजन का एक स्वरूप है। भारतीय गाँवों में सामान्यतः दे प्रकार की जातियाँ हैं प्रथम जिनके पास भूमि का स्वामित्व है एवं द्वितीय वे जो कि भूमिहीन हैं। जिनके पास भूमि के बड़े भाग का स्वामित्व है वे जातियां स्थानीय स्तर पर प्रभावशाली एवं शक्ति सम्पन्न हैं। इस प्रकार की प्रभावशील एवं शक्ति सम्पन्न भूस्वामित्व वाली जातियां गाँव में विद्यमान हैं। अतीत में यह प्रभुत्व जाति स्थानीय स्तर पर राजाओं की भूमिका का निर्वाह करती थी परंतु स्वयं उस क्षेत्र के राजा के नियंत्रण में कार्य करती थी। अब इस 'प्रभुत्व जाति' के साथ अनेक आश्रित जातियाँ सम्बद्ध हैं जो अनेक प्रकार की क्रिय करती हैं। ये 'आश्रित जातियाँ' उच्च अथवा प्रभुत्व जाति की सेवा के प्रत्युत्तर में अपनी आजीविका निर्ल्हा के साधन प्राप्त करती हैं। अस्पृश्य एवं विशिष्ट जातियाँ (जैसे धोबी, नाई) इन प्रभुत्व जातियों की सेवा करने के लिए बाध्य हैं। यह सेवा व्यक्तिगत प्रकृति की है तथा इसमें उपकार का तत्व अन्तर्निहित है।

ड्यूमाँ यह तर्क देते हैं कि जजमानी व्यवस्था आर्थिक प्रणाली के साथ-साथ सांस्कारिक अभिव्यक्ति हैं। उनका मत है कि जजमानी व्यवस्था कुछ विशिष्ट विचारों द्वारा संचालित होती है। ये विचार आर्थिक शक्ति की सीमा निर्धारित करने में सक्षम हैं। संस्तरण का सिद्ध जो निर्धारित करता है कि कौन प्रभुत्वशाली है और कौन अधीनस्थ, विभिन्न समूहों की स्थिति को उपयुक्तता प्रदान करता है। यह सिद्धांत प्रत्यक्ष रूप से आर्थिक क्रियाओं का विरोधी है। किसी भी आर्थिक क्रिया में व्यक्ति को 'इकाई' की स्थिति प्राप्त है। परंतु जजमानी व्यवस्था में गाँव इकाई है। आश्रित जाति समुदाय को सेवाएँ प्रदान करती है न कि व्यक्ति को। आश्रित जातियों के द्वारा ग्राम समुदाय की सेवा को समाज में संतुलन की निरंतरता हेतु आवश्यक माना जाता है। यह दृष्टिकोण कि संतुलन हेतु जाति का उपयुक्त स्थान निर्धारित करना आवश्यक है सिद्ध करता है कि जाति संस्तरण की प्रकृति धार्मिक है। अतः जजमानी व्यवस्था श्रम विभाजन, आर्थिक अन्तःक्रिया एवं इहलौकिक अन्तःक्रिया मा नहीं है। यह अन्तःनिर्भरता की सांस्कारिक अभिव्यक्ति है। यह अन्तःनिर्भरता स्वयं धर्म से उत्पन्न होती है। अतः ड्यूमाँ जजमानी व्यवस्था को एक भिन्न संदर्भ में मूल्यांकित करने व प्रयास करते हैं तथा इस मूल्यांकन में 'मूल्य व्यवस्था' को पर्याप्त महत्व देते हैं।

21.3.2 सहभोज विनिमय

ड्यूमाँ के मतानुसार सहभोज संबंधी अन्तःक्रियाओं के नियम जाति व्यवस्था के संगठन को प्रस्तुत करते हैं। सहभोज अन्तःक्रिया संबंधी नियम जाति के क्रम विन्यास तथा श्रमविभाज से घनिष्ठ एवं प्रभावशाली ढंग से संबंधित हैं। इन नियमों का संबंध शुचिता के विचार से है। जातियों के मध्य क्रम विन्यास अथवा स्तरीकरण से निर्देशित अन्तःक्रियाएँ उन सम्पर्कों के प्रकारों को व्यक्त करती हैं जिन्हें प्रदूषित मानकर उपेक्षा का शिकार होना पड़ता है। भोजन का श्रेणीकरण व्यक्तियों के समूहों में वर्गीकरण एवं उनके बीच संबंधों के साथ सम्बद्ध है। भोजन सामग्री का श्रेणीकरण इस दृष्टि से स्तरीकृत यथार्थ को प्रस्तुत करता है।

सहभोज अन्तःक्रिया में उपभोक्ता अथवा सहभोगी व्यक्ति की शुचिता, भोजन संबंधी स्था एवं अवसर के तत्व अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। कुछ महत्वपूर्ण अवसरों, जैसे विवाह, पर ब्राह्मण भोजन बनाता है ताकि विभिन्न जातियों के सदस्य विवाह के अवसर पर बिना संकोच भोज कर सकें। दैनिक जीवन का भोजन विवाह के अवसर पर निर्मित भोजन से भिन्न होता है। यह भी जानना आवश्यक है कि शुचिता का प्रश्न प्रत्येक अवसर पर उत्पन्न नहीं होता है।

उदाहरण के लिए धोबी वस्त्र साफ करता है एवं घर में स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश कर सकता है। परंतु विवाह के अवसर पर जब वह ऐसा करता है तो वह अवसर को प्रदूषित बना देता है। अतः हम यह कह सकते हैं कि ड्यूमाँ की दृष्टि में सहभोज संबंधी नियम संस्तरण पर अधिक बल देते हैं तथा पृथक्करण की उपेक्षा कर देते हैं। ये नियम शुचिता के विचारों पर भी आधारित हैं परंतु विशिष्ट अवसरों पर ये नियम अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाते हैं।

21.3.3 ड्यूमाँ के उपागम की आलोचना

ड्यूमाँ के योगदान की बार-बार आलोचना इस आधार पर होती है कि उनके द्वारा प्रस्तुत सैद्धांतिक व्यवस्था इतिहास के प्रति संवदेनशील नहीं है। दूसरे शब्दों में ड्यूमाँ द्वारा प्रस्तुत जाति व्यवस्था की विशेषताएँ अपरिवर्तनीय प्रतीत होती हैं। जबकि वास्तविकता यह है कि विभिन्न कालों में जाति व्यवस्था अनेक तरीकों में परिवर्तित हुई है। ड्यूमाँ इसके अतिरिक्त भारतीय समाज को जड़ एवं अपरिवर्तनीय मानते हैं। सम्भवतया इसी कारण वे जाति व्यवस्था के एकतामूलक प्रकार्यों की चर्चा करते हैं।

जैसा कि पहले देखा है ड्यूमाँ ने 'शक्ति' एवं 'प्रस्थिति' के मध्य स्पष्ट अंतर अथवा पृथक्करण प्रस्तुत किया है। यह पृथक्करण कहाँ तक उपयुक्त है, इस तरह का प्रश्न भी उपस्थित किया जा सकता है। बेरमेन (1971) का तर्क है कि 'शक्ति' एवं 'प्रस्थिति' एक अर्थ में तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। बेरमेन ने गोंड का उदाहरण प्रस्तुत किया है। गोंड समूह ने जहाँ पर भी भूमि के रूप में शक्ति प्राप्त की है उन्होंने अपनी प्रस्थिति को उपयुक्त बनाने हेतु व्यवहार के संस्तरणात्मक प्रतीकों को अपनाया है। शुचिता एवं प्रदूषण के बीच आधारभूत विरोध की जो चर्चा ड्यूमाँ ने की है, वह सार्वभौमिक नहीं है। कुछ जनजातीय समाजों में प्रस्थिति को शुचिता के साथ सम्बद्ध नहीं किया है अपितु पवित्रता एवं शुद्धता के मध्य अंतर स्थापित किया है। इसके साथ ही ड्यूमाँ के इस दृष्टिकोण पर भी प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है जिसके अंतर्गत वे जाति को मूल्यों (विचारधाराओं) की तार्किक सुसंगत व्यवस्था मानते हैं। ड्यूमाँ ने उन अनेक विरोधी आंदोलनों की उपेक्षा की है जो जाति व्यवस्था की विचारधारा को चुनौती देते हुए भारतीय इतिहास के अनेक चरणों में उत्पन्न हुए हैं। ड्यूमाँ मूल्यों पर अत्याधिक बल देते हैं जिसके कारण जाति विभाजन के भौतिक आधार की उपेक्षा हो जाती है। ड्यूमाँ जाति एवं संघर्ष स्थितियों के मध्य संबंध का प्रेक्षण नहीं कर सके। उनकी दृष्टि में वर्णों के मध्य विशेषतः ब्राह्मण एवं क्षत्रियों के मध्य के संबंध पूरक प्रकृति के हैं।

बोध प्रश्न 2

निम्नलिखित प्रश्नों के उत्तर अधिक से अधिक चार पंक्तियों में दें।

1) ड्यूमाँ के जजमानी व्यवस्था संबंधी विचार की विवेचना करें।

.....

.....

.....

.....

2) ड्यूमाँ के सिद्धांत की मुख्य परिसीमाएं क्या हैं?

.....

.....

.....

.....

21.4 सारांश

इस इकाई में हमने ड्यूमाँ के जाति संबंधी अध्ययन के विषय में जानने का प्रयास किया। हमने इस इकाई का प्रारंभ अन्तःक्रिया उपागमों के उन पक्षों से प्रारंभ किया जिसका आप इकाई 20 में अध्ययन कर चुके हैं। जाति के इस अन्तःक्रिया संबंधी उपागम में हमने मायर,

बेली एवं मौरेयट के विचारों को जानने का प्रयास किया। इन विचारकों का मत था कि जातियों के मध्य दैनिक जीवन की अन्त:क्रिया के प्रतिमानों से क्रम विन्यास विकसित होता है। तत्पश्चात् हमने ड्यूमाँ के योगदान के बारे में जानने का प्रयास किया। हमने यह पाया कि ड्यूमाँ किस प्रकार 'संस्तरण' को जाति व्यवस्था के आवश्यक मूल्य के रूप में स्थापित करते हैं। इस संस्तरण की प्रकृति सांस्कारिकता (धर्म) पर आधारित है तथा इसमें प्रस्थिति एवं शक्ति का पृथक्करण एक विशेषता के रूप में विद्यमान है। हमने यह भी पाया कि ड्यूमाँ किस प्रकार जाति को तर्कसंगत रूप में संगठित मूल्यों की व्यवस्था के रूप में व्यक्त करते हैं। ड्यूमाँ की दृष्टि में जजमानी व्यवस्था हिन्दू व्यवस्था से उत्पन्न अन्त:निर्भरता की धार्मिक अभिव्यक्ति है। ड्यूमाँ का यह भी मत है कि सहभोज संबंधी अन्त:क्रिया एवं सम्बद्ध नियम श्रेणीगत संबंधों की वास्तविकता को व्यक्त करते हैं।

अन्त में हमने ड्यूमाँ के उपागम की आलोचनाओं की तरफ संकेत किया। हमने यह जाना कि किस प्रकार जाति को स्थिर एवं अपरिवर्तनीय व्यवस्था के रूप में स्वीकार कर ड्यूमाँ संघर्ष एवं विरोध की पूर्णरूपेण उपेक्षा करते हैं।

21.5 शब्दावली

प्रभुत्व जाति : वह जाति जो अपनी आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति के कारण गाँव अथवा क्षेत्र में अत्यंत प्रभावशाली है।

आधारभूत तत्व : किसी भी प्रघटना के मूल में निहित सबसे प्रमुख विचार।

संस्तरण : पृथक समूह जो कि श्रेणीबद्ध शृंखला के अंग हैं अर्थात् विभिन्न समूहों के मध्य उच्च एवं निम्न प्रस्थिति का क्रम।

विचारधारा : सुव्यवस्थित एवं सुसंगत विचारों की व्यवस्था।

जजमानी व्यवस्था : आश्रित जातियों द्वारा प्रभुत्व जातियों की व्यक्तिगत, संस्कारगत एवं विशिष्ट सेवा की प्रथा।

21.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

मदन टी.एन. (संपादित), 1971. 'ऑन द नेचर ऑफ कास्ट इन इंडिया' *कंट्रीब्यूशन टु इण्डियन सोश्यालॉजी.* (एन.एस.) में प्रकाशित लेख, 5:1-81'

21.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) प्रथम, अन्त:क्रिया उपागम भी कुछ विशेषताओं पर बल देता है तथा द्वितीय यह उपागम स्थानीय संदर्भों पर इतना अधिक बल देता है कि जाति व्यवस्था में निहित विचारधारा की उपेक्षा हो जाती है।

2) ड्यूमाँ का मत है कि भारत में संस्तरण की प्रकृति संस्कारगत है। यहाँ संस्तरण शक्ति को सम्मिलित नहीं करता है। 'प्रस्थिति' सांस्कारिक एवं धार्मिक मूल्यों पर आधारित है तथा 'शक्ति' से श्रेष्ठ है। अत: राजा धार्मिक गुरु के अधीनस्थ है। दूसरे शब्दों में राजा की प्रस्थिति धार्मिक गुरु की तुलना में निम्न है।

3) 1) स
2) द
3) अ
4) ब

बोध प्रश्न 2

1) ड्यूमाँ का कथन है कि जजमानी व्यवस्था केवल आर्थिक प्रणाली नहीं है। यह सांस्कारिक अभिव्यक्ति भी है। यह इस विचार पर आधारित है कि आश्रित जातियों द्वारा गाँव की सेवा सामाजिक संतुलन की निरन्तरता हेतु आवश्यक है। यह अन्तःनिर्भरता की धार्मिक अभिव्यक्ति है। प्रत्येक जाति को व्यवस्थित समग्र में निर्धारित स्थान प्राप्त है।

2) ड्यूमाँ की दृष्टि में जाति अपरिवर्तनीय व्यवस्था है। अतः ड्यूमाँ का सिद्धांत इतिहास के प्रति संवेदनशील नहीं है। विभिन्न कालों में संघर्ष एवं विरोधी आंदोलनों के परिणाम-स्वरूप जाति में अनेक परिवर्तन आए हैं। इन आंदोलनों एवं संघर्षों का विवेचन करने में ड्यूमाँ असफल रहे हैं।

इकाई 22 जाति एवं गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

22.0 उद्देश्य
22.1 प्रस्तावना
22.2 सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा
  22.2.1 सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा
  22.2.2 सामाजिक गतिशीलता के आयाम
22.3 जाति व्यवस्था में गतिशीलता
  22.3.1 संस्कृतिकरण
  22.3.2 क्षत्रीयकरण
  22.3.3 जाति गतिशीलता पर सिगर के विचार
  22.3.4 अभिजन अनुकरण प्रारूप
  22.3.5 पश्चिमीकरण
  22.3.6 अधोगामी जाति गतिशीलता
22.4 जाति गतिशीलता का वैधानिकीकरण
  22.4.1 भूमि सीमाओं का अधिग्रहण एवं जाति गतिशीलता
  22.4.2 संरक्षण एवं जाति गतिशीलता
  22.4.3 ब्रिटिश शासन में जाति गतिशीलता
  22.4.4 सम्पत्ति एवं जाति गतिशीलता
22.5 सारांश
22.6 शब्दावली
22.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
22.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

22.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन करने के उपरान्त आप निम्नलिखित पक्षों से परिचित हो जायेंगे :

- गतिशीलता की अवधारणा, विभिन्न समाज वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत सामाजिक गतिशीलता की परिभाषा तथा सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न आयाम
- यह दृष्टिकोण कि क्या भारतीय जाति व्यवस्था पूर्णरूपेण बन्द अथवा अगतिशील है अथवा इसमें किसी स्तर तक गतिशीलता विद्यमान है
- वे विभिन्न प्रक्रियाएं जिनके कारण जाति व्यवस्था में गतिशीलता उत्पन्न होती है, एवं
- जाति व्यवस्था में गतिशीलता उत्पन्न करने वाले कारक।

22.1 प्रस्तावना

पिछली इकाइयों के अध्ययन के आधार पर आप यह जान चुके हैं कि भारतीय समाज जाति पर आधारित है जो कि व्यक्ति की प्रस्थिति को निर्धारित करने में सहायक है। जाति भारतीय समाज में अत्यन्त संकीर्ण एवं अगतिशील रही है। व्यक्ति के लिए वर्तमान जीवन में अपनी जाति प्रस्थिति को परिवर्तित करना अत्यन्त कठिन है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक जाति किसी न किसी व्यवसाय से सदैव सम्बद्ध होती है। अतः किसी व्यक्ति के लिए अपने व्यवसाय में परिवर्तन कर लेना भी समान रूप से कठिन है। आपने इस तर्क की तरफ भी ध्यान दिया होगा कि जाति एवं सम्बद्ध व्यवसायों को संस्तरण अथवा क्रम विन्यास में स्थान प्रदान किया जाता है जिसकी तुलना सीढ़ी के चरणों से की जा सकती है। इस क्रम विन्यास में धार्मिक तत्व भी सम्मिलित हैं। इन तत्वों के सम्मिलित होने के परिणामस्वरूप व्यक्ति जाति प्रस्थिति को प्रदत प्रस्थिति के रूप में स्वीकार कर लेता है चाहे उस व्यक्ति ने सम्पत्ति एवं ज्ञान इत्यादि के आधार पर कोई भी व्यक्तिगत उपलब्धि अर्जित की हो।

बाह्य रूप से ज्ञात कठोरता एवं भारतीय जाति व्यवस्था की अगतिशील प्रकृति के बावजूद व्यक्ति अथवा समूह के लिए ऐसे माध्यमों का प्रावधान है जो कि व्यक्ति की जाति प्रस्थिति में उर्ध्वगामी गतिशीलता को उत्पन्न करते हैं। इसमें से कुछ माध्यम हाल ही में उत्पन्न हुए हैं जबकि अनेक माध्यम जाति व्यवस्था जितने ही पुराने हैं और व्यवस्था में अन्तर्निहित हैं। इस इकाई में हम उन प्रक्रियाओं की व्यवस्था करेंगे जिनके माध्यम से व्यक्ति अथवा व्यक्तियों का समूह अपनी जाति प्रस्थिति को परिवर्तित करने का प्रयास करता है। हम इस परिवर्तन के प्रयास के लिए उतरदायी कारकों का भी उल्लेख करेंगे। परन्तु इन सब पक्षों के उल्लेख के पूर्व हम सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा की चर्चा करेंगे। आप चूंकि इकाई 10, 11, 12 एवं 13 में सामाजिक गतिशीलता का अध्ययन कर चुके हैं अतः हम इस इकाई में सामाजिक गतिशीलता की केवल पश्चिम सम्बन्धी चर्चा करेंगे एवं उसके मुख्य पक्षों का उल्लेख करेंगे। तत्पश्चात हम जाति गतिशीलता की प्रक्रियाओं का उल्लेख करेंगे।

22.2 सामाजिक गतिशीलता की अवधारणा

'गतिशीलता' शब्द का प्रयोग हम दिन-प्रतिदिन के व्यवहार में प्रायः करते रहते हैं। गतिशीलता का व्यापक संदर्भ में अर्थ किसी प्रकार का बदलाव है। गतिशीलता की अवधारणा में हम दो पक्षों--भौगोलिक गतिशीलता एवं सामाजिक गतिशीलता को सम्मिलित करते हैं। भौगोलिक गतिशीलता में स्थान सम्बन्धी परिवर्तन अथवा बदलाव को सम्मिलित करते हैं जबकि सामाजिक गतिशीलता सामाजिक क्षेत्र में होने वाला बदलाव अथवा परिवर्तन है। दूसरे शब्दों में एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों के समूह का एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव अथवा परिवर्तन सामाजिक गतिशीलता है। एक उदाहरण द्वारा हम इस अवधारणा को स्पष्ट कर सकते हैं। जब एक व्यक्ति उपलब्ध अवसरों का प्रयोग कर कार्यालय लिपि के पद से अनुभाग अधिकारी बन जाता है तो उसने निम्न सामाजिक पद से उच्च सामाजिक पद की तरफ बदलाव किया है। पदों में आने वाला ऐसा कोई भी बदलाव जो उच्च दिशा की तरफ हो अथवा निम्न दिशा की तरफ (उर्ध्वगामी हो अथवा अधोगामी) सामाजिक गतिशीलता कहलाता है।

22.2.1 सामाजिक गतिशीलता की परिभाषायें

प्रमुख समाजशास्त्री पी. सोरोकिन ने सामाजिक गतिशीलता की समग्र परिभाषा दी है जिसमें उन्होंने एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव अथवा संक्रमण पर बल दिया है। सोरोकिन का मत है कि 'सामाजिक गतिशीलता' का अभिप्राय व्यक्ति, सामाजिक वस्तु अथवा मूल्य में उत्पन्न उस संक्रमण से है जिसे मानव क्रिया द्वारा या तो उत्पन्न किया गया है अथवा संशोधित किया गया है। यह संक्रमण एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ है।' लिपसेट एवं बैंडिक्स ने सामाजिक गतिशीलता को परिभाषित करते हुए कहा है कि सामाजिक गतिशीलता का अभिप्राय उस शक्ति से है जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव करते हैं। यह पद सामान्य सहमति के आधार पर विशिष्ट संस्तरणात्मक मूल्य प्रदान करते हैं एवं संस्तरणात्मक मूल्य प्राप्त करते हैं। इन विचारकों का आगे मत यह है कि सामाजिक गतिशीलता के अध्ययन में हम क्रम विन्यास में निश्चित व्यक्ति की प्रस्थिति में बदलाव का मूल्यांकन करते हैं जो उसे व्यवस्था में उच्च अथवा निम्न पद प्रदान करता है। इन परिभाषाओं द्वारा उत्पन्न सहमति के आधार पर कहा जा सकता है कि एक व्यक्ति अथवा समूह द्वारा एक सामाजिक पद से किसी अन्य दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव किसी भी समाज में समाजिक गतिशीलता का आधार है।

लिपसेट एवं बैन्डिक्स की परिभाषा से हमें एक अतिरिक्त परन्तु महत्वपूर्ण पक्ष के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। इन दोनों विचारकों का मत है कि पद सम्बन्धी किसी भी गतिशीलता अथवा बदलाव को समूह सम्बद्ध समाज की 'सामान्य स्वीकृति' द्वारा मान्यता प्राप्त होनी चाहिए। स्वाभाविक है कि यह समाज होगा जिसमें कि पद सम्बन्धी बदलाव हो रहा है। यदि इस तर्क को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया जाए तो यह कहा जा सकता है कि सामाजिक क्षेत्र अथवा पद अथवा व्यावसायिक आवश्यकताओं में हो रहे परिवर्तन का संस्थागत स्वरूप सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया की अत्यन्त महत्वपूर्ण पूर्व शर्तों में से एक है। इसका अभिप्राय है कि यदि सम्बद्ध समाज के व्यक्ति समूह अथवा व्यक्तियों की

उपलब्धि को स्वीकार करते हैं एवं उसे महत्व प्रदान करते हैं तो ऐसी महत्वपूर्ण व उपयोगी प्रक्रिया को ही सामाजिक गतिशीलता की संज्ञा दी जानी चाहिए। चूंकि प्रत्येक समाज अपनी पद्धतियों द्वारा सामाजिक पदों का मूल्यांकन करता है सामाजिक गतिशीलता को एक स्तर तक समाज विशिष्ट कहा जा सकता है। उदाहरण के लिए अमेरिकन समाज में धन का संकेन्द्रण सामाजिक गतिशीलता का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है जबकि परम्परागत भारतीय समाज में इसे अधिक महत्व नहीं दिया गया क्योंकि प्रदत जाति प्रस्थिति भारतीय समाज के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है।

22.2.2 सामाजिक गतिशीलता के आयाम

प्रमुख समाजशास्त्री मैक्स वैबर का मत है कि शक्ति, धन एवं प्रतिष्ठा सामाजिक स्तरीकरण के तीन महत्वपूर्ण तत्व हैं। ठीक इसी प्रकार संग्रहित धन की मात्रा शक्ति जीवन स्तर के प्रकार एवं विश्राम के प्रकार एक व्यक्ति अथवा एक समूह के लिए सामाजिक गतिशीलता के संकेत हैं। लेकिन सोरोकिन ने वैबर के विचारों में थोड़ा संशोधन करते हुए सामाजिक स्तरीकरण में व्यवसाय की भूमिका की चर्चा पर बल दिया है। अतः सोरोकिन के मतानुसार सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया के निर्धारण में राजनीतिक एवं व्यावसायिक पक्ष अत्यन्त महत्वपूर्ण है। वस्तुतः विश्व के अनेक गतिशील समाजों में व्यक्ति की प्रस्थिति के निर्धारण में व्यावसायिक गतिशीलता की निर्णायक भूमिका है। जबकि संकीर्ण एवं परम्परागत समाजों में व्यावसायिक गतिशीलता की प्रस्थिति निर्धारण में भूमिका आंशिक है। सामाजिक गतिशीलता दो भिन्न दिशाओं क्रमशः 'क्षैतिज दिशा' एवं 'लम्बवत दिशा' में क्रियाशील होती है। सोरोकिन के मतानुसार 'क्षैतिज सामाजिक गतिशीलता' का अभिप्राय एक व्यक्ति अथवा सामाजिक इकाई का एक समूह से दूसरे समूह में बदलाव से है। इन समूहों का सामाजिक स्तर समान है'। 'लम्बवत गतिशीलता' का अभिप्राय 'एक व्यक्ति अथवा सामाजिक इकाई का एक सामाजिक स्तर से दूसरे सामाजिक स्तर की तरफ बदलाव से है। स्वाभाविक है कि ये स्तर सामाजिक स्तर की दृष्टि से असमान हैं।'

सोरोकिन ने लम्बवत गतिशीलता को दो भागों में विभाजित किया है। (1) आरोही अथवा उर्ध्वगामी अथवा उच्च स्तरीय सामाजिक गतिशीलता एवं (2) अवरोही अथवा अधोगामी अथवा निम्नस्तरीय सामाजिक गतिशीलता। हीलर ने भी सोरोकिन के क्षैतिज एवं लम्बवत सामाजिक गतिशीलता सम्बन्धी विचारों का समर्थन किया है। हीलर का सुझाव है कि क्षैतिज गतिशीलता को 'उस बदलाव के रूप में परिभाषित किया जाना चाहिए जो एक व्यक्ति समान पदों वाले एक समूह से दूसरे समूह की तरफ करता है।' जबकि लम्बवत गतिशीलता 'एक व्यक्ति का एक सामाजिक पद से दूसरे सामाजिक पद की तरफ बदलाव है ये सामाजिक पद समान क्रम विन्यास को अभिव्यक्त करते हैं अर्थात् एक पद से दूसरे पद की जो कि पहले पद की तुलना में उच्च अथवा निम्न है, प्राप्ति लम्बवत सामाजिक गतिशीलता है।'

समय के पक्ष के संदर्भ में भी सामाजिक गतिशीलता के दो प्रकार हैं जिन्हें (1) अन्तःपीढ़ी गतिशीलता एवं (2) अन्तरापीढ़ी गतिशीलता अथवा 'कैरियर' गतिशीलता की संज्ञा दी जाती है। अन्तःपीढ़ी गतिशीलता दो अथवा अधिक पीढ़ियों के मध्य व्यक्तियों की समाजिक प्रस्थिति में परिवर्तन को अभिव्यक्त करती है जबकि अन्तरापीढ़ी गतिशीलता अथवा 'कैरियर' गतिशीलता का अभिप्राय एक ही पीढ़ी में व्यक्तियों के सामाजिक प्रस्थितियों में हुआ परिवर्तन है।

आगे के पृष्ठों में हम यह चर्चा करेंगे कि बन्द प्रकृति के पश्चात भी भारतीय जाति व्यवस्था में विभिन्न प्रकारों की सामाजिक गतिशीलता पायी जाती रही है। सामाजिक गतिशीलता के इन विभिन्न पक्षों का हम अब विवेचन करेंगे।

22.3 जाति व्यवस्था में गतिशीलता

जाति को भारतीय समाज में सामाजिक स्तरीकरण के अपरिवर्तनीय एवं बन्द स्वरूप की संज्ञा दी जाती है। इस तर्क के मूल आधार के रूप में हम जाति व्यवस्था के अन्तर्गत अनेक जातियों के संस्तरणात्मक क्रम को पाते हैं। यह भी यथार्थ है कि अपने सम्पूर्ण जीवनकाल में व्यक्ति जाति की प्रस्थिति अथवा अपनी जाति पहचान को परिवर्तित नहीं कर सकता। प्रत्येक जाति सामान्यतया एक व्यवसाय से सम्बद्ध है एवं यह अत्यंत कठिन है कि एक व्यक्ति अपने जाति

व्यवसाय को अस्वीकार कर नवीन व्यवसाय को ग्रहण कर ले। दूसरे शब्दों में यदि हम जाति व्यवस्था को कठोर प्रणाली के रूप में स्वीकार करें तो किसी भी व्यक्ति के पास इसके अतिरिक्त विकल्प नहीं है कि वह जन्म से प्राप्त जाति प्रस्थिति के द्वारा अपनी पहचान बनाये तथा जाति से सम्बद्ध व्यवसाय को ग्रहण करे। अन्य क्षेत्रों में उसकी उपलब्धियां व्यक्ति की अस्मिता को स्थापित करने का आधार नहीं बन सकती। भारतीय संविधि आयोग (इण्डियन स्टेट्यूटरी कमीशन) (1930) के प्रतिवेदन में यह उल्लेख उपयुक्त ही है कि (प्रत्येक हिन्दू आवश्यक रूप से अपने माता-पिता की जाति से सम्बद्ध है तथा उस जाति में यह अनिवार्य रूप से जीवन पर्यन्त बना रहता है। धन का संग्रह एवं योग्यता के उच्च स्तर के तत्व भी जाति प्रस्थिति को परिवर्तित नहीं कर सकते। अपनी जाति के बाहर विवाह सम्बन्ध या तो प्रतिबन्धित हैं या उन्हें पूर्णरूपेण हतोत्साहित किया जाता है। व्यवसाय का उल्लेख करते हुए इस प्रतिवेदन में कहा गया है कि व्यवसाय के स्वतन्त्र चुनाव का अथवा जाति व्यवस्था का अथवा एक इकाई के रूप में जाति का अत्यन्त महत्वपूर्ण तत्व है। परम्परागत व्यवस्था में व्यवसाय परिवर्तन का कोई भी प्रयास एवं व्यक्ति अथवा समूह द्वारा उच्च जाति की प्रस्थिति का दावा जाति प्रतिमानों का स्पष्ट उल्लंघन था अतः ऐसे किसी भी प्रयास का दमन किया जाता है। यह स्थिति जाति की सांस्कृतिक पवित्रता के फलस्वरूप उत्पन्न हुई थी। इसके साथ ही जाति से सम्बद्ध व्यवसाय को भी धार्मिक स्वीकृति प्रदान की गयी थी। अतः जाति प्रतिमानों का उल्लंघन धर्म का उल्लंघन माना जाता था तथा अभियुक्त को जाति पंचायत द्वारा निर्धारित दण्ड दिया जाता था।

जाति स्तरीकरण की इस स्पष्ट कठोरता एवं व्यवसाय की अपरिवर्तनशील प्रकृति के बावजूद जाति व्यवस्था न तो कभी पूर्णरूपेण बन्द थी और न ही इसे वर्तमान में पूर्णरूपेण बन्द कहा जा सकता है। इसका स्पष्ट अर्थ है कि भारतीय जाति व्यवस्था के कठोर प्रारूप के उपरान्त भी जाति में सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिशीलता की कुछ सम्भावनाएं हमेशा से पायी जाती हैं। अनेक ऐतिहासिक घटना क्रमों एवं सामाजिक सांस्कृतिक प्रक्रियाओं ने जाति व्यवस्था के अन्तर्गत गतिशीलता को उत्पन्न किया है तथा इस गतिशीलता के प्रति समाज की सहनशीलता भी रही है। आगामी उल्लेखों में भारतीय जाति व्यवस्था में सामाजिक एवं सांस्कृतिक गतिशीलता की प्रमुख प्रक्रियाओं का हम विवेचन करेंगे।

22.3.1 संस्कृतिकरण

प्रतिस्पर्धा की प्रक्रिया द्वारा जाति गतिशीलता के प्रारूप को एम.एन. श्रीनिवास ने प्रस्तुत किया है जिसे संस्कृतिकरण के रूप में जाना जाता है। इस प्रक्रिया में आवश्यक रूप से निम्न जातियों द्वारा ब्राह्मण जीवन शैली की नकल करने अथवा अनुकरण करने सम्बन्धी प्रयासों को सम्मिलित किया जाता है। श्रीनिवास के अनुसार 'संस्कृतिकरण यह प्रक्रिया है जिसके द्वारा कोई निम्न जाति अथवा जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और प्रायः द्विज जाति की दिशा में अपने रीति रिवाज, कर्मकाण्ड विचारधारा अथवा पद्धति को परिवर्तित करता है।' सरल रूप में हम यह कह सकते हैं कि जातियां जिन्हें जाति संस्तरण में अपेक्षाकृत निम्न पद प्राप्त हैं प्रायः उच्च जातियों के सांस्कृतिक पक्षों का अनुकरण करती हैं। इस अनुकरण के फलस्वरूप ये निम्न जातियां जाति संस्तरण में वर्तमान पद से उच्च पद का अथवा उच्च जातीय प्रस्थिति का दावा करती हैं।

संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में निम्न जाति के सदस्य स्थानीय उच्च जाति की सापेक्षिक रूप से उच्च जीवन शैली के साथ न केवल प्रतिस्पर्धा का प्रयास करते हैं अपितु उनके सांस्कृतिक क्रियाकलापों एवं धार्मिक सांस्कारिक कृत्यों को स्वीकार कर उन्हें अपने व्यवहार में प्रयुक्त करते हैं। इसके अतिरिक्त ये निम्न जातियां अधिकांश स्थितियों में प्रदूषित एवं निकृष्ट समझी जाने वाली क्रियाओं जैसे गोश्त खाना, चमड़े का कार्य, मृत जानवरों को एकत्रित करना, सूअर पालन, मदिरा सेवन इत्यादि का त्याग कर देती हैं। इन प्रयासों के द्वारा उर्ध्वगामी दिशा अथवा उच्च दिशा की तरफ गतिशीलता सम्भव हो जाती है। कुछ स्थितियों में ये निम्न जातियां शाकाहारी भोजन सम्बन्धी आदतों को सीखती हैं। ये आदतें सांस्कारिक शुचिता की प्रतीक हैं जिनके अपनाये जाने पर उच्च जाति के पद पर दावा करना सम्भव हो जाता है। उत्तर भारत में चमड़े का कार्य करने वाली चमार जाति, राजस्थान में भील तथा वाराणसी के निकट के खटीक इत्यादि जाति समूहों को यहां उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस संदर्भ में संस्कृतिकरण प्रारूप के दो महत्वपूर्ण तत्वों को यहां स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है। प्रथम तो ये विसंस्कृतिकरण की प्रक्रिया से सम्बन्धित जाति की उर्ध्वाधर

गतिशीलता से पद मूल परिवर्तन होता है यह संरचनामूलक परिवर्तन उत्पन्न नहीं करती। इसका स्पष्ट अर्थ है कि स्थानीय स्तर पर गतिशीलता केवल तभी प्रभावशील होती है जबकि एक विशिष्ट जाति संस्तरण पैमाने में वर्तमान पद की तुलना में उच्च पद प्राप्त करती है। इस उर्ध्वगामी गतिशीलता का जाति व्यवस्था की क्षेत्रीय संस्तरण प्रणाली पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः संस्तरण प्रणाली का सामान्य रूप इस गतिशीलता से अप्रभावी है। अतः संस्कृतीकरण की प्रक्रिया एक निश्चित क्षेत्र अथवा स्थान को ही सीमित रूप से प्रभावित करती है क्योंकि इस प्रक्रिया से केवल उस क्षेत्र अथवा स्थान की जाति का ही सम्बन्ध है। दूसरे यह उर्ध्वगामी गतिशीलता का प्रारूप केवल हिन्दू जातियों से सम्बन्धित नहीं है जैसा कि प्रारम्भ में श्रीनिवास का दृष्टिकोण था। यह उर्ध्वगामी गतिशीलता देश के विभिन्न भागों में निवास कर रहे जनजातीय समुदायों में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। विभिन्न क्षेत्रों की जनजातियों का अपने निकटवर्ती क्षेत्रों में निवास कर रही हिन्दू जातियों से दीर्घकालिक सम्पर्क रहा है। वस्तुतः यह सम्पर्क अनेक पीढ़ियों पुराना है। परिसंस्कृतिग्रहण की प्रक्रिया के फलस्वरूप इन जनजातियों ने हिन्दू देवी देवताओं की पूजा करना प्रारम्भ कर दिया तथा हिन्दू जीवन पद्धति को अपना लिया। हिन्दू जाति का दावा करने वाली इन विभिन्न जनजातियों में हम राजस्थान के भील, मध्य भारत के गोंड एवं ओरॉव और पूर्वीभारत संथाल तथा भूइयां की चर्चा कर सकते हैं जिन्होंने हिन्दू जाति का दावा संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अपनाने के उपरान्त किया।

संस्कृतिकरण एक अत्यन्त मंद गति की प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत उर्ध्वगामी गतिशीलता के द्वारा कोई जाति वर्तमान जातीय पद से उच्च पद प्राप्त करती है। यद्यपि इस तथ्य का भी प्रेक्षण किया गया कि यदि जाति किसी भी माध्यम से आर्थिक अथवा राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर लेती है तो उच्च जाति प्रस्थिति का दावा करने से सम्बद्ध संस्कृतिकरण की प्रक्रिया तीव्र गति प्राप्त कर लेती है। उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में निवास करने वाली नौनिया जाति इसका ज्वलन्त उदाहरण है। नमक बनाने वाली इस जाति ने अपना आर्थिक शक्ति के आधार पर उच्च जाति प्रस्थिति का दावा किया एवं क्षत्रिय जाति का पद प्राप्त करने में सफलता प्राप्त की।

संस्कृतिकरण की अवधारणा को पुनः परिभाषित करने के पूर्व श्रीनिवास ने जाति गतिशीलता के ब्राह्मण प्रारूप को प्रस्तुत किया जिसके अन्तर्गत गैर-ब्राह्मण जातियों ने ब्राह्मणों की जीवन पद्धति के अनुकरण का प्रयास किया। इस प्रारूप से प्रभावित होकर विभिन्न विचारकों ने जाति गतिशीलता के विश्लेषण के क्षत्रिय, वैश्य एवं अन्य अनेक समान प्रारूपों को प्रस्तुत किया। इनमें से कुछ प्रारूपों का हम अब उल्लेख करेंगे।

22.3.2 क्षत्रीयकरण

जाति गतिशीलता के ब्राह्मण प्रारूप अथवा सांस्कृतिक प्रारूप के समकक्ष डी.एफ. पोकाक ने क्षत्रिय प्रारूप का उल्लेख किया है। पोकाक के मतानुसार ऐसे भी उदाहरण हैं जहां लोगों ने 'ब्राह्मण प्रारूप' के स्थान पर 'राजा के प्रारूप' का अनुकरण किया। यह अनुकरण राजा के व्यक्तियों पर व्यापक प्रभाव के कारण सम्भव हो सका। पोकाक के अनुसार किसी समय अथवा स्थान पर राजा के प्रारूप का उस क्षेत्र की गैर-ब्राह्मण जातियों द्वारा अनुकरण उस क्षेत्र की प्रभुत्वशाली राजनीतिक शक्ति का प्रतिनिधित्व करता है। सुरजीत सिन्हा ने भी मध्य भारत के जनजातीय क्षेत्रों में समान प्रक्रिया का उल्लेख किया है। इस क्षेत्र में जनजातियों ने 'राजपूतों' की जीवन पद्धति का अनुकरण किया ताकि स्थानीय संस्तरण में वे अपनी जातीय प्रस्थिति को उच्च बना सकें। स्टीफन एवं बर्नाट ने भी पोकाक तथा सिन्हा के मतों से सहमति व्यक्त की है। बर्नाट का मत है कि दक्षिण भारत में ब्राह्मण प्रारूप के अतिरिक्त 'राजा का प्रारूप' भी अस्तित्व में है। ये दोनों प्रारूप उच्च जाति प्रस्थिति की आकांक्षा करने वाले जाति समूहों के लिए संदर्भ प्रारूप का कार्य करते हैं।

के.एम. पाणिकर जैसे इतिहासकारों एवं अन्य विद्वानों ने ऐतिहासिक साक्ष्यों की सहायता से 'क्षत्रीयकरण' की प्रक्रिया को स्पष्ट किया है। पाणिकर की स्पष्ट मान्यता है कि पिछले दो हजार वर्षों के भारतीय इतिहास में क्षत्रिय जैसी कोई 'विशुद्ध' जाति नहीं पायी गयी है। पाणिकर की दृष्टि में पांचवीं शताब्दी ई.पू. में नन्द वंश अन्तिम विशुद्ध क्षत्रिय वंश था। परन्तु इसके पश्चात अनेक निम्न जातियों ने स्वयं को क्षत्रिय जात से सम्बद्ध किया अथवा क्षत्रिय होने का दावा किया क्योंकि इन निम्न जातियों ने अपनी सैन्य क्षमता के आधार पर तथा राजनीतिक शक्ति के माध्यम से भूमि के एक खण्ड पर आधिपत्य स्थापित कर लिया। पाणिकर का कथन है कि हाल ही के वर्षों में शूद्र जातियों ने आश्चर्यजनक रूप से एक बड़ी संख्या में शासक परिवारों को उत्पन्न किया है। बंगाल के 'पाल' निर्विवाद रूप से इस जाति

से सम्बद्ध थे। महान मराठा शासक परिवार के विषय में ऐसी कोई स्पष्ट वंशावली नहीं मिलती जिसके आधार पर उन्हें राजपूतों से सम्बन्द्ध किया जा सके यद्यपि इस परिवार की भूमिका राजपूतों की भूमिका के समकक्ष है। यहां तक कि जनजातीय समुदायों ने भारत के विभिन्न भागों में काल्पनिक वंशावली के द्वारा प्राचीन भारत के महान क्षत्रीय शासकवंशों से स्वयं को सम्बद्ध किया और अपने समुदायों को क्षत्रिय के रूप में स्थापित किया। उड़ीसा के राजगोंड एवं राजकुली भूइयां स्वयं को क्षत्रियों से उत्पन्न हुआ मानते हैं एवं इस आधार पर स्थानीय संस्तरण में जाति प्रस्थिति प्राप्त करते हैं।

22.3.3 जाति गतिशीलता पर सिंगर के विचार

संस्कृतिकरण एवं क्षत्रीयकरण के प्रारूपों पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए सिंगर का मत है कि अनुकरण की ये प्रक्रियाएं सम्बद्ध विशिष्ट संदर्भों पर आधारित हैं। मिल्टन सिंगर का दृष्टिकोण है कि ग्रामीण भारत के विभिन्न भागों में प्रभुत्व जातियां निम्न जातियों के लिए संदर्भ समूह की भूमिका निभाती हैं। निम्न जातियां 'उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण कर उच्च जाति प्रस्थिति' का दावा करती हैं। सिंगर का तर्क स्पष्ट करता है कि अन्य जातियों के लिए केवल ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ही संदर्भ जाति प्रारूप नहीं हैं अपितु व्यापारी, कृषक एवं अन्य जातियां भी संदर्भ जाति बन जाती हैं अर्थात उनकी जीवन शैली का भी अनुकरण होता है। मिल्टन सिंगर के अनुसार स्थानीय दृष्टि से हम अवश्य ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में चार वर्ण स्तरों की चर्चा करते हैं परन्तु इन वर्ण स्तरों की परिभाषा का अन्तर्वस्तु क्षेत्र एवं उस विशिष्ट क्षेत्र की आनुभविक रूप से निर्धारित आवश्यकताओं से सुनिश्चित होता है। यह भी पाया गया है कि इन विभिन्न वर्णों की सापेक्षिक प्रतिष्ठा एवं क्रम विन्यास में स्थिति विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग है। साथ ही यह प्रतिष्ठा एवं क्रम विन्यास में स्थिति समय एवं समूह के द्वारा भी निर्धारित होती है। उदाहरण के लिए कुछ क्षेत्रों में राजा अथवा योद्धा से सम्बन्धित जीवन शैली ब्राह्मण की जीवन शैली के लगभग समान है अथवा ब्राह्मण जीवन शैली से उच्च है। सिन्हा के अनुसार इन क्षेत्रों में वे समूह जो वर्तमान जाति प्रस्थिति से उच्च प्रस्थिति के आकांक्षी हैं, राजपूतों की जीवन शैली का अनुकरण करते हैं। व्यापारी एवं कृषक जहां प्रभुत्व जातियां हैं उन क्षेत्रों में विभिन्न समूह व्यापारी एवं कृषकों की जीवन शैली का अनुकरण करते हैं।

22.3.4 अभिजन अनुकरण प्रारूप

अस्पृश्यता की राजनीति का परीक्षण करते हुए आविन लिंच का मत है कि श्रीनिवास के द्वारा प्रस्तुत संस्कृतिकरण की प्रक्रिया ग्रामीण भारत में विकसित हो रही राजनीतिक प्रक्रियाओं का विश्लेषण करने में सक्षम नहीं है। विशेषतः स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त परिवर्तनों का विश्लेषण नहीं किया जा सकता। लिंच का तर्क है कि स्वाधीनता उपरान्त संसदीय लोकतन्त्र एवं विभिन्न राजनीतिक दलों के संगठनों ने ऊर्ध्वगामी गतिशीलता के नवीन मार्ग उत्पन्न किये हैं। जिन समूहों की जीवन शैली का अन्य समूह विभिन्न क्षेत्रों में अनुकरण करते हैं वे सभी अभिजन अथवा संभ्रान्त समूह हैं। अतः लिंच अभिजन समूह की जीवन शैली के अनुकरण के प्रारूप की चर्चा करते हैं। अतः हम कह सकते हैं कि स्वाधीनता के उपरान्त भारत में राजनीतिक सहभागिता ने उर्ध्वगामी जाति गतिशीलता की प्रक्रिया का मार्ग प्रशस्त किया है।

22.3.5 पश्चिमीकरण

भारत में लगभग तीन सौ वर्ष के ब्रिटिश प्रशासन ने भारतीय समाज एवं संस्कृति में अनेक आमूलचूल एवं दीर्घकालीन प्रभाव वाले परिवर्तनों को उत्पन्न किया। प्रौद्योगिकी, शिक्षा, रोजगार, व्यापार एवं वाणिज्य, संचार, राजनीति इत्यादि क्षेत्रों में हुए इन गुणात्मक परिवर्तनों ने भारत की पारम्परिक जीवन पद्धति को व्यापक रूप से प्रभावित एवं परिवर्तित किया। चूंकि ये सभी परिवर्तन पश्चिमी प्रभाव का परिणाम हैं अतः परिवर्तन की इस प्रक्रिया को 'पश्चिमीकरण' की संज्ञा दी गयी है। वस्तुतः यह अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है। श्रीनिवास के मतानुसार पश्चिमीकरण एक पूर्ण जटिल एवं बहुस्तरीय अवधारणा है। यह एक तरफ पश्चिमी प्रौद्योगिकी को सम्मिलित करती है वहीं दूसरी तरफ आधुनिक विज्ञान की प्रयोगात्मक पद्धति एवं आधुनिक इतिहास विश्लेषण को सम्मिलित करती है। इसकी अस्थिर जटिलता इस तथ्य से ही प्रकट हो जाती है कि पश्चिमीकरण के विभिन्न पक्ष कभी तो सम्मिलित होकर किसी विशिष्ट प्रक्रिया को मजबूत बनाते हैं कभी उद्देश्यों के विपरीत हो जाते हैं और कभी-कभी एक दूसरे के विपरीत भी हो जाते हैं। इस जटिलता के बावजूद

पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने सुविधाओं को अपने नियंत्रण में लेने के लिए कुछ जातीय समूहों को अनुकूल अवसर प्रदान किये। अधिकांश भागों में ब्राह्मण, व्यवसायी समूह जैसे पारसी एवं बनिया, खत्री एवं अरोड़ा, कोमती, चेतियार, कायस्थ एवं बेडियाज उन समूहों के उदाहरण हैं जिन्होंने अपने हितों के विस्तार हेतु पश्चिमीकरण की प्रक्रिया का उपयोग किया। पश्चिमीकरण ने ऐसे अनेक क्षेत्रों में जो कि मुख्यत: जाति-स्वतंत्र थे, नवीन अवसर प्रदान किये। ऐसे क्षेत्रों में हम शैक्षणिक, आर्थिक एवं राजनीतिक क्षेत्रों की चर्चा कर सकते हैं। इन अवसरों ने अनेक निम्न जातियों को प्रोत्साहित कियाकि वे उर्ध्वगामी जाति गतिशीलता हेतु संघर्ष करें। निम्न जातियों को चूंकि यह अहसास हो गया था कि संस्कृतिकरण अत्यन्त मन्द प्रक्रिया है तथा उन्हें उच्च जातियों के निकट लाने में अधिक सहायक नहीं है अत: इस उद्देश्य को शीघ्र प्राप्त करने के लिए उन्होंने पश्चिमी शिक्षा ग्रहण करने का निश्चय किया। इस प्रेरणा ने अनेक उपजातियों को एक दूसरे के अत्यन्त निकट किया, जाति संगठनों का निर्माण हुआ, जाति कल्याण से सम्बद्ध पत्रिकाओं का प्रकाशन हुआ, छात्रवृत्तियों हेतु धन एकत्रित हुआ, जाति के विद्यार्थियों के आवास हेतु छात्रावासों का निर्माण हुआ तथा जाति सम्बन्धी प्रथाओं में सुधार हुआ। इन समस्त प्रयासों का एक मात्र उद्देश्य उच्च जाति प्रस्थिति प्राप्त करना था। तमिलनाडू की वेलाला एवं पाडयाची, उत्तर प्रदेश एवं बिहार के अहीर, उड़ीसा के गौराज (दूध बेचने वाली जाति) जाति समूहों में अपने परम्परागत व्यवसायों के साथ सम्बद्ध रहने से इन्कार कर दिया एवं उच्च जातियों का सम्बद्ध क्षेत्रों में विरोध किया। विभिन्न क्षेत्रों में जैसे मद्रास, बम्बई एवं अन्य केन्द्रों में ब्राह्मण की सर्वोच्चता के विरोध में गैर-ब्राह्मण आन्दोलन हुए। ऐसे आन्दोलनों का नेतृत्व आन्ध्र प्रदेश में रेड्डी एवं कामा, तमिलनाडू में वेलाला एवं केरल में नायर जाति समूहों ने किया। सत्य शोधक समाज के तत्वाधान में ज्योति राव फूले ने इस आन्दोलन का नेतृत्व किया। तत्पश्चात् ई.वी. रामास्वामी नायकर ने मानव व्यक्तित्व के गुणों पर बल दिया चाहे वह व्यक्ति किसी भी जाति का हो।

इसी प्रकार देश के विभिन्न भागों में छोटे स्तर पर अनेक आन्दोलन हुए। परन्तु इन सब आन्दोलनों का मुख्य उद्देश्य उस गतिशीलता को अर्जित करना था जिससे वे जातीय समूह प्रस्थिति उच्च कर सकें जो सदियों से ब्राह्मणों से पिछड़े हुए थे। इस उद्देश्य की प्राप्ति हेतु इन समूहों में यह इच्छा व्यापक रूप से उत्पन्न हुई कि अंग्रेजी में उच्च शिक्षा, सरकारी क्षेत्रों में रोजगार तथा नवीन राजनीतिक प्रक्रियाओं में सहभागिता के तत्वों को प्राप्त किया जाए जं कि पश्चिमीकरण की प्रक्रिया के द्वारा सम्भव था।

22.3.6 अधोगामी जाति-गतिशीलता

उपरोक्त विवेचन से आपको यह ज्ञात हुआ होगा कि जाति अत्यन्त कठोर नहीं है जैसा कि आरोप लगाया जाता है। इसके विपरीत ऐसे कुछ अवसर हैं जिनके माध्यम से संस्तरण प्रणाली एवं क्रम विन्यास के द्वारा निर्देशित जाति प्रणाली में ऊर्ध्वगामी प्रगतिशीलता सम्भव है। ठीक इसी प्रकार जाति व्यवस्था में अधोगामी सामाजिक गतिशीलता भी सम्भव है यद्यपि यह प्रक्रिया कभी-कभी उत्पन्न होती है एवं यह अत्यन्त मन्द भी है। हम अब यह चर्चा करेंगे कि किन परिस्थितियों में एवं किस प्रकार अधोगामी गतिशीलता जाति व्यवस्था में उत्पन्न होती है।

इस संदर्भ में एस. एल. कालिया की 'जनजातीयकरण' की अवधारणा की चर्चा आवश्यक हो जाती है। कालिया ने यह विवेचन किया है कि किस प्रकार जनजातीयकरण की प्रक्रिया उत्तर प्रदेश के जौनसार-बावर एवं मध्य प्रदेश के बस्तर क्षेत्र में क्रियाशील है। कालिया के अनुसार जब उच्च जाति के हिन्दू जनजातीय जनसंख्या वाले क्षेत्रों में निवास करते हैं तो वे कुछ स्थितियों में जनजातियों के लोकाचार, संस्कार एवं विश्वासों को ग्रहण कर लेते हैं जो उनके स्वयं के लोकाचारों, संस्कारों एवं विश्वासों के विपरीत भी हो सकते हैं। कालिया ने उदाहरणों द्वारा इस तर्क को प्रस्तुत किया है। जौनसार-बावर उत्तर प्रदेश के क्षेत्र में निवास करने वाले ब्राह्मण माँसाहारी भोजन करते हैं, मदिरापान करते हैं एवं इस क्षेत्र की पहाड़ी स्त्रियों से सम्पर्क रखते हैं, उनके धार्मिक संस्कारों अथवा समारोहों में सहभागिता करते हैं एवं धीरे-धीरे जनजातीय जीवन पद्धति को अपना लेते हैं। इस उदाहरण में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया संस्कृतिकरण के बिल्कुल विपरीत है। मिश्रा एवं बरुआ ने जनजातीय उड़ीसा में तीन शिल्पी जातियों के संदर्भ में जनजातीयकरण की प्रक्रिया की चर्चा की है। इन का कथन है कि लोहार, कुम्हार एवं जुलाहा नामक कम से कम तीन जातियां, जो दक्षिण उड़ीसा के जनजातीय क्षेत्र में निवास करती हैं, अनेक वर्षों से अपने जनजातीय स्वामियों की सेवा कर रही हैं। इन जातियों ने धीरे-धीरे जीवन में जनजातीय पद्धतियों को

अपनी जीवन पद्धति का भाग बना लिया है। एन.के. बोस का इस संदर्भ में तर्क है कि संस्कृति का प्रवाह आर्थिक दृष्टि से प्रभुत्वशील समूह की तरह उस समय होता है जब दोनों किन्हीं ऐतिहासिक परिस्थितियों अथवा कारणों वश विस्तृत उत्पादन संगठन को निर्मित करते हैं। अधोगामी गतिशीलता का उल्लेख मजूमदार ने भी किया है जोकि 'विसंस्कृतिकरण' का उल्लेख करते हैं। विसंस्कृतिकरण का अर्थ भी पूर्व उल्लिखित समान प्रघटनाओं को अभिव्यक्त करता है। डयूमाँ ने भी अधोगामी गतिशीलता की चर्चा तमिलनाडु के प्रमालाई कल्लर समूह के संदर्भ में की हैं जो कि प्रदूषण वंशावली के फलस्वरूप अन्य समूहों से भोजन सम्बन्धी सम्पर्क रखने के लिए प्रतिबन्धित हैं।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि भारत में कठोर दिखने वाली जाति व्यवस्था में दोनों ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी सामाजिक गतिशीलताएं सम्भव हैं। इस भाग में हमने निम्नलिखित पक्षों की चर्चा की है:

1) हमने सामाजिक गतिशीलता के अर्थ की चर्चा की है जिसे एक व्यक्ति, व्यक्तियों अथवा समूहों के मध्य प्रस्थितिमूलक बदलाव के रूप में सम्मिलित किया गया है अथवा परिभाषित किया गया है।
2) हमने क्षैतिज, लम्बवत, ऊर्ध्वगामी अथवा उच्च, अधोगामी अथवा निम्न, अन्तःपीढ़ी एवं अन्तरापीढ़ी गतिशीलता के रूप में सामाजिक गतिशीलता के विभिन्न पक्षों की विवेचना की है।
3) हमनें ऊर्ध्वगामी गतिशीलता के स्वरूपों के रूप में संस्कृतिकरण, क्षत्रीयकरण, अभिजन अनुकरण प्रारूप एवं पश्चिमीकरण की तथा अधोगामी गतिशीलता के स्वरूपों के रूप में जनजातीयकरण तथा विसंस्कृतिकरण की प्रक्रियाओं का उल्लेख किया है।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित प्रश्नों का 4-5 पंक्तियों में उत्तर दें :
   अ) जाति व्यवस्था को सामान्यतः 'बन्द' व्यवस्था के रूप में क्यों स्वीकार किया जाता है?

   .....
   .....
   .....
   .....
   .....

   ब) संस्कृतिकरण की प्रक्रिया की विवेचना करें।

   .....
   .....
   .....
   .....
   .....

2) निम्नलिखित में से कौन-सी अवधारणाएं ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता को व्यक्त करती हैं:

   अ) जनजातीयकरण

   ब) संस्कृतिकरण

   स) विसंस्कृतिकरण

   द) पश्चिमीकरण

   इ) अभिजन अनुकरण

22.4 जाति गतिशीलता का वैधानिकीकरण

यद्यपि निम्न जातियों की यह हार्दिक इच्छा होती है कि जाति व्यवस्था के अन्तर्गत वे अपनी जाति प्रस्थिति को उच्च बनाये परन्तु यह अत्यन्त दुरुह एवं कठिन प्रक्रिया है। परन्तु ऐसे कुछ सरल एवं एकदम उत्पन्न होने वाले माध्यम हैं जिनके द्वारा निम्न जाति समूह के 'आकांक्षी' व्यक्ति उच्च जाति प्रस्थिति की प्राप्ति के प्रयास को वैधानिक अथवा संस्थागत आधार प्रदान कर सकें। हम आगे के विवेचन में ऐसी ही कुछ प्रक्रियाओं की चर्चा करेंगे।

22.4.1 भूमि सीमाओं का अधिग्रहण एवं जाति गतिशीलता

पूर्व ब्रिटिश कालीन भारत में जाति संस्तरण की व्यवस्था में उच्च प्रस्थिति प्राप्त करने का एक माध्यम युद्ध द्वारा अथवा शान्ति पूर्ण तरीके से भौगोलिक सीमाओं पर अधिकार करना था। यदि उस भू भाग पर जनसंख्या निवास नहीं करती थी अथवा बहुत सीमित जनसंख्या होती थी तब तो उस भू भाग पर शान्तिपूर्ण अधिकार सम्भव होता था अन्यथा युद्ध में विजय प्राप्त कर भू भाग का अधिग्रहण किया जाता था। एम.एन. श्रीनिवास इस प्रक्रिया को 'यौद्धिक माध्यम से गतिशीलता' की संज्ञा देते हैं। विजय के उपरान्त विजेता उस भूमि का शासक हो जाता था और क्षत्रिय वर्ण के सदस्य के रूप में स्वीकारा जाता था चाहे जन्म से उसकी कोई भी जाति हो। एक अन्य प्रक्रिया मध्य युगीन भारत में भी पायी जाती थी जिसमें जाति गतिशीलता के द्वारा क्षत्रिय जाति के पद की प्राप्ति सम्भव थी। मध्य युगीन भारत में हिंदू शासकों को कृषक सम्मान के रूप में उत्पादित अन्न का एक भाग देते थे ताकि वह शासक अपनी सेना का भरण पोषण कर सके। कुछ ऐसे उदाहरण हैं जहां कृषक ने अधिक भू स्वामित्व होने के कारण अन्न उत्पादन के दिये जाने वाले भाग को सेना एवं सैन्य उपकरणों पर व्यय किया एवं अपना राज्य स्थापित करने के लिए और भूमि पर जबरदस्ती नियन्त्रण अथवा अधिकार कर लिया। उस कृषक विजेता ने स्वयं को राजा घोषित कर दिया एवं उसे क्षत्रिय जाति पद प्राप्त हो गया। कालान्तर में उस राजा के नातेदार यहां तक कि दूर के नातेदार भी क्षत्रिय जाति के सदस्य के रूप में स्वीकार कर लिये गये। मराठा शासक शिवाजी इसके उदाहरण हैं। इनकी मराठा जाति शूद्र वर्ण से सम्बद्ध मानी जाती थी अतः शिवाजी को क्षत्रिय पद प्राप्त करने के लिए धार्मिक संस्कार सम्पन्न करने पड़े। उनकी विजय ने न केवल शिवाजी की व्यक्तिगत जाति प्रस्थिति को उच्च बनाया अपितु समस्त मराठा क्षत्रिय के रूप में स्वीकार कर लिये गये। समान उदाहरणों की चर्चा पूर्व ब्रिटिश कालीन एवं ब्रिटिश कालीन भारत में उत्पन्न छोटी रियासतों के संदर्भ में की जा सकती है। प्रारम्भ में इन रियासतों के शासक (गृहजाट) जमींदार अथवा भू स्वामियों द्वारा शासित थे। इन अधिकांश गृहजाटों ने क्षत्रिय होने का दावा किया। इनने इस दावे को मान्यता भी प्रदान कर दी गयी। इनमें से कुछ ने काल्पनिक कहानियां निर्मित कर लीं तथा स्वयं को स्थापित एवं प्रतिष्ठित क्षत्रिय शासकों से सम्बद्ध कर लिया।

22.4.2 संरक्षण एवं जाति गतिशीलता

उन व्यक्तियों अथवा समूहों को उच्च जाति का पद तत्काल प्रदान किया गया जिन्होंने समकालीन हिंदू अथवा गैर-हिंदू राजाओं की पूर्ण-समर्पित भावना से तन्मयता पूर्वक सेवा की इस तर्क की पुष्टि में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। गुजरात के पटीदार जो कि परम्परागत रूप में शुद्र वर्ण से सम्बद्ध समूह था, ने शिवाजी के मराठा वंशजों गायकवाड़ का समर्थन किया जो कि मध्य गुजरात में शासन कर रहे थे। गायकवाड़ का संरक्षण मिलने के फलस्वरूप पटीदार ने धीरे-धीरे क्षत्रिय पद का दावा किया जिसे बिना किसी विशेष विरोध के स्वीकृति प्राप्त हो गयी। यह उदाहरण जाति गतिशीलता की मूर्त अभिव्यक्ति है।

राजकीय संरक्षण के आधार पर जाति प्रस्थिति उच्च करने का एक अन्य उदाहरण कायस्थों का है जो परम्परागत रूप में मुंशी या लिपिक थे। प्रारम्भ में उन्होंने मुगलों की सेवा की तत्पश्चात् ब्रिटिश शासकों की सेवा की। अपने स्वामियों के संरक्षण के कारण उत्तर भारत के विभिन्न भागों में वे 'द्विज' जाति की प्रस्थिति प्राप्त कर सके।

पूर्वी भारत विशेषतः उड़ीसा के जनजातीय क्षेत्र में ऐसे अनेक साक्ष्य हैं जिनसे ज्ञात होता है कि अनेक जनजातियां हिन्दू जातीय संरचना का भाग बन गयीं। उदाहरण के लिए उत्तर-पश्चिम उड़ीसा की एक जनजाति भूंइया जो कि जाति संरचना से बाह्य थी स्पृश्य जाति के रूप में स्वीकार की गयी ताकि भूँइया समुदाय के सदस्यों से कोई भी व्यक्ति

जलग्रहण कर सके। जनता ने बिना किसी आपत्ति के उच्च जाति प्रस्थिति को स्वीकार कर लिया क्योंकि यह स्थानीय शासक का आदेश था। पूर्व ब्रिटिश कालीन भारत में एक आदर्शवादी एवं रूढ़िवादी हिन्दू शासक का यह धार्मिक कर्त्तव्य था कि वह अपने राज्य में जाति व्यवस्था की मर्यादा बनाये रखे। पवित्र ग्रन्थों में चूंकि राजा को जाति सम्बन्धी प्रश्नों पर निर्णय का अधिकार दिया गया था अतः वह किसी भी जाति की प्रस्थिति को उच्च अथवा निम्न कर सकने में सक्षम होता था। यहाँ तक कि राजा का इस विषय में निरंकुश अथवा स्वेच्छाचारी निर्णय, जिसके द्वारा वह किसी विशिष्ट जाति की प्रस्थिति को उच्च अथवा निम्न करता था, जनता के द्वारा सम्मानित ढंग से स्वीकार किया जाता था।

राजकीय संरक्षण के अतिरिक्त मंदिर सेवा जाति गतिशीलता का एक अन्य माध्यम थी। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जो स्पष्ट करते हैं कि पुरी में जगन्नाथ मन्दिर तथा भुवनेश्वर में भगवान लिंगराज मन्दिर में स्थापित देवताओं की आवश्यक सेवाओं को समर्पित निम्न जातियां किस प्रकार उच्च जाति प्रस्थिति प्राप्त कर सकें। पुरी में सेवा करने वाला समुदाय 'दैता' इसका उदाहरण है। दैता समुदाय की मन्दिर सेवाओं के कारण उन्हें 'स्पृश्य' जाति के रूप में स्वीकारा गया है। भगवान जगन्नाथ की सेवा करने के कारण पुरी के राजा ने 'दैता' को जागीर (उपहार में भूमि) प्रदान की। ऐसे भी उदाहरण हैं जहां ब्राह्मणों ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग करते हुए अपने संरक्षण अथवा 'जजमानों' की जाति प्रस्थिति को उच्च बनाया। रोव का अवलोकन के आधार पर मत है कि खत्रियों के साथ सम्बद्ध ब्राह्मण पुराहितों ने इन्हें क्षत्रिय जाति की प्रस्थिति प्रदान करने में निर्णायक भूमिका का निर्वाह किया। खत्रियों को इस क्षेत्र में शूद्र जाति से उत्पन्न हुआ माना जाता था। परन्तु धीरे-धीरे इन्हें क्षत्रिय जाति से सम्बद्ध मान लिया गया और सामान्य समुदाय ने भी इस परिवर्तन को स्वीकार कर लिया।

22.4.3 ब्रिटिश शासन में जाति गतिशीलता

जिस प्रकार हिन्दू राजाओं ने भारतीय जनसमुदाय की जाति प्रस्थिति को उच्च स्तरीय अथवा निम्न स्तरीय गतिशीलता प्रदान करने में सहायता की ठीक उसी प्रकार ब्रिटिश प्रशासन ने भी ऐसी भूमिका का निर्वाह किया। ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत भारत में जनगणना पद्धति को प्रारम्भ किया गया। इस प्रणाली में पायी जाने वाली विभिन्न जातियों के श्रेणी विन्यास में पद निर्धारित करने के प्रयास किये गये। 1891 से 1931 के मध्य के जनगणना प्रतिवेदनों से स्पष्ट है कि अनेक मध्यम एवं निम्न जाति समूहों ने स्वयं को इन प्रतिवेदनों में उच्च जातियों के रूप में पंजीकृत कराया ताकि स्थानीय जाति संस्तरण में वे इस 'जाति-प्रस्थिति' में परिवर्तन का दावा कर सकें। यदि अधिकतम संख्या में उस समय किये गये जब जनगणना आयुक्त हरबर्ट रिजले ने समस्त जातियों की क्रम विन्यास में प्रस्थिति प्रस्तुत करने का प्रयास किया। अनेक जातियों ने नये जातीय सम्बोधनों के साथ उच्च प्रस्थिति के दावे किये। उदाहरण के लिये बंगाल की कुर्मी जाति ने क्षत्रिय प्रस्थिति का दावा किया जबकि तेली जाति (तेल निकालने वाली जाति) वैश्य बनना चाहती थी। इस प्रक्रिया ने अनेक भ्रम उत्पन्न किये जिनके परिणाम स्वरूप अन्तर्जातीय तनाव अस्तित्व में आये। जिला समितियों की नियुक्ति की गयी एवं उनके द्वारा लिये निर्णयों को अन्तिम माना गया। इस प्रक्रिया में सरकारी आदेशों के कारण कुछ जातियों को परिवर्तित जाति प्रस्थिति प्राप्त हो गयी और इन परिवर्तित प्रस्थितियों को पंजीकृत कर दिया गया। परन्तु जाति प्रस्थितियों के पंजीकरण को 1931 के जनगणना कार्यक्रम से समाप्त कर दिया गया तथा उत्पन्न हुए विवाद सदैव के लिए समाप्त हो गये।

22.4.4 सम्पत्ति एवं जाति गतिशीलता

जाति के पद निर्धारण में सुविधा अथवा विलासिता की महत्वपूर्ण भूमिका है। एक विशिष्ट जाति जितनी अधिक विलासी एवं सुविधासम्पन्न होगी, उसकी प्रस्थिति उतनी ही अधिक उच्च होगी। जाति जितनी कम विलासी अथवा कम सुविधा सम्पन्न होगी उसकी प्रस्थिति उतनी ही निम्न होगी। विलासिता अथवा सुविधासम्पन्नता का सम्बन्ध धन से है। विशेषतः जाति द्वारा नियन्त्रित भू सम्पत्ति का सम्बन्ध विलासिता से है। अतः धन की प्राप्ति, विशेषतः भूमि के रूप में धन, जाति को विलासी जीवन शैली के उपभोग हेतु सक्षम बनाती है। जाति के इस विलासपूर्ण जीवन यापन का मुख्य तत्व यह है कि अधिकांश निम्न स्तर के कार्य निम्न जाति के सेवकों द्वारा किये जाते हैं। इस प्रक्रिया ने धीरे-धीरे कृषि कार्यों से सम्बद्ध निम्न जातियों को उच्च जाति की पहचान का भाग बनने का अवसर प्रदान किया। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र की कुनबी जाति को अब मराठों की प्रस्थिति प्राप्त है तथा तमिलनाडु की कुछ निम्न जातियों को वेलाला के रूप में स्वीकारा गया है।

इस भाग में हमने ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता की उन प्रक्रियाओं की विवेचना की है जो सापेक्षिक दृष्टि से सरल हैं एवं कुछ स्थितियों में तत्काल परिणाम उत्पन्न करती हैं। परन्तु इन प्रक्रियाओं में निम्नलिखित में से किसी एक पक्ष की उपस्थिति अथवा उसका हस्तक्षेप आवश्यक है:

1) युद्ध के द्वारा भू भाग पर अधिकार अथवा शान्तिपूर्वक पद्धति से भूमि का अधिग्रहण
2) शक्तिशाली शासक अथवा राजा, मन्दिर प्रशासन अथवा ब्राह्मण पुरोहित का संरक्षण
3) जाति सम्बन्धी पक्षों के विषय में ब्रिटिश प्रशासन के निर्णय एवं
4) सम्पत्ति पर विशेषतः भूमि के रूप में सम्पत्ति पर नियन्त्रण तथा विलासी अथवा सुविधासम्पन्न जीवन शैली का उपभोग जिसमें किसी निम्नस्तरीय कार्य को स्वयं नहीं किया जा सकता अपितु विलासी क्रियाएं सम्पन्न की जाती हैं।

बोध प्रश्न 2

1) निम्नलिखित प्रश्नों का 4-5 पंक्तियों में उत्तर दें।

   अ) परम्परागत भारत में उच्च प्रस्थिति मूलक अथवा उर्ध्वगामी जाति गतिशीलता में हिन्दू राजा की भूमिका का विवेचन करें।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

   ब) भूमि पर अधिग्रहण किस प्रकार जाति गतिशीलता को प्रोत्साहित करता है? उदाहरण दें।

   .....

   .....

   .....

   .....

   .....

2) निम्नलिखित वाक्यों को पूरा करें।

   अ) उड़ीसा के देता जाति को उच्च जाति प्रस्थिति प्रदान की गयी क्योंकि उन्होंने ..... समर्पित की

   ब) जाति आधारित जनगणना प्रतिवेदन ..... वर्ष समाप्त हुआ।

   स) ..... के द्वारा पंजाबी एवं खत्रियों को उच्च प्रस्थिति प्राप्त हुई।

22.5 सारांश

एक सामान्य प्रेक्षण कर्ता को जाति व्यवस्था अत्यन्त कठोर एवं बन्द प्रतीत होती है परन्तु वास्तविकता यह है कि एक सीमा तक यह लचीली भी है तथा ऊर्ध्वगामी एवं अधोगामी अर्थात् क्रमशः उच्च एवं निम्न स्तरीय जाति गतिशीलता को स्वीकृति प्राप्त है। कुछ ऐसी संस्थागत एवं अनवरत् प्रक्रियाएं जाति व्यवस्था की परिधि के अन्दर पायी जाती हैं जो ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता को प्रोत्साहित करती हैं। इस संदर्भ में उच्च हिन्दू अथवा द्विज जातियों की जीवन शैली को स्वीकार करने अथवा उसका अनुकरण करने की प्रक्रिया की चर्चा की जा सकती है जिसे एम.एन. श्रीनिवास ने 'संस्कृतिकरण' की संज्ञा दी है। अधिकांश निम्न जाति समूहों में उस क्षेत्र की प्रभुत्वशील जाति की जीवन शैली का अनुकरण करने की

स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है अतः ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता के अनेक स्थानीय प्रारूपों का उल्लेख किया जा सकता है। पोकाक का क्षत्रीयकरण का प्रारूप एवं सिंगर द्वारा प्रस्तुत प्रारूप इसके उदाहरण हैं। हाल के वर्षों में विशेषतः ब्रिटिश शासन के दौरान एवं भारत की स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त शिक्षा, रोजगार, आर्थिक एवं राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना जाति गतिशीलता के महत्वपूर्ण तरीके बन गए हैं। इस प्रक्रिया को श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण एवं लिंच ने अभिजन अनुकरण प्रारूप की संज्ञा दी है। इसके अतिरिक्त उच्च जातियों (विशेषतः ब्राह्मण) के वर्चस्व के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में पिछड़े वर्गों के आन्दोलन, आर्य समाज, ब्रह्मो-समाज, सत्यशोधक समाज इत्यादि की चर्चा की जा सकती है। भारत में जाति व्यवस्था के अन्तर्गत केवल ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता की स्थिति ही उत्पन्न नहीं हुई अपितु अधोगामी जाति गतिशीलता की प्रक्रिया भी उत्पन्न हुई है। इतना अवश्य है कि अधोगामी जाति गतिशीलता के उदाहरण अपेक्षाकृत कम हैं। मजूमदार की विसंस्कृतिकरण एवं कालिया द्वारा व्यक्त जनजातीयकरण की प्रक्रिया अधोगामी जाति गतिशीलता के उदाहरण हैं। ब्रिटिश शासन के दौरान एवं पूर्व ब्रिटिश कालीन भारत में ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता के सरल माध्यमों का उल्लेख किया जा सकता है। भू भाग पर नियंत्रण ब्राह्मण अथवा राजा अथवा शासक, मन्दिर प्रशासन का संरक्षण एवं भारत की जनगणना के समय जाति की श्रेणी के निर्धारण में ब्रिटिश शासन के निर्णय ऊर्ध्वगामी जाति गतिशीलता हेतु ऐसे तुलनात्मक दृष्टि से सरल माध्यम हैं।

अतः यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जाति व्यवस्था पूर्णरूपेण बन्द अथवा कठोर सामाजिक व्यवस्था नहीं है। परन्तु यह भी स्पष्ट है कि जाति व्यवस्था में होने वाली इस गतिशीलता के केवल स्थानीय प्रभाव हैं। इस गतिशीलता ने स्थापित भारतीय वर्ण-संस्तरण को परिवर्तन के संदर्भ में प्रभावित नहीं किया है। वर्ण संस्तरण चूंकि समान एवं स्थिति प्रकृति का होता है अतः जाति गतिशीलता केवल पद मूलक परिवर्तन को एक स्थान अथवा क्षेत्र के ढाँचे के अन्तर्गत उत्पन्न करती है।

22.6 शब्दावली

क्षत्रीयकरण : क्षत्रिय प्रस्थिति प्राप्त करने के पूर्व क्षत्रिय समूह की जीवन शैली के अनुकरण से सम्बद्ध प्रक्रिया।

संदर्भ समूह : एक समूह की गतिविधियों, मूल्यों इत्यादि पक्षों को अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों द्वारा अपनाने का प्रयास। ऐसा समूह अन्य व्यक्तियों अथवा समूहों के लिए संदर्भ समूह है।

संस्कृतिकरण : एम.एन. श्रीनिवास द्वारा प्रयुक्त अवधारणा। निम्न जाति समूहों द्वारा वर्तमान जाति प्रस्थिति से उच्च जाति प्रस्थिति को अपनाने हेतु सम्बद्ध उच्च जाति की जीवन शैली का अनुकरण। इसमें उच्च जाति के जीवन के अधिकांश पक्षों का अनुकरण किया जाता है।

सामाजिक गतिशीलता : वह प्रक्रिया जिसके माध्यम से व्यक्ति अथवा समूह अपनी प्रस्थिति को परिवर्तित करते हैं।

जनजातीयकरण एवं विसंस्कृतिकरण क्रमशः कालिया एवं मजूमदार द्वारा प्रस्तुत भारत में अधोगामी अथवा निम्न स्तरीय जाति गतिशीलता से सम्बद्ध दो प्रक्रियाएं।

पश्चिमीकरण : निम्न जाति प्रस्थिति को पृथक करने हेतु अंग्रेजी शिक्षा, नवीन रोजगार एवं पश्चिमी मूल्यों का अनुकरण।

22.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सिल्वरबर्ग, जेम्स, (संपादित), 1968. *सोशल मोबिलिटी इन द कास्ट सिस्टम इन इण्डिया.* माटन : दि हेग।

श्रीनिवास, एम.एन., 1966. *सोशल चेन्ज इन मार्डन इंडिया.* यूनिवर्सिटी ऑफ कैलीफोर्निया प्रेस : बर्कले।

22.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अ) संस्कृतिकरण वह प्रक्रिया है जिसके अन्तर्गत उच्च जातियों के सांस्कृतिक मूल्यों का अनुकरण कर निम्न जातियां/जनजातियां/अन्य समूह अपनी जाति प्रस्थिति को वर्तमान प्रस्थिति से उच्च बनाती हैं। सांस्कृतिक कृत्यों को व्यवहार में लाया जाता है। 'अपवित्र' आदतों को त्यागा जाता है एवं शाकाहारी भोजन संबंधी आदत को स्वीकारा जाता है।

ब) सामान्यतया जाति व्यवस्था को 'बन्द' व्यवस्था माना जाता है क्योंकि जातियों का सुनिश्चित संस्तरणात्मक क्रम है। व्यक्ति की 'जाति-प्रस्थिति' का निर्धारण जन्म से होता है जो अपरिवर्तनीय है। व्यवसाय भी जाति द्वारा निर्धारित होता है। यदि व्यक्ति जाति प्रस्थिति में परिवर्तन का प्रयास करता है तो उसे हतोत्साहित किया जाता है।

2) ब)
द)
इ)

बोध प्रश्न 2

1) अ) एक हिन्दू राजा उन व्यक्तियों को उच्च जाति प्रस्थिति प्रदान कर सकता था जो उस राजा की समर्पण भाव से सेवा कर सकते थे अथवा उसकी समर्पण भाव से सेवा की थी। एक परंपरागत एवं आदर्श राजा का यह धार्मिक कर्तव्य था कि वह जाति व्यवस्था को बनाये रखे। उसे किसी की जाति प्रस्थिति को निम्न अथवा उच्च घोषित करने का अधिकार था तथा उसके निर्णय का जनता सम्मान करती थी।

ब) सम्पत्ति का संकेन्द्रण विशेषतः भूमि के रूप में सम्पत्ति का स्वामित्व इस अर्थ को व्यक्त करता है कि व्यक्ति विलासी जीवन शैली का यापन कर रहा है तथा इस जीवन से सम्बद्ध क्रियाओं से सक्रिय रूप से स्वयं को संबंधित मानता हैं। प्रदूषित एवं सेवा संबंधी कार्य (इसे निम्न श्रेणी का शारीरिक श्रम कहा जा सकता है) निम्न जाति के सेवकों द्वारा सम्पन्न होता है। धीरे-धीरे जाति उच्च श्रेणी प्राप्त करती है। उदाहरण के लिए महाराष्ट्र के कुनबी अब मराठा के रूप में जाने जाते हैं।

2) अ) मंदिर सेवा
ब) 1931
स) पुरोहितों

इकाई 23 पृथक्करण एवं अस्पृश्यता

इकाई की रूपरेखा

23.0 उद्देश्य
23.1 प्रस्तावना
23.2 वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्यता एवं अस्पृश्य
  23.2.1 अस्पृश्यता एवं सांस्कृतिक पृथक्करण
23.3 अस्पृश्यता की समाप्ति : मूल्यांकन
  23.3.1 अस्पृश्यता के विरुद्ध सामाजिक सुधार आंदोलन
    (i) सुधारात्मक आंदोलन
    (ii) वैकल्पिक आंदोलन
  23.3.2 राज्य से संबद्ध क्रिया
  23.3.3 राजनीतिक क्रिया
23.4 सारांश
23.5 शब्दावली
23.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें
23.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

23.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप :

- अस्पृश्यता के अर्थ का विश्लेषण एवं जाति व्यवस्था के संदर्भ में पृथक्करण जान सकेंगे,
- अस्पृश्यता किस प्रकार सांस्कृतिक मूल्य व्यवस्था एवं संरचनात्मक स्तर पर पृथक्करण को उत्पन्न करती है, के बारे में जान सकेंगे,
- भारतीय समाज में अस्पृश्यता निवारण के विभिन्न प्रावधानों के प्रभाव की आलोचनात्मक समीक्षा कर सकेंगे।

23.1 प्रस्तावना

यह इकाई भारतीय समाज में अस्पृश्यता के विषय से संबद्ध है। आपने अस्पृश्यता के विषय में अवश्य सुना होगा परंतु क्या आप भारतीय समाज में अस्पृश्यता के सामाजिक परिणामों एवं प्रभावों से परिचित हैं? हम आपको यह स्पष्ट करेंगे कि अस्पृश्यता ने अतीत एवं वर्तमान में हमारे समाज में किस प्रकार पृथक्करण को उत्पन्न किया है। यहाँ हमारे समाज का अभिप्राय भारतीय समाज से है। आपकी सुविधा के लिए इस इकाई को दो भागों में विभाजित किया गया है यद्यपि प्रत्येक भाग पुनः अनेक उपभागों में विभाजित है।

प्रथम भाग में हमने परंपरागत हिंदू वर्ण व्यवस्था के संदर्भ में अस्पृश्यता के अर्थ को स्पष्ट किया है। हमने यह भी व्याख्या की है कि अस्पृश्यता की समस्या ने किस प्रकार व्यक्तियों में संस्कृति एवं संरचना के स्तर पर पृथक्करण उत्पन्न किया है।

दूसरे भाग में अस्पृश्यता एवं पृथक्करण के निवारण के विभिन्न माध्यमों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने का प्रयास किया गया है। सुधार आंदोलन राज्य संचालित क्रिया एवं राजनीतिक क्रियाओं के संक्षिप्त विश्लेषण को भी हमने इसी भाग में प्रस्तुत किया है।

23.2 वर्ण व्यवस्था, अस्पृश्यता एवं अस्पृश्य

अस्पृश्यता एवं सतत् पृथक्करण हमारे समाज के हिन्दू सामाजिक संगठन द्वारा उत्पन्न हुए हैं। परंपरागत हिन्दू सामाजिक व्यवस्था चार वर्णों में विभाजित थी। प्रत्येक वर्ण अनेक जातियों एवं उप-जातियों में विभाजित था। हिन्दू जनसंख्या की ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के रूप में संरचना मूल्यांकनात्मक एवं स्थापित असमानता पर आधारित है। अतः ब्राह्मण शूद्रों से न केवल धार्मिक रूप से ही श्रेष्ठ थे वरन् मौजूदा स्थितियों, जैसे कि शक्ति का वितरण तथा सम्पत्ति से संबंधित क्षेत्र में भी श्रेष्ठ थे। शूद्रों की तुलना में उन्हें अत्यधिक शक्ति तथा आर्थिक सुरक्षा प्राप्त थी।

इस अनुक्रम व्यवस्था में फिर भी अछूतों अथवा अनुसूचित जाति के लोगों को सबसे नीचा स्थान दिया गया था। उनको जाति से बहिष्कृत माना जाता था क्योंकि वे परम्परागत चतुर्थ वर्ण व्यवस्था में शामिल नहीं थे। ऐसा होते हुए भी सच तो यह है कि धार्मिक अनुष्ठानों (मूल्य आधारित) तथा व्यवस्था के मौजूदा कार्यों, दोनों ही अवस्थाओं में अछूत हमेशा से हमारे समाज के अभिन्न अंग रहे हैं। वास्तविकता तो यह है कि हिन्दू परिवारों के लगभग सभी धार्मिक कार्यों में अछूत जाति के लोगों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। बच्चों के जन्म के अवसर पर, विवाह में तथा मृत्यु संबंधी अनुष्ठानों में अछूतों की सेवाएँ अनिवार्य मानी गई हैं। इसी प्रकार ग्रामीण भारत में अभी भी अछूत जाति के कामगार लोगों का बहुत बड़ा भाग कृषि उत्पादन संगठन से जुड़ा हुआ है। यही कारण है कि एम.एन. श्रीनिवास ने इनको परंपरागत हिन्दू सामाजिक संगठन की पाँचवीं श्रेणी माना है (देखें चेंज इन मॉडर्न इंडिया एंड अदर ऐसेज)। इस विचारधारा से जीवन के मूल्यों तथा जीवन की दशाओं, दोनों ही निरंतर अलगाव बना हुआ है। परंतु इस तरह के अलगाव की परिचर्या करने से पहले आपको तथाकथित अछूतों के बारे में विस्तृत रूपरेखा देना आवश्यक है।

परंपरागत व्यवस्था के अंतर्गत अस्पृश्य अपनी निम्न सामाजिक एवं सांस्कारिक प्रस्थिति के कारण अनेक निर्योग्यताओं के शिकार थे। प्राचीन साहित्य में अस्पृश्यों की श्रेणी के लिए 'अंतयज', 'पंचम' एवं 'चंडाल' इत्यादि शब्दों का उल्लेख किया गया है। इस श्रेणी के लिए महात्मा गांधी ने 'हरिजन' (भगवान की संतरन) शब्द को प्रचलित किया। 'शोषित वर्ग' एवं 'बाह्य जातियां' जैसी अवधारणाओं के रूप में शूद्रों को 1903 ई. के पूर्व अभिव्यक्त किया जाता था परंतु 1935 ई. के भारत सरकार के अधिनियम के उपरांत कथित अस्पृश्य जातियों को 'अनुसूचित जाति' के रूप में प्रस्तुत किया जाने लगा। देश के विभिन्न भागों में रहने वाले अनेक अस्पृश्य जातियों को एक पृथक अनुसूची में सम्मिलित कर दिया गया। यह प्रक्रिया भारतीय संविधान, 1950 के अंतर्गत भी जारी रही। अनुसूचित जातियों की इस अनुसूची को भारत के राष्ट्रपति के द्वारा संशोधित किया जा सकता है।

'अस्पृश्य' अनेक जातियों का संकलन है जो विशेषताओं के संदर्भ में एक-दूसरे से भिन्न भी हो सकती हैं। इनमें से कुछ कथित अस्पृश्य जातियाँ जैसे—चमार जनसंख्या की दृष्टि से अन्य अस्पृश्य जातियों की तुलना में अधिक हैं। सारी अस्पृश्य जातियाँ भारत की कुल जनसंख्या का लगभग 15 प्रतिशत हैं। ये जातियाँ किसी निश्चित भू-भाग में केंद्रित नहीं हैं अपितु प्रत्येक प्रांत यहाँ तक कि प्रत्येक जिले में पाई जाती हैं। इतना अवश्य है कि एक क्षेत्र में निवास करने वाली अस्पृश्य जातियों की विशेषताएँ अन्य क्षेत्र में निवास करने वाली अस्पृश्य जातियों की विशेषताओं से भिन्न हैं। अर्थात् एक क्षेत्र की हरिजन जातियाँ विशेषता की दृष्टि से दूसरे क्षेत्र की हरिजन जातियों से भिन्न हैं। विभिन्न हरिजन जातियों में हम पाल्ला, पाड़िया (तमिलनाडु), माला, माडिगा (आंध्र प्रदेश), महार (महाराष्ट्र), चमार, भंगी (उत्तर प्रदेश, पंजाब एवं बिहार), चेरुमान, पुलायन (केरल), होलिया (मैसूर) एवं बागड़ी (पश्चिम बंगाल) की चर्चा कर सकते हैं। अधिकांशतः अस्पृश्य जातियाँ ग्रामीण क्षेत्रों में केंद्रित हैं। अस्पृश्य जातियों की जनसंख्या का केवल 10.7 प्रतिशत नगरीय केंद्रों में निवास करता है।

बोध प्रश्न 1

1) निम्नलिखित मतों में से कौन-सा मत सत्य है और कौन-सा मत असत्य है।
   अ) ब्राह्मण यद्यपि धार्मिक-सांस्कारिक दृष्टि से सर्वोच्च हैं परंतु आर्थिक प्रस्थिति की दृष्टि से वे निर्धन हैं।
   ब) 'हरिजन' शब्द का प्रयोग वैदिक काल में किया गया।
   स) अनुसूचित जाति की जनसंख्या का बहुमत ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करता है।

2) निम्नलिखित कथनों की पूर्ति कीजिए–

अ) एम.एन. श्रीनिवास हिन्दू सामाजिक व्यवस्था में हरिजनों को ..... के रूप में स्वीकार करते हैं।

ब) परंपरागत दृष्टि से हरिजनों की सेवाएँ मुख्य रूप से ..... जैसे दो उत्सवों में आवश्यक थीं।

स) अस्पृश्य भारत की कुल जनसंख्या के ..... प्रतिशत हैं।

23.2.1 अस्पृश्यता एवं सांस्कृतिक पृथक्करण

एक समय ऐसा भी था जब अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के मध्य के विभेद को स्पष्टतया प्रजातीय आधार पर व्यक्त किया जाता था अर्थात् प्रजातीय विभेद अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के विभेद के आधार के रूप में स्वीकार्य था। परंतु मानवशास्त्रीय अध्ययन यह सिद्ध करते हैं कि प्रजाति के आधार पर जातीय विभेद युक्तिसंगत नहीं है। तथ्य तो यह है कि अस्पृश्य एवं शेष हिन्दू जनसंख्या के मध्य के ये जाति विभेद सांस्कृतिक, धार्मिक, मूल्य संबंधी तत्व एवं भौतिक असमानताओं पर आधारित हैं।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है जाति व्यवस्था ने परंपरागत हिन्दू समाज को संगठनात्मक आधार प्रदान किया। अनेक समकालीन परिवर्तनों के बावजूद वर्तमान भारत में जाति व्यवस्था अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिकाओं का निर्वाह करती है। प्रत्येक जाति अथवा उप-जाति एक अथवा अधिक परंपरागत व्यवसायों से संबद्ध है तथा अन्य जातियों अथवा उप-जातियों से विस्तृत श्रम विभाजन के आधार पर संबद्ध है। प्रत्येक जाति की एक विशिष्ट जीवन शैली है जिसके अंतर्गत पोशाक, भोजन, संस्कार इत्यादि के विशिष्ट रूप पाए जाते हैं। परंपरागत हिन्दू समाज में ऐसे वैधानिक व संस्कारगत प्रतिमान पाए जाते थे जिनके कारण निम्न जातियाँ उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण नहीं कर सकती थीं।

ब्राह्मण एवं अस्पृश्य जातियों के मध्य जीवन शैली स्पष्ट एवं चरम रूप में विभाजित थी। ठीक इसी प्रकार उच्च जातियों की जीवन शैली का अनुकरण करने के विरोध में बने प्रतिबंध मूलतः अस्पृश्यों के विरुद्ध ही थीं। तथा उन्हें दबावपूर्ण माध्यमों से अस्पृश्यों पर लागू किया जाता था। आन्द्रे बेतेइ के अनुसार दक्षिण भारत में हाल के वर्षों तक हरिजन का पक्के, ईंटों व टाइल्स के बने मकानों में रहना प्रतिबंधित था। वे ऊपरी शरीर में वस्त्र धारण नहीं कर सकते थे तथा रेशमी वस्त्र पहन नहीं सकते थे। इस प्रकार के नियमों की कठोर प्रकृति उत्तर भारत में उतनी स्वीकार्य नहीं है जितनी कि दक्षिण भारत में है। साथ ही दक्षिण भारत की भाँति इन्हें उत्तर भारत में कठोरतापूर्वक लागू नहीं किया जाता है।

अस्पृश्यों की सामाजिक पहचान इस तथ्य से भी स्थापित होती है कि उन्हें मुख्य ग्रामीण क्षेत्र से दूर रहने की स्वीकृति प्राप्त है। अस्पृश्यों के आवासीय क्षेत्र मुख्य गाँव से बहुत दूर होते हैं अथवा गाँव की सीमा के बाहर होते हैं। बेतेइ के अनुसार इस प्रकार का पृथक्करण दक्षिण भारत में, उत्तर भारत की तुलना में, अधिक प्रचलित है। तमिलनाडु में हरिजनों के आवासीय स्थलों को 'चेरी' कहा जाता है। ये आवासीय स्थल मुख्य गाँव के आवासीय स्थलों से लगभग एक मील अथवा आधा मील की दूरी पर स्थित हैं। हरिजन जाति सामान्यतया खेती कर रही जातियों से प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से दूरी बनाए रखती है। हरिजन सामान्यतया धान के खेतों में निवास करते हैं जो मुख्य गाँव से दूर हैं। 'चेरी' को सांस्कारिक व धार्मिक दृष्टि से अपवित्र माना जाता है। अतः कोई भी परंपरानिष्ठ ब्राह्मण वहाँ प्रवेश नहीं करेगा। आवासीय आधार पर इस प्रकार का कठोर पृथक्करण नगरीय केंद्रों में नहीं पाया जाता यद्यपि आवासीय पृथक्करण नगरीय यथार्थ का भी भाग है। नगरों में भी हरिजन एक ही स्थान पर सहयोग की भावना के साथ निवास करते हैं।

परंपरागत रूप में अस्पृश्य शारीरिक श्रम से संबद्ध क्रियाओं में संलग्न होते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में वे आज भी शारीरिक श्रम करने वाली कार्यशील जनसंख्या के बहुमत को निर्मित करते हैं। हरिजन श्रमिकों के विभिन्न भाग अनेक प्रकार के विशिष्ट परंपरागत कार्यों से संबद्ध हैं। सफाई करना, चमड़े का कार्य (चमड़ा उतारना, चमड़े को समतल बनाना), डोलची बनाना इत्यादि हरिजनों के परंपरागत कार्य हैं। लोकप्रिय रूप में ये शारीरिक श्रम संबंधी कृत्य हरिजनों के वंशानुगत पेशे हैं। अधिकांश जनता की मानसिकता में अस्पृश्य एवं अस्पृश्यता के प्रति विषयपरक तथा पूर्वाग्रह संबंधी विचार शारीरिक श्रम की प्रकृति का ही परिणाम हैं। ऐसे अनेक महत्वपूर्ण अनुसंधान भी हैं जिसमें अस्पृश्यों की धार्मिक-सांस्कारिक दृष्टि से अपवित्र प्रस्थिति हेतु परंपरागत रूप से शारीरिक श्रम को, जो अपवित्र है, उत्तरदायी माना है

अर्थात् अपवित्र प्रस्थिति का अपवित्र शारीरिक श्रम से संबद्ध है। फ्रांसीसी समाजशास्त्री लुइड्यूमां ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'होमो हायरारकिकस' में इन संबंधों पर व्यापक रूप से प्रकाश डाला है।

व्यवसाय के अतिरिक्त अस्पृश्यों की जीवन शैली में कुछ ऐसे अन्य तत्व भी हैं जो कि हिन्दू सांस्कृतिक मूल्य व्यवस्था में अपवित्र माने जाते हैं। इसमें से एक महत्वपूर्ण तत्व भोजन है। संस्कारगत हिन्दूवाद में भोजन एवं पीने से संबद्ध अनेक वस्तुओं को पवित्र एवं अपवित्र (शुद्ध एवं अशुद्ध) की श्रेणी में विभाजित किया गया है। जाति की प्रस्थिति का घनिष्ठ संबंध उस जाति के सदस्यों की भोजन संबंधी आदतों से है (इकाई 18 एवं 19 का अध्ययन विस्तृत विवेचन हेतु करें)। सामान्यतया सामिष भोजन को निम्न क्रम प्रदान किया जाता है। अस्पृश्य न केवल सामिष भोजन करते हैं अपितु एक विशेष प्रकार का गोश्त (मांस) भी खाते हैं जिसे कि स्वच्छ नहीं माना जाता है। अस्पृश्य जातियों के वे समूह जो गोमांस का सेवन करते हैं, क्रम विन्यास में सबसे निम्न स्थानों पर हैं। इसका स्पष्ट कारण यह है कि गो-वध हिन्दू धर्म में निषिद्ध है। गो-मांस के सेवन का अभिप्राय घिनौनी वस्तु का सेवन है। यदि कोई हरिजन जाति गो-मांस का सेवन करना त्याग भी देती है तो भी वह परंपरागत कलंक से मुक्त हो जाएगी ऐसा नहीं कहा जा सकता। वस्तुतः परंपरागत कलंक से पूर्ण मुक्ति प्रायः संभव नहीं है। अस्पृश्य जातियों के धार्मिक व्यवहार उच्च जाति हिन्दुओं से महत्वपूर्ण रूप में भिन्न हैं। अस्पृश्यों की धार्मिक व्यवस्था में संस्कारगत पक्षों का कम समावेश है क्योंकि पारंपरिक रूप में अस्पृश्य जातियों को हिन्दू मंदिरों में प्रवेश का अधिकार नहीं था। साथ ही ब्राह्मण पुरोहितों की सेवाएँ अस्पृश्य जातियों को प्राप्त नहीं होती थीं। परिणामस्वरूप हरिजन जातियों के मंदिरों में स्थानीय देवताओं एवं नरक दूतों की मूर्तियाँ अधिक हैं जहाँ पशु बलि स्वीकार्य है और गैर-सांस्कारिक कृत्य संपन्न किए जाते हैं। अस्पृश्यता के ये वे सांस्कृतिक पक्ष हैं जो उच्च जातियों के साथ सांस्कृतिक पृथक्करण उत्पन्न करते हैं। अब हम उन व्यवहारों की चर्चा करेंगे जिन्हें प्रयास के रूप में स्वीकार कर अस्पृश्यता की समाप्ति के संगठित प्रयत्न किए जा रहे हैं।

23.3 अस्पृश्यता की समाप्ति : मूल्यांकन

अस्पृश्य जातियों को समाज की मुख्य धारा में लाने के समस्त सरकारी प्रयासों एवं कार्यक्रमों के बावजूद हरिजन वर्तमान में भी आर्थिक एवं शैक्षणिक दृष्टि से पिछड़े हुए हैं। हरिजन जनसंख्या का एक बड़ा भाग (35 प्रतिशत) कृषि श्रमिक स्तर से संबद्ध है। यदि कुछ हरिजन के पास भूमि स्वामित्व है तो वह उतनी कम है कि उनकी स्थिति किसी भी रूप में 'कृषि श्रमिकों' से अच्छी नहीं है। नीति निर्माता, नियोजक एवं सामाजिक कार्यकर्ता इस तथ्य के प्रति चेतनशील हैं कि भारत में वैधानिक क्रियाओं एवं प्रशासनिक कृत्यों के द्वारा अनुसूचित जातियों की 'जीवन स्थितियों' में गुणात्मक सुधार उत्पन्न नहीं किए जा सके हैं। संवैधानिक अधिकार एवं अन्य अधिकार तब तक अर्थपूर्ण नहीं हैं जब तक कि अस्पृश्य जातियाँ निर्धन, अशिक्षित एवं असंगठित हैं तथा पृथक्करण के विभिन्न पक्षों की शिकार हैं। सरकार की आरक्षण की नीति के बावजूद हठधर्मी सामाजिक शक्तियों ने अस्पृश्य जातियों के विकास में अवरोध उत्पन्न किए हैं। ये हठधर्मी सामाजिक शक्तियाँ देश की आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं पर प्रभावी नियंत्रण बनाए हुए हैं। इसके अतिरिक्त दमन एवं शोषण की एक लंबी परंपरा के कारण यह अत्यंत कठिन है कि अस्पृश्य अल्पकालिक अवधि में उतना विश्वास उत्पन्न कर लें जिसके आधार पर सरकारी कार्यक्रमों के प्रति उनकी प्रतिक्रिया सकारात्मक बन जाए।

बोध प्रश्न 2

1) उदाहरणों की सहायता से 'हरिजनों के आवासीय पृथक्करण' की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। आपका उत्तर तीन या चार पंक्तियों से अधिक न हो।

.....

.....

.....

.....

) उन दो पक्षों का उल्लेख कीजिए जिनके आधार पर हरिजन जातियों को अस्पृश्य की संज्ञा दी जाती है।

.....

.....

.....

.....

23.3.1 अस्पृश्यता के विरुद्ध सामाजिक सुधार आंदोलन

अस्पृश्यता के निवारण हेतु सामाजिक सुधार आंदोलनों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है –

i) सुधारात्मक आंदोलन

ii) वैकल्पिक आंदोलन

) **सुधारात्मक आंदोलन** अस्पृश्यता की समस्या के समाधान हेतु जाति व्यवस्था में सुधारों से संबद्ध हैं। वैकल्पिक आंदोलन वैकल्पिक सामाजिक-सांस्कृतिक संरचना को उत्पन्न करने के प्रयास हैं जो धर्मान्तरण अथवा शिक्षा प्राप्ति के द्वारा अस्तित्व में आते हैं। आर्थिक प्रस्थिति में ऊर्ध्वाधर गतिशीलता तथा राजनीतिक शक्ति की प्राप्ति के प्रयास भी वैकल्पिक आंदोलनों के भाग हैं। दोंनों ही प्रकार के आंदोलन अपने उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु राजनीतिक साधनों को प्रयुक्त करते हैं।

सुधारात्मक आंदोलनों को निम्नलिखित प्रकारों में पुनः वर्गीकृत किया जा सकता है–

i) संस्कृतिकरण

ii) भक्ति आंदोलन

iii) नव-वेदान्तिक आंदोलन

i) संस्कृतिकरण सुधारात्मक आंदोलन का अनिवार्य अंग है। इस प्रक्रिया में संस्तरणात्मक जाति संरचना में उच्च प्रस्थितियाँ प्राप्त जातियों के प्रतिमान एवं मूल्यों का अनुकरण किया जाता है। इस अनुकरणात्मक आंदोलन के मूल में यह तर्क विद्यमान है कि यदि अस्पृश्य उच्च जातियों के प्रतिमानों एवं मूल्यों का अनुकरण करते हैं तो उनकी प्रस्थिति में गुणात्मक सुधार संभव है अर्थात् उनकी प्रस्थिति वर्तमान प्रस्थिति की तुलना में उच्च हो सकती है। अतः परिवर्तन के प्रेरक तत्व के रूप में प्रस्थिति गतिशीलता की चर्चा की जा सकती है। इन आंदोलनों ने अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को प्रेरित किया कि वे मदिरा एवं सामिष भोजन का त्याग करें तथा मूर्ति पूजा आदि को छोड़ें। इनमें से कुछ आंदोलनों का उद्देश्य उन नवीन मिथकों एवं प्रतीकों को जन्म देना था जिनसे अस्तित्व की श्रेष्ठता को स्थापित किया जा सके। सामाजिक गतिशीलता की इस प्रणाली में दो प्रमुख अवरोध थे। प्रथम तो यह कि उच्च संस्तरणों के लोग इन निम्न संस्तरणों के लोगों को अपने प्रतिमानों एवं मूल्यों का अनुकरण करने की आज्ञा प्रदान करें अथवा अनुकरण करने वाले इन संस्तरणों के प्रति सहनशील दृष्टिकोण अपनाए। द्वितीय, ये कि अस्पृश्य मनोवैज्ञानिक रूप से इस रूपांतरण के लिए स्वयं को तैयार करें एवं व्यवहार परिवर्तन के लिए यदि उन्हें उच्च संस्तरणों के लोगों द्वारा दंडित किया जाए तो उसे सहन करें। संक्षेप में यह कह सकते हैं कि संस्कृतिकरण की प्रक्रिया में उपयुक्त काल्पनिक कथाओं की खोज द्वारा निम्न जातियों के उच्च सामाजिक प्रस्थिति के दावे को तार्किकता एवं युक्ति संगतता प्रदान करने का प्रयास होता है ताकि जाति संस्तरण में वे उच्च पद प्राप्त कर सकें। इस प्रक्रिया के माध्यम से सभी अस्पृश्य जातियाँ उन नागरिक निर्योग्यताओं को समाप्त करने में सफल नहीं हो सकीं जो कि उन पर परंपराओं के माध्यम से बलात रूप से लादी गई थीं। संस्तरणात्मक प्रकृति से संबद्ध जाति व्यवस्था का लाभ उठाकर उच्च जातियों ने ऐसे अनेक अवरोध उत्पन्न किए जिनके कारण ये अनुसूचित जातियाँ संस्कृतिकरण के प्रयासों में सफल नहीं हो सकीं। संस्कृतिकरण की प्रक्रिया ने समूह गतिशीलता को उत्पन्न किया एवं उन विखंडनों एवं संयोजनों को जन्म दिया जो नवीन अस्मिताओं पर आधारित थे। अतः नवीन जातियाँ एवं पंथ अस्तित्व में आए। संस्कृतिकरण से उत्पन्न ये परिवर्तन सुधारवादी प्रकृति के थे अर्थात् इनकी प्रकृति संरचनात्मक नहीं थी।

अन्य सुधारवादी आंदोलन जैसे—भक्ति आंदोलन एवं नव-वेदान्तिक आंदोलन केवल अनुसूचित जातियों तक ही केंद्रित नहीं थे। इन आंदोलनों का नेतृत्व हिन्दू धार्मिक नेताओं एवं समाज सुधारकों ने किया। इन आंदोलनों के अंतर्गत अस्पृश्यों को जाति व्यवस्था के अंतर्गत सम्मिलित कर अस्पृश्यता की समाप्ति के प्रयास किए गए। इन आंदोलनों के नेतृत्वकारियों का मत था कि अस्पृश्यता हिन्दू समाज-व्यवस्था का आवश्यक अंग नहीं है अतः अस्पृश्यता को जाति व्यवस्था का भी आवश्यक अंग नहीं माना जा सकता। एक महत्वपूर्ण उल्लेख इस संदर्भ में यह है कि सभी सुधारवादियों ने, जो इन आंदोलनों से संबद्ध थे, जाति व्यवस्था को चुनौती नहीं दी। इन्होंने तो जाति व्यवस्था को अधिक मानवीय बनाने का प्रयास किया। अस्पृश्यता को पाप के रूप में स्वीकार किया गया परंतु जाति व्यवस्था की वैधता पर कोई प्रश्न उन्होंने नहीं उठाया।

ii) **वैकल्पिक आंदोलन** : वैकल्पिक आंदोलनों को भी दो भागों में बाँटा जा सकता है जिन्हें धर्मांतरण आंदोलन तथा धर्मनिरपेक्ष आंदोलन की संज्ञा दी जा सकती है।

i) **धर्मांतरण आंदोलन** का उद्देश्य प्रति संस्कृति को उत्पन्न करना तथा धर्म परिवर्तित करने वाली इकाइयों की सामाजिक तथा आर्थिक स्थितियों में सुधार करना था। संस्कृतिकरण की भाँति धर्मांतरण भी सामान्यतया समूह प्रघटना था तथा धर्म परिवर्तित करने वाली इकाइयां जाति की विशेषताओं को अपनाए रखीं। अनुसूचित जातियों द्वारा दूसरे धर्म को अपनाने की प्रक्रिया देश के कुछ भागों के अतिरिक्त अनुपात की दृष्टि से नगण्य रही। आरक्षण की नीति के अंतर्गत अनुसूचित जाति की सांविधिक प्रस्थिति उनके सामाजिक-आर्थिक विकास एवं राजनीतिक प्रतिनिधित्व का महत्वपूर्ण कारण है। इस प्रक्रिया के अथवा स्थिति के फलस्वरूप गैर-हिन्दू विश्वास व्यवस्थाओं को अंगीकार करने की घटनाओं में कमी आई है। परंतु इसका अभिप्राय धर्मांतरण की प्रक्रिया को नकारना नहीं है। अस्पृश्यता की स्थिति से उत्पन्न शोषण के कारण अनेक अनुसूचित जाति अथवा अस्पृश्यों के परिवारों ने हिन्दू धर्म का परित्याग कर बौद्ध धर्म को अंगीकार किया। पचास के दशक के प्रारंभ में बी.आर. अम्बेडकर का यह मत था कि अस्पृश्यों के लिए सर्वाधिक उपयुक्त वैकल्पिक धर्म बौद्ध धर्म है। अम्बेडकर के इस दृष्टिकोण से प्रभावित होकर महाराष्ट्र की अस्पृश्य जाति महार के हजारों सदस्यों ने सामूहिक धर्मांतरण कर हिन्दू धर्म के स्थान पर बौद्ध धर्म को स्वीकार कर लिया। डॉ. बी.आर. अम्बेडकर ने बौद्ध धर्म को इसलिए प्राथमिकता दी क्योंकि यह भारतीय धर्म है जो समानता पर बल देता है साथ ही यह धर्म जाति-विरोधी एवं ब्राह्मण विरोधी भी था। इसके पूर्व अम्बेडकर ने अनेक अस्पृश्यों को हिन्दू सामाजिक व्यवस्था के अंतर्गत ही सुधारने के अथवा उनकी प्रस्थिति को उच्च करने के प्रयास किए। उनके इस प्रयास का अनेक लोगों ने विरोध किया। इस विरोध के परिणामस्वरूप डा. अम्बेडकर इतने अधिक उत्तेजित एवं परेशान हुए कि उन्होंने हिन्दू धर्म को अस्वीकृत कर दिया और एक मानवीय विकल्प को अंगीकार कर लिया।

ii) **धर्मनिरपेक्ष आंदोलन** का अभिप्राय अस्पृश्यों के उन प्रयासों से है जिनके अंतर्गत शिक्षा प्राप्त कर, जीवन को सुधारा जाता है तथा राजनीतिक संरचना में सहभागिता प्राप्त की जाती है। इन प्रयासों के द्वारा अस्पृश्य अपनी प्रस्थिति को उच्च बनाते हैं।

इस संदर्भ में हम एक बार पुनः डॉ. अम्बेडकर के योगदान की चर्चा कर सकते हैं। आप संभवतया जानते ही हैं कि अम्बेडकर उन प्रथम अस्पृश्यों में से एक थे जिन्होंने उच्च शिक्षा प्राप्त की थी। अम्बेडकर ने अमेरिका एवं इंग्लैण्ड से एम.ए. एवं पीएच.डी. की उपाधियां प्राप्त कीं तथा बैरिस्टर-एट-लॉ बने। उन्होंने अस्पृश्यों के सम्मुख यह एक उदाहरण प्रस्तुत किया कि वे शिक्षा प्राप्त कर सकते हैं तथा अपने जीवन स्तर को उच्च बना सकते हैं। अस्पृश्यों में डॉ. अम्बेडकर के अनेक अनुयायी बन गए। डॉ. अम्बेडकर ने अस्पृश्यों को सुझाव दिया कि वे गंदी समझी जाने वाली अनेक आदतों जैसे—माँस खाना इत्यादि का परित्याग कर दें। कुछ समय के बाद अनेक अस्पृश्यों ने अपनी प्रस्थिति में गुणात्मक सुधार किया और जीवन के धर्मनिरपेक्ष पक्षों को स्वीकार किया। वे राजनीतिक दृष्टि से चेतनशील भी हुए तथा नागरिकों के रूप में उन्होंने अधिकारों की माँग करना प्रारंभ किया।

23.3.2 राज्य से संबद्ध क्रिया

इसके अंतर्गत उन वैधानिक एवं प्रशासनिक प्रावधानों को सम्मिलित किया जाता है जो कि अनुसूचित जातियों/अस्पृश्यों की प्रस्थिति के सुधार से संबद्ध हैं। भारत का संविधान मे

अनेक संरक्षण संबंधी प्रावधानों को स्पष्ट करता है जो अनुसूचित जातियों के कल्याण से संबंधित हैं। राज्य द्वारा प्रदत्त इन प्रावधानों में से निम्नलिखित महत्वपूर्ण हैं–

i) संसद एवं राज्य के विधान मंडलों में प्रतिनिधित्व
ii) केंद्रीय एवं राजकीय (प्रांतीय) सेवाओं में प्रतिनिधि
iii) सामाजिक, शैक्षणिक एवं आर्थिक विकास के लिए विशेष प्रावधान
iv) मनुष्य के मध्य अवैध आदान-प्रदान एवं बलात् श्रम पर प्रतिबंध
v) अस्पृश्यता के व्यवहार की समाप्ति
vi) अनुसूचित जातियों एवं जनजातीय क्षेत्रों का विकास एवं
vii) अनुसूचित जातियों के हितों एवं संरक्षण संबंधी समस्त पक्षों की जांच हेतु विशेष अधिकारी की नियुक्ति इत्यादि।

विधान मंडलों में आरक्षण

राज्य की कार्यवाही का एक महत्वपूर्ण पक्ष विधान मंडलों में आरक्षण से संबद्ध है। जनसंख्या की विभिन्न श्रेणियों के असमान विकास एवं राजनीति की प्रतियोगी प्रकृति के कारण यह आवश्यक हो जाता है कि पिछड़े एवं निर्बल भागों को अथवा श्रेणियों को आरक्षण के विशेष प्रावधान प्रदान किए जाएं। जनसंख्या के इन निर्बल भागों को अथवा श्रेणियों को आरक्षण के विशेष प्रावधान प्रदान किए जाएं। जनसंख्या के इस निर्बल भाग को संसद में स्थान के रूप में आरक्षण प्रदान किया गया है।

पंचायती राज (स्थानीय स्व-सरकार) संस्थाओं की स्थापना के उपरांत स्थानीय स्तर के प्रत्येक निकाय में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए स्थान आरक्षित किए गए हैं। ग्राम पंचायत, पंचायत समिति इत्यादि स्थानीय स्तर के वे निकाय हैं जिनमें आरक्षण के प्रावधान हैं। यद्यपि यह कहना कठिन है कि ये संस्थाएँ कितनी प्रभावशाली सिद्ध हुई हैं और क्या इन संस्थाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों को नीति-निर्धारण की प्रक्रिया में सहभागिता प्राप्त हुई है अथवा नहीं। एक ऐसी व्यवस्था में, जिसमें धन एवं प्रस्थिति में असमानता हो, संविधान में उल्लिखित प्रावधानों से शक्ति वितरण की प्रक्रिया में अपेक्षित प्रभाव पड़ना संदेहास्पद ही है। परंतु निश्चय ही यह महत्वपूर्ण प्रारंभ है।

23.3.3 राजनीतिक क्रिया

अनुसूचित जातियों में परिवर्तन का एक अन्य महत्वपूर्ण स्रोत राजनीतिक क्रियाएँ हैं। ये राजनीतिक क्रियाएँ गतिशीलता की प्रक्रिया के माध्यम से राजनीतिक दलों द्वारा प्रारंभ की गई हैं। भारत में बहुदलीय व्यवस्था है और इस आधार पर यह अपेक्षा करना युक्तिसंगत है कि अनुसूचित जातियों के कुछ सदस्य राजनीतिज्ञों के रूप में विभिन्न राजनीतिक दलों में प्रवेश करें। ऐसे अनेक दल हैं जो केवल अनुसूचित जातियों इत्यादि से संबद्ध हैं। अम्बेडकर के स्वतंत्र श्रमिक दल (इंडिपेंडेंट लेबर पार्टी) एवं अनुसूचित जाति संघ (शिड्यूलकास्ट फैडरेशन) की स्थापना की। क्षेत्रीय स्तर पर भी अनेक अनुसूचित जातियों के संघ अथवा संगठन विद्यमान हैं। अम्बेडकर द्वारा निर्मित ऑल इंडिया शिड्यूल कास्ट फैडरेशन (अखिल भारतीय अनुसूचित जाति संघ) 1957 में भारत की 'रिपब्लिकन पार्टी' के रूप में उभर कर आई। यह दल भारतीय संविधान के मूल तत्वों एवं आदर्शों को स्वीकार करता है तथा अपने उद्देश्यों को संसदीय लोकतंत्र के माध्यम से प्राप्त करने का इच्छुक है। रिपब्लिकन पार्टी ऑफ इंडिया (आर.पी.आई.) के अतिरिक्त एक अन्य दल 'दलित पेंथर' है। अनुसूचित जाति के रेडिकल (आमूल चूल परिवर्तन के समर्थक) सदस्यों तथा अनुसूचित जाति के लेखकों ने एक साक्षरता आंदोलन भी चलाया जिसके माध्यम से महाराष्ट्र में इन समूहों के जीवन एवं स्थितियों में हो रहे परिवर्तन को प्रस्तुत किया गया। दलित पेंथर्स ने यह स्वीकार किया कि हिन्दू धर्म से अन्य धर्म में रूपांतरण अथवा हिन्दूवाद से स्वैच्छिक विच्छेदन जाति बाहुल्य या जाति निर्देशित समाज में अस्पृश्यों की प्रस्थिति के सुधार में आवश्यक नहीं कि सहायक हो। उन्होंने लगातार अम्बेडकर के प्रयासों से प्रेरणा ली। यद्यपि इस दल की विचारधारा का एक भाग मार्क्सवाद पर आधारित था जिसने इनके चिंतन को व्यापक बनाया। दलितों द्वारा जिन समस्याओं का सामना किया जा रहा है उनमें मूल आर्थिक आवश्यकताएँ, सामाजिक भेदभाव, राजनीतिक शोषण एवं शारीरिक उत्पीड़न/अत्याचार सम्मिलित हैं। इन समस्याओं की ऐतिहासिकता भारतीय सामाजिक संरचना में अंतर्निहित है।

बोध प्रश्न 3

1) निम्नलिखित वाक्यों को पूरा कीजिए–

अ) धर्मांतरण रूढ़िवादी हिन्दूवाद के सम्मुख ..... उत्पन्न करने का प्रयास है।

ब) बी.आर. अम्बेडकर ने हजारों महान अनुयायियों के साथ ..... धर्म अंगीकार किया।

स) भारतीय संविधान अस्पृश्यता को ..... घोषित करता है।

द) भारत की रिपब्लिकन पार्टी की स्थापना सन् ..... ई. में हुई थी।

2) बताइए कि निम्नलिखित वाक्य सत्य हैं या असत्य–

अ) सुधारवादी आंदोलनों ने नीति व्यवस्था को चुनौती प्रस्तुत की।

ब) दलितों की मुख्य समस्या दूसरे धर्मों में धर्मांतरण है।

स) राज्य ने हरिजनों के उद्धार के लिए विशेष प्रावधानों का निर्माण किया है।

23.4 सारांश

इस इकाई के माध्यम से आपको अस्पृश्यता एवं पृथक्करण की समस्याओं के मुख्य पक्षों से परिचित कराया गया है। सर्वप्रथम हमने संस्तरणात्मक वर्ण प्रणाली एवं जाति व्यवस्था के अंतर्गत हरिजनों अथवा अस्पृश्यों की स्थिति को स्पष्ट किया। हमने कुछ मुख्य अस्पृश्य समूहों के बारे में यह बताया कि किस प्रकार अनेक शताब्दियों से उन्हें सांस्कृतिक पृथक्करण हेतु बाध्य किया गया है। तत्पश्चात् हमने उन अनेक प्रयासों की चर्चा की जिनके द्वारा अस्पृश्यता निवारण की संभावनाएं उत्पन्न हुई हैं। हमने सुधार आंदोलनों, राज्य के प्रयासों एवं राजनीतिक क्रियाओं का उन प्रयासों के संदर्भ में विवेचन किया। हमने यह भी स्पष्ट किया कि अस्पृश्यता निवारण के प्रयासों में सफलता आंशिक क्यों मिली है। इस संदर्भ में हमने अत्यंत जटिल रूप से संस्तरणात्मक एवं असमानता पर आधारित व्यवस्थाओं विशेषतः हिन्दू जाति व्यवस्था की चर्चा की।

23.5 शब्दावली

भक्ति एवं नव-वेदान्तिक आंदोलन : भक्ति आंदोलन वे धार्मिक आंदोलन हैं जो 12वीं से लेकर 14वीं शताब्दी तक के काल में भारत में चरम अवस्था में थे। इन आंदोलनों में पारलौकिक शक्ति के साथ व्यक्तिगत संबंधों पर बल दिया गया तथा जाति विभाजन को अस्वीकार कर दिया गया। इस आंदोलन में नामदेव, तुकाराम (महाराष्ट्र), मीराबाई, कबीर, सूरदास, रैदास (उत्तर भारत), आन्दल, महादेविका (दक्षिण भारत) जैसे 'भक्तों' का योगदान महत्वपूर्ण है। 'नव-वेदांतिक' आंदोलन 19वीं शताब्दी में अस्तित्व में आया। इस विषय में हम दयानन्द सरस्वती की चर्चा कर सकते हैं जिन्होंने हिन्दूवाद को शुद्ध रूप में पुनः स्थापित करने का प्रयास किया। इसे हिन्दूवाद का पुनरोत्थानवाद भी कहा जाता है। हिन्दूवाद की इस पुनः व्याख्या में संस्कार एवं अंध-विश्वास जैसे तत्वों को पृथक कर दिया गया।

आरक्षण नीति : इसका अभिप्राय राज्य द्वारा अस्वीकृत एवं उल्लिखित उन प्रावधानों से है जिसके अंतर्गत निर्बल वर्ग को विभिन्न सरकारी प्रतिष्ठानों में आरक्षण प्रदान किया गया है। यह आरक्षण प्रतिनिधित्व एवं सेवाओं के संदर्भ में है। इस आरक्षण का सरकारी क्षेत्रों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में विस्तार किया गया है। इस नीति को 'संरक्षणात्मक असमानता' की संज्ञा दी जाती है।

संस्कृतिकरण : एम.एन. श्रीनिवास द्वारा प्रस्तुत एक अवधारणा जिसका अभिप्राय उस प्रक्रिया से है जिसके अंतर्गत निम्न जातियाँ उच्च जातियों की जीवन पद्धति का अनुकरण कर अपनी प्रस्थिति को उच्च बनाने का प्रयास करती हैं।

सफाई संबंधी कार्य (स्केवेंजिंग) : मृत पशुओं एवं पक्षियों के शवों को एकत्रित करना। परंपरागत रूप से यह कार्य अस्पृश्य जातियों के लिए निश्चित था।

वर्ण एवं जाति : वर्ण का अभिप्राय रंग (त्वचा के रंग) पर आधारित हिन्दू जनसंख्या का वर्गीकरण है। दूसरे शब्दों में रंग के आधार पर हिन्दुओं का वर्गीकरण वर्ण को व्यक्त करता है। सफेद त्वचा से संबद्ध आर्यों के उत्तराधिकारी/वंशज उच्च वर्ण के साथ जुड़े हैं अर्थात् इन्हें संस्तरण में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। जबकि काली त्वचा से संबद्ध 'दास' के वंशज/उत्तराधिकारी को वर्ण संस्तरण में निम्न स्थान प्राप्त है। जाति का अभिप्राय उन जातियों (कास्ट) एवं उपजातीय समूहों से है जिन्हें विभिन्न भौगोलिक क्षेत्रों में विशिष्टताओं के साथ अवलोकित किया जा सकता है। अतः क्षेत्रीय आधार पर विभिन्नताएँ जाति की विशेषता है। उदाहरण के लिए वैश्य और क्षत्रिय वर्ण का तथा चमार, अहीर, जाट इत्यादि जाति का प्रतिनिधित्व करते हैं।

23.6 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अम्बेडकर बी.आर. *द अनटचेबिल्स*, नई दिल्ली : अमृत बुक कंपनी।

कोठारी, आर. (संपादित), 1970. *कास्ट इन इंडियन पोलिटिक्स*, नई दिल्ली : ओरिएंट लांगमैन।

23.7 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) अ) असत्य, ब) असत्य, स) सत्य।

2) अ) पांचवीं श्रेणी

   ब) पुत्र का जन्म एवं विवाह/धार्मिक अनुष्ठान

   स) पंद्रह प्रतिशत

बोध प्रश्न 2

1) हरिजन मुख्य गाँव से एक निश्चित दूरी पर, अर्थात् गाँव के क्षेत्र से बाहर, निवास करते थे। तमिलनाडु में 'चेरी' अथात् हरिजन बस्तियाँ उस कृषि भूमि में निवास करती हैं जो मुख्य गाँव से लगभग एक मील दूर है। ये बस्तियाँ अपवित्र मानी जाती हैं तथा उच्च जाति के सदस्य इन बस्तियों से संपर्क नहीं रखते हैं एवं इनकी उपेक्षा करते हैं।

2) हरिजनों का संबंध विभिन्न परंपरागत व्यवसायों जैसे चमड़े का कार्य एवं गंदी वस्तुओं (मृत शरीर, जानवर, पक्षी) की सफाई से है। परंपरागत रूप से अस्पृश्य/हरिजन गौ-मांस सहित सामिष भोजन करते हैं। इन पक्षों के आधार पर इन जातियों को अपवित्र माना जाता है तथा उच्च जातियाँ इन्हें 'अस्पृश्य' मानती हैं।

बोध प्रश्न 3

1) अ) प्रति संस्कृति
   ब) बौद्ध धर्म
   स) समाप्त
   द) 1957

2) अ) असत्य, ब) असत्य, स) सत्य।

Notes

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

खंड
6

भारतीय वर्ग संरचना

इकाई 24
कृषिक वर्ग संरचना—भूस्वामी, पट्टेदार और श्रमिक 5

इकाई 25
कृषिक वर्ग संरचना और परिवर्तन 20

इकाई 26
नगरीय वर्ग संरचना-I : श्रमिक वर्ग 37

इकाई 27
नगरीय वर्ग संरचना-II : मध्यम वर्ग 49

इकाई 28
नगरीय वर्ग संरचना-III : उद्यमी वर्ग 58

इकाई 29
अभिजन और शक्ति की असमानता 69

खंड परिचय : भारतीय वर्ग संरचना

पिछले खंड में हमने आपको सामाजिक स्तरण की आधारभूत संकल्पनाएँ और सिद्धान्तों के बारे में बतायां। हमने अनुभवजन्य वास्तविकताओं के आधार पर भारतीय समाज में सामाजिक स्तरण की कुछ संकल्पनाओं और सिद्धान्तों का भी विश्लेषण किया।

सामाजिक वर्ग और सम्भ्रान्त वर्ग सामाजिक स्तरण की दो महत्वपूर्ण संकल्पनाएँ हैं। इस खंड में हम भारतीय कृषिक और शहरी समाज के संदर्भ में इन संकल्पनाओं का विश्लेषण करेंगे। इस खंड में छः इकाइयाँ हैं।

इकाई 24 कृषिक वर्ग संरचना : भूस्वामी, पट्टेदार, बटाईदार और कृषि श्रमिक के बारे में है। इस इकाई में औपनिवेशिक तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत में कृषिक सामाजिक संरचना और कृषिक वर्ग की आधारभूत संकल्पनाओं तथा विभिन्न कृषिक वर्गों के आविर्भाव से संबंधित सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं का विवेचन किया गया है। इस इकाई में कृषिक वर्गों तथा जाति को मिलने वाले सामाजिक संबंधों और जाति हस्तक्षेप का भी विवेचन किया गया है।

इकाई 25 में कृषिक वर्ग संरचना और परिवर्तन पर विचार किया गया है। इस इकाई का उद्देश्य कृषिक आन्दोलन के संदर्भ में, भारत में परिवर्तनशील कृषिक संबंधों का विश्लेषण करना है। इसमें पूर्व औपनिवेशिक, औपनिवेशिक तथा स्वातंत्र्योत्तर भारत में किसान आंदोलनों के आविर्भाव के सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक संदर्भों की चर्चा की गई है। इसमें स्वतंत्रता आन्दोलन और चम्पारण, बारदोली, तेभागा, तेलंगाना, और नक्सलवादी आन्दोलनों जैसे कुछ महत्वपूर्ण किसान आन्दोलनों में किसानों की सहभागिता के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं का भी उल्लेख किया गया है। इस इकाई में तमिलनाडु, महाराष्ट्र और भारत के उत्तरी भागों के तत्कालीन किसान आन्दोलनों की भी चर्चा की गई है।

इकाई 26 नगरीय वर्ग संरचना-I श्रमिक वर्ग पर है। इस इकाई में भारत में शहरी श्रमिक वर्ग के आविर्भाव से संबंधित सामाजिक-आर्थिक और राजनीतिक प्रक्रियाओं की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा की गई है। इस इकाई में औपनिवेशिक काल में ग्रामीण और कुटीर के ह्रास, औद्योगिकीकरण और शहरीकरण की प्रक्रिया और औपनिवेशिक और स्वातंत्र्योत्तर भारत में व्यावसायिक विविधताओं की चर्चा की गई है, जो शहरी श्रमिक वर्ग की वृद्धि के लिए उत्तरदायी है। शहरी श्रमिक वर्ग के मुख्य लक्षणों के वर्णन के अलावा, इस इकाई में भारत में शहरी श्रमिक आन्दोलन की विशेषताओं और वृद्धि की चर्चा की गई है।

इकाई 27 में नगरीय वर्ग संरचना-II मध्यम वर्ग की चर्चा की गई है। इस इकाई में हमने मुख्य रूप से भारतीय संदर्भ में मध्यम वर्ग की संकल्पनाओं, उसके अध्ययन के अभिगमों, उसके प्रकारों के विकास की चर्चा की है।

इकाई 28 नगरीय वर्ग संरचना-III उद्यमी पर है। इस इकाई में भी उद्यमियों और भारतीय उद्योग में उद्यमवृत्ति के विकास के अध्ययन की संकल्पना और इसके दृष्टिकोण का वर्णन किया गया है। इस इकाई में भारत में उद्यमियों के वर्ग संघटन पर भी प्रकाश डाला गया है।

इकाई 29 में अभिजन और शक्ति की असमानता पर चर्चा की गई है। यह इकाई संभ्रान्त वर्ग की संकल्पना और उसके प्रकार तथा सम्भ्रांत वर्ग के प्रसार का विवेचन किया गया है और इसमें मौटे तौर पर भारत में सम्भ्रांत वर्ग और असमानता के मुद्दे पर ध्यान केन्द्रित किया गया है।

इकाई 24 कृषिक वर्ग संरचना—भूस्वामी, पट्टेदार और श्रमिक

इकाई की रूपरेखा

24.0 उद्देश्य
24.1 प्रस्तावना
24.2 कृषिक सामाजिक संरचना और वर्ग
  24.2.1 कृषिक वर्ग
  24.2.2 कृषि के उत्पादन संगठन और सामाजिक वर्ग
24.3 ब्रिटिश शासन से पूर्व की अवधि में कृषिक वर्ग संरचना
24.4 ब्रिटिश शासन काल में कृषिक वर्ग संरचना
  24.4.1 भूमि पट्टेदारी व्यवस्था
  24.4.2 कृषिक वर्ग और वर्ग संबंध
24.5 स्वातंत्र्योतर काल में कृषिक वर्ग संरचना
  24.5.1 भूमि सुधार—लक्ष्य और उद्देश्य
  24.5.2 ग्रामीण विकास कार्यक्रम
  24.5.3 कृषि की बदलती वर्ग संरचना
24.6 जाति और कृषिक वर्ग
24.7 सारांश
24.8 शब्दावली
24.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
24.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

24.0 उद्देश्य

यह इस खंड की पहली इकाई है। यह कृषिक वर्ग संरचना से संबंधित है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कृषिक वर्ग को परिभाषित कर सकेंगे,
- ब्रिटिश-पूर्व, ब्रिटिश और स्वतंत्र भारत के कृषिक समाज में विभिन्न वर्गों के उदय का वर्णन कर सकेंगे, और
- जाति और कृषिक वर्गों के बीच पारस्परिक संबंधों की संक्षेप में व्याख्या कर सकेंगे।

24.1 प्रस्तावना

यह सामान्य जानकारी की बात है कि भारत की अधिकतर आबादी गाँवों में बसती है। भारतीय समाज, इस तरह, मुख्य रूप से एक कृषिक समाज है।

पिछली दो शताब्दियों में, एक कृषक समाज के रूप में भी भारत बहुत से परिवर्तनों के दौर से गुज़रा है। ग्रामीण अर्थव्यवस्था आत्मनिर्भर हुआ करती थी। लेकिन इस व्यवस्था को तोड़कर एक स्थाई किन्तु स्तरीकृत भूमि पट्टेदारी व्यवस्था ने जगह ली, जिसे ब्रिटिश शासन ने प्रारंभ किया था। ब्रिटिश शासन ने पट्टेदारी की जमींदारी, महालवारी और रैयतवारी व्यवस्थाएँ प्रारंभ की। पट्टेदारी की ऐसी स्तरीकृत व्यवस्था ने भूमि के वास्तविक स्वामी और सरकार के बीच बिचौलियों की एक शृंखला उत्पन्न कर दी। एक किरायाखोरी और दूरवासी जमींदारों के वर्ग का उदय हुआ जो कृषिक सामाजिक सोपानक्रम में उच्च स्तर पर स्थित था। और निम्न स्तर पर थे, एक बड़ी संख्या में असुरक्षित और निर्धन कृषक, बटाईदार और कृषि-श्रमिक। स्वतंत्रता-पश्चात्, विभिन्न राज्यों ने बिचौलियों का उन्मूलन करने के लिए भूमि सुधार कानूनों को पारित किया। इस तरह से प्राप्त अतिरिक्त

भूमि ग्रामीण निर्धनों के बीच बाँट दी गई। दूसरी ओर, राज्य सरकारों ने ऐसे ही कई भूमि सुधार कानूनों द्वारा भूमि की उत्पादकता बढ़ाने और बटाईदारों को पट्टेदारी की सुरक्षा प्रदान करने का प्रयास किया। कृषिक समाज में मूलभूत परिवर्तन शीघ्र लाने के लिए, ग्राम विकास की कई रणनीतियाँ अपनाई गई। लेकिन भारत में भूमि सुधार और विकास की रणनीतियों ने क्षेत्रीय विषमताओं और अत्यधिक वर्ग असमानताओं को भी जन्म दिया।

इस इकाई में हमने उपयुक्त सभी पहलुओं पर विस्तार से विचार किया है। इकाई प्रारंभ होती है, कृषिक सामाजिक संरचना और कृषिक सामाजिक वर्ग के विश्लेषण से। इसमें हम ब्रिटिश शासन से पूर्व, ब्रिटिश शासन और स्वतंत्र भारत के कृषिक सामाजिक संरचना का उल्लेख करते हैं। इन अध्यायों में हम पट्टेदारी, भूमि सुधार और ग्राम विकास आदि उपायों का कृषिक वर्ग संरचना पर प्रभाव के बारे में विचार-विमर्श करते हैं। और अंत में, हम कृषिक वर्ग संरचना के सामाजिक संघटन को जाति और वर्ग के वृहत् परिप्रेक्ष्य में देखते हैं।

24.2 कृषिक सामाजिक संरचना और वर्ग

कृषिक संरचना का अर्थ होता है, कृषि का संस्थागत ढाँचा। इस संस्थागत ढाँचे का संबंध भूमि के वितरण, नियंत्रण और उपयोग से होता है। दूसरे शब्दों में, इसका संबंध, भूमि की पट्टेदारी, कृषि में रोजगार के रूपों, सामाजिक संगठनों, श्रमिक संघों, ऋणों या परामर्शदात्री सेवाओं आदि से होता है। इसमें कृषि की आधारिक संरचनाएँ जैसे सड़क, रेलवे, सिंचाई साधन आदि भी शामिल हैं। लेकिन, समाजशास्त्र में हम कृषिक सामाजिक संरचना से अधिक संबद्ध होते हैं। कृषिक सामाजिक संरचना, डेनियल थार्नर के अनुसार, कृषि से जुड़े विभिन्न समूहों के बीच बने अंतःसंबंधों का बोध कराती है। यह उन सभी प्रणालियों का कुल योग है जिसके आधार पर एक समूह दूसरे समूहों के प्रति संक्रियशील होता है। यहाँ हम संस्थागत ढाँचों और सामाजिक संरचनाओं के अंतःसंबंधों के अध्ययन से भी सरोकार रखते हैं। इन पहलुओं का अध्ययन हम वर्ग संबंधों और कृषि के उत्पादन संगठन में निरंतरता और परिवर्तन के अवधारणाओं से कर सकते हैं।

24.2.1 कृषिक वर्ग

वर्ग के परिप्रेक्ष्य में, आबादी का वर्गीकरण हम उत्पादन के सामाजिक संगठन में उनकी स्थिति के आधार पर करते हैं। जिस ढंग से कृषिक समाज की आबादी, कृषि के उत्पादन संगठन से जुड़ी होती है, वही उनके वर्ग स्थिति का निर्धारण करती है। दूसरे शब्दों में, आबादी की वर्ग स्थिति निश्चित करने के लिए, हम उस ढंग का प्रतिरूप खोजते हैं जिस ढंग से लोग कृषि क्षेत्र में उत्पादन के मुख्य गतिविधियों (सामान्यतः भूमि से संबंधित) से जुड़े होते हैं।

कई विद्वानों द्वारा "कृषिक समाज" को "कृषक समाज" माना जाता है। रेडफील्ड के अनुसार–"सारी दुनिया में कुछ समानताओं के साथ, कृषक समाज और संस्कृति एक प्रकार की मानवीय व्यवस्था है"। अतः कृषक समुदाय के कुछ महत्वपूर्ण सामान्य लक्षणों का उल्लेख करना आवश्यक है। थियोडर शानिन ने इन लक्षणों का सार प्रस्तुत शब्दों में व्यक्त किया है–"कृषक समुदाय छोटे कृषि उत्पादकों से बने होते हैं जो सरल उपकरणों और पारिवारिक श्रम की सहायता से उत्पादन करते हैं। वे मुख्यतः अपने उपभोग के लिए और राजनीतिक व आर्थिक शक्तियों के प्रति अपने दायित्वों को पूरा करने के लिए उत्पादन करते हैं।"

अगर कृषक समाजों में उत्पादन सरल और लघु है तो एक प्रश्न उठता है क्या कृषक समुदाय अपने आप में एक वर्ग का निर्माण करता है? कृषिक समाजों के अध्ययन में लगे समाज विज्ञानियों के बीच यह प्रश्न एक मुख्य मुद्दा बन गया है। कार्ल मार्क्स के अनुसार कृषक समुदाय एक वर्ग का निर्माण नहीं करता है–"उनके उत्पादन की पद्धति उन्हें पारस्परिक संसर्गों में लाने के बजाय, एक दूसरे से अलग करती है।" नेपोलियन बोनापार्ट के उदयकाल के फ्रांसीसी कृषक समुदाय पर अपने अवलोकन के आधार पर मार्क्स की टिप्पणी है कि कृषक समुदाय के उत्पादन संगठन में–श्रम के विभाजन, विज्ञान का प्रयोग, नई प्रतिभाओं के प्रवेश आदि की बहुत कम गुंजाइश है। मार्क्स लिखते हैं–"प्रत्येक

परिवार लगभग आत्मनिर्भर है। यह अपने उपभोग का ज्यादा हिस्सा स्वयं पैदा करता है। और इस तरह अपने जीवन साधन का अधिकांश यह प्रकृति के साथ विनिमय कर प्राप्त करता है न कि समाज के संसर्गों द्वारा–इस तरह के समाज का एक बहुत बड़ा हिस्सा एकरूपी आकारों के सरल योग से बनता है, जैसे एक बोरे में रखे आलू मिलकर बनते हैं–"आलू का बोरा" मार्क्स के लिए वर्ग तभी बनते हैं जब एक जनसमूह एक स्तर के आर्थिक स्थिति में हों, दूसरे वर्गों के विरुद्ध एक तरह का आर्थिक हित हो और एक आत्मनिष्ठ चेतना हो जो उन्हें दूसरे वर्गों के प्रति शत्रुतापूर्ण विरोध में खड़ा करती हो। कृषक समुदाय के बीच केवल स्थानीय अंतःसंबंध होते हैं। उनके आर्थिक हित दूसरे वर्गों के विरुद्ध नहीं होते है। "अंततः वे अपने वर्ग को संसद या एक परिपाटी द्वारा स्थापित करने में असमर्थ होते हैं। वे अपना प्रतिनिधित्व स्वयं नहीं कर पाते, उनका प्रतिनिधित्व करना होता है।"

मार्क्स की मान्यताओं के विपरीत, विश्व के विभिन्न भागों के कृषक समुदाय ने महान क्रांतिकारी विप्लवों में हिस्सा लिया है, विशेषकर रूस और चीन में। इरिक वॉल्फ शानिन आदि समाज विज्ञानिकों ने कृषक समुदाय के क्रांतिकारी भूमिका के बारे में लिखा है। कृषक समुदाय पर विचार करते समय, यहाँ उल्लेखनीय है कि मार्क्स ने मध्य उन्नीसवीं के फ्रांसीसी कृषक समुदाय का जिक्र किया था।

भारत में कृषक समुदाय हमेशा से वृहत ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का हिस्सा रहा है। इन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं के बीच उत्पादन के संगठन में उनकी स्थिति में बहुत अधिक परिवर्तन हुए हैं। अतः भारत में कृषिक वर्ग संबंधों के अध्ययन के लिए हमें कृषि के उत्पादन संगठन की प्रकृति से शुरुआत करनी चाहिए। और उन मुख्य ऐतिहासिक प्रक्रियाओं को देखना चाहिए जिन्होंने भारतीय कृषि के उत्पादन संगठन को प्रभावित किया है।

24.2.2 कृषि के उत्पादन संगठन और सामाजिक वर्ग

भारत में कृषि के उत्पादन संगठन की प्रकृति एकरूप नहीं रही है। कृषिक वर्गों का सामाजिक-आर्थिक संघटन भिन्न क्षेत्रों में भिन्न होता है। इस भिन्नता के निर्माण में कृषि-जलवायु परिस्थिति में विविधता, राजनीतिक-प्रशासनिक व्यवस्था और सामाजिक सांस्कृतिक संगठनों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। भूमि के स्वामित्व, नियंत्रण और उपयोग प्रणालियों में भी क्षेत्रीय भिन्नता होती है। पुनः नई तकनीकों जैसे उन्नत बीज, रासायनिक खाद और कीटनाशक दवाईयों आदि के उपयोग, कृषक उत्पाद का व्यापारीकरण और कृषक अर्थव्यवस्था के राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय बाजारों मे जुड़ने मे कृषिक वर्गों के संघटन व्यापक रूप मे प्रभावित हुए हैं। इसके अलावा, भूमि सुधार विधानों और इन विधानों के कार्यान्वयन का राजनीतिक तथा प्रशासनिक संकल्प तथा राज्यों की ग्राम विकास की रणनीतियों ने भी कृषिक वर्ग संरचना के निर्माण को प्रभावित किया है।

कृषि के उत्पादन संगठन और इसकी वर्ग संरचना, एक लम्बे ऐतिहासिक तथा राजनीतिक-प्रशासनिक प्रक्रियाओं का हिस्सा रही है। अतः वर्तमान कृषिक समाज के वर्ग संरचना को समझने के लिए, हमें पूर्व कालों के उत्पादन संगठन और वर्ग संरचना में निरंतरता और परिवर्तन के पहलुओं को देखना चाहिए।

24.3 ब्रिटिश शासन से पूर्व की अवधि में कृषिक वर्ग संरचना

ब्रिटिश शासन से पूर्व की अवधि में भारत का कृषिक समाज एक आत्मनिर्भर ग्राम सामुदायिक उत्पादन व्यवस्था पर आधारित था। उत्पादन की इस व्यवस्था का मुख्य आधार था विभिन्न जातियों के बीच पारस्परिक प्रकार्यात्मक निर्भरता। इस व्यवस्था में ग्रामीण क्षेत्रों के सामाजिक-आर्थिक संबंध, पारंपरिक व्यवहारों व मूल्य तथा पुरा काल के प्रथा, परिपाटियों से अनुशासित होते थे। थॉर्नर के अनुसार–"ग्रामीणों ने अपने पारंपरिक व्यवसायों-धंधों को विरासत में पाया। शिल्पकार और दस्तकार भी कृषि पर निर्भर थे। वे गाँव की उपज से नियमित वृत्तिका पाते थे। ग्रामीण जो भी भोजन सामग्री तथा अन्य कच्चा माल पैदा करते थे, स्वयं ही उपभोग करते थे।" लेकिन यह मानना ठीक नहीं है कि आत्मनिर्भर ग्राम समुदाय के उत्पादन व्यवस्था का बाहरी दुनियाँ से कोई सरोकार नहीं

था। इन ग्राम समुदायों पर राज्य का सर्वांग नियंत्रण था। वास्तव में राज्य भू-स्वामी के सोपान-क्रम में—एक अधि-भूस्वामी की तरह शीर्ष पर था। राज्य के ठीक नीचे थे जागीरदार, जो कालोपरान्त उस भूमि के असंदिग्ध स्वामी बन गए, जो राजा ने उन्हें आबंटित की थी। उसके बाद जमींदार थे। यथार्थ में, वे लगान वसूलने वाले थे। लेकिन, धीरे-धीरे वे भूमि के पुश्तैनी स्वामी बन गए और कृषिक समाज में से शक्तिशाली भूमि आधारित अभिजन के रूप में उभरे। जमींदारों के नीचे किसान थे। उन्होंने भी पुश्तैनी अधिकारों का उपयोग किया। यहाँ यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि उन दिनों भूमि के खरीद-बिक्री की कोई अवधारणा नहीं थी, न कृषि उत्पादों खरीद-बिक्री के लिए कोई बाजार था, भूमि पर निजी स्वामित्व था और न ही आधुनिक अर्थ में कोई नियोक्ता-मजदूर संबंध थे। ये सारी बातें कृषि में वर्ग संबंध के उदय के लिए आवश्यक होती हैं। भारतीय कृषिक समाज में ये सारी स्थितियाँ और वर्ग संबंध ब्रिटिश शासन काल में उभर कर सामने आईं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ii) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से मिलाइए।

1) कृषिक सामाजिक संरचना से आप क्या समझते हैं? लगभग चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

2) आबादी के एक समूह की वर्ग स्थिति का निर्धारण कैसे होता है? लगभग चार पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

24.4 ब्रिटिश शासन काल में कृषिक वर्ग संरचना

ब्रिटिश शासन काल में भारत का कृषिक समाज अत्यधिक स्तरीकृत हो गया। औपनिवेशिक भूमि-नीति लागू होने के फलस्वरूप भारत में विभिन्न कृषिक वर्गों का उदय हुआ। भारत में ब्रिटिश शासन भूमि की नीति के मुख्य उद्देश्य थे:

i) भारतीय कृषिक समाज से अधिकाधिक लगान वसूल करना।

ii) अपने हितों की पूर्ति के लिए भारतीय कृषिक अर्थव्यवस्था में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा का प्रचलन करना।

iii) कृषि में मुक्त व्यापार आरंभ करना।

iv) भारतीय कृषिक अर्थव्यवस्था को अपने औपनिवेशक बाजार का एक हिस्सा बनाना।

ब्रिटिश शासन द्वारा ये सारी व्यवस्थाएँ अपने औपनिवेशिक हितों की पूर्ति के लिए की गई। अतः ब्रिटिश शासन ने अपने हित पूर्ति के लिए, नई भूमि-पट्टेदारी लागू करने के अलावा सड़क और रेल संचार खोलने और कुछ विशेष कृषि उत्पाद (जिंस) को बढ़ावा देने के लिए प्रभावी कदम उठाए।

24.4.1 भूमि-पट्टेदारी व्यवस्था

ब्रिटिश शासन ने भारत में मुख्य तीन प्रकार के भूमि पट्टेदारी व्यवस्थाएँ प्रारंभ की— जमींदारी, रैयतवारी और महलवारी।

i) जमींदारी व्यवस्था

स्थायी बंदोबस्त अधिनियम 1793 के द्वारा बंगाल में जमींदारी व्यवस्था प्रारंभ की गई। बाद में इसका विस्तार उत्तर प्रदेश के कुछ जिलों, बिहार, उड़ीसा के अधिकांश हिस्सों और मद्रास के कुछ हिस्सों में किया गया। इस व्यवस्था के अंतर्गत जमींदार को इच्छानुसार लगान वसूल करने की आजादी दी गयी थी।

ii) रैयतवारी व्यवस्था

रैयतवारी व्यवस्था के अंतर्गत, प्रत्येक कृषक के साथ अलग-अलग बंदोबस्त किया गया। कृषक को बटाई पर देने, बंधक रखने या हस्तांतरित करने के अधिकारों के साथ भूमि के स्वामी होने की मान्यता दी गयी। यह व्यवस्था मद्रास में प्रारंभ की गई और बाद में, बंबई, मध्यप्रदेश और असम के कुछ हिस्सों में लागू की गयी। उल्लेखनीय है कि इस अवधि में खेती योग्य भूमि का 95% भाग जमींदारी और रैयतवारी व्यवस्था के अंतर्गत था।

iii) महलवारी व्यवस्था

महलवारी व्यवस्था में पूरे गाँव के साथ बंदोबस्त किया गया। गाँव पर लगे कुल मालगुजारी को पूरा करने में कृषक अपने-अपने जोत के अनुसार योगदान करते थे। इस व्यवस्था को संयुक्त प्रांत के कुछ भागों में लागू किया गया और बाद में पंजाब के कुछ हिस्सों में इसका विस्तार किया गया।

इस अवधि में उत्तर-पूर्व क्षेत्रों में जहाँ झूम कृषि प्रचलित थी, एक बिलकुल अलग तरह की भूमि पट्टेदारी व्यवस्था थी। इस व्यवस्था में गाँव की सीमा के अन्दर आने वाले कृषि योग्य भूमि को ग्राम प्रमुख द्वारा गाँव में बसने वाले विभिन्न कुलों के बीच बाँट दिया जाता था। बाद में, एक कुल के सदस्यों के बीच भूमि का बँटवारा किया जाता था। इस व्यवस्था के अंतर्गत खेती करने वालों का भूमि पर कोई अधिकार नहीं होता था और न ही वे भूमि का हस्तांतरण कर सकते थे।

24.4.2 कृषिक वर्ग और वर्ग संबंध

औपनिवेशिक शासन काल में कृषिक समाज अत्यधिक स्तरीकृत हो गया। विभिन्न कृषिक संबंधों के बीच वर्ग विभेदन काफी गहरा हो गया था। जमींदारी क्षेत्रों में जमींदार तथा अन्य बिचौलिये ग्रामीण समाज के प्रभुत्व सम्पन्न वर्ग थे। इस व्यवस्था में, वास्तविक जोतदारों को पट्टेदारी सुरक्षा के पारंपरिक अधिकारों से वंचित कर दिया गया और वे धीरे-धीरे बटाईदार और कृषि-श्रमिक बन कर रह गये। रैयतवारी क्षेत्रों में, बड़े भू-स्वामी अपनी जमीनों को किराये पर दे देते थे। और इस तरह कई रैयत विशाल भू-खंडों के गैर-जोतदार स्वामी बन गये। महलवारी क्षेत्रों में भी बड़े भू-स्वामी और बड़े जोत के कृषकों ने कृषिक समाज पर अपनी प्रभुता स्थापित कर ली। अब हम ब्रिटिश शासन काल के भारत में निम्नलिखित कृषिक वर्गों की पहचान कर सकते हैं:

i) जमींदार

ये विशाल भूखंडों के स्वामी थे। तथापि, इस वर्ग में कई संवर्ग शामिल थे जैसे बिचौलिये, भू-स्वामी (जमींदार, तालुकदार, पटनीदार इत्यादि) दूर भू-स्वामी और धनी किसान आदि, लेकिन उनके आर्थिक हितों का समान आधार था कि वे पट्टेदारों, बटाईदारों या कृषिक श्रमिकों का उपयोग अपनी जमीन पर खेती कार्यों में करते थे। वास्तव में, वे गैर-जोतदार किराया जीवी वर्ग थे।

ii) पट्टेदार

ये विभिन्न तरह के भू-स्वामियों से जमीन पट्टे पर लेते थे। कई पट्टेदार अपने जमीन के कुछ हिस्सों पर खेती करवाने के लिए उप-पट्टेदारों का उपयोग करते थे।

iii) कृषक भू-स्वामी

ये छोटे भूखंडों के जोतदार थे जिस पर इनका दखल अधिकार होता था या नहीं भी होता था। ये अधिकांशतः निर्वाह-खेतिहर थे और अपनी जमीन पर खेती के लिए अपने परिवार के सदस्यों के श्रम पर निर्भर थे। छोटे कृषक और उप-पट्टेदार इस वर्ग में आते थे।

iv) कृषि श्रमिक वर्ग

ये अपने जीवनयापन के लिए अधिकांशतः दूसरों के खेतों में काम करते थे। कृषि-श्रमिक

और बटाईदार इस वर्ग में आते थे। अपने निर्वाह के लिए कई बटाईदार कुछ समय के लिए कृषि-श्रमिक की तरह जबकि भूमिहीन कृषि श्रमिक साल भर अपने श्रम को बेचते थे।

ब्रिटिश शासन की भूमि व्यवस्था ने भू-स्वामी वर्ग द्वारा निर्धन कृषकों के शोषण का और कृषि को बाजारोन्मुखी बनाने के लिए एक व्यापक आधार दिया। मध्यम और निर्धन कृषकों ने अपनी भूमि एक नये वर्ग को हस्तांतरित कर दी थी। इस तरह उनके पतन के मूल्य पर एक नये भू-स्वामी वर्ग का उदय हुआ। इस नये वर्ग ने अपने सामाजिक उन्नति के साधन के रूप में सूदखोरी को भी अपनाया। इन्होंने गरीब कृषकों की निर्धनता का भरपूर फायदा उठाया। यह देखा गया है कि मूल रकम के चार या पाँच गुणा रकम ब्याज में चुकाने के बाद भी कृषक ऋण से मुक्त नहीं हो पाये और धीरे-धीरे उनकी जमीन इन सूदखोरों के हाथ चली गयी।

ब्रिटिश शासन काल में, जमींदारी और रैयतवारी दोनों क्षेत्रों में, खेती की बटाईदारी व्यवस्था में असाधारण वृद्धि हुई। बटाईदारी व्यवस्था के फैलने का कारण छोटे कृषकों की ऋणग्रस्तता थी। वे गाँव के सूदखोरों, व्यापारियों, धनी किसानों और बिचौलियों के ऋणी थे। जब कृषक समय पर ऋण न चुका पाने के कारण अपनी जमीन खो देते थे तो उन्हें फिर से जमीन पर इस शर्त पर स्थापित किया जाता था कि वे उपज का आधा हिस्सा नये भू-स्वामी को देंगे। भूमि राजस्व आयोग (बंगाल) यह दर्शाता है कि सन् 1940 में हुई खरीद-बिक्री की कुल जमीन का 32% बटाईदारी व्यवस्था के अन्तर्गत लाया गया था।

यह उल्लेखनीय है कि जहाँ ऋणग्रस्त कृषक अपनी जमीन पर बटाईदार की तरह पुनः स्थापित नहीं किये गये, वहाँ उन्हें भूमिहीन कृषि श्रमिकों की श्रेणी में रखा गया। इन भूमिहीन श्रमिकों की संख्या में भी संवृद्धि दर बहुत ज्यादा थी—सन् 1901 में बंगाल में इनकी संख्या कुल ग्रामीण जनसंख्या का 17.5% थी जबकि सन् 1921-31 के बीच बढ़कर यह संख्या 49% हो गयी।

इस अवधि में पारंपरिक ग्राम और कुटीर उद्योग भी उजड़ गये। ग्रामीण शिल्पकार और दस्तकार "कृषि-श्रमिकों की सेना" में शामिल हो गये क्योंकि रोजगार के दूसरे रास्ते उनके पास नहीं बचे थे।

इस पृष्ठभूमि में, कृषक समाज की आर्थिक कार्यप्रणाली के कारण उत्पादन साधनों का संकेन्द्रण अल्पसंख्यक (भू-स्वामी) के हाथों में हो गया और बहुसंख्यक थे भूमिहीन या अर्द्ध-भूमिहीन लोग। इस तरह उत्पादन संबंधों का निर्धारण मूल रूप से ग्रामीण समाज के विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग द्वारा होता था। इससे कृषिक समाज का आधार निर्वाह—उत्पादन से परिवर्तित होकर जिंस उत्पादन हो गया। रामकृष्ण मुखर्जी बंगाल का गहन अध्ययन करते हुए लिखते हैं कि इस स्थिति में समाज के आर्थिक कार्यप्रणाली ने वर्ग-I (जमींदारों और पर्यवेक्षी किसानों का वर्ग) के उदय को आधार दिया और वर्ग-III (बटाईदारों और कृषक श्रमिकों का वर्ग), वर्ग-II (आत्मनिर्भर कृषक, शिल्पकार और व्यापारियों का वर्ग) के बिखरने से बना।

कृषकों का लगातार बढ़ता शोषण और इन पर सामाजिक अतिक्रमण यथा-समय एक व्यवस्था में परिवर्तित हो गया। लगभग सारे भारत में उस समय के समाज में ये लक्षण मिलते थे। इन सबने भारत के सामाजिक जीवन को गंभीर और असहनीय बना दिया। जमींदार वर्ग द्वारा निर्धन कृषक, पट्टेदार, उप-पट्टेदार, बटाईदार और कृषक श्रमिकों के शोषण ने, उनके बीच अव्यक्त तनावों और हित संघर्षों को पैदा किया। इस स्थिति के कारण कृषक समुदाय के बीच बढ़ते हुए असंतोषों की अभिव्यक्ति कृषक आंदोलनों के रूप में हुई। हम कृषक आन्दोलन पर इस खंड की अगली इकाई में विचार करेंगे।

इस तरह, औपनिवेशिक शासकों के भारत की भूमि से विदा होते समय भारतीय कृषिक समाज अत्यधिक निर्धनता से ग्रसित, स्तरीकृत और छिन्न-प्राय होकर रह गया था। सामंती सामाजिक और आर्थिक बंधनों के बीच यह घुट रहा था। अत्यधिक असमता, जोतों का सामंतीकरण, ग्रामीण धनी वर्ग के पास जोतों का सकेंद्रण, कृषिकों की भूमिहीनता और भू-क्षुधा, पट्टेदारों की पट्टेदारी असुरक्षा और अतिशय लगानदारी, पारंपरिक ग्राम एवं कुटीर उद्योग का विनाश, पिछड़े कृषि में बाजार और मुद्रा अर्थव्यवस्था का प्रसार आदि भारतीय कृषिक समाज के लक्षण बन गये थे। इसके अलावा, कृषिक वर्गों के बीच अव्यक्त तनाव और हित संघर्ष थे जिनकी अभिव्यक्ति कृषक आन्दोलनों में और राष्ट्रीय आंदोलन में कृषक समुदाय की व्यापक हिस्सेदारी के रूप में हुई।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाइए।

i) भारत में ब्रिटिश शासन की भूमि नीति के क्या मुख्य उद्देश्य थे? लगभग पाँच पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) भूमि पट्टेदारी की जमींदारी व्यवस्था पर लगभग सात पंक्तियों में टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

24.5 स्वातंत्र्योत्तर काल में कृषिक वर्ग संरचना

कृषि पर राष्ट्रीय आयोग के अनुसार, स्वतंत्रता प्राप्ति में ऐसी आवश्यक पूर्व स्थितियाँ पैदा की हैं कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था को और त्वरित विकास के पथ पर लाने के दृष्टिकोण से इसे पुनः संयोजित किया जा सके। परिस्थिति की माँग थी कि कृषिक व्यवस्था में दूरगामी संरचनात्मक सुधार और उत्पादन के सामाजिक-आर्थिक संबंधों में मूलभूत परिवर्तन लाया जाय। स्वतंत्रता के बाद से, राष्ट्रीय और राज्य सरकारें व्यापक भूमि सुधारों और ग्राम विकास कार्यक्रमों का निर्माण कर इस दिशा में कदम उठाती रही हैं।

24.5.1 भूमि सुधार–लक्ष्य और उद्देश्य

प्रथम पंचवर्षीय योजना में, सरकारी स्तर पर पहली बार भूमि सुधार नीति ने मूर्त रूप धारण किया। बाद के पंचवर्षीय योजनाओं में भी, ग्रामीण क्षेत्रों में आर्थिक विकास के साथ-साथ सामाजिक न्याय दिलाने के लिए, भूमि सुधारों का उपयोग प्रभावी साधन के रूप में किया गया। इस तरह भूमि सुधार के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य रहे हैं :

i) बिचौलियों का उन्मूलन करना,

ii) जोत की उच्चतम निर्धारित सीमा को लागू करना,

iii) प्राप्त अतिरिक्त भूमि का ग्रामीण निर्धनों के बीच वितरण,

iv) पट्टेदारी सुधार, और

v) कृषि उत्पादन में वृद्धि।

i) 1950 और 1960 के दशकों के भूमि सुधार

बिचौलिया-उन्मूलन के विधायी उपाय स्वतंत्रता के तुरंत बाद उत्तर प्रदेश में शुरू किए गए और उसके बाद बिहार, उड़ीसा, बंगाल तथा अन्य राज्यों में अपनाए गए। उदाहरण के लिए, पश्चिम बंगाल संपदा अधिग्रहण अधिनियम 1953 (वेस्ट बंगाल इस्टेट एक्वीजीशन एक्ट 1953) द्वारा सभी तरह के बिचौलिये अधिकारों का उन्मूलन किया गया

और प्रति धारक 24 एकड़ भूमि की उच्चतम सीमा निर्धारित की गई। इसी अधिनियम द्वारा रैयतों के उप-रैयत जोतों का दर्जा बढ़ाकर रैयत वाला किया गया और राज्य के सीधे संपर्क में लाया गया। पुनः पश्चिम बंगाल भूमि सुधार अधिनियम 1955 में बटाईदारी के संबंध में निम्न शर्तों को लागू किया:

i) अगर भूस्वामी अपेक्षित लागत को प्रदान करते हैं, तो बटाईदार और भूस्वामी के बीच उपज का हिस्सा आधा-आधा बाँटा जाएगा, अन्य सभी स्थितियों में उपज का 60% बटाईदार के हक में होगा।

ii) तथापि, इस अधिनियम ने भूस्वामी को अधिकार दिया कि भूमि को अपनी खेती में लाने के लिए वे बटाईदारी को निरस्त कर सकते हैं।

भूमि सुधार कानूनों के कार्यान्वयन की समस्या

इस अवधि में, समूचे भारत में भूमि सुधार विचारधारा और उसके कार्यान्वयन के बीच अन्तर रहा है। न तो अभिप्रेरित लाभाधिकारी इन कानूनों के प्रति सजग थे और न ही सरकार ने इसके कार्यान्वयन के लिए कोई लोकप्रिय पहल की। जहाँ काश्तकार अपने अधिकारों के प्रति सजग थे, वे सामाजिक और आर्थिक रूप से इतनी कमजोर स्थिति में थे कि अपने अधिकारों के लिए लड़ सकें। इन सबके कारण वृहत् रूप से भूमि का अनुचित हस्तांतरण हुआ, भूस्वामियों द्वारा बटाईदारों की बेदखली हुई, निर्धन कृषकों ने अपनी जमीन गंवाई और ग्रामीण निर्धनों के बीच असुरक्षा की भावना बढ़ी।

i) **अनुचित भूमि हस्तांतरण** : कई बड़े भू-स्वामियों ने अपनी भूमि को उच्चतम निर्धारित सीमा (हदबंदी) के अन्दर रखने के लिए अतिरिक्त भूमि को नजदीकी रिश्तेदारों या भरोसेमंद व्यक्तियों के नाम हस्तांतरित कर दिया।

ii) **बटाईदारों की बेदखली**: भू-स्वामियों ने मौके का फायदा उठाकर बटाईदारी की जमीन को निजी खेती में शामिल कर लिया। इस तरह बड़ी संख्या में बटाईदार जोत से बेदखल कर दिए गए।

iii) **निर्धन कृषकों द्वारा भूमि गँवाना**: निर्धनता और ऋण के बढ़ते बोझ के कारण कई लघु और सीमांत कृषक अपनी भूमि साहूकारों और भू-स्वामियों के हाथ गवां बैठे।

iv) **ग्रामीण निर्धनों की असुरक्षा** : ग्रामीण निर्धनों के बीच अतिरिक्त प्राप्त भूमि के वितरण में कोई उल्लेखनीय प्रगति नहीं हुई। फिर, ग्रामीण क्षेत्रों में अक्षुण्ण रूप से बढ़ती बेरोज़गारी थी। इससे अल्पकालिक प्रवसन और निराश्रिता बढ़ी।

इस परिस्थिति में जबकि जमींदारों का उन्मूलन कर दिया गया था, कई पुराने जमींदार फिर भी कृषक सोपान क्रम में असंदिग्ध सामाजिक और आर्थिक श्रेष्ठता बनाए हुए थे। यह वर्ग अपने भूमि संबंधित हितों की रक्षा के लिए संगठित हो गया। उन्होंने राजनीतिक संकल्प और सरकारी तंत्र को भूमि सुधार कानूनों को सख्ती से लागू न करने के लिए काफी प्रभावित किया। उन्होंने आधुनिक तकनीक का उपयोग, बड़े पैमाने पर व्यापारिक खेती और बहु-फसली खेती का प्रारंभ किया। हालाँकि इस अवधि में समाज के निचले वर्ग की आर्थिक अवस्था और बिगड़ती गई। आर्थिक सुरक्षा और कानूनी संरक्षण से वंचित वे भूस्वामी वर्ग के साथ अत्याधिक निर्भरता के संबंधों से जुड़े थे।

यह महत्वपूर्ण है कि भूमि सुधार उपायों का कार्यान्वयन उन क्षेत्रों में तुलनात्मक रूप से ज्यादा कारगर हुआ, जिनमें समाजवादी शक्तियाँ सक्रिय थी।

ii) 1970 दशक के भूमि सुधार कानून

भूमि सुधार कानूनों की त्रुटियों, कानून और कार्यान्वयन के बीच अन्तर और इन कानूनों का कृषिक समाज पर परिणामी प्रभावों को देखते हुए कई राज्यों ने भूमि सुधार कानूनों में संशोधन किए। ये संशोधन 1972 में जारी किए गए राष्ट्रीय निर्देशों के अनुरूप थे। राज्य सरकारों ने प्रगतिशील भूमि सुधार कानून बनाये। उदाहरण के लिए, पश्चिम बंगाल में सातवें दशक में नये भूमि सुधार कानून निम्न बातों के लिए बनाये गये थे–(i) बटाईदारों की पट्टेदारी को वंशानुगत बनाने (ii) उपज में बटाईदार का हिस्सा 60% से बढ़ाकर 75% करने (iii) जोत की उच्चतम सीमा 7 हेक्टेयर (लगभग 17 एकड़) भूमि निर्धारित करने, और (iv) अतिरिक्त प्राप्त भूमि पर बटाईदारों को रैयत बनने का अधिकार इस शर्त पर देने के लिए कि ऐसी जमीन उसकी खेती में एक एकड़ से अधिक न हो। 1970 दशक

के उत्तरार्द्ध में नई चुनी गई वाम मोर्चे की सरकार ने "आपरेशन वर्ग" कार्यक्रम शुरू किया है। इस कार्यक्रम में बटाईदारों के नाम लेखबद्ध किया जाता है ताकि उन्हें खेती की सारी संस्थागत सुविधाएँ प्रदान की जा सके और उनके पट्टेदारी को सुरक्षित किया जा सके। इस प्रक्रिया में कृषिक समाज के निचले स्तर को "आपरेशन वर्ग" के शीघ्र कार्यान्वयन, तथा ग्रामीण निर्धनों में अतिरिक्त प्राप्त भूमि के वितरण आदि के लिए संगठित किया गया है। इन सारी चीजों ने कृषि के पूर्ववर्ती उत्पादन संगठन और कृषक वर्ग संरचना को भी प्रभावित किया है।

24.5.2 ग्रामीण विकास कार्यक्रम

भूमि सुधार के अलावा, पाँचवें दशक के शुरू से ही कृषिक आर्थिक व्यवस्था के पुनर्निर्माण के लिए विभिन्न ग्रामीण विकास कार्यक्रम अपनाए गये। सामुदायिक विकास कार्यक्रम (1952), राष्ट्रीय विस्तार सेवा (1953), खादी और ग्रामोद्योग कार्यक्रम (1957), गहन कृषि जिला कार्यक्रम (1960), ग्रामीण उद्योग परियोजना (1962), गहन कृषि क्षेत्र कार्यक्रम (1964), उन्नत बीज कार्यक्रम (1966), कृषक, शिक्षण और प्रशिक्षण कार्यक्रम (1966), जनजाति विकास खंड (1968), लघु कृषक विकास अधिकरण (1971), निर्देशित (कमांड) क्षेत्र विकास कार्यक्रम (1974), एकीकृत ग्रामीण विकास कार्यक्रम (1979), जवाहर रोज़गार योजना (1988)—ये विभिन्न कार्यक्रमों में से कुछ नाम हैं जो ग्रामीण विकास के लिए प्रारंभ किये गये। यह उल्लेखनीय है कि भारत में ग्रामीण समाज ने छठे दशक के मध्य असाधारण परिवर्तन का अनुभव किया। ऐसा कृषि विकास की नई रणनीति अपनाने के कारण हुआ, जिसे "हरित क्रांति" के नाम से जाना जाता है। इस रणनीति में अधिक उपज वाली उन्नत किस्मों की खेती के लिए आधुनिक तकनीकों को अपनाया जाता है। निश्चय ही, बाद के सभी पंचवर्षीय योजनाओं के ग्रामीण विकास कार्यक्रम और कृषि विकास की नई रणनीति ने कृषि के पारंपरिक ढाँचे में परिवर्तन लाने में बहुत सहायता पहुंचाई है। ये सब कृषि उत्पादन संगठन के आधारित संरचनात्मक प्रणाली (सड़क, रेल, सिंचाई इत्यादि) में महत्वपूर्ण प्रगति लाने के साथ-साथ कृषिक अर्थव्यवस्था में पर्याप्त वृद्धि लाने में सहायक हुए।

24.5.3 कृषि की बदलती वर्ग संरचना

भारत में कृषिक सुधारों और ग्रामीण विकास की रणनीतियों ने कृषिक समाजों में क्षेत्रीय विषमताओं और घोर असमताओं को जन्म दिया, जबकि इनके लक्ष्य कृषक समाज में आर्थिक विकास के साथ सामाजिक न्याय को लाना था। कृषि में यंत्रीकरण, उन्नत किस्मों की व्यापक खेती और ग्रामीण विकास के अन्य आधारिक संरचनाओं के संदर्भ में कुछ राज्यों जैसे पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश ने अन्य राज्यों को बहुत पीछे छोड़ दिया। पुनः एक राज्य के अन्दर भी तकनीकी प्रगति और कृषि विकास के संदर्भ में बहुत भिन्नता पाई जाती है।

उदाहरण के लिए, पश्चिम बंगाल के दक्षिणी हिस्से के कुछ जिलों में कृषि काफी विकसित है जबकि अन्य जिले अभी तक पिछड़े हुए है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश का कृषि में काफी विकास हुआ है जबकि पूर्वी उत्तर प्रदेश अभी तक पिछड़ी कृषि में उलझा हुआ है। वर्ग संदर्भ में, बड़े भू-स्वामियों ने ही कृषि के आधुनीकीकरण और आर्थिक विकास के उपायों का अधिकतम लाभ उठाया है। उन्होंने अपने आर्थिक उन्नति और कृषि के व्यापारीकरण के लिए, सभी तरह के आधुनिक साधन अपनाये। इस सबसे कृषि-उत्पादन के साधनों का सकेंद्रण कुछ हाथों में हो गया। लेकिन, वर्ग निर्माण की प्रक्रिया पूरे देश में एकरूप नहीं है। कृषिक समाज में उभरते हुए वर्ग-असमता का अध्ययन करते हुए विद्वानों ने विभिन्न कृषिक वर्गों की पहचान की है। कोतोवस्की के लिए भारत में स्तरीकृत ग्रामीण सामाजिक संरचना में बुर्जुआ भूस्वामी, बटाईदार और कृषि-श्रमिक ही मुख्य वर्ग हैं। हमजा अलवी के लिए कृषि के विकास और व्यापारीकरण की प्रक्रिया में भारत में ग्रामीण समाज बहुत ही स्तरीकृत हुआ है। वह लिखते हैं कि भारत में ग्रामीण अर्थव्यवस्था औपनिवेशिक पूँजी का एक हिस्सा रही है। उनके अनुसार भारत में बुर्जुआ भू-स्वामी, औपनिवेशिक भू-स्वामी, बटाईदार और कृषि श्रमिक ही प्रमुख कृषिक वर्ग है। चंद्रा ने पश्चिम बंगाल के कृषिक समाज में उच्च वर्ग भूमि संपन्न परिवार (भू-स्वामी, जोतदार, धनी कृषक और सीमान्त कृषक) और निम्न वर्ग (निर्धन कृषक और कृषि श्रमिक) को परस्पर संघर्षशील कृषिक वर्ग बताया है। बेते का कहना है कि कृषि-विकास ने पंजाब में प्रगतिशील किसानों का एक वर्ग पैदा किया है जो कृषि में काफी पूँजी निवेश करते हैं, खेती के सभी आधुनिक साधन

इस्तेमाल करते हैं और विस्तृत बाजार से इनके संबंध हैं। अशोक रुद्र की राय है कि कृषि विकास ने ग्रामीण समाज में ध्रुवीकरण किया है। उनके अनुसार, भू-स्वामियों का वर्ग न केवल कृषि-योग्य भूमि के विशाल क्षेत्र पर दखल रखता है बल्कि खेती के सभी आधुनिक साधन भी इनके पास हैं। बड़े भू-स्वामियों का यह वर्ग, अपने आर्थिक हितों को बढ़ाने के लिए पूँजी का बड़ा भाग कृषि में पुनः निवेश करता है। अशोक रुद्र भारत के कृषिक समाज में मोटे तौर पर दो मुख्य वर्गों—बड़े भू-स्वामियों और कृषि श्रमिकों के वर्गों को मान्यता देते हैं। हायमी, भारत के कृषिक समाज में रूपांतरण के प्रमुख पहलुओं का अध्ययन करने के बाद लिखते हैं कि यहाँ कृषक समुदाय में उच्च तथा मध्यम वर्ग उभर कर सामने आए हैं।

इस पृष्ठभूमि के साथ हम भारत में कृषिक वर्ग संरचना की एक संक्षिप्त रूपरेखा निम्नलिखित रूप से प्रस्तुत कर सकते हैं। :

i) धनी कृषक

ये कृषि योग्य भूमि के बड़े क्षेत्र पर स्वामित्व और नियंत्रण रखते हैं। जबकि ये स्वयं खेती करने में संलग्न नहीं होते। ये अपनी भूमि पर खेती करवाने के लिए कृषि श्रमिकों का उपयोग करते हैं तद्नुसार इन्हें भू-स्वामियों का किरायाजीवी या पर्यपेक्षी वर्ग कहा जा सकता है। इस समय जब भू-स्वामियों द्वारा जमीन खाली करा लिये जाने से खेतों की बटाईदारी व्यवस्था में काफी कमी आई है, कृषिक समाज में भू-स्वामियों द्वारा पर्यपेक्षी खेती अधिक महत्वपूर्ण होती जा रही है। खेती के आधुनिक औज़ार और तकनीक अपनाये जाने से पर्यवेक्षी किसानों की आर्थिक स्थिति में काफी मजबूती आई है। उन्होंने अपनी जमीन पर व्यापारिक खेती की शुरुआत की और उनके पूँजी निवेश का मुख्य उद्देश्य होता है ज्यादा से ज्यादा लाभ कमाना। वे लाभ का एक महत्वपूर्ण भाग व्यापारिक तथा नकदी फसल की खेती में पुनः निवेश करते हैं। निश्चय ही, वे व्यापारिक फसल की खेती को प्राथमिकता देते हैं। उनका ग्रामीण बाजार पर नियन्त्रण होता है।

ii) मध्यम कृषक

ये भी कृषि योग्य भूमि के काफी बड़े क्षेत्र पर स्वामित्व और नियंत्रण रखते हैं। हालांकि इनके जोत बड़े किसानों की तुलना में छोटे होते हैं जिस पर केवल अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से खेती की जा सकती है। अगर इनके पास अतिरिक्त जमीन होती है तो ये उसे पट्ठे पर बटाईदारों को दे सकते हैं। श्रमिकों की तरह ये मजदूरी पर काम नहीं करते। बड़े भू-स्वामियों की तरह ये भी आधुनिक तकनीकों का उपयोग और नकदी फसल की खेती करते हैं। गृहस्थी में उपयोग की आवश्यकता पूरी करने के बाद भी इनके पास बाजार में बेचने लायक अतिरिक्त उपज बच जाती है। देश के विकसित कृषि-क्षेत्रों में, आधुनिक तकनीक और स्थानीय बाजार पर अपने प्रभाव के कारण यह वर्ग हाल के वर्षों में उभर कर सामने आया है।

iii) निर्धन कृषक

ये कृषि योग्य भूमि के छोटे और सीमांत हिस्सों पर स्वामित्व और नियंत्रण रखते हैं। अधिकांशतः ये अपने परिवार में उपलब्ध श्रम की सहायता से ही खेती करते हैं। फिर भी ये अपनी गृहस्थी निर्वाह की सारी आवश्यकताएँ पूरी नहीं कर पाते हैं। इसलिए उनको अपना श्रम बाजार में बेचना पड़ता है। अगर उपलब्ध होता है तो ये छोटे-छोटे जोत पट्टे पर लेते हैं। निर्धन कृषक मुख्यतः निर्वाह उत्पादक होते हैं।

iv) भूमिहीन श्रमिक

ये कृषक सोपानक्रम में सबसे निचले स्तर पर होते हैं। ये निर्वाह के लिए अपनी श्रम शक्ति बेचते हैं। कार्य अनुबंध की अवधि, पारिश्रमिक भुगतान की अवधि और माध्यम, भू-स्वामी के साथ लगाव या साख आदि के आधार पर कृषिक समाज में विभिन्न प्रकार के श्रमिक संबंध उभर कर सामने आते हैं।

बर्धन और रुद्र के अनुसार मोटे तौर पर दो तरह के श्रमिक होते हैं—संलग्न और असंलग्न श्रमिक।

i) **असंलग्न** : ये अनियत श्रमिकों की श्रेणी में आते हैं। नियोक्ता के साथ इनका अनुबंध दिन के आधार पर होता है। इनकी मजदूरी की दर समय की माँग के अनुसार बदलती रहती है।

ii) **संलग्न श्रमिक:** इन का नियोक्ता विशेष के साथ संबंध में एक निरंतता रहती है। संलग्न श्रमिक कई प्रकार के होते हैं।

अ) **अत्यधिक संलग्न**–ये बंधुआ श्रमिक है। इनकी नियोक्ता विशेष के साथ संगति पढ़ी-दर-पीढ़ी की होती है। ये नियोक्ता विशेष के ऋणी होते हैं। और भू-स्वामी द्वारा उन पर आरोपित शर्तों से इन्कार करने की आजादी इनके पास नहीं होती है। हालाँकि बंधुआ मजदूरी का उन्मूलन कानून द्वारा कर दिया गया है फिर भी देश के कुछ भागों में छिपे तौर पर यह व्यवहार में हैं।

ब) **पूर्ण संलग्न श्रमिक**–इनका प्राय एक वर्ष की अवधि का अनुबंध भू-स्वामी के साथ होता है। ये पारिश्रमिक भुगतान की राशि का कुछ भाग वर्ष के अन्त में पाते हैं या फिर नियमित किश्तों में।

iii) **अर्द्ध संलग्न श्रमिक**- इनका नियोक्ता विशेष के साथ संबंध में निरंतरता कुछ दिनों की होती है और वर्ष के अधिकतर समय में ये दूसरे नियोक्ता के लिए काम करने को स्वतंत्र होते हैं। नियोक्ता विशेष के साथ संबंध में निरंतरता के कारण एक "हमेशा सेवा में हाज़िर" जैसा एक संबंध विकसित होता है।

अक्सर कुछ गरीब श्रमिक परिवार खेती बाड़ी की मंदी के समय में किसी धनी भू-स्वामी से अग्रिम ऋण लेते हैं। भू-स्वामी ऋण देते समय यह शर्त लगाते हैं कि जब कभी भी आवश्यकता होगी, उन श्रमिकों को उनके खेत में एक निश्चित मजदूरी पर काम करना होगा चाहे मजदूरी की प्रचलित दर उस समय जो भी हों। अक्सर यह मजदूरी प्रचलित मजदूरी की दर से बहुत ही कम होती है। जानना अवश्य है कि जिन दिनों भू-स्वामियों के पास श्रमिकों के लिए कार्य नहीं होता उस समय ये श्रमिक दूसरे भू-स्वामियों के खेत में प्रचलित दर पर कार्य करने को स्वतंत्र होते हैं।

इस वर्गीकरण के बावजूद कृषि-श्रमिक वर्ग आर्थिक रूप से अत्यंत ही असुरक्षित होते हैं। उन्हें वर्ष भर रोजगार की कोई गारंटी नहीं होती। पिछड़े कृषि क्षेत्रों में स्थिति सबसे दयनीय है।

चूंकि इन क्षेत्रों में उन्हें पूर्ण रोजगार की गारंटी नहीं है इसलिए उन्हें अपने निर्वाह की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए विकसित कृषि क्षेत्रों की ओर समय-समय पर प्रवसन करना पड़ता है। आप कृषि-श्रमिकों के विशाल पैमाने पर होने वाले अन्तर्जनपदीय तथा अन्तर्राज्यीय प्रवसन से अवगत होंगे। तथापि कृषि श्रमिक देश के अधिक्रांश भागों में विधि निर्धारित न्यूनतम पारिश्रमिक भी नहीं पाते हैं। निश्चय ही उनकी स्थिति में सुधार हेतु कानूनी संरक्षण और राजनीतिक इच्छाशक्ति के अभाव में, वे बेरोज़गारी, निर्धनता और अज्ञानता से पीड़ित होते हैं विकास का लाभ इस वर्ग के पास अभी नहीं पहुँचा है।

ए. आर. देसाई के अनुसार विकास की प्रक्रिया ने वास्तव में, एक ऐसी स्थिति पैदा की है जिसमें विभिन्न निर्धन वर्गों का एक बड़ा हिस्सा, विशेषकर ग्रामीण क्षेत्रों का निर्धन और भी निर्धन हो गया है। क्योंकि वे लोग बढ़ते हुए व्यावसायिक संबंधों के जाल में उलझते चले गये, आर्थिक आय के पुराने सहारे छूट गये और तीव्र मूल्य वृद्धि के भंवर में फंसते चले गये। इसने ग्रामीण क्षेत्रों में काफी तनाव पैदा किया है। विद्वानों का मत है कि ग्रामीण क्षेत्रों में कृषिक सोपान क्रम के उच्च और निम्न वर्ग के बीच तनाव और संघर्ष गहरे होते गये हैं। उनका कहना है कि कृषि आधुनिकीकरण और ग्राम विकास की प्रक्रिया ने कृषिक समाज के उच्च वर्गों के हितों को ही पुष्ट किया है। निम्न वर्ग में निर्धनता, असुरक्षा, पीड़ा और शोषण का काफी विस्तार है। इन सबके कारण ग्रामीण समाज में तनाव और संघर्ष बढ़ा है।

भारत में कृषिक वर्ग एक लम्बे ऐतिहासिक प्रक्रियाओं का हिस्सा रहा है। इन ऐतिहासिक प्रक्रियाओं में कृषिक समाज का निम्न वर्ग हमेशा दारुण दरिद्रता, असुरक्षा और नग्न शोषण का शिकार रहा है। ग्रामीण आबादी का एक बड़ा हिस्सा इस प्रक्रिया में कंगाल बन गया। ऋणग्रस्तता और निर्धनता के कारण कई गरीब कृषक जमीन बेचने को मजबूर हो गये। अनेकों बटाईदार जमीन से बेदखल कर दिये गये, ग्रामीण शिल्पकार और दस्तकार भी अपने रोजगार के पारंपरिक धंधों को खो बैठे। ये सारे लोग अपने जीवन निर्वाह के लिए "कृषि श्रमिकों की फौज" में शामिल हो गये। दूसरी ओर, कृषक समुदाय के उच्च वर्ग ने अपने आर्थिक हितों को बढ़ाया। वर्ग निर्माण की इस प्रक्रिया में, कृषिक समाज का प्रत्येक वर्ग दूसरे वर्गों के विरुद्ध एक समान वस्तुनिष्ठ स्थिति में है। प्रत्येक वर्ग में दूसरे

वर्गों के विरुद्ध काफी मात्रा में आत्मानिष्ठ चेतना भी है। इस चेतना की अभिव्यक्ति देश के विभिन्न भागों में कृषक आन्दोलनों के रूप में हुई है। हम इन पहलुओं पर इस खंड की अगली इकाई में प्रकाश डालेंगे।

बोध प्रश्न 3

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ii) अपने उत्तरों को इकाई के अन्त में दिए गए उत्तरों से मिलाइए।

i) स्वतंत्र भारत के भूमि सुधार नीति के मुख्य उद्देश्य क्या थे? लगभग छः पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) 1950 और 1960 के दशकों में भूमि सुधार उपायों का कार्यान्वयन किस हद तक हुआ? इनके क्या प्रभाव हुए? लगभग दस पंक्तियों में उत्तर दीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

24.6 जाति और कृषिक वर्ग

समाज में उत्पादन के संगठन एकाकी रूप से कार्य नहीं करते। अपितु, सामाजिक संरचनाओं से घनिष्ठ अंतःसंबंधों के साथ उत्पादन संगठन कार्य करते हैं। भारत में जाति, नातेदारी और संजातीयता ही सामाजिक संरचना का मूल आधार है। अतः उत्पादन का सामाजिक संगठन जाति, नातेदारी और संजातीय व्यवस्थाओं से घनिष्ठ संबंध रखता है।

भारत एक जातिग्रस्त समाज है। आपने इस खंड के पिछली इकाइयों में जाति के संबंध में पढ़ा था। वहाँ हमने उल्लेख किया था कि शुद्ध और अशुद्ध के सिद्धांतों और व्यावसायिक विशिष्टता पर आधारित जाति एक सोपानबद्ध सामाजिक संगठन है। जाति व्यवस्था समाज के सदस्यों को एक प्रदत्त प्रस्थिति (उच्च या निम्न) देती है। भारत में, सारे ऐतिहासिक कालों में कृषिक सोपान क्रम का बहुत ही घनिष्ठ संबंध जाति सोपान क्रम से रहा है। ग्रामीण समाज में आर्थिक असमता का भी जाति व्यवस्था में अंतर्निहित असमता के साथ घनिष्ठ संबंध रहा है।

देश के कई भागों में हुए अध्ययन यह दर्शाते है कि ऊँची जातियों ने हमेशा कृषिक सोपान क्रम में शीर्ष पर स्थान पाया है जबकि निम्न जातियों का सकेंद्रण इसके निचले स्तर पर रहा है पारंपरिक रूप से, बंगाल में ब्राह्मण, राजपूत और कायस्थ, बिहार में राजपूत और

भूमिहार, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जाट, गूजर, त्यागी और मुस्लिम उच्च जाति (सैयद और पठान), पूर्वी और मध्य उत्तर प्रदेश में राजपूत, ब्राह्मण और भूमिहार, पंजाब में जाट, हरियाणा में जाट और अहीर आंध्र प्रदेश में रेड्डी और कम्मा, तमिलनाडु में अय्यर और अयंगर भू-स्वामी जातियाँ रही हैं। यादव, कुर्मी और लोधा जैसी जातियाँ, जो जाति सोपान क्रम की मध्य तथा निम्न मध्य स्तर रही हैं। ये लोग विभिन्न प्रकार के पट्टेदार रहे हैं। जबकि अनुसूचित जातियाँ और जनजातियाँ बटाईदार और कृषि श्रमिक रही हैं।

इसका उल्लेख किया गया कि स्वतंत्रता के बाद से कृषि के उत्पादन संगठन में महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं। यह सही है कि ग्रामीण अर्थव्यवस्था के मुद्राकरण, कृषि के आधुनिकीकरण, भूमि सुधार कानूनों के कार्यान्वयन और नई विकास रणनीतियाँ प्रारंभ करने से निम्न मध्य और निम्न स्तर के जाति समूहों के आर्थिक स्थिति में काफी सुधार हुआ है। ग्राम स्तर पर निर्णय लेने वाली निकायों में उनकी हिस्सेदारी भी काफी बढ़ी है। लेकिन पारंपरिक जाति सोपान क्रम नहीं टूटा है। निम्न जातियों के लोग ग्राम विकास कार्यक्रम का पूरा लाभ नहीं उठा पाये। हालाँकि, भूमि सुधार उपायों ने पारंपरिक जाति वर्ग सोपान क्रम को देश के कई हिस्सों में जबरदस्त झटका दिया है, फिर भी वर्तमान ग्रामीण समाजिक संरचना में उच्च जातियाँ ने अपनी वर्चस्वता बनाये रखा है। उच्च जातियाँ खेती में नई तकनीकों के उपयोग के कारण बहुत लाभ में रही हैं। चूंकि ये जातियों पहले से आर्थिक रूप से सुदृढ़ थीं और इनकी पहुँच आधुनिक सूचना तंत्र तक थी अतः इन्होंने आसानी से खेती की नई पद्धति को अपनाया। इस तरह उन्होंने नई विकास रणनीतियों का भरपूर लाभ उठाया। ऊँची जाति के लोग स्थानीय प्रशासनिक तंत्र को इस बात के लिए प्रभावित करने में सफल रहे कि भूमि सुधार कानूनों का सख्ती से पालन न हो। निम्न जाति के लोग खेती के आधुनिक औजारों और तकनीकों से अनभिज्ञ थे। चूंकि ये लोग आर्थिक रूप से पिछड़े हुए थे, इनके लिए खेती का आधुनिक साधन अपनाना संभव नहीं था। कई क्षेत्रों में आधुनिक प्रौद्योगिकी में उच्च जाति भूमि संपन्न अभिजात वर्ग की आर्थिक स्थिति को मजबूत बनाया है और निम्न जाति के लोगों को इस अभिजात वर्ग के साथ एक अत्यधिक निर्भरता वाले संबंध में बाँध रखा है।

फिर भी यह महत्वपूर्ण है कि कृषि में विकास के प्रभाव से कृषक समुदाय का एक मध्य स्तर उभर कर सामने आया है। अब मध्यम कृषक वर्ग में मध्य और निम्न मध्य स्तर की जातियों का अधिक प्रतिनिधित्व है। प्रवृत्ति यह है कि यह मध्यम वर्ग कृषिक समाज में धीरे-धीरे एक संपन्न समूह के रूप में उभर रहा है। इनका ग्रामीण शक्ति संरचना पर महत्वपूर्ण नियंत्रण है। ये खेती के आधुनिक औजारों और तकनीकों से बहुत लाभान्वित हुए हैं। ये राष्ट्रीय स्तर पर भी एक महत्वपूर्ण राजनीतिक बल के रूप में उभर कर सामने आये हैं।

बोध प्रश्न 4

अ) सही उत्तर पर (J) का निशान लगाएं

) समाज में उत्पादन के संगठन :

क) एकाकी रूप से कार्य करता है।

ख) सामाजिक संरचनाओं से अंतः संबंधित है।

ग) कभी-कभी एकाकी रूप से कार्य करता है और कभी-कभी सामाजिक संरचनाओं से अंतः संबंधित होकर।

i) अध्ययन दर्शाते हैं कि पारंपरिक रूप से अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ :

क) कृषिक सोपान क्रम में उच्च स्तर पर हैं।

ख) कृषिक सोपान क्रम में निम्न स्तर पर हैं।

ग) कृषिक सोपान क्रम में मध्य स्तर पर हैं।

24.7 सारांश

यह इकाई कृषिक सामाजिक संरचना और कृषिक वर्गों पर विचार-विमर्श से शुरू हुई। यहाँ हमने उन कालों पर विचार किया जिससे कृषि उत्पादन के संगठन प्रभावित होते हैं इसके बाद ब्रिटिश शासन से पूर्व की अवधि में कृषिक वर्ग संरचना का वर्णन किया गया, जो आत्मनिर्भर ग्राम ामुदायिक उत्पादन की व्यवस्था पर आधारित था। हमने ब्रिटिश शासन काल के कृषिक वर्ग संरचना का भी उल्लेख किया। यहाँ हमने उस समय के भूमि नीति और भूमि पट्टेदारी व्यवस्थाओं के मुख्य लक्षणों के बारे में बताया, जिनके कारण विभिन्न कृषिक वर्गों का उदय हुआ। स्वतांत्र्योत्तर काल के कृषिक वर्ग संरचना के बारे में विस्तार से विचार किया गया। यहाँ हमने स्वतंत्र भारत में भूमि सुधारों और ग्रामीण विकास की रणनीतियों का उल्लेख किया। वर्तमान भारत के विविध कृषिक दृश्यफलकों और कृषिक वर्ग का चित्रण इस इकाई में किया गया। अंत में, हमने जाति और कृषिक वर्गों के परस्पर संबंधों पर विचार किया।

24.8 शब्दावली

कृषिक : यह शब्द भूमि से संबंधित सारी चीजों का अर्थ रखती है।

भूमि सुधार : भूमि के स्वामित्व, वितरण और उपयोग प्रणाली में परिवर्तन लाने का एक तरीका।

भूमि उच्चतम सीमा (हदबंदी) : जोत की उच्चतम सीमा पर लगाया गया विधायी प्रतिबंध।

काश्तकार : कृषिक समाज का यह एक अलग संवर्ग है। ये भूमि का उपयोग भू-स्वामी को नियमित भुगतान (नगद या जिंस के रूप में) देकर करते हैं।

24.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेते, ए 1976 *"स्टडीज इन एग्रेनियन सोशल स्ट्रकचर"* न्यू देलही : ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

24.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) कृषिक सामाजिक संरचना कृषि कार्यों से जुड़े विभिन्न समूहों के बीच बने हुए अतः संबंधों का बोध कराती है। यह उन सभी प्रणालियों को बताती है जिसके आधार पर प्रत्येक समूह दूसरे समूहों के प्रति सक्रियशील होता है।

ii) जिस ढंग से कृषिक समाज की आबादी उत्पादन के संगठन से संबंधित होती है वही उनके वर्ग स्थिति का निर्धारण करती है।

बोध प्रश्न 2

i) अपनी भूमि नीति के द्वारा अंग्रेजों ने भारतीय कृषिक समाज से अधिकाधिक लगान की रकम वसूलने, भारतीय कृषिक अर्थव्यवस्था में अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा का प्रारंभ करने, कृषि में मुक्त व्यापार का आरंभ करने तथा कृषिक अर्थव्यवस्था को अपने औपनिवेशिक बाजार का एक हिस्सा बनाने की कोशिश की।

ii) स्थाई बंदोबस्त अधिनियम, 1793 के आधार पर भारत के कुछ हिस्से, जैसे बंगाल, बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा और मद्रास के कुछ भागों में जमींदारी व्यवस्था प्रारंभ

का गइ। इस व्यवस्था के अंतर्गत भूमि का एक निर्धारित हिस्सा सबसे ऊँची बोली लगाने वाले (जमींदार) को नीलाम कर दिया जाता था। जमींदार अपनी इच्छानुसार लगान वसूल करने के लिए स्वतंत्र थे।

बोध प्रश्न 3

i) भूमि सुधार के मुख्य लक्ष्य रहे हैं: बिचौलियों का उन्मूलन, जोत की निर्धारित उच्चतम सीमा (हदबंदी) को लागू करना, ग्रामीण निर्धनों के बीच अतिरिक्त प्राप्त भूमि का वितरण, पट्टेदारी सुधार और कृषि उत्पादन में वृद्धि।

i) इस अवधि में, भूमि सुधार विचारधारा और इसके कार्यान्वयन के बीच अन्तर रहा है। न तो अभिप्रेरित लाभाधिकारी इन कानूनों के प्रति सजग थे और न ही सरकार ने इसके कार्यान्वयन के लिए कोई लोकप्रिय पहल की। जहाँ काश्तकार अपने अधिकारों के प्रति सजग भी थे तो वे सामाजिक और आर्थिक रूप से इतने कमजोर स्थिति में थे कि अपने अधिकारों के लिए लड़ सकें। इन सबके कारण बृहत् रूप से भूमि का अनुचित हस्तांतरण हुआ, बटाईदारों की बेदखली हुई, निर्धन कृषकों ने अपनी जमीन खोई और ग्रामीण निर्धनों के बीच असुरक्षा बढ़ी।

धि प्रश्न 4

ख

ख

इकाई 25 कृषिक वर्ग संरचना और परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

25.0 उद्देश्य
25.1 प्रस्तावना
25.2 बदलते कृषिक-संबंध और कृषिक-आंदोलन
  25.2.1 बदलते कृषिक-संबंध
  25.2.2 कृषिक आंदोलन : अवधारणाएँ
25.3 औपनिवेशिक काल में कृषक आंदोलन
  25.3.1 सन् 1857 का विद्रोह और राष्ट्रीय चेतना का उदय
  25.3.2 कृषक आंदोलन में गांधी
  25.3.3 1920 और 1930 के दशकों के कृषक आंदोलन (अवध, उ.प्र. के अन्य हिस्से, बिहार, गुजरात और दक्षिण भारत)
  25.3.4 अखिल भारतीय किसान सभा का गठन (1936)
  25.3.5 बंगाल में कृषक आंदोलन (तिभागा: 1946-47)
25.4 स्वातंत्र्योत्तर काल में कृषक आंदोलन
  25.4.1 तेलंगाना आंदोलन (1948-52)
  25.4.2 कृषक आंदोलन और हिंद किसान पंचायत (1959-60)
  25.4.3 नक्सलबाड़ी आंदोलन (1967-71)
25.5 समकालीन भारत में किसान आंदोलन
  25.5.1 तमिलनाडु
  25.5.2 महाराष्ट्र
  25.5.3 उत्तरी भारत
25.6 आंदोलन, सामाजिक संरचना और परिवर्तन
25.7 सारांश
25.8 शब्दावली
25.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें
25.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

25.0 उद्देश्य

इस इकाई में हम कृषिक आंदोलनों के उदय के संदर्भ में बदलते कृषिक वर्ग संबंधों पर विचार करेंगे। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- भारत में बदलते कृषिक-वर्ग संबंधों का वर्णन कर सकेंगे,
- कृषिक आंदोलनों के महत्वपूर्ण लक्षणों की व्याख्या कर सकेंगे,
- कृषिक आंदोलनों की उत्पत्ति और इसमें कृषकों के जुटाव की प्रक्रिया का वर्णन कर सकेंगे,
- समकालीन भारत के किसान आंदोलनों के प्रमुख लक्षणों की व्याख्या कर सकेंगे, और
- कृषिक आंदोलन, सामाजिक संरचना और परिवर्तन से संबंधित पहलुओं पर विचार कर सकेंगे।

25.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हमने भारत के कृषिक-वर्ग संबंधों में परिवर्तन के बारे में बताया है। इस परिवर्तन की व्याख्या कृषिक आंदोलनों के संदर्भ में की गई है, जिसका उदय देश के विभिन्न भागों में कालांतर में हुआ। भारत में मुख्यतः दो तरह के कृषिक आंदोलन हुए हैं—**कृषक आंदोलन और किसान आंदोलन**। इस इकाई में हम आपको औपनिवेशिक और स्वातंत्र्योत्तर काल में हुए कृषक आंदोलनों के बारे में जानकारी देंगे। भारत के कृषिक

समाज में किसान आंदोलन एक नई घटना है। विकसित कृषि-क्षेत्रों के धनी किसानों ने संगठित होकर उन आधारिक संरचनाओं (बिजली, सिंचाई, सड़क इत्यादि) और संस्थागत सेवाओं (ऋण, परामर्श सेवा इत्यादि) में परिवर्तन लाने की कोशिश की, जिनकी उपस्थिति या कमी उनके आर्थिक हितों की पूर्ति में मुख्य बाधक थी। आपको किसान आंदोलन के मुख्य लक्षणों से परिचित कराने के लिए हमने तमिलनाडु, महाराष्ट्र और उत्तरी भारत में हुए किसान आंदोलनों का एक पुनरावलोकन प्रस्तुत किया है। इन आंदोलनों की उत्पत्ति, **बुटाव** (या क्रियाशीलता) की प्रक्रिया और मुख्य घटनाओं के क्रम का संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। अंत में, हम समकालीन भारत के कृषिक-सामाजिक संरचना में हुए परिवर्तनों के विभिन्न पहलुओं पर भी विचार करेंगे।

25.2 बदलते कृषिक-संबंध और कृषिक-आंदोलन

विभिन्न कृषिक-वर्गों के उदय और उनके बदलते संबंधों के संदर्भ में भारतीय कृषिक समाज बहुत ही गतिशील रहा है। इस खंड की पिछली इकाई में हमने विभिन्न कृषिक वर्गों के उदय का सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य और कालांतर में उनके निरंतरता और परिवर्तन पर विचार किया था। इस इकाई में हम विभिन्न कृषिक-वर्गों के बीच बदलते संबंधों की चर्चा करेंगे।

25.2.1 बदलते कृषिक-संबंध

पिछली इकाई में आपने पढ़ा कि भारतीय कृषिक समाज बहुत ही स्तरीकृत रहा है। कृषिक समाज का एक छोटा भाग जो कि कृषिक सोपानक्रम के उच्च स्तर पर रहे हैं, कृषि-योग्य भूमि के विस्तृत क्षेत्र और उत्पादन के अन्य साधनों पर अधिकार रखते हैं। दूसरी ओर, कृषिक आबादी का बड़ा हिस्सा सोपानक्रम के निचले स्तर हैं। उत्पादन के साधनों पर उनका बहुत ही कम अधिकार होता है। अधिकतर, उच्च वर्ग या तो राजनीतिक और प्रशासनिक तंत्र का एक हिस्सा रहा है या इस पर उनका प्रभावी नियंत्रण रहा है। ग्रामीण समाज के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर उनका काफी प्रभाव है। उनका बाजार पर नियंत्रण है। निर्धन कृषकों को ऋण देने में, बटाईदारों को उपज की बटाई में, कृषि-श्रमिकों को काम और मजदूरी देने में, वे अपनी ही शर्तों को मनवाते हैं। प्रभावी संस्थानिक संरक्षण के अभाव में कृषिक समाज के उपेक्षित वर्गों को अत्यधिक आर्थिक असुरक्षा और निर्धनता से पीड़ित रहना पड़ता है। इस स्थिति ने कृषिक समाज के निचले वर्गों में काफी असंतोष पैदा किया है।

इस तरह से संचयित असंतोष कभी-कभी संगठित आंदोलन के रूप में अभिव्यक्त होते हैं। कृषक आंदोलन इन्हीं आंदोलनों में से एक है। देश के विभिन्न हिस्सों में हुए कृषक आंदोलनों का प्रबल उभार भारतीय कृषिक समाज ने देखा है, जैसे, सन् 1860 का बंगाल के नील खेतिहरों का आंदोलन, सन् 1917 का बिहार में चम्पारण आंदोलन, सन् 1946-47 का बंगाल में तिभागा आंदोलन, सन् 1948-49 का आंध्र प्रदेश में तेलंगाना आंदोलन, सन् 1967-71 का पश्चिम बंगाल में नक्सलबाड़ी आंदोलन जो धीरे-धीरे आंध्र प्रदेश, बिहार और देश के अन्य भागों में फैला। इन आंदोलनों में उठाए गए मुख्य मुद्दे थे—काश्तकारों और बटाईदारों के पट्टेदारी की सुरक्षा, कृषि श्रमिकों को उचित पारिश्रमिक, ग्रामीण निर्धनों के बीच अतिरिक्त भूमि का वितरण और भूस्वामियों तथा साहूकारों द्वारा निर्धन कृषकों के आर्थिक तथा अन्य तरह के उत्पीड़न की समाप्ति।

साठे दशक के मध्य तक, भारतीय कृषि का उत्पादन-संगठन मुख्यतः पारंपरिक औजारों और प्रौद्योगिकी पर आधारित था। इस समय भारत में खाद्यान्नों की बहुत कमी हो गई थी। छठे दशक के मध्य में, भारत सरकार ने कृषि विकास के लिए एक नई नीति अपनाई जो अंततः "हरित क्रांति" के रूप में सामने आई। आठवें दशक के प्रारंभ में हरित क्रांति के दूसरे चरण की शुरुआत कर इस प्रक्रिया में और तेजी लाई गई है। पिछले पच्चीस वर्षों से, खाद्यान्न उत्पादन में क्रमिक बढ़ोत्तरी हुई है। और देश के कुछ भागों में व्यापारिक खेती का बहुत ज्यादा विस्तार हुआ है। कृषि के व्यापारीकरण और आधुनिकीकरण ने देश के विकसित कृषि क्षेत्रों में सापेक्षतः संपन्न किसानों के एक वर्ग के उदय का मार्ग प्रशस्त किया है। हरित क्रांति ने कृषिक-सामाजिक संरचना में बहुत सारे परिवर्तन लाए।

सातवें दशक के प्रारंभ से विकसित कृषि क्षेत्रों में किसान आंदोलन फैलने लगा। इन क्षेत्रों में किसान संगठन भी सक्रिय रहे हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण संगठन हैं–तमिलनाडु में तमिलनाडु विवसयिगल संगम, महाराष्ट्र में शेतकरी संघठन, पंजाब में खेती-बाड़ी यूनियन, पश्चिमी उत्तर प्रदेश में भारतीय किसान यूनियन। बिजली की दरों में कमी, डीजल, बिजली इत्यादि के पर्याप्त आपूर्ति, ऋण वसूली के स्थगन, ऋण की माफी, कृषि उत्पादों के ऊँचे मूल्य निश्चित करने और कृषि के आधुनिक साधनों का उचित दर पर प्रावधान आदि के लिए ये किसान संगठन समय-समय पर किसानों को संगठित करते रहे हैं। अधिकाँशतः इनकी रणनीति अहिंसा पर आधारित होती है।

25.2.2 कृषिक आंदोलन: अवधारणाऐं

कृषिक आंदोलन सामाजिक आंदोलनों का एक विशिष्ट रूप है। अतः सामाजिक आंदोलनों के अध्ययन में अपनाए जाने वाले विश्लेषण-परिप्रेक्ष्य का उपयोग कृषिक आंदोलनों की उत्पत्ति को पहचान, विश्लेषण और ज्ञान-बोध के लिए भी किया जा सकता है।

क) सामाजिक आंदोलन

एच. ब्लूमर, सामाजिक आंदोलन को जीवन के एक नई सामाजिक व्यवस्था की स्थापना के लिए किए गए सामूहिक उद्यम के रूप में परिभाषित करते हैं। आर. हेबर्ल के लिए यह "कुछ सामाजिक संस्थाओं में परिवर्तन लाने या एक पूर्णतः नई व्यवस्था लाने के लिए किया गया एक सामूहिक प्रयास है।" जे. विल्सन के अनुसार सामाजिक आंदोलन "एक संगठित प्रयास है जो सामाजिक व्यवस्था में व्यापक परिवर्तन लाने या परिवर्तन का प्रतिरोध करने में गैर-संस्थागत साधनों द्वारा किया जाता है।" अतः मोटे तौर पर, समाज के प्रमुख संस्थाओं, संबंधों, अभिवृत्तियों, मूल्यों, विश्वासों और विचारों में परिवर्तन लाने या उपर्युक्त संरचनात्मक तत्वों में परिवर्तन का प्रतिरोध करने के लिए किए गए संगठित या सामूहिक प्रयासों को सामाजिक आंदोलन के रूप में समझा जा सकता है। एम.एस.ए. राव ने सामाजिक आंदोलन के तीन प्रमुख तत्वों का उल्लेख किया है। ये हैं–सामूहिक क्रियाशीलता, एक विचारधारा की उपस्थिति और परिवर्तन के प्रति एक दिशा निर्देश। सामाजिक आंदोलन के उपर्युक्त परिभाषाओं और लक्षणों के आधार पर, हम कृषिक आंदोलन को कृषिक सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाने या परिवर्तन का प्रतिरोध करने के लिए कृषिक आबादी के एक सामूहिक और संगठित प्रयासों के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। भारत में कृषक समाज बहुत ही ज्यादा स्तरीकृत रहा है। इसलिए, देश के विभिन्न भागों में विभिन्न प्रकार के कृषिक संबंधों और आंदोलनों में इसकी अभिव्यक्ति हुई है।

ख) कृषक आंदोलन और किसान आंदोलन

भारतीय कृषिक समाज की गतिशीलता के पुनरावलोकन के आधार पर हम मुख्यतः दो प्रकार के कृषिक आंदोलन पाते हैं–कृषक आंदोलन और किसान आंदोलन। देश के पिछड़े कृषि क्षेत्रों में कृषक आंदोलन उभरे, जबकि किसान आंदोलनों का उदय विकसित कृषि क्षेत्रों में हुआ। कृषक आंदोलन को हम कृषक समुदाय (लघु और सीमान्त कृषक, बटाईदार, काश्तकार और कृषि श्रमिक) द्वारा किए गए संगठित और सामूहिक प्रयासों के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, जिनके द्वारा वे, भूमि के उपयोग, नियंत्रण और स्वामित्व की प्रणाली, कृषि उत्पादों की बटाई, पारिश्रमिक संरचना, ऋण और संस्थागत सहायक व्यवस्था और सामाजिक-आर्थिक जीवन के अन्य पहलुओं में परिवर्तन लाना चाहते हैं। दूसरी ओर, किसान आंदोलन को किसानों और व्यापारिक फसल-उत्पादकों के अपेक्षाकृत संपन्न हिस्से द्वारा किए गए संगठित प्रयासों के रूप में परिभाषित किया गया है, जिनके द्वारा वे उन आधारिक संरचनाओं और संस्थागत सेवाओं में परिवर्तन लाना चाहते हैं जिसकी कमी या उपस्थिति किसानों के आर्थिक हितों की पूर्ति में बाधक होती है। वे सरकार से बिजली तथा ऊर्जा के अन्य साधनों, रासायनिक उर्वरकों और उन्नत किस्मों के बीज आदि सहायक मूल्यों पर आपूर्ति करने की माँग कर रहे हैं।

बोध प्रश्न 1

टिप्पणी: i) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।
ii) अपने उत्तरों को इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाइए।

i) लगभग छह पंक्तियों में सामाजिक आंदोलन को परिभाषित कीजिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) सही कथन पर (J) का निशान लगाइए।

खेती के उन्नत तकनीकों को अपनाने से और इसके बाद हरित क्रांति के कारण भारतीय कृषिक समाज ने देखा है–

क) कृषि उत्पादन में तेजी से गिरावट।

ख) कृषि-उत्पादन के संगठन में कोई परिवर्तन नहीं।

ग) देश के कुछ भागों में कृषि उत्पादन में तीव्र वृद्धि।

25.3 औपनिवेशिक काल में कृषक आंदोलन

इस भाग में हम औपनिवेशिक काल के भारत में बदलते कृषिक संबंधों और कृषक आंदोलनों की उत्पत्ति और उदय के बारे में विचार करेंगे।

भारत के कृषिक इतिहास में हमें संगठित कृषक आंदोलनों और कृषक समुदाय के स्वतंत्रता आंदोलन में भागीदारी के असंख्य प्रमाण मिलते हैं। निश्चय ही भारतीय कृषक समुदाय हमेशा शोषण, अन्याय और असमता के विरुद्ध प्रतिरोध और विद्रोह का एक प्रतीक रहा है।

उपनिवेश-पूर्व तथा प्रारंभिक औपनिवेशिक काल के कृषक आंदोलनों के बीच एक निरंतरता रही है।

उपनिवेश-पूर्व काल में, शासकों के अत्याचार के खिलाफ कई कृषक विद्रोह हुए थे। 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में, आज के महाराष्ट्र में मराठों ने, आज के राजस्थान, दिल्ली और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में जाटों और राजपूतों ने और पंजाब में सिखों ने मुगल शासकों के विरुद्ध विद्रोह किए थे। ये लोग मूलतः कृषक समुदाय के थे और उनका विद्रोह भू-राजस्व तथा अन्य कृषि संबंधित समस्याओं, राजनीतिक शक्ति और धार्मिक उत्पीड़न आदि जैसे मुद्दों पर केंद्रित था। 18वीं सदी के अंत में बंगाल में "सन्यासी विद्रोह" हुआ था। भू-राजस्व और अतिशय लगान के बढ़ते बोझ से बचने के लिए बहुत सारे गरीब कृषक जंगलों में चले गए और उन लोगों ने औपनिवेशिक प्रशासन के अभिकर्ताओं के कुशासन, शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष के लिए सन्यासी का रूप धारण कर लिया। इसी तरह जनजातीय क्षेत्रों में भी ईस्ट इंडिया कम्पनी के भूमि, वन तथा अन्य संसाधनों से संबंधित नीतियों के विरुद्ध कई विद्रोह हुए। सन् 1830 में, बिरसा मुन्डा के नेतृत्व में हुए बिहार के संथाल विद्रोह, रानी दुर्गावती के नेतृत्व में हुए गोंड जनजातीय विद्रोह, और राजपूताना में हुए भील जनजातीय विद्रोह के बारे में आप जानते होंगे।

ईस्ट इंडिया कम्पनी के विरुद्ध कृषकों में इसी तरह की विद्रोही प्रवृत्तियाँ मद्रास और बम्बई प्रेसीडेंसी में भी देखने को मिलती है।

25.3.1 सन् 1857 का विद्रोह और राष्ट्रीय चेतना का उदय

कृषिक समुदाय के बीच औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध अव्यक्त असंतोषों की अभिव्यक्ति सन् 1857 के महान विद्रोह में काफी बड़ी संख्या में उनकी भागीदारी के रूप में हुई। सन् 1857 के विद्रोह की शुरुआत बंगाल आर्मी द्वारा की गई थी जिसमें मुख्यतः उत्तर प्रदेश और बिहार के सैनिक थे। निश्चय ही, कृषक समुदाय ने विशेषकर पश्चिमी बिहार, सम्पूर्ण उत्तरी-पश्चिमी प्रांत (आज का उ.प्र.), दिल्ली आधुनिक हरियाणा के कुछ हिस्सों और मध्य प्रांतों में, इस विद्रोह ने स्थिरता और राष्ट्रीय चरित्र के लिए एक व्यापक आधार दिया।

राष्ट्रीय चेतना के उदय के साथ, भूमि बंदोबस्त, भूमि लगान और राजस्व, सूखे की समस्या, अकाल और ग्रामीणों की दरिद्रता आदि मुद्दे प्रेस और जन नेताओं के लिए महत्वपूर्ण हो गए। इस संदर्भ में, दादा भाई नौरोजी का और बाद में वाइसराय के कार्यकारिणी समिति के सदस्य के रूप में गोपाल कृष्ण गोखले का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। विशेषकर कलकत्ता, बम्बई, और मद्रास में स्थित राष्ट्रीय प्रेसों ने 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में कृषक समुदाय की समस्याओं और ग्रामीणों की पीड़ा को प्रकाश में लाया।

कृषक समुदाय ने स्वतंत्रता आंदोलन में निर्णायक भूमिका अदा की है। वस्तुतः औपनिवेशिक काल में हुए कृषक आंदोलन स्वतंत्रता आंदोलन का अभिन्न भाग बन गए थे। कृषक समुदाय की समस्याएँ जैसे अतिशय लगानदारी, ऋणग्रस्तता, निर्धनता में वृद्धि, ग्रामीण उद्योग का विनाश, ग्रामीण संसाधनों का ब्रिटिश शासकों द्वारा लूट आदि—औपनिवेशिक सत्ता के विरुद्ध जनसमूह क्रियाशीलन के लिए मुख्य मुद्दे बन गए थे। महात्मा गाँधी, पंडित नेहरू और सरदार पटेल जैसे हमारे राष्ट्रीय नेताओं ने स्वतंत्रता आंदोलन के दिनों में प्रसिद्ध कृषक आंदोलनों में सक्रिय रूप से हिस्सा लिया।

25.3.2 कृषक आंदोलन में गाँधी

सन् 1971 में महात्मा गाँधी ने चम्पारण (बिहार) में कृषक आंदोलन का नेतृत्व किया। निर्धन नील-खेतिहर (श्रमिक, काश्तकार और रैयत) का शोषण ब्रिटिश बागान मालिकों (नीलहे साहिबों) द्वारा वर्षों से हो रहा था। सन् 1900-13 के बीच जर्मनी द्वारा रासायनिक-संश्लेषी रंग खोज लेने के बाद नील के उपज का अंतर्राष्ट्रीय बाजार धीरे-धीरे गिर गया। चम्पारण में ब्रिटिश नीलहे साहिबों ने कृषकों पर और ज्यादा शोषणकारी शर्तों को थोपने की कोशिश की या नील की खेती करने से मना किया। निर्धन कृषकों ने गांधी जी से अपील की। गांधी जी सन् 1917 में चम्पारण पहुंचे। उन्होंने कृषक समुदाय की आर्थिक स्थिति का अध्ययन खुले जाँच पड़ताल से किया। नील-खेतिहरों की स्थिति पर उनकी रिपोर्ट और नीलहे साहिबों के विरुद्ध उनके संघर्ष ने समूचे राष्ट्र का ध्यान इस मुद्दे पर खींचा। कृषक समुदाय के अनवरत संघर्ष और गांधी जी के नेतृत्व ने अंततः सरकार के नील खेतिहरों के हितों की सुरक्षा की माँग मानने को बाध्य कर दिया। चंपारण में गांधी जी ने सत्याग्रह की शक्ति का अनुभव किया, कृषक समुदाय की समस्याओं के बारे में जाना और इस संघर्ष से वे एक राष्ट्रीय नेता के रूप में उभरे। सन् 1918 में गांधीजी ने गुजरात के खेड़ा जिला में कृषकों को राजस्व में छूट दिलाने का काम भी अपने हाथों में लिया। फसल न होने के कारण, सन् 1917 में खेड़ा में राजस्व भुगतान न करने का प्रश्न ब्रिटिश शासन के विरुद्ध विरोध का एक मुख्य मुद्दा बन गया था। सन् 1918 में गांधीजी ने सत्याग्रह करने का आह्वान किया। खेड़ा आंदोलन की माँगों को ब्रिटिश शासन द्वारा मानने पर कृषकों को बहुत राहत मिली।

25.3.3 1920 तथा 1930 के दशकों के कृषक आंदोलन (अवध, उत्तर प्रदेश के अन्य हिस्से, बिहार, गुजरात और दक्षिण भारत)

1920 तथा 1930 के दशकों में बहुत सारे कृषक आंदोलन हुए। इस काल में कृषक समुदाय की संगठित कृषक आंदोलनों और स्वतंत्रता आंदोलन में व्यापक भागीदारी रही। कुछ महत्वपूर्ण कृषक संगठनों का प्रादुर्भाव भी हुआ और कुछ कृषक राजनीतिक दल भी बने। आइए पहले हम 1920 और 1930 के दशकों में कृषक आंदोलन का अध्ययन करें।

1) अवध : 1920 के दशक में उत्तर प्रदेश में कृषक आंदोलन ने जोर पकड़ा। बाबा रामचंद्र ने कृषकों को अवध के जमींदारों के दमन के खिलाफ संगठित करने की पहल की। प्रमुख मुद्दे थे—काश्तकारों की बेदखली, भू-राजस्व तथा भूस्वामियों द्वारा दमन। तथापि, 1920 दशक के प्रारंभ में ही अवध के कृषक समुदाय काफी क्रियाशील हो गए थे, उनका आंदोलन 1930 दशक में प्रारंभिक वर्षों तक चला। पंडित नेहरू अवध के कृषक समुदाय के साथ बहुत सहानुभूति रखते थे। उन्होंने कृषक समुदाय को क्रियाशील बनाने में सक्रिय भाग लिया था।

2) उत्तर प्रदेश के अन्य हिस्से—यह महत्वपूर्ण है कि उत्तर प्रदेश में कृषक आंदोलन ने सन् 1920 में कांग्रेस द्वारा चलाए गए असहयोग आंदोलन का साथ दिया था। सन् 1921-22 में, कृषक आंदोलन लड़ाकू तेवर के साथ बरेली, फैजाबाद और सुल्तानपुर जिलों में फैला। सन् 1921-22 में, मदारी पासी नाम के एक कृषक नेता द्वारा हरदोई, बाराबंकी और सीतापुर में "एका" आंदोलन छेड़ा गया।

3) बिहार : सन् 1920 में कृषक आंदोलन का उदय बिहार में भी हुआ। स्वामी दयानंद ने विद्यानंद ने दरभांगा के कृषक समुदाय को दरभंगा नरेश के दमन के विरुद्ध संगठित किया।

4) गुजरात बारदोली : सन् 1927 में गुजरात में पुनः कृषक समुदाय बहुत ही अधिक क्रियाशील हो गया था। बारदोली जिला के कृषकों को सरदार बल्लभ भाई पटेल और कुँवर जी मेहता ने संगठित किया। उन्होंने सरकार द्वारा भू-राजस्व में संशोधित वृद्धि के विरुद्ध कृषकों को क्रियाशील किया। इसकी रिणति सन् 1928 में बारदोली सत्याग्रह के रूप में हुई। सभी प्रकार के दमन के बावजूद किसानों ने लगान चुकाने से मना कर दिया। अंततः औपनिवेशिक शासन लगान में कमी करने को बाध्य हो गया।

5) दक्षिण भारत : दक्षिण भारत के कई भागों में कृषक आंदोलन हुए। सन् 1928 में प्रोफेसर एन.जी.रंगा के नेतृत्व में आंध्र रैयत एसोसिएशन का गठन हुआ। इस संघ ने भूमि लगान कम करवाने के लिए कृषक समुदाय को क्रियाशील किया। सविनय अवज्ञा आंदोलन के समय साहूकारों और भूस्वामियों के विरुद्ध रैयत का आंदोलन तंजौर, मदुरा, सलेम, कृष्णा, गुंटुर आदि जिलों में काफी सशक्त रूप से उभरा।

देश के अन्य भागों में भी सशक्त कृषक आंदोलन हुए। राजस्थान, बंगाल, मालाबार, असम और अन्य प्रांतों के कृषिक समुदायों ने भी विरोध प्रकट किया।

25.3.4 अखिल भारतीय किसान सभा का गठन (1936)

यह महत्वपूर्ण है कि सन् 1920 के बाद से कृषक समुदाय की बिगड़ती आर्थिक स्थिति गंभीर चिंता का विषय बन गया। यह चिंता तथा कृषक समाज के बीच बढ़ती जागरुकता उस अवधि में कई राजनीतिक संगठनों के उभरने का कारण बन गयी।

सन् 1926 में स्वामी सहजानन्द द्वारा बिहार किसान सभा का गठन किया गया। भारतीय कम्यूनिस्ट के फ्रंट पार्टी के रूप में श्रमिक और कृषक पार्टी सन् 1926 के प्रारंभ में बनाई गई। पुनः सन् 1929 में फजलूल हक के नेतृत्व में कृषक प्रजा पार्टी का गठन किया गया। और यह 1930 के दशक में बंगाल में एक महत्वपूर्ण राजनीतिक पार्टी के रूप में उभरी।

इस संदर्भ में सन् 1931 में हुई करांची कांग्रेस महत्वपूर्ण है क्योंकि इस बैठक में कांग्रेस ने आर्थिक विषयों पर प्रस्ताव पारित किए जिसमें बिचौलिए जमींदारों के उन्मूलन की बात कही गई थी।

इस पृष्ठभूमि में भारत में कृषक क्रियाशीलन के इतिहास में सन् 1936 एक ऐतिहासिक वर्ष था। इस वर्ष अखिल भारतीय किसान सभा का गठन हुआ था। स्वामी सहजानन्द ने किसान सभा के गठन में प्रमुख भूमिका निभाई। किसान सभा की पहली बैठक जय प्रकाश नारायण की अध्यक्षता में सन् 1936 में लखनऊ में हुई। यह उल्लेखनीय है कि किसान सभा का गठन उसी समय हुआ जब जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में लखनऊ कांग्रेस की बैठक हुई थी। प्रोफेसर एन.जी. रंगा, स्वामी सहजानंद, नरेन्द्र देव, इंदुलाल याज्ञनिक, बंकिम चटर्जी आदि अखिल भारतीय किसान सभा के प्रमुख नेताओं में से थे। किसान सभा के मुख्य उद्देश्य थे: आर्थिक शोषण से कृषकों का संरक्षण, जमींदारी प्रथा का उन्मूलन इत्यादि। सन् 1937 तक किसान सभा की अधिकांश प्रांतीय शाखाएँ स्थापित हो गई थी। उसके बाद से किसान सभा, विभिन्न कृषिक समस्याओं पर विशेषकर जमींदार वर्ग के दमन के विरुद्ध कृषक समुदाय को क्रियाशील करती रही। इस समय भारत में कम्यूनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगा दिया गया था, अतः कम्यूनिस्ट कार्यकर्त्ता किसान सभा और कांग्रेस समाजवादी पार्टी के तहत सक्रिय थे।

अन्य छोटे वामपंथी दलों, जैसे क्रांतिकारी समाजवादी पार्टी, बोल्शेविक पार्टी, फॉरवर्ड ब्लॉक इत्यादि, ने भी अपने-अपने प्रभाव क्षेत्रों में कृषकों को संगठित करने का प्रयास किया।

अब तक हमने कृषकों के असंतोष को संगठित कृषक आंदोलन के रूप में अभिव्यक्ति और कृषक सभा पर राजनीतिक संगठनों के प्रयासों का अध्ययन किया। अब हम कृषक आंदोलन के अध्ययन के माध्यम से बदलते वर्ग संबंधों पर विचार करें। यहां हम सन् 1946-47 में हुए तिभागा आंदोलन का अध्ययन करेंगे।

25.3.5 बंगाल में कृषक आंदोलन (तिभागा : 1946-47)

स्वतंत्रता और बंगाल विभाजन के ठीक पहले, सन् 1946 में संयुक्त बंगाल प्रांत में एक कृषक विद्रोह उभर कर सामने आया जिसे "तिभागा आंदोलन" के नाम से जाना जाता है। धनागरे के अनुसार यह आंदोलन बटाईदारों का था जो फसल का दो तिहाई हिस्सा अपने पास रखना चाहते थे। इस तरह जोतदारों को लगान के रूप में दिया जाने वाला फसल का आधा हिस्सा घटाकर एक तिहाई करने की मांग थी। ये जोतदार धनी किसानों का एक वर्ग था जो भूमि पर अधिकार रखता था। यह आंदोलन बंगाल किसान सभा के नेतृत्व में आगे बढ़ा। इस आंदोलन ने विभिन्न तरह के काश्तकारों जैसे कृषि-श्रमिक, बटाईदार और निर्धन कृषकों को क्रियाशील करते हुए जोतदारों, जमींदारों, साहूकारों, व्यापारियों और ब्रिटिश प्रशासन के विरुद्ध एक शक्ति के रूप में खड़ा किया। ए.आर. देसाई के अनुसार यह आंदोलन मूलतः एक आर्थिक संघर्ष था लेकिन इसने राजनीतिक रंग ले लिया जब इसको जोतदारों और राज्य के राजनीतिक तंत्र से सामना करना पड़ा। इस संदर्भ में अब हम इस आंदोलन की उत्पत्ति पर विचार करेंगे।

इस खंड की पिछली इकाई में हमने बंगाल के भूमि पट्टेदारी में एक बिचौलियों की व्यवस्था पर विचार किया था। इस व्यवस्था में कृषिक सोपानक्रम के निम्नस्तर पर स्थित लोगों की आर्थिक स्थिति बहुत ही असुरक्षित हो गई थी। जबकि उच्च स्तर पर स्थित समूहों (बिचौलिये, धनी किसान) ने कृषिक अर्थव्यवस्था से बहुत अधिक आमदनी और लाभ का संग्रह किया। उनके हाथों में बहुत ज्यादा क्रय शक्ति थी। जबकि कृषि श्रमिक वर्ग शोषण, निर्धनता और असुरक्षा से पीड़ित थे। निम्न वर्गों की बिगड़ती हुई आर्थिक स्थिति के कारण इस काल के कृषिक समाज में बटाईदारों और कृषि-श्रमिकों की संख्या में असाधारण वृद्धि हुई।

इस काल मे बटाईदारों (बर्गदार या भागचासी) की संख्या में वृद्धि छोटे जोत के कृषकों की ऋणग्रस्तता से संबंधित थी। वे गाँव के साहूकारों, व्यापारियों तथा अन्य बिचौलियों के ऋणी थे। यह देखा गया कि मूल रकम से चार या पाँच गुणा रकम सूद के रूप में देने के बाद भी वे ऋण से मुक्त नहीं हो पाए और धीरे-धीरे उनकी जमीन व्यापारियों, साहूकारों तथा बिचौलिए भूस्वामियों के हाथों चली गई। इन निर्धन कृषकों को उस जमीन पर पुनः इस शर्त पर स्थापित किया गया कि वे उपज का आधा हिस्सा भूस्वामी को देंगे। जहाँ तक भूमि संबंधों का प्रश्न है बटाईदार भूस्वामियों पर अत्यधिक आश्रित थे। बटाईदारों के बीच पट्टेदारी असुरक्षा व्याप्त थी। भूस्वामी बटाईदारों के साथ वार्षिक बंदोबस्त चाहते थे। वे अपनी इच्छानुसार बाटाईदारों को हटाते और लगाते थे। अपने पट्टेदारों को सुरक्षित रखने के लिए बटाईदारों को भूस्वामियों के प्रति कुछ अतिरिक्त आर्थिक दायित्व निभाने को बाध्य होना पड़ता था।

इन संबंधों के कुछ पहलू निम्नलिखित हैं:

1) उनको अपने पशुओं द्वारा भूस्वामियों की कुछ जमीन को बिना कोई भुगतान पाए ही जोतना पड़ता था।

2) उनको अपने भूस्वामियों के घर पर किसी जरूरत के समय उपस्थित होना पड़ता था।

3) उनको भूस्वामियों के जीवन और संपत्ति की सुरक्षा बिना कोई पारिश्रमिक पाए ही करनी पड़ती थी।

4) भूस्वामियों के प्रति सम्मान प्रदर्शन के रूप में वे उनके सामने रंगीन कपड़ों, साइकिल, यहाँ तक कि छाता भी इस्तेमाल नहीं कर सकते थे।

5) खेती में तेजी के समय उनको अपने भूस्वामियों के खेतों में बेगारी (केवल खाने पर) करनी पड़ती थी।

6) उनकी भूस्वामियों को "अन्नदाता" की तरह समझना पड़ता था और जीवन के हरेक क्षेत्र में उनका सम्मान करना पड़ता था।

7) कई अवसरों पर अपने भूस्वामियों के हितों की रक्षा में उनको अदालत में झूठी गवाही भी देनी पड़ती थी।

बटाईदारी व्यवस्था, जो कृषिक सामाजिक संरचना का मुख्य आधार था और अधिक दमनकारी और शोषणकारी बनकर उभरा। बड़े भूस्वामियों ने इस संस्था का उपयोग अपने

आर्थिक हितों को बढ़ाने, कृषिक आबादी पर नियंत्रण करने और अपनी सामाजिक स्थिति को सुदृढ़ करने के लिए किया। ब्रिटिश शासन के दौरान कृषक समुदाय की बिगड़ती आर्थिक स्थिति का प्रश्न कई बार उभर कर सामने आया। लेकिन सन् 1920 के बाद से ही इन प्रश्नों पर व्यवस्थित रूप से ध्यान दिया गया। अखिल भारतीय किसान सभा के प्रांतीय शाखा के रूप में बंगाल किसान सभा का गठन सन् 1936 में होने के बाद कृषक प्रश्नों पर काफी सरगर्मी पैदा हुई। किसान सभा के मुख्य उद्देश्य थे, कृषकों को आर्थिक शोषण से मुक्त कराना और कृषकों, श्रमिकों तथा अन्य शोषित वर्गों के आर्थिक और राजनीतिक अधिकारों को बहाल कराना। किसान सभा के गठन ने बंगाल में कृषक समुदाय के राजनीतिक क्रियाशीलन का रास्ता खोल दिया। धीरे-धीरे, किसान सभा के कार्यकर्त्ता ग्रामीण क्षेत्रों में बड़े भूस्वामियों के दमन के विरुद्ध कृषकों और कृषि, श्रमिकों को संगठित करने में सक्रिय हो गए।

किसान सभा ने बटाईदारों की समस्या पर ध्यान केंद्रित करना शुरू कर दिया। सन् 1946 नवम्बर, कलकत्ता में उन्होंने बटाईदारों के लिए "तिभाग" का प्रस्ताव पारित कर दिया। बड़े भूस्वामियों के विरुद्ध बटाईदारों को संगठित करने के लिए किसान सभा के कार्यकर्त्ता ग्रामीण क्षेत्रों में फैल गए। किसान सभा के कार्यकर्त्ताओं के क्रियाकलापों का मुख्य केन्द्र बंगाल का उत्तरी भाग हो गया क्योंकि इस क्षेत्र में बटाईदारी व्यवस्था बहुत अधिक प्रचलित थी और विशेषकर दीनाजपुर जिला में अनुसूचित जाति और अनुसूचित जनजाति के लोग काफी संख्या में थे।

यह आंदोलन राज्य के उत्तरी जिलों में दावानल (जंगल में आग) की तरह फैला और क्रमशः दक्षिणी जिलों में फैल गया। फसल काटने के समय यह आंदोलन अपनी चरम स्थिति पर पहुँच गया। निर्धन कृषक संगठित हो गए। उन्होंने नारे लगाए—(निज खोलाने धान तौलो) अपने खलिहान में धान जमा करो, (ब्रिटिशर दलाल भारत छाउड़ो) ब्रिटिश शासन के दलाल भारत छोड़ो, (लंगन जार जमीन तार) जो जमीन जोते खेत उसका, (तिभाग चाई) तीन हिस्सा चाहिए, इंकलाब जिंदाबाद।

सारे पारंपरिक बंधनों की अवहेलना करते हुए बटाईदारों ने तैयार करने के लिए धान की फसल को अपने खलिहानों में जमा कर लिया। पारंपरिक रूप से इनको भूस्वामियों के खलिहानों में धान की फसल जमा करना होता था। भूस्वामियों ने आंदोलन को दबाने के लिए पुलिस की सहायता ली। राज्य के उत्तरी हिस्सों में बटाईदारों ने जबरदस्त प्रतिरोध किया। यहाँ तक कि कृषक महिलाएं भी अपने पारंपरिक हथियारों जैसे लाठी, झाड़ू, गंड़ासा, तीर और धनुष लेकर सामने आ गई। लगभग उन्नीस जिलों में पुलिस और कृषकों के बीच जमकर संघर्ष हुआ। कई स्थानों पर पुलिस ने निहत्थे कृषकों पर अंधाधुंध गोलियाँ चलाई। महिलाओं सहित कई कृषक मारे गए।

दमनकारी उपायों के बावजूद तिभागा आंदोलन सन् 1947 मार्च तक क्रमशः फैलता गया। कालांतर में किसान सभा की संगठनात्मक कमजोरियाँ उभर कर सामने आई। राज्य के विभिन्न हिस्सों में हो रहे छुट-पुट संघर्षों के बीच तारतम्यता बनाए रखने में किसान सभा असफल रही। सन् 1947, 28 मार्च को कम्यूनिस्ट पार्टी ने, ग्रामीण क्षेत्रों में पुलिस दमन के खिलाफ और तिभागा की मांग के समर्थन में, एक सामान्य हड़ताल का आह्वान किया। उस समय की घटनाओं, विशेषकर बंगाल के विभाजन के प्रश्न और सन् 1947, 27 मार्च से कलकत्ता में शुरू हुए सांप्रदायिक दंगों ने उन विचारधाराओं और अनुचिंतनों को ढक दिया जिसके कारण तिभागा आंदोलन का उदय हुआ था। लेकिन इस आंदोलन में व्यक्त कृषकों के हिंसक क्रियाशीलन ने ग्रामीण बंगाल में सामंती दमन की जड़ों को हिला दिया था।

बोध प्रश्न 2

टिप्पणी: क) अपने उत्तर के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग कीजिए।

ख) अपने उत्तर इकाई के अंत में दिए गए उत्तरों से मिलाइए।

i) महात्मा गांधी ने ..... का नेतृत्व किया।

क) बारदौली आंदोलन

ख) चम्पारण आंदोलन

ग) अवध कृषक आंदोलन

घ) एका आंदोलन

ii) अखिल भारतीय किसान सभा के दो मुख्य उद्देश्यों को लिखिए।

iii) निम्नलिखित में से कौन अखिल भारतीय किसान सभा के नेता नहीं थे :

क) प्रोफेसर एन.जी. रंगा

ख) स्वामी सहजानंद

ग) नरेन्द्र देव

घ) उपरोक्त सभी

25.4 स्वातंत्र्योत्तर काल में कृषक आंदोलन

स्वातंत्र्योत्तर काल में, भारत में दो महत्वपूर्ण कृषक आंदोलन हुए हैं—तेलंगाना और नक्सलबाड़ी आंदोलन। इस काल में कुछ महत्वपूर्ण कृषक संगठनों का भी गठन हुआ है। आइए, अब हम इन आंदोलनों और संगठनों का अध्ययन करें।

25.4.1 तेलंगाना आंदोलन (1948-52)

आंध्र प्रदेश के भूतपूर्व हैदराबाद राज्य ने सन् 1948 में कृषक असंतोषों के प्रबल उभारों को देखा है जिसे लोकप्रिय रूप से तेलंगाना आंदोलन के नाम से जाना जाता है। तेलंगाना क्षेत्र के कृषक भूमि पट्टेदारी की जागीरदारी व्यवस्था में आते थे। जागीरदारों द्वारा भूमि संबंधों की दमनकारी शर्तों को उन पर लादा जाता था। कृषक और कृषि श्रमिक मुख्यत: रेड्डी और कम्मा जाति समूहों और जन जातियों के थे। उन्हें निजाम की धर्म आधारित राज्य प्रणाली में किसी तरह की स्वतंत्रता नहीं थी। मुस्लिम और उच्च जाति के हिन्दू भूस्वामियों द्वारा निर्धन कृषकों का दमन और शोषण कई तरीकों से होता था। जैसे उनसे जबरदस्ती काम करवाना, जनजातीय श्रमिकों को उनके श्रम के बदले बहुत कम भुगतान करना, खेती के मंदे समय में दिए ऋण पर अतिशय ब्याज वसूलना, अधिक लगान लगाना इत्यादि।

कम्युनिस्ट और समाजवादी संयुक्त रूप से अत्यधिक लगान और बेगारी के विषय में निजाम के विरुद्ध कृषकों और कृषि-श्रमिकों को क्रियाशील बहुत दिनों से कर रहे थे। इस दरम्यान जब सन् 1948 में जमींदार के एक कारिंदे ने भूमि विवाद पर एक ग्रामीण कार्यकर्त्ता की हत्या कर दी तो उससे हिंसक कार्रवाइयाँ भड़क उठीं।

कृषकों ने दमन के विरुद्ध एक सशक्त प्रतिरोध खड़ा किया। उन्होंने न केवल पारंपरिक हथियारों का उपयोग किया बल्कि सशस्त्र गुरिल्ला दल भी बनाया। उन्होंने निजामशाही द्वारा संरक्षित रजाकारों के साथ संघर्ष किया। उन्होंने जागीरदारों की भूमि पर कब्जा कर लिया और मुक्त क्षेत्रों की स्थापना की।

भारतीय सेना द्वारा सन् 1949 में निजाम को सत्ता से हटा दिया गया। जागीरदारी व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया गया। रजाकारों को हटाकर भारतीय सेना बहाल की गई। इस चरण पर आकर समाजवादियों ने स्वयं को इस सशस्त्र संघर्ष से अलग कर लिया। फिर भी साम्यवादियों के नेतृत्व में कृषकों का भारतीय सेना के विरुद्ध संघर्ष कुछ महीनों तक जारी रहा। आंदोलन क्रमश: ढीला पड़ रहा था और भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने स्वतंत्रता पश्चात् नए कांग्रेसी नेतृत्व को ध्यान में रखते हुए आंदोलन वापस ले लिया।

25.4.2 कृषक आंदोलन और हिन्द किसान पंचायत (1959-60)

द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान जब अधिकाँश कांग्रेसी नेता गिरफ्तार थे और कांग्रेस समाजवादी दल सन् 1942 के भारत छोड़ो आंदोलन को नेतृत्व देने की कोशिश कर रहे थे, उस समय भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी ने अखिल भारतीय किसान सभा के नेतृत्व पर यथावत् कब्जा कर लिया। सन् 1948 में समाजवादी कांग्रेस पार्टी से अलग हो गए और एक अलग सोशलिस्ट पार्टी का गठन किया। सन् 1949 में सोशलिस्ट पार्टी ने फैसला किया कि पार्टी की एक अलग कृषक-शाखा का गठन हिन्द किसान पंचायत के नाम से किया जाए। डॉ. राम मनोहर लोहिया ने हिन्द किसान पंचायत के गठन में अग्रणी भूमिका

निभाई। इस संगठन ने जमींदारी का बिना मुआवजा दिए उन्मूलन जैसी समस्याओं को अपने हाथों में लिया। हिन्द किसान पंचायत और सोशलिस्ट पार्टी ने कृषकों के अधिकारों और दावों के संरक्षण के लिए उत्तर प्रदेश, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, मैसूर, मध्यप्रदेश, मणिपुर और असम आदि राज्यों में संघर्ष किया।

25.4.3 नक्सलबाड़ी आंदोलन (1967-71)

सन् 1947-67 के बीच की अवधि में पश्चिम बंगाल के कृषिक समाज के निचले तबकों की सामाजिक-आर्थिक स्थिति बिगड़ती गई। हालाँकि प्रकटतया ग्रामीण समाज में भूमिहीनता के विस्तार में कमी आई है और लघु तथा मध्यम कृषकों का अनुपात बढ़ा है, लेकिन वास्तव में समाज के उच्च वर्ग की सामाजिक-आर्थिक स्थिति में कोई बदलाव नहीं आया था। बिचौलिया व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया गया था लेकिन बड़े-बड़े जोत बरकरार रहे क्योंकि बड़े भूस्वामियों (पुराने बिचौलिए और उनके सहयोगी) ने अपनी भूमि का अनुचित हस्तांतरण अपने परिवार के सदस्यों या संबंधियों के नाम कर दिया था। दूसरी ओर, समुचित वैधानिक संरक्षण के अभाव में, बटाईदारों की अनियंत्रित बेदखली बटाईदारों को उपज में कम हिस्सा, कृषि-श्रमिकों को कम मजदूरी और ऋण के बोझ में बढ़ोत्तरी आदि चीजें होती रही।

इस अवधि में, औद्योगिक विकास को धीमी गति, ग्रामीणों के लिए रोजगार के वैकल्पिक स्रोत के अभाव और पूर्व-पाकिस्तान (अब बंगलादेश) से आप्रवासन आदि के कारण भूमि पर दबाव काफी बढ़ गया। इन सबके कारण ग्रामीण आबादी के एक बड़े हिस्से का आर्थिक जीवन काफी कष्टमय हो गया था।

इस पृष्ठभूमि में, सन् 1967 में ही पश्चिम बंगाल में यूनाइटेड फ्रंट सरकार की स्थापना हुई और नक्सलबाड़ी आंदोलन शुरू हुआ। मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी विचारधारा के साथ शुरू हुए नक्सलबाड़ी आंदोलन में जनसंघर्ष और गुरिल्ला युद्ध द्वारा सत्ता पर कब्जा करने का समर्थन किया गया। यह आंदोलन एक अतिवादी कृषक क्रियाशीलन और एक उग्र सामूहिक प्रयास के रूप में राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय समाचारपत्रों की प्रमुख खबरों में छा गया। इस आंदोलन के साथ पश्चिम बंगाल के कृषिक समाज में कृषक संघर्षों का एक नया दौर शुरू हुआ। प्रारंभ में, यह आंदोलन दार्जिलिंग जिले के सिलीगुड़ी परगना में स्थित नक्सलबाड़ी नाम के गाँव में शुरू हुआ। वास्तव में निर्धन कृषकों के लम्बे संघर्षों के एक हिस्से के रूप में यह आंदोलन अभिव्यक्त हुआ। इस संघर्ष में, साहूकारों और भूस्वामियों के शोषण के विरुद्ध निर्धन कृषक, बटाईदार और कृषि श्रमिक एक शक्ति के रूप में उभरे। राज्य के अन्य भागों में भी यह आंदोलन फैला। प्रारंभ में, सिलीगुड़ी परगना के अधिकाँश गाँवों में कृषक समितियों और लाल-गार्डों का गठन किया गया। इसका अनुसरण जल्दी ही कई अन्य परगनों और जिलों में हुआ। इन समितियों और लाल-गार्डों ने भूस्वामियों के अधीन अतिरिक्त भूमि पर जबरदस्ती कब्जा करने, भूस्वामियों के भंडार से धान लूटने, भूस्वामियों के खेतों से धान की खड़ी फसल काट लेने, पुराने कर्जे तथा ऋण के पुनः भुगतान को खत्म करने, भूस्वामियों की बंदूकें छीनने आदि के लिए कृषिक समाज के निम्न वर्गों को संगठित किया।

सन् 1969 मई में कानू सान्याल ने भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी-मार्क्सवादी-लेनिनवादी (सी.पी.आई.-एम.एल.) के गठन की घोषणा की सन् 1969 के अगस्त महीने में चारू मजूमदार ने "वर्ग-शत्रुओं के संहार का मार्ग" की वकालत की। इस समय तक कृषक समितियाँ और लाल गार्ड राज्य के विभिन्न भागों में सक्रिय हो गए थे। नक्सलबाड़ी आंदोलन ने कई नए क्षेत्रों में प्रवेश किया। विशेषकर मिदनापुर जिले के गोपीवल्लभपुर और देबरा क्षेत्रों में। राज्य के विभिन्न हिस्सों तथा पड़ोसी राज्यों के नक्सलियों के बीच समन्वय स्थापित करने के लिए समन्वय समितियाँ भी बनाई गई। कलकत्ता के प्रेसीडेंसी कालेज के कई होनहार छात्र भी इस आंदोलन से जुड़े। वे ग्रामीण क्षेत्रों में जाकर बड़े भूस्वामियों और साहूकारों के विरुद्ध ग्रामीण निर्धनों को क्रियाशील करते थे।

गाँव के स्तर पर कृषक समितियाँ स्थानीय परिस्थितियों का मूल्यांकन करती थीं और दमनकारी भूस्वामियों को मौत की सजा भी देती थी। भूस्वामियों से बंदूकें लूटकर जंगलों में लाल गार्ड का गठन किया गया। दूरस्थ क्षेत्रों में कई मुक्त क्षेत्र भी घोषित किए गए। कई बड़े भूस्वामियों ने गाँव छोड़ दिए। जो वापस ठहर गए उन्होंने अपने शस्त्र नक्सली को सौंप दिए और उनकी शर्तों को स्वीकार किया।

यहाँ उल्लेखनीय है कि सन् 1970 तक वाम मोर्चे की सरकार ने इस आंदोलन को दबाने के लिए कोई सार्थक दमनकारी उपाय नहीं किया। जबकि, संयुक्त मोर्चा सरकार के गिरने के बाद और राज्यपाल द्वारा सत्ता ग्रहण करने के बाद, नक्सलबाड़ी आंदोलन से प्रभावित क्षेत्रों में बड़ी संख्या में पुलिस बल घुसा और थोड़े समय में ही विद्रोह को दबा दिया गया।

आपने देखा कि इन आंदोलनों के कारण कृषिक वर्ग संबंध रूपांतरण की एक विस्तृत प्रक्रिया से गुजरा। कृषिक समाज का निचला तबका बड़े भूस्वामियों के विरुद्ध सशक्त रूप से संगठित हुआ। उनकी एकता का आधार था उनकी एक सी आर्थिक स्थिति। उन्होंने एक समान वस्तुनिष्ठ अवस्थाओं का अनुभव किया—आर्थिक तंगी, असुरक्षा और शोषण। यह महत्वपूर्ण है कि कृषिक समाज के निम्न वर्ग न केवल बड़े भूस्वामियों के विरुद्ध संगठित हुए बल्कि उनके विरुद्ध शत्रुतापूर्ण धारणा रखने में भी निम्न वर्ग की एकता स्पष्ट थी। पुनः उनकी शत्रुता ने, वामपंथी दलों के संगठनात्मक सहायता के बल पर, एक सामूहिक रूप धारण किया। अन आंदोलनों में कृषक समुदाय संगठित होकर कृषिक समाज के मुख्य संस्थागत प्रणालियों में मूलभूत परिवर्तन लाने के लिए प्रयासरत था। और इसके लिए उन्होंने सामाजिक क्रियाशीलन के गैर-संस्थागत मार्गों को अपनाया। चूंकि कृषक समुदाय गुप्त संगठनों द्वारा संगठित थे इसलिए उनके क्रियाशीलन का बहुत ज्यादा दमन राज्य द्वारा किया गया।

बोध प्रश्न 3

सही उत्तर पर (✓) का निशान लगाएं/खाली स्थान भरें।

i) सन् 1948 में तेलंगाना का कृषक समुदाय भूमि पट्टेदारी की किस व्यवस्था के अंतर्गत आता था?

   क) जमींदारी

   ख) जागीरदारी

   ग) रैयतवारी

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

ii) निजाम के विरुद्ध संघर्ष के पहले चरण में तेलंगाना आंदोलन को नेतृत्व.....ने दिया था।

   क) केवल कम्युनिस्ट

   ख) केवल समाजवादी

   ग) संयुक्त रूप से समाजवादी और कम्युनिस्ट

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

iii) नक्सलबाड़ी आंदोलन की शुरुआत.....के साथ हुई।

   क) मार्क्सवादी विचारधारा

   ख) लेनिनवादी विचारधारा

   ग) मार्क्सवादी-लेनिनवादी-माओवादी विचारधारा

   घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं

iv) नक्सलवाड़ी आंदोलन की विचारधारा समर्थन करती है:

   क) सामाजिक व्यवस्था में शीघ्र परिवर्तन का

   ख) सामाजिक व्यवस्था में क्रमिक परिवर्तन का

   ग) सामाजिक व्यवस्था में आंशिक परिवर्तन का

25.5 समकालीन भारत में किसान आंदोलन

इस इकाई के पिछले भागों में हमने भारत में बदलती कृषिक दृश्य और किसान आंदोलन के देश के विभिन्न भागों में उदय का उल्लेख किया था। इस भाग में इस आंदोलनों की उत्पत्ति और इसके सामाजिक-आर्थिक पहलुओं पर विस्तार से विचार करेंगे।

नाडकर्णी के अनुसार, कृषक आंदोलनों और उसके बाद के भूमि सुधारों के कार्यान्वयन से भारतीय कृषि की संस्थागत प्रकृति एक मुख्यतः सामंती व्यवस्था से रूपांतरित होकर एक मुख्यतः पूंजीवादी व्यवस्था हो गई। हालाँकि इसमें महत्वपूर्ण क्षेत्रीय भिन्नताएँ भी मिलती हैं। छठे दशक के मध्य से कृषि में त्वरित विकास के लिए भारत सरकार ने नई रणनीति अपनायी। कृषक समुदाय के उच्च वर्ग और बड़े भूस्वामियों ने नई विकास रणनीति का अधिकतम लाभ उठाया। नये क्षेत्रों में सिंचाई सुविधा प्रारंभ होने और उन्नत किस्मों के अपनाने से धनी किसानों का आधार और व्यापक हुआ है। इन उपायों से कभी-कभी मध्यम वर्ग के किसान भी बाजार में बेचने लायक अतिरिक्त फसल पैदा कर लेते हैं। यहाँ तक कि दो या तीन एकड़ के जोत जो पहले लाभदायक नहीं थे, सिंचाई और उन्नत किस्मों के कारण लाभदायक हो गये हैं। ऐसे कृषक राजनीति में अपनी जगह बनाने की जरूरत के कारण धनी किसानों के साथ संलग्न होते हैं। इस वर्ग का न केवल ग्रामीण उत्पादन संसाधनों और मानव श्रम शक्तियों पर ज्यादा नियंत्रण होता है बल्कि ये अपनी उच्च जाति की पृष्ठभूमि के कारण ग्रामीण सामाजिक और आर्थिक संस्थाओं पर भी नियंत्रण रखते हैं। किसानों के इस नये वर्ग के उदय के कारण हमारे समाज की वर्तमान शक्ति-संरचना वृहत् रूप से प्रभावित हुई है। किसानों के इस नये वर्ग ने देश के कई भागों में आंदोलनों को संगठित किया है। उनके आंदोलन को सामान्य रूप से किसान आंदोलन के नाम से जाना जाता है। इस इकाई में सारे किसान आंदोलनों का समावेश करना संभव नहीं है। इन आंदोलनों के मुख्य पहलूओं से आपको परिचित कराने के लिए हम तमिलनाडु, महाराष्ट्र और देश के उत्तरी भागों में हुए कुछ महत्वपूर्ण किसान आंदोलनों का वर्णन करेंगे।

25.5.1 तमिलनाडु

तमिलनाडु के कुछ क्षेत्रों की कृषि में छठे दशक के उत्तरार्द्ध से ही बहुत ज्यादा विकास हुआ है। कृषि में विकास के साथ ही साथ इन क्षेत्रों में बिजली की दरों में वृद्धि, कृषि संबंधित ऋण अदायगी आदि से जुड़ी कई समस्याएँ भी उभर कर सामने आयीं। तमिलनाडु विवासैयगल संगम (तमिलनाडु एग्रीकल्चरिस्ट एसोसिएशन) (टी.एन.वी.एस.) के गठन के साथ ही किसानों के क्रियाशीलन ने ठोस रूप लिया। तमिलनाडु विवासैयगल संगम का गठन राज्य स्तर पर सन् 1969 में सी. नारायण स्वामीनायडु के नेतृत्व में हुआ। विवासैयगल संगम ने सन् 1970 में बिजली के शुल्कों में कमी और ऋण वसूली के स्थगन के लिए कोयम्बटूर में व्यापक स्तर पर आंदोलन को संगठित किया इस आंदोलन को सामान्य हड़तालों, आम भूख हड़तालों, सरकारी कार्यालयों के सामने धरना देने आदि, रूपों में चलाया गया। किसानों का यह क्रियाशीलन काफी प्रभावी सिद्ध हुआ। इस क्रियाशीलन के बाद बिजली शुल्क 9 पैसे प्रति इकाई निर्धारित कर दिया गया (जिसे 8 पैसे से बढ़ाकर 10 पैसे कर दिया गया था) और कुछ समय के लिए ऋण वसूली भी स्थगित कर दी गई।

सन् 1972 में विवासैयगल संगम ने तमिलनाडु में निम्नलिखित प्रमुख माँगों पर आंदोलन चलाया : बिजली शुल्कों में कमी, संस्थागत ऋणों की माफी, नये ऋणों का विस्तार, उत्पादन-लागत के आधार पर कृषि उत्पाद के मूल्यों का निर्धारण, कृषि में आय कर का , उन्मूलन, किसानों को डीजल की पर्याप्त आपूर्ति, बिजली की आपूर्ति, फसल और पशुओं का बीमा इत्यादि। सन् 1977-1979 के बीच इस आंदोलन ने हिंसक मोड़ ले लिया। किसानों ने राज्य व्यापी बंद का आयोजन किया। कई स्थानों पर उन्होंने यातायात बंद कर दिये, पुल तोड़ डाले और सरकारी कर्मचारियों का घेराव किया। यहाँ तक कि ग्राम स्तर के किसान संघों की अग्रिम स्वीकृति के बिना सरकारी कर्मचारियों के गाँव में घुसने पर रोक लगा दी गई। उन्होंने बकाया ऋणों के पुनः भुगतान, ऋण अदायगी और बिजली के शुल्कों का भुगतान बंद कर दिया।

सरकार ने इस आंदोलन को कमजोर करने के लिए पुलिस बल का प्रयोग किया, बड़ी संख्या में कार्यकर्त्ता भी गिरफ्तार किये गये। फिर भी उस आंदोलन के तत्काल खत्म होने का कोई चिह्न नहीं था। अन्त में तमिलनाडु सरकार ने स्थिति की गंभीरता देखते हुए किसानों को बिजली शुल्कों—मीटर किराया, निर्धारित मासिक शुल्क आदि में कमी और नगदी फसलों पर अधिभार की समाप्ति के रूप में कुछ महत्वपूर्ण छूट प्रदान कीं। जबकि सरकार ने ऋण माफी से इंकार कर दिया। इसके फलस्वरूप आंदोलन और फैल गया। सन् 1980 में सरकार ने बिजली शुल्कों में और कमी की घोषणा की और सार्थक रूप से छोटे किसानों के ऋण को माफ कर देने का निर्णय लिया।

निश्चय ही, छोटे किसानों के ऋण माफ कर देने के निर्णय के पीछे, धनी किसानों को अलग-थलग कर देने का प्रयास था और विवासैयगल संगम की बढ़ती शक्ति पर रोक लगाना था। सरकार ने आंदोलन पर नियंत्रण लगाने के लिए ठोस कदम उठाने शुरू कर दिए।

इस बीच विवासैयगल संगम आंदोलन ने संस्थागत राजनीतिक दल का रूप ले लिया जब सी. नारायण स्वामी नायडू ने सन् 1982 में इंडियन फारमर्स एंड ट्वाइलर्स पार्टी की स्थापना की। हालांकि, इस पार्टी का चुनावों में प्रदर्शन काफी असंतोषजनक रहा। यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि इस राजनीतिक दल के गठन के बहुत पहले नायडू ने पंजाब के किसान नेताओं से मिलकर भारतीय किसान यूनियन के गठन के लिए पहल की थी। भारतीय किसान यूनियन द्वारा भारत में किसान आंदोलनों को एक व्यापक आधार देने की कोशिश की गई।

25.5.2 महाराष्ट्र

पिछले दो दशकों में कपास उत्पादकों का आंदोलन महाराष्ट्र में हुआ है। महाराष्ट्र के कपास उत्पादक लाभप्रद मूल्यों की समस्या से कई वर्षों तक जूझते रहे। समय गुजरने के साथ, कपास उत्पादक ऋण समितियों के काफी कर्जदार हो गए क्योंकि उन्हें अपने उत्पाद को बाजार में उस मूल्य पर बेचना होता था जो लागत से कम होते थे। राज्य के कपास उत्पादकों के बीच असंतोष की भावना धीरे-धीरे बढ़ती गई और इसकी अभिव्यक्ति सन् 1972 में महाराष्ट्र कपास उत्पादक शेतकारी संघ के गठन में हुई। इस संगठन ने एम.जी. बोकाड़े के नेतृत्व में सरकार पर दबाव डाला कि कपास का एक यथोचित मूल्य निर्धारित किया जाए। इस आंदोलन के समर्थकों ने अहिंसक आंदोलन का मार्ग अपनाया।

डा. शरद जोशी के नेतृत्व में शेतकारी संगटन के गठन के साथ महाराष्ट्र के किसान आंदोलनों में तेजी आई। शरद जोशी ने गन्ने और प्याज के लाभकारी मूल्यों की समस्या को उठाया। उन्होंने सन् 1980 नवंबर में नासिक के किसानों के व्यापक क्रियाशीलन को "रास्ता रोको" कार्यक्रम के रूप में संगठित किया। सरकार ने शारीरिक हमले और गिरफ्तारी जैसी दमनकारी उपायों को अपनाकर आंदोलन को कुचलना चाहा। यह अनुमान किया जाता है कि तीस हजार से ज्यादा आंदोलनकारी गिरफ्तार किए गए। फिर भी, सरकार आंदोलन को कमजोर करने में असफल रही। अंत में, सरकार ने किसानों द्वारा मांगी गई मूल्यों की वृद्धि को थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ मान लिया।

शेतकारी संगटन ने सन् 1981 मार्च में कर्नाटक में निपानी के तम्बाकू उत्पादकों की समस्या को उठाया। किसान अपने उत्पादों के ऊँचे मूल्यों के लिए क्रियाशील हुए थे। यह पाया गया कि किसानों को प्रति किलोग्राम तम्बाकू की कीमत 3.60 रुपये मिलती है, जबकि तम्बाकू के उत्पादन में प्रतिकिलो 11.40 रुपये की लागत आती है। इस आंदोलन में चालीस हजार से अधिक किसानों ने हिस्सा लिया। उन्होंने बम्बई-बंगलौर मार्ग पर तीन सप्ताह से अधिक दिनों तक घेरा डाले रखा। सरकार ने मानव-अवरोधों को तोड़ने के लिए दमनकारी उपाय अपनाए। अतंतः पुलिस बल को गोलियाँ चलानी पड़ी और इसमें बारह लोग मारे गए। फिर भी आंदोलन चलता रहा।

सरकार ने तम्बाकू उत्पादकों को सहकारी समितियों के गठन में सहायता देने का प्रस्ताव रखा ताकि शोषणकारी निजी व्यापार पर काबू पाया जा सके। भारतीय रिजर्व बैंक से सहकारी समितियों के सुगमता से गठन के लिए पिछले वर्ष में प्राप्त कुल तम्बाकू के मूल्यों का 75 प्रतिशत अग्रिम रकम के रूप में देने का प्रस्ताव रखा। आंदोलन के नेताओं ने सहकारी समितियों के गठन के लिए बैंक से शत-प्रतिशत अग्रिम राशि की माँग की। इस माँग को मानने से सरकार मुकर गई। यह दिलचस्प बात है कि राज्य सरकार ने तम्बाकू के मूल्यों की समस्या से कन्नी काटने का प्रयास किया क्योंकि यह विषय संविधान की केंद्रीय सूची में आता है। फिर भी, आंदोलन के बाद तम्बाकू के मूल्यों में सुधार आया।

सन् 1981 नवम्बर में शेतकारी संगटन ने एक दूसरे "रास्ता रोको" का आह्वान किया। उन्होंने कृषि के दस जींसों के लाभकारी मूल्यों की माँग की। इस आंदोलन में हजारों किसानों ने हिस्सा लिया।

25.5.3 उत्तरी भारत

सातवें दशक के प्रारंभ से ही देश के उत्तरी भागों में किसान आंदोलन उभर कर सामने आने लगे। सन् 1972 में पंजाब खेती-बाड़ी जमींदार यूनियन (के.जे.डी.यू.) का गठन हुआ। इस संगठन ने किसानों को गेहूँ के ऊँचे प्राप्ति मूल्यों तथा लागतों में छूट के लिए संगठित किया। सन् 1980 में राज्य में भारतीय किसान यूनियन (बी.के.यू.) का गठन हुआ और खेती-बाड़ी यूनियन का उसमें विलय हो गया। वास्तव में भारतीय किसान यूनियन की पंजाब इकाई सन् 1980 के प्रारंभ से ही किसानों का एक गैर-राजनीतिक और गैर-साम्प्रदायिक मोर्चा बन गया है। अन्य जगहों की तरह भारतीय किसान यूनियन ने अन्य ग्रामीण तबकों में पैठ बनाने के लिए सामान्य हितों की समस्याओं को उठाने का प्रयास किया है। वे उन समस्याओं को उठाते हैं जिन पर कोई संघर्ष नहीं होता। नाडकर्णी के अनुसार, इन समस्याओं में सम्मिलित होती हैं—ग्रामीण आधारिक संरचना में सुधार, व्यावसायिक तथा अन्य शैक्षिक संस्थाओं में ग्रामीण क्षेत्रों के लिए आरक्षण, ग्रामीण क्षेत्रों में औद्योगीकरण और इसी तरह की अन्य समस्याऐं। जबकि मुख्य जोर निम्न समस्याओं पर होता है—कृषि उत्पादों के ऊँचे मूल्य, लागतों का रियायती मूल्य पर आपूर्ति ऋण, नहरी खर्चे की अदायगी में प्रतिरोध, बिजली शुल्क में वृद्धि के विरुद्ध संघर्ष और भ्रष्टाचार के विरुद्ध संघर्ष इत्यादि। पंजाब में किसान आंदोलन का एक महत्वपूर्ण लक्षण यह है कि इसने दूसरे राज्यों के किसान नेताओं को भागीदार बनाकर एक राष्ट्रीय छवि बनाने का प्रयत्न किया है। यह पहलू उस समय सामने आया जब सन् 1984 मार्च में चंडीगढ़ के राजभवन के घेराव में महाराष्ट्र, हरियाणा, उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के किसान नेताओं ने हिस्सा लिया। यह महसूस किया गया कि अपनी माँगों को मनवाने के लिए विभिन्न राज्यों के किसानों को समन्वित प्रयास करने चाहिए और यह कि ऐसे प्रयास गैर-राजनीतिक माध्यमों द्वारा हों। इस सोच के आधार पर गैर-राजनीतिक किसान संगठनों की एक अंतर्राज्यीय (अखिल भारतीय भी कहा जाता है) समन्वय समिति का गठन किया गया।

देश के उत्तरी भागों में भारतीय किसान यूनियन के तत्वावधान में और महेंद्र सिंह टिकैत के योग्य नेतृत्व में एक सशक्त किसान आंदोलन हाल के वर्षों में उभरा है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश में आठवें दशक के मध्य से ही इस आंदोलन ने व्यापक रूप से घेराव, जेल भरो, प्रदर्शनों और धरना आदि कार्यक्रमों द्वारा अपनी उपस्थिति बना रखी है। इनकी प्रमुख माँगें अन्य किसान आंदोलनों के समान ही हैं।

नाडकर्णी का मानना है कि हाल के वर्षों में धनी किसान संगठित हुए हैं कि वे अपने सामूहिक शक्ति का उपयोग कर—करों से बच सकें, कृषि उत्पादों का मूल्य ऊँचा रख सकें, व्यापार की अंतःक्षेत्रीय शर्तों को अपने हित में रख सकें, अन्न-व्यापार के राष्ट्रीयकरण के प्रयास को खत्म कर सकें और आगे होने वाले भूमि सुधारों को रोक सकें।

अब वे एक वर्ग की तरह बहुत ही प्रभावी ढंग से संगठित हैं। स्पष्ट, आक्रामक और विस्तृत रूप से वे एक वर्ग का निर्माण करते हैं जो अपने हितों को कुशलता, और सफलता के साथ आगे बढ़ाने में सक्षम हैं।

भारत में कृषक समाज आज एक असमंजस की स्थिति में है। त्वरित आर्थिक विकास की प्रक्रिया, कृषि के आधुनिकीकरण और सामाजिक परिवर्तनों में हमारे समाज में किसानों के एक नए वर्ग के उदय में सहयोग दिया है। इस वर्ग ने ग्रामीण अभिजन की प्रास्थिति पाई है। असंदिग्ध रूप से वे, अपने उच्चतर आर्थिक और जातीय प्रास्थिति के कारण, कृषक समाज के सामाजिक, आर्थिक जीवन पर प्रभुत्व रखते हैं। किसान शक्ति और किसान आंदोलन का उदय उस संघर्ष का एक हिस्सा है जो ग्रामीण और नगरीय अभिजनों के बीच राजनीतिक शक्ति की हिस्सेदारी के लिए होती है। हाल के वर्षों में कृषिक पृष्ठभूमि वाले संसद सदस्यों के अनुपात में महत्वपूर्ण वृद्धि हुई है। पर्नडिकर और सूद द्वारा संचालित एक अध्ययन यह दर्शाता है कि प्रथम लोकसभा (1952) के शासक दल में सिर्फ 16.5 प्रतिशत संसद सदस्य कृषिक पृष्ठभूमि के थे। जबकि सातवीं लोकसभा में उनका प्रतिनिधित्व बढ़कर 40.1 प्रतिशत हो गया है। दसवीं लोकसभा में उनका प्रतिनिधित्व और बढ़ने की उम्मीद है। कृषिक पृष्ठभूमि रखने वाले इन प्रतिनिधियों ने असंदिग्ध रूप से धनी किसानों के वर्ग हितों का प्रतिनिधित्व किया है। उन्होंने सरकार की कृषि नीति को प्रभावित किया है। और संसद में उनकी उपस्थिति में देश के विभिन्न भागों के किसान आंदोलन को शक्ति प्रदान की है।

25.6 आंदोलन, सामाजिक संरचना और परिवर्तन

भारत में कृषिक सामाजिक-संबंध उस विस्तृत सामाजिक-आर्थिक प्रक्रियाओं का एक हिस्सा है जो समाज के वृहत् और लघु स्तरों पर चलती रहती है। चूँकि विस्तृत सामाजिक-आर्थिक प्रक्रि पूरे देश में एकरूप नहीं है इसलिए भारत में बदलते कृषिक संबंधों में सामान्य तत्वों का निर्धारण करना सरल नहीं होता है।

पुनः भारत में संगठित कृषिक आंदोलनों से कृषिक सामाजिक संबंधों में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है, जबकि इस इकाई के सीमित स्थान में सारे परिवर्तनों पर विचार करना संभव नहीं है। हम इन परिवर्तनों के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं पर यहाँ विचार करेंगे।

1) जमींदारी का उन्मूलन और कृषिक संबंधों में परिवर्तन

स्वतंत्रता प्राप्ति के तत्काल बाद भूमि पट्टेदारी की बिचौलिया व्यवस्था का उन्मूलन कर दिया गया। इस प्रक्रिया में पुराने जमींदारों, तालुकदारों और जोतदारों आदि के कृषक समाज पर प्रभाव को खत्म कर दिया गया।

इस प्रक्रिया ने एक नए प्रकार के कृषिक संबंधों को जन्म दिया। पुराने काश्तकार और बटाईदार भूस्वामी बन गए। भूमिहीन कृषकों को भी अतिरिक्त भूमि के वितरण के फलस्वरूप भूमि प्राप्त हुई। यह महत्वपूर्ण है कि उनके कार्य संबंधों में सार्थक परिवर्तन हुए हैं। पहले वे भूमि पर कार्य करते थे लेकिन उस पर उनका स्वामित्व नहीं होता था। हाल के वर्षों में उसी जमीन पर स्वामित्व रखते हुए कार्य करते हैं।

ग्रामीण विकास रणनीति के एक भाग के रूप में, ऋण उपलब्धि के लिए ग्रामीण क्षेत्रों में नई वित्तीय संस्थाएं स्थापित की गई हैं। निर्धन कृषकों की ग्रामीण साहूकारों और बड़े भूस्वामियों के साथ निर्भरता वाले संबंधों में, हाल के वर्षों में, काफी कमी आई है।

2) नई प्रौद्योगिकी और कृषि का व्यापारीकरण

कृषि में नई प्रौद्योगिकी का प्रारंभ किया गया है। इससे कृषि में उत्पादकता बढ़ी है और ग्रामीण निर्धनता में कमी आई है। फिर भी, नई प्रौद्योगिकी और विकास की लाभप्राप्ति सारे देश में एक सी नहीं हुई है। इस विकास ने क्षेत्रीय विषमताओं को जन्म दिया है और क्षेत्रीय असमता और तनाव को बढ़ाया है। विकसित क्षेत्रों में, कृषिक सोपानक्रम की उच्च और मध्यम वर्ग, निम्न वर्ग की अपेक्षा ज्यादा लाभान्वित हुए हैं। कृषि मे व्यापारीकरण के कारण, कृषकों का उच्च वर्ग अब स्थानीय बाजार और शक्ति संरचना पर अधिक नियंत्रण रखता है। इस स्थिति ने ग्रामीण क्षेत्रों में संसाधनों पर नियंत्रण रखने वाले कृषकों और बेदखल हुए आबादी के बीच नए प्रकार के तनावों को जन्म दिया है।

3) बदलती कृषिक संरचना और प्रवसन

हरित क्रांति ने ग्रामीण क्षेत्रों में कृषि श्रमिकों के लिए रोजगार के नए अवसरों को जन्म दिया है। इसने कृषि श्रमिकों की मांग और दैनिक पारिश्रमिक को बढ़ाया है। हाल के वर्षों में, पिछड़े कृषि क्षेत्रों से विशाल पैमाने पर कृषि श्रमिकों का प्रवसन देश के विकसित कृषि क्षेत्रों की ओर हुआ है जहां हरित क्रांति हुई। बिहार और पूर्वी उत्तर प्रदेश से पंजाब, हरियाणा और पश्चिमी उत्तर प्रदेश की ओर कृषि श्रमिकों के होने वाले प्रवसन के बारे में आप जानते होंगे। पहले छोटा नागपुर, उड़ीसा और मध्य प्रदेश के जनजातीय आबादी का विशाल पैमाने पर प्रवसन असम, दुआर के बगान क्षेत्रों, कलकत्ता और बम्बई की ओर हुआ था। प्रवसन का वर्तमान प्रतिरूप ग्रामीण क्षेत्रों से ग्रामीण क्षेत्रों की ओर का है। (पिछड़े कृषि क्षेत्रों से विकसित कृषि क्षेत्रों की ओर प्रवसन)

4) कृषि और घटती जाति पूर्वाग्रह

पारंपरिक भारतीय कृषिक संरचना में कृषि के क्रियाकलाप जाति मान्यताओं और प्रथाओं द्वारा अनुशासित थे। उच्च जाति के लोग शारीरिक श्रम के कार्यों के लिए अन्य जातियों पर आश्रित थे। हाल के वर्षों में कृषि विकास के साथ-साथ कृषि कार्यों से संबंधित जाति मान्यताओं में काफी परिवर्तन हुए हैं। चूंकि विकसित कृषि क्षेत्रों में कृषि श्रमिक सहज उपलब्ध नहीं होते और पारिश्रमिक की उनकी मांग बहुत ऊँची होती है, अतः ऊँची जाति

के लोगों ने अपने हाथों से कृषि कार्य करना शुरू कर दिया है। इस प्रक्रिया में, महिलाओं पर कार्य का बोझ काफी बढ़ गया है। देश के कुछ भागों में ऊँची जाति की महिलाओं ने भी गृहस्थी से बाहर के कृषि-कार्यों में हिस्सा लेना शुरू कर दिया है।

5) कृषक समुदाय का राजनीतिकरण

पिछले कुछ वर्षों से कृषक समुदाय की समस्याओं और मांगों को संचार माध्यमों में काफी प्रमुखता मिली है। अधिकांश राष्ट्रीय और क्षेत्रीय राजनीतिक दलों की अपनी कृषक/किसान शाखाएं हैं। विभिन्न कृषक संगठनों और राजनीतिक दलों द्वारा देश के कई हिस्सों में कृषक समुदाय का नियमित क्रियाशीलन होता रहा है।

हाल के वर्षों में कृषि के आंदोलन रुढ़िबद्ध हो गए हैं। राजनीतिक दल भी कृषिक वर्गों को क्रियाशील करने में संस्थागत मार्गों का अनुसरण करते हैं। कृषकों को क्रियाशीलन अधिकांशतः नेमिबद्ध और संस्थाबद्ध हो गए हैं सत्ता राजनीति में संलग्न राजनीतिक दलों के निर्देशों के अनुसार ही कृषक सामुदाय में क्रियाशीलन की जाती है। और यह क्रियाशीलन इन राजनीतिक दलों की प्रदत्त मान्यताओं और दिशाओं के अन्दर ही किया जाता है।

बोध प्रश्न 4

टिप्पणी: 1) अपने उत्तरों के लिए नीचे दिए गए स्थान का प्रयोग करें।

2) अपने उत्तर इकाई के अन्त में दिए उत्तरों से मिलायें।

i) लगभग छः पंक्तियों में तमिलनाडु के किसान आंदोलन पर एक संक्षिप्त नोट लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

सही उत्तर को खाली स्थान में भरिए

ii) किसान आंदोलन के संगठनों ने अधिकांशतः उन्हीं समस्याओं को उठाया जो ..... के आर्थिक हितों को प्रभावित करते थे।

क) कृषि-श्रमिकों

ख) बटाईदारों

ग) काश्तकारों

घ) धनी किसानों

25.7 सारांश

इस इकाई में हमने कृषिक वर्ग संरचना और परिवर्तन पर विचार किया। देश के विभिन्न भागों में उभरे कृषक आंदोलनों के संदर्भ में कृषिक समाज के बदलते संबंधों पर विचार किया गया। यहाँ हमने कृषक आंदोलन की परिभाषा दी और कृषक आंदोलन तथा किसान आंदोलन के बीच फर्क को बताया। कृषिक आंदोलनों के विभिन्न पहलुओं से आपको परिचित कराने के लिए हमने अपनी औपनिवेशिक और स्वातंत्र्योत्तर काल के कृषक आंदोलनों का वर्णन किया। हमने समकालीन किसान आंदोलनों के विभिन्न आयामों पर भी प्रकाश डाला। समकालीन भारत में बदलते कृषिक सामाजिक संरचना पर पुनरावलोकन भी अंत में प्रस्तुत किया गया।

25.8 शब्दावली

किसान : किसान बड़े भूस्वामी हैं। वे खेती में आधुनिक औद्योगिक, प्रौद्योगिकी का उपयोग कर बाजार के लिए उत्पादन करते हैं।

वैधानिक संरक्षण : राज्य के कानून के अनुसार दिया गया संरक्षण।

कृषक : कृषक छोटे भूस्वामी हैं। वे निर्वाह के लिए खेती करते हैं।

नेमिकरण : एक प्रक्रिया, जिसमें जन क्रियाशीलन मात्र एक स्थापित क्रियाविधि बनकर रा जाती है।

सामाजिक आंदोलन : समाज में परिवर्तन लाने या इसका प्रतिरोध करने का एक सामूहिक प्रयास।

25.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

धनागरे, डी.एन. 1976 *"पीजेंट्स मूवमेन्ट्स ईन इंडिया"* आक्सफोर्ड यूनीवर्सीटी प्रेस, नई दिल्ली।

नाडकर्णी, एम.वी., 1989 *"फारमर्स मूवमेन्ट ईन इंडिया"* एलाईड पब्लिशर्स, बंबई।

25.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

I) समाज की प्रमुख संस्थाओं, संबंधों, अभिवृत्तियों, मूल्यों, विश्वासों और विचारों में परिवर्तन लाने या उपयुक्त संरचनात्मक तत्वों में परिवर्तन का प्रतिरोध करने के लिए किए गए सामूहिक प्रयासों को सामाजिक आंदोलन के रूप में परिभाषित किया जा सकता है।

ii) ग

बोध प्रश्न 2

i) ख

ii) जमींदारी का उन्मूलन, कृषकों का शोषण से संरक्षण

iii) घ

बोध प्रश्न 3

i) ख

ii) घ

iii) घ

iv) क

बोध प्रश्न 4

i) सन् 1969 में सी. नारायण स्वामी नायडु के नेतृत्व में तमिलनाडु विवासैयगल संगम (टी.एन.वी.एस.) का गठन होने के साथ ही तमिलनाडु में किसान आंदोलन ने एक ठोस रूप धारण किया। तब से उन्होंने बिजली शुल्कों में कमी, ऋण माफी और ऋण अदायगी में स्थगन, कृषि उत्पादों के ऊँचे मूल्य निर्धारण के लिए हड़ताल, धरना रास्ता रोको आदि रणनीतियों को अपनाया।

ii) घ

इकाई 26 नगरीय वर्ग संरचना-I : श्रमिक वर्ग

इकाई की रूपरेखा

26.0 उद्देश्य
26.1 प्रस्तावना
26.2 भारत में नगरीय श्रमिक वर्ग का उद्भव
  26.2.1 औपनिवेशिक प्रशासन की राजनीतिक अर्थव्यवस्था
  26.2.2 औद्योगीकरण
  26.2.3 नगरीकरण
26.3 नगर का व्यावसायिक ढाँचा
  26.3.1 व्यावसायिक ढाँचे में बदलाव
  26.3.2 नगरीय असंगठित क्षेत्र का उद्भव
  26.3.3 नगरीय श्रमिक वर्ग की विशेषताएँ
26.4 भारत में नगरीय श्रमिक आंदोलन
  26.4.1 अवधारणा
  26.4.2 श्रमिक आंदोलनों का विकास
  26.4.3 श्रमिक आंदोलनों की विशेषताएँ
  26.4.4 श्रमिक संगठनों की कमजोरियाँ
26.5 सारांश
26.6 शब्दावली
26.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
26.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

26.0 उद्देश्य

इस इकाई में नगर के वर्गीय ढाँचे के बारे में बताया गया है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप:

- भारत में नगरीय श्रमिक वर्ग के उद्भव को समझ सकेंगे,
- नगरीय व्यावसायिक ढाँचे के बारे में बता सकेंगे,
- नगरीय श्रमिक वर्ग की विशेषताओं का विश्लेषण कर सकेंगे,
- नगरीय-श्रमिक वर्ग आंदोलन की अवधारणा, विकास और विशेषताओं पर प्रकाश डाल सकेंगे।

26.1 प्रस्तावना

इस खंड की पिछली दो इकाइयों में हमने आपको कृषक वर्ग के ढाँचे की निरंतरता और बदलाव के बारे में बताया था। अब आगे की तीन इकाइयों में हम नगर के वर्गीय ढाँचे के बारे में बात करेंगे।

इस इकाई में नगरीय श्रमिक वर्ग के बारे में जानकारी दी गई है। आइए, इस विषय की शुरुआत भारत में श्रमिक वर्ग के उद्भव पर चर्चा से करें। आधुनिक अर्थों में श्रमिक वर्ग का भारत में उद्भव औपनिवेशिक शासन के प्रभाव के रूप में हुआ। ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति ने उत्पादन की आत्मनिर्भर ग्रामीण सामुदायिक प्रणाली को नष्ट कर डाला। इससे पारंपरिक ग्रामीण और कुटीर उद्योग समाप्त हो गए। इन कारणों से ग्रामीण दस्तकारों और शिल्पियों का एक बड़ा हिस्सा पारंपरिक रोजगार के धंधों से उखड़ गया और उसे वैकल्पिक रोज़गार की तलाश में शहरी क्षेत्रों की ओर भागना पड़ा। इस इकाई में हम इन सभी पहलुओं पर विचार करेंगे। इसमें औपनिवेशिक और आजादी के बाद के काल में औद्योगीकरण और नगरीकरण के चलते नगरीय श्रमिक वर्ग के उद्भव के बारे में भी

बताया गया है। यहाँ हमने नगर के व्यावसायिक ढाँचे और समकालीन नगरीय श्रमिक वर्ग की मुख्य विशेषताओं पर भी चर्चा की है। श्रमिक आंदोलन नगरीय श्रमिक वर्ग के सामाजिक-राजनीतिक जीवन का एक अभिन्न अंग रहा है। इस इकाई में आप भारत में श्रमिक आंदोलन की अवधारणा, विकास और विशेषताओं के बारे में भी पढ़ेंगे।

26.2 भारत में नगरीय श्रमिक वर्ग का उद्भव

खंड I की चौथी इकाई में हमने भारत में नगरीकरण विन्यासों के बारे में आपको बताया था। उस इकाई में नगरीकरण की परिभाषा इस तरह से दी गई थी कि जिसमें गाँवों के लोग कस्बों/नगरों की ओर पलायन करते हैं, जहाँ आर्थिक क्रियाकलाप, व्यापार, निर्माण, उद्योग और प्रबंध जैसे अनेक गैर-कृषि धंधों के इर्द-गिर्द चल रहे होते हैं। भारत में नगरीकरण की प्रक्रिया में नगर तरह-तरह की आर्थिक गतिविधियों के केंद्र रहे हैं। वे ग्रामीण इलाकों के लोगों को अपनी ओर खींचते हैं। यह आकर्षण जो ग्रामीण जनसंख्या का एक खासा भाग नगरीय क्षेत्रों की ओर खींच लाता है, कर्षणकारक (Pull Factor) कहलाता है। अगर देहाती इलाकों की गरीबी, कृषि अर्थव्यवस्था का पिछड़ापन और घरेलू या कुटीर उद्योगों का नाश भी ग्रामीणों को नगर की ओर धकेलता है। इसे दबाव कारक (Push factor) कहते हैं।

इस तरह नगरीकरण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले कर्षण और दबाव पलायन कारक भारत में नगरीय श्रमिक वर्ग के उद्भव में भी एक बड़ी भूमिका अदा करते हैं। मगर हमारे देश में कर्षण और दबाव कारक अलग-अलग काम नहीं करते। बल्कि औपनिवेशिक काल से ही राजसत्ता की राजनीतिक अर्थव्यवस्था ने इन पर ज़बरदस्त प्रभाव डाला है।

26.2.1 औपनिवेशिक प्रशासन की राजनीतिक अर्थव्यवस्था

नगरीय श्रमिक वर्ग अठारहवीं सदी में यूरोप में हुई औद्योगिक क्रांति का फल है। भारत उस समय इंग्लैण्ड का एक उपनिवेश था, जिसने अपने शासक देश में औद्योगिक क्रांति की प्रक्रिया को तेज़ करने में मदद तो की मगर बदले में उसे अपने परंपरागत आर्थिक संसाधनों से हाथ धोना पड़ा। यूरोप में आई औद्योगिक क्रांति से वहाँ पूँजीवाद का भारी विकास हुआ, बड़े उद्योगों में हाथ से काम करने वाले कारीगरों की जगह मशीनों ने ले ली, नई-नई मशीनों का आविष्कार और फिर उनका प्रचलन शुरू हुआ और साथ में आधुनिक श्रमिक वर्ग का उद्भव हुआ। इस संबंध में भारत में औपनिवेशिक शासन के प्रभाव को जानना जरूरी हो जाता है।

अपने औद्योगिक हितों की ज्यादा से ज्यादा सिद्धि के लिए साम्राज्यवादी शासकों ने भारत के प्राकृतिक संसाधनों का जबरदस्त दोहन किया। उनके लंबे औपनिवेशिक शासन और घोर शोषण से भारतीय लोगों के एक बहुत बड़े वर्ग की दशा दयनीय और शोचनीय हो गई। उनके शासन ने निम्न काम किए:

i) आत्म-निर्भर ग्रामीण समुदाय का पतन

इससे पहले 24 वीं इकाई में हमने यह बताया था कि आत्म-निर्भर ग्रामीण सामुदायिक उत्पादन प्रणाली को ब्रिटिश प्रशासन ने किस तरह से नष्ट किया था। अपनी नई भूमि व्यवस्था के जरिए उसने जमींदारों के एक नए वर्ग को गरीब ग्रामीणों (विशेषकर गरीब किसानों और खेतिहर मजदूरों) का शोषण करने की खुली छूट दे दी। जमींदारों का यह नया वर्ग साहूकारों, व्यापारियों इत्यादि से पैदा हुआ था।

ii) पारंपरिक ग्रामीण व कुटीर उद्योगों का पतन

औपनिवेशिक शासकों की नीति ने भी भारत के पारंपरिक ग्रामीण और कुटीर उद्योगों के पतन का रास्ता तैयार किया। सन् 1813 में अंग्रेजों ने भारत में मुक्त (खुली) व्यापार नीति शुरू की।

भारत के संदर्भ में इसमें राजनीतिज्ञों उच्च सरकारी अधिकारियों, बुद्धिजीवियों और व्यापारी

सम्भ्रान्त वर्ग की भूमिकाओं तथा उनके सामाजिक संघटन का विश्लेषण किया गया है। इसमें असमानता और लोकतंत्र के संदर्भ में सम्भ्रान्त वर्ग की स्थिति का विश्लेषण भी किया गया है।

भारत का बाजार ब्रिटिश पूंजीपति के लिए खोल दिया गया, जिसके फलस्वरूप भारत में ब्रिटिश माल के आयात में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई। परन्तु इंग्लैंड में आयातित भारतीय सूती वस्त्रों और रेशमी उत्पादों की लागत पर 70% से 80% के बीच भारी आयात शुल्क लगाया गया। औपनिवेशिक व्यापार नीति में इस भेदभाव से भारत में खासतौर पर सूती वस्त्र उद्योग नष्ट हुआ और इसकी अर्थव्यवस्था पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। अंग्रेजों ने अपने आयात और निर्यात कार्यों के अनुकूल आधुनिक सड़क मार्गों और रेल परिवहन आदि की व्यवस्था शुरू की। इससे अंग्रेजों के इंग्लैंड को भारतीय कच्चे माल का निर्यात करने और अपने औद्योगिक उत्पादों से भारतीय बाजारों को भरने में सहायता मिली। साम्राज्यवादियों द्वारा तैयार की गई अनैतिक व्यापार नीति से पूंजीवादी ब्रिटेन को भारत का कृषिक कच्चा माल पाने में सहायता मिली।

iii) ग्रामीण कारीगरों और दस्तकारों का विस्थापन और आप्रवास

इस अवधि में भारत में परम्परागत कुटीर और ग्रामीण उद्योग नष्ट किए जाने के फलस्वरूप इन विस्थापित कारीगरों और दस्ताकारों का बहुत बड़ा वर्ग कृषि श्रमिक बन गया जबकि उन्नत किस्म के दस्तकारों का छोटा सा वर्ग रोजगार के लिए शहरी क्षेत्रों में आ गया। समाज के इस निम्न स्तर की घोर आर्थिक असुरक्षा और निर्धनता के दौर में, भारत में सस्ते श्रमिक आसानी से प्राप्त हो गए। अंग्रेजों ने इस स्थिति का पूरा-पूरा लाभ उठाया। वे भिन्न-भिन्न ब्रिटिश उपनिवेशों में बागान उद्योगों के लिए भारी संख्या में भारतीय श्रमिकों को ले जाने लगे। भारतीय श्रमिकों को ब्रिटिश–गुयाना, वेस्ट इंडीज, मारीशस आदि स्थानों के बागान उद्योग में लगाया जाता था। इस बात का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है कि आप्रवासी भारतीय श्रमिक वहाँ भी नग्न शोषण के शिकार हुए।

देश के अंदर श्रमिक वर्ग का अंतर-प्रादेशिक प्रवसन भी हुआ। रोजी की तलाश में गरीब और दयनीय लोगों ने ऐसे दूर-दराज के इलाकों की ओर प्रवसन किया, जहाँ कुछ उद्योग लगे हुए थे या जहाँ खदान या बागान का काम चल रहा था। चूँकि ये श्रमिक अपने घर से बहुत दूर बसे थे, इसलिए उनके मालिकों ने भी उनका बे-हिसाब शोषण किया। श्रमिकों की भर्ती सीधे मालिक द्वारा कभी नहीं की जाती थी। इस काम के लिए श्रमिक और मालिक के बीच हमेशा बिचौलिए हुआ करते थे। इन्हीं बिचौलियों पर श्रमिकों को काम की शोषणकारी शर्तों और दशा में रखवाने की मुख्य जिम्मेदारी होती थी।

26.2.2 औद्योगीकरण

भारत में औद्योगीकरण विभिन्न चरणों से होकर गुजरा है और इसी के अनुसार उद्योगों में श्रमिकों की हिस्सेदारी में भी परिवर्तन हुआ है। आइए, अब हम भारत में औद्योगीकरण के विभिन्न चरणों के बारे में जानें।

i) आरंभिक औद्योगीकरण

भारत में आधुनिक उद्योगों की शुरुआत 1850-1870 ई. के बीच हुई, जिसके साथ-साथ एक औद्योगिक श्रमिक वर्ग भी पैदा हुआ। 1890 तक भारत में कुछ बड़े कारखाने लग चुके थे। कारखानों और खदानों में 3,00,000 कपास व जूट मिलों तथा कोयले की खानों में लगभग 2,00,000 लोग काम में लगे हुए थे। बीसवीं सदी के आरंभ में बंगाल में कई जूट के कारखाने फले-फूले। 1913-14 के दौरान सिर्फ इन्हीं कारखानों में 2,16,000 श्रमिक थे। बम्बई में भी कपड़ा उद्योग अब तक काफी पनप गया था। 1905 तक वहाँ इन कारखानों में कुल 1,95,000 श्रमिक काम कर रहे थे। इसी तरह कोयला उद्योग ने भी तरक्की की। 1915 तक इन उद्योगों में 1,28,884 श्रमिक लगे हुए थे। इसी दौरान आवास और संचार उद्योगों ने भी ऐसा ही विकास किया।

मगर, इन उद्योगों में काम करने वाले श्रमिकों की हालत बड़ी ही दयनीय थी। उन्हें लगातार सोलह घंटे तक काम करना पड़ता था, चाहे वे किसी भी उम्र या लिंग के हों। दुर्घटनाएँ रोकने के लिए कोई सावधानी के उपाय नहीं किए जाते थे। मजदूरी आमतौर पर

उनके निर्वाह से कम होती थी। इस अमानवीय कमरतोड़ श्रम से जब श्रमिकों का शरीर टूट जाता तो उनकी जगह नए श्रमिकों को भर्ती कर लिया जाता था।

ii) विश्व युद्धों के दौरान औद्योगीकरण

यहाँ यह बता देना जरूरी होगा कि दोनों विश्व युद्धों के बीच के वर्षों में इंग्लैण्ड से आयात कम हो जाने के कारण भारत में फैक्ट्री उत्पादों की माँग में भारी वृद्धि हुई। भारतीय मिलों व कारखानों ने लोहे और इस्पात, जूट, कपड़े, चमड़े और दूसरे उत्पादों की बढ़ती माँग को पूरा करने के लिए अपना उत्पादन बढ़ाया। मगर भारी उद्योगों के अभाव में उनका उत्पादन ज्यादा तेज नहीं होता था। असल में ब्रिटिश हुकूमत ने पूँजी पर आश्रित भारी उद्योगों को विकसित करने के लिए कोई गंभीर प्रयास नहीं किया। बल्कि उसने भारत की जमीन पर इन उद्योगों की वृद्धि में बाधा ही पहुंचाई।

iii) आजादी के बाद के वर्षों में औद्योगीकरण

आजादी मिलने के बाद ही भारत सरकार ने औद्योगीकरण के लिए सचेतन प्रयास किए। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के बाद से भारत में औद्योगीकरण की प्रक्रिया में बड़ी तेजी आई है। परंतु औद्योगीकरण की यह प्रक्रिया बेरोज़गारी की समस्या को हल नहीं कर सकती है। 1960-65 के वर्षों में कारखानों में रोज़गार में वृद्धि की दर 6.6 प्रतिशत थी, मगर 1965-70 के दौरान यह कम होकर 1.3 प्रतिशत रह गई। 1970 में भी कारखानों का रोज़गार सिर्फ 2 प्रतिशत श्रमिक बल को खपा सका था।

26.2.3 नगरीकरण

नगरीय श्रमिक वर्ग का उद्भव नगरीकरण की प्रक्रिया से काफी नज़दीक से जुड़ा हुआ है। परंपरागत नगरीकरण हालाँकि भारत में काफी पहले से चल रहा था, यूरोपीय औपनिवेशिक व्यापारियों के यहाँ आने से नगरीकरण की प्रक्रिया ने एक नए चरण में प्रवेश किया। तटीय क्षेत्रों में धीरे-धीरे नगर पनपे। कालांतर में ब्रिटिश प्रभुत्व के पैर जमाने से देश के अलग-अलग भागों में विभिन्न नगरीय केंद्रों ने ज़न्म लिया। इस काल में नए-नए सामाजिक और राजनैतिक संगठन उभरे। साथ ही यातायात और संचार के नए-नए रूप विकसित हुए। इन सब कारकों ने लोगों के लिए आर्थिक अवसरों व व्यवहार के और दरवाजे खोले। दूसरी ओर ग्रामीण इलाकों में ग्रामीण और कुटीर उद्योगों के विनाश की प्रक्रिया चल रही थी, जिससे इन नई आर्थिक संभावनाओं ने ग्रामीण जनसंख्या के एक बड़े भाग को नगरीय क्षेत्रों में खींच लिया। इस दौरान भारत में ग्रामीण श्रम शक्ति का काफी बड़े पैमाने पर नव-स्थापित औद्योगिक क्षेत्रों की ओर प्रवसन हुआ। (हम इन पहलुओं के बारे में आपको पीछे बता चुके हैं).

ब्रिटिश उपनिवेश बनने पर भारत में नए नगरीय केंद्र उभरे और साथ में पारंपरिक नगरीय केंद्रों में विस्तार भी हुआ। ये नगरीय केंद्र उनकी आर्थिक प्रणाली का अटूट अंग बन गए। इन नगरीय केंद्रों में तरह-तरह के सामाजिक समूह उभरे—प्रशासक और व्यापारी अभिजात्य वर्ग, व्यवसायिक समूह, शिक्षित बाबू वर्ग और श्रमिक वर्ग। श्रमिक वर्गों में मुख्यतः कारखाने के श्रमिक और अलग-अलग धंधों में लगे अकुशल मजदूर होते थे। श्रमिक वर्ग में अधिकांश लोग निम्न जातियों से आते थे।

आजादी के बाद से नगरीकरण की प्रक्रिया ने एक नया आयाम छू लिया है। सुनियोजित आर्थिक विकास और प्रौद्योगिकी में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के चलते पचास के दशक की शुरुआत से भारत में नगरीय औद्योगीकरण की दर बढ़ चुकी है। इससे नगर के व्यावसायिक ढाँचे में भारी बदलाव आया है। आगे के पाठ में हम इस पहलू पर प्रकाश डालेंगे।

बोध प्रश्न 1

i) भारत के परंपरागत कपड़ा उद्योग पर ब्रिटिश व्यापार नीति का क्या प्रभाव पड़ा? छह पंक्तियों में उत्तर लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

ii) कुटीर और हथकरघा उद्योगों के पतन की प्रक्रिया ने औपनिवेशिक भारत में औद्योगिक श्रमिक वर्ग के विकास में किस तरह से योगदान किया? छह पंक्तियों में समझाइए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

26.3 नगर का व्यावसायिक ढाँचा

इस भाग में हम नगर के व्यावसायिक ढाँचे के बारे में बताएंगे। पहले हम आपको नगरीय क्षेत्रों में उन पेशेगत या व्यावसायिक ढाँचे में बदलाव और असंगठित क्षेत्र के उद्भव के बारे में जानकारी देंगे, जिनका नगर के व्यवसायिक ढाँचे पर प्रभाव पड़ा है। अंत में हम नगर के श्रमिक वर्ग के लक्षणों के बारे में बताएँगे।

26.3.1 व्यावसायिक ढाँचे में बदलाव

औद्योगीकरण और नगरीकरण में तेजी के बावजूद भी भारत में व्यावसायिक ढाँचे या जीविका या रोजगार के ढाँचे में कोई खास बदलाव नहीं हुआ है। 1901 से 1971 के दौरान कृषि (प्राथमिक क्षेत्र) में लगी श्रमिक शक्ति 72 प्रतिशत थी। यहाँ पर रोचक बात यह है कि 1901 से 1981 के वर्षों में नगरीय जनसंख्या में 10.8 प्रतिशात से बढ़कर 23.3 प्रतिशत अर्थात् दोगुना हो गयी है।

1901 से 1981 के दौरान प्राथमिक, द्वितीयक और तृतीयक क्षेत्रों में रोज़गार

वर्ष	प्राथमिक	द्वितीयक	तृतीयक
1901	71.8	12.6	15.6
1951	72.2	10.6	17.3
1961	72.3	11.7	16.0
1971	72.1	11.2	16.7
1981	70.59	12.92	16.49

1951 के बाद से द्वितीयक क्षेत्र की ओर श्रमिकों का थोड़ा सा रुझान बढ़ा है। यह रुझान 1951 में 10.6 प्रतिशत से बढ़कर 1971 तक केवल 11.2 प्रतिशत तक पहुँचा है। मगर इन वर्षों के बीच तृतीयक क्षेत्र में श्रम भागीदारी 17.3 प्रतिशत (1951) से घटकर 16.7 प्रतिशत (1971) हो गई। यह रुझान उद्योगों में भारी पूँजी निवेश से हुआ है। 1981 की जनगणना में श्रमिकों का खेती-बाड़ी से दूसरे क्षेत्रों की ओर भारी रुझान देखने में आया है। इससे पता चलता है कि द्वितीयक क्षेत्र में 1971 में 11 प्रतिशत से 1981 में 13 प्रतिशत तक बढ़ोत्तरी हुई है।

नगरीय श्रमिकों का प्रतिशत

वर्ष	कृषि	खनन व उत्खनन	उत्पादन	निर्माण	सेवाएं	कुल श्रम शक्ति
1951	2.8	13.5	44.2	48.0	55.2	14.0
1961	2.0	12.7	38.1	46.8	48.0	14.0
1971	2.8	16.5	52.2	50.5	58.2	17.7
1981						19.8

हाल के वर्षों में श्रमिकों का नगरीय क्षेत्रों की ओर रुझान बढ़ा है। 1951 में पूरे श्रमिकों में सिर्फ 14 प्रतिशत नगरीय थे। मगर 1981 में नगरीय श्रमिक समूची भारतीय श्रम शक्ति का 20 प्रतिशत थे। इसी दौरान खनन और उत्खनन के काम में लगे श्रमिकों की संख्या 13.5 प्रतिशत से बढ़कर 16.5 प्रतिशत, (फैक्ट्री) उत्पादन क्षेत्र में 42.2 प्रतिशत से 52.2 प्रतिशत, निर्माण क्षेत्र में 48 प्रतिशत से 50.5 प्रतिशत और सेवा क्षेत्र में 55.2 प्रतिशत से 58.2 प्रतिशत हुई है। यहाँ महत्वपूर्ण बात यह है कि नगरीय श्रम शक्ति की सबसे ज्यादा बढ़ोतरी (फैक्ट्री) उत्पादन क्षेत्र में हुई है। यह दूसरी पंचवर्षीय योजना के बाद से हमारे देश में उद्योग में हुई भारी प्रगति को दर्शाता है। संगठित क्षेत्र में रोज़गार के आँकड़े उपलब्ध हैं। इनके अनुसार मार्च 1988 तक नगरीय संगठित क्षेत्र में 440.29 लाख श्रमिक रोजगार में लगे हुए थे जिनमें से 183.13 लाख सार्वजनिक और शेष 257.10 लाख निजी क्षेत्र में थे।

26.3.2 नगरीय असंगठित क्षेत्र का उद्भव

हाल के कुछ वर्षों में नगरीय असगठित क्षेत्र देश के विभिन्न भागों में बड़ी तेजी से उभरकर सामने आया है।

भारतीय नगरीय अर्थव्यवस्था के असंगठित क्षेत्र में देश की सकल नगरीय श्रम शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग बसा हुआ है। ऐसा अनुमान है कि 45 प्रतिशत औद्योगिक श्रम शक्ति असंगठित क्षेत्र में लगी है। असंगठित औद्योगिक श्रमिकों के अलावा निर्माण श्रमिक, छोटे दुकानदार, सब्जी, खाने का सामान व अखबार बेचने वाले, फेरी वाले, धोबी, सफाई करने वाले, घरेलू नौकर इत्यादि भी असंगठित क्षेत्र में गिने जाते हैं।

26.3.3 नगरीय श्रमिक वर्ग की विशेषताएँ

भारत में नगरीय श्रमिक वर्ग की कुछ खास विशेषताएँ हैं:

i) सबसे मुख्य विशेषता तो यह है कि उनमें से ज्यादातर ग्रामीण इलाकों से नगरों में आए हैं। ये प्रवासी मज़दूर अब भी गाँवों में रह रहे अपने नातेदारों से रिश्ता बनाए रखते हैं।

ii) हालाँकि ज्यादातर प्रवासी मज़दूरों ने अपना पुश्तैनी धंधा छोड़ दिया है, फिर भी उनमें से एक काफी बड़ा हिस्सा अपने पुश्तैनी या परंपरागत धंधे को बनाए हुए है। नगरीय श्रमिकों का यह वर्ग निम्न जातियों से आता है। मगर यहाँ पर यह कहना जरूरी होगा कि नगरीय श्रमिक वर्ग जातिगत मूल्यों का कड़ाई से पालन नहीं करता। आमतौर पर श्रमिक वर्ग अपने दृष्टिकोण में ज्यादा धर्मनिरपेक्ष नजर आता है।

iii) नगरीय श्रमिक वर्ग का एक बड़ा तबका अनपढ़ है। उनमें से ज्यादातर श्रमिक अपने कानूनी अधिकार तक नहीं जानते।

iv) वे जाति, धर्म, क्षेत्र, भाषा इत्यादि के आधार पर बंटे होते हैं। यह विविधता छोटे नगरीय केंद्रों की तुलना में बड़े नगरों में अधिक पाई जाती है।

v) नगरीय श्रमिक वर्ग का एक बड़ा तबका असंगठित क्षेत्र में काम करता है। उनकी आर्थिक समस्याएँ संगठित क्षेत्र में काम कर रहे श्रमिकों की समस्याओं के समान नहीं होतीं। संगठित क्षेत्र में श्रमिकों को मजदूरी का भुगतान 1936 के वेतन भुगतान अधिनियम और 1948 के न्यूनतम वेतन अधिनियम के अनुसार होता है। एक तरह का काम करने वाले पुरुष और महिला श्रमिकों को बराबर वेतन एवं सुविधाएँ देने वे

लिए भी कानूनी प्रावधान हैं। संगठित क्षेत्र में श्रमिकों को लाभ या उत्पादकता के आधार पर बोनस भी दिया जाता है। जब भी श्रमिकों को वेतन और अन्य सुविधाएँ देने की बात आती है तो असंगठित क्षेत्र के मालिक इन प्रावधानों को ताक में रख देते हैं।

vi) नगरीय श्रमिक वर्ग को ग्रामीण श्रमिकों की तुलना में संचार के आधुनिक साधन ज्यादा उपलब्ध हैं। अतः वे रोज़गार के वैकल्पिक रास्तों के बारे में जानते हैं और प्रबंधक से अपनी बात मनवाने में अधिक समर्थ होते हैं। संचार साधनों की यह जानकारी उन्हें अपने समान उद्देश्यों के लिए संगठन बनाने में सहायता करती है। हाल के वर्षों में नगरीय क्षेत्रों में श्रमिक संघ भारी संख्या में उभरे हैं। केवल नगरीय औद्योगिक वर्ग ही संगठित नहीं हुआ है, बल्कि असंगठित क्षेत्र के श्रमिकों ने भी देश के कई भागों में अपने संगठन बना लिए हैं।

vii) ज़्यादातर नगरीय श्रमिक असुरक्षित हालातों में काम करते हैं। उन्हें रहने की भी पर्याप्त सुविधा नहीं मिलती। ज्यादातर श्रमिक झोपड़-पट्टियों या गंदी बस्तियों में रहते हैं। इसलिए उन्हें ऐसी बस्तियों की रोजमर्रा की समस्याओं से जूझना पड़ता है। गंदगी, कच्चे घर, नाली और बिजली का अभाव, शराबखोरी अपराध, जुआखोरी, इत्यादि इन बस्तियों की आम समस्याएँ हैं।

viii) नगरीय श्रमिक वर्ग में रोज़गार के क्षेत्र, भाषा, प्रदेश, जाति और जातीयता के मामले में काफी भिन्नता या विविधता होते हुए भी उनमें एकता के सामान्य तत्व मौजूद होते हैं। उनकी एकता का एक बड़ा सामान्य तत्व उनका निम्न आर्थिक स्तर है। उनमें से ज़्यादातर आर्थिक असुरक्षा और अनिश्चितता से बराबर घिरे रहते हैं। साथ में उनके मालिक उनका कई तरह से शोषण करते हैं। ये सामान्य तत्व उन्हें अपने मालिकों के खिलाफ संगठित और एकतावद्ध करते हैं। वे अब पर्याप्त कानूनी संरक्षण के लिए भी एकताबद्ध होने लगे हैं।

नगरीय श्रमिक वर्ग का एक बड़ा वर्ग औद्योगिक श्रमिकों का है। औद्योगिक श्रमिकों और मालिकों के बीच बराबर झगड़े होते रहते हैं। अधिक वेतन, काम के अच्छे हालातों, बोनस इत्यादि मुद्दों को लेकर औद्योगिक संघर्ष होते हैं। इन संघर्षों या झगड़ों ने अब संगठित विरोध या आंदोलन का रूप ले लिया है। श्रमिक अपना विरोध हड़ताल, धीमी गति से काम करने का अभियान चलाकर, घेराव, प्रदर्शन इत्यादि से किया करते हैं। ये संगठित विरोध नगरीय श्रमिक वर्ग के ट्रेड यूनियन और श्रमिक आंदोलनों के अभिन्न अंग रहे हैं। इस इकाई के अगले भाग में हम आपको इन पहलुओं पर विस्तार से जानकारी देंगे।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तर पर (√) का निशान लगाइए।

i) नवीनतम अनुमान के अनुसार:
   क) 45 प्रतिशत नगरीय श्रमिक संगठित क्षेत्र में लगे हुए हैं।
   ख) 45 प्रतिशत नगरीय श्रमिक असंगठित क्षेत्र में लगे हुए हैं।
   ग) 95 प्रतिशत नगरीय श्रमिक संगठित क्षेत्र में लग हुए हैं।
   घ) 95 प्रतिशत नगरीय श्रमिक असंगठित क्षेत्र में लगे हुए हैं।

ii) भारत में अधिकाँश नगरीय श्रमिक:
   क) ग्रामीण क्षेत्रों से आए हुए हैं।
   ख) मूलतः नगरीय क्षेत्रों के निवासी हैं।
   ग) दूसरे देशों से आए हुए हैं।
   घ) ऊँची जातियों के हैं।

iii) भारत के अधिकांश श्रमिक:
   क) सुरक्षित हालातों में काम करते हैं।
   ख) उनके पास पर्याप्त घर हैं।

ग) स्वस्थ माहौल में रहते हैं।

घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

26.4 भारत में नगरीय श्रमिक आंदोलन

इस भाग में हम केवल भारत में औद्योगिक श्रमिक आंदोलन पर ही अपनी बात केंद्रित करेंगे। औद्योगिक श्रमिक नगरीय श्रम शक्ति का एक बहुत बड़ा भाग है। आधुनिक औद्योगिक समाज में दो बड़े सामाजिक समूहों—श्रमिक और पूँजीपति—के बीच सौदेबाजी की क्षमता में असमानता पैदा करने की बहुत मजबूत प्रवृति होती है। श्रमिक आंदोलन पूँजीपतियों की बढ़ती ताकत का मुकाबला करने के लिए श्रमिकों की शक्ति बढ़ाने के लिए होते हैं। आइए, अब यह जानें कि श्रमिक आंदोलन का अर्थ क्या है?

26.4.1 अवधारणा

श्रमिक आंदोलन से हमारा मतलब वेतन-भोगी श्रमिकों द्वारा अपने आर्थिक हितों की साधना के लिए संगठित प्रयासों से है। आंदोलन का एक संबद्ध और दीर्घकालीन उद्देश्य श्रमिक वर्ग के लोगों की सामाजिक और राजनैतिक ताकत को बढ़ाना हैं। नगरीय श्रमिक आंदोलन ट्रेड यूनियन से काफी गहरा जुड़ा है। आइए, अब हम ट्रेड यूनियन की कुछ प्रमुख विशेषताओं के बारे में जानें।

ट्रेड यूनियन के चरित्र के सही चित्रण से बहुत बड़ा सवाल जुड़ा हुआ है। इस मामले में विशेषज्ञों के बीच विवाद है। एक प्रभावशाली विचार यूनियन को एक आर्थिक एजेंट या दलाल बताता है जो "समूचे श्रम बाजार में एक या कई परिवर्तियों या चरों (variables) को अधिक से अधिक बढ़ाने की चाह में रहता है।" जे. डनलप से हमें यूनियन की गतिविधियों के जरिए वेतन बिल में वृद्धि का एक प्रतिरूप मिलता है। उनका यह तर्क है कि राजनैतिक कारकों की थोड़े समय के लिए प्रासंगिकता हो सकती है, मगर दीर्घकालीन यूनियन गतिविधियाँ आर्थिक ताकतों या दबावों से प्रभावित होती हैं। इन्हीं से वेतन और रोज़गार का निर्धारण होता है। पर इस तर्क को कई विशेषज्ञ सही नहीं मानते, विशेषकर ए. एम. रॉस। उनका मुख्य तर्क यह है कि आर्थिक प्रक्रिया के सभी भागीदारों में "ट्रेड यूनियन विशुद्ध आर्थिक विश्लेषण के लिए संभवतः सबसे कम उपयुक्त है।" जैसा कि वे जोर देकर कहते हैं यूनियन "एक राजनैतिक अभिकरण है, जो एक आर्थिक माहौल में काम करती है।" यूनियन नेता अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए इसके सदस्यों के विभिन्न हितों के बीच मध्यस्थता और समझौता करने को बाध्य होते हैं। यह अंदरुनी राजनैतिक प्रक्रिया और अपने लक्ष्यों को पूरा करने के लिए राजनैतिक दलों की मुख्यधारा से मजबूत संबंध बनाने की यूनियनों की जरूरत यह बताती है कि यूनियन आवश्यक रूप से एक राजनैतिक ढाँचा है। रीडर और लेविसन के अनुसार यूनियन का एक स्पष्ट राजनैतिक व्यक्तित्व होता है। जो आर्थिक माहौल की सीमाओं के अंदर काम कर सकता है।

भारत के नगरीय वर्ग ढाँचे का काफी बड़ा वर्ग औद्योगिक श्रम शक्ति है। इसी के संगठित प्रयासों ने एक आंदोलन का रूप ले लिया है जिसे हम भारतीय श्रमिक आंदोलन कहते हैं।" 1986 में प्राप्त आँकड़ों के अनुसार भारत में पंजीकृत यूनियनों की संख्या 45,095 है। इसके अलावा कई अपंजीकृत यूनियनें भी हैं। यूनियन के संगठनात्मक ढाँचे में सबसे ऊपर राष्ट्रीय स्तर के चौदह महासंघ (फेडरेशन) हैं। मगर वास्तव में ये स्थानापन्न निकाय होते हैं जिनका कारखाने के स्तर पर कोई ठोस आधार नहीं होता है। मगर अपनी एक लंबी परंपरा के होते हुए भी भारत में श्रमिक आंदोलन एक स्पष्ट श्रमिक वर्ग विचारधारा का विकास नहीं कर सका है। भारतीय श्रम आंदोलन में वैचारिक स्पष्टता का अभाव दरअसल उन ऐतिहासिक स्थितियों को दर्शाता है जिनमें यह आंदोलन विकसित हुआ है।

26.4.2 श्रमिक आंदोलनों का विकास

आइए, अब भारत में श्रमिक आंदोलन के विकास पर चर्चा करें।

i) औपनिवेशिक काल: हालाँकि भारत में श्रमिक आंदोलन औपनिवेशिक काल से शुरू हुआ, इसका चरित्र ब्रिटिश श्रमिक आंदोलन से तब भी अलग था और आज भी अलग है।

पश्चिम जगत की तरह अपने विकास की प्रक्रिया में पुराने चलन के दस्तकारों या कारीगरों को नहीं शामिल किया। इसी तरह, कुशल श्रमिक आरंभिक श्रमिक आंदोलन की रीढ़ नहीं बन पाए। इसका असर श्रमिक वर्ग चेतना के विकसित न होने और बाहरी नेतृत्व के प्रवेश के रूप में हुआ। साथ ही आरंभ में श्रमिक आंदोलन का विकास भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के प्रभाव में हुआ था और चूँकि इस संघर्ष में कोई स्पष्ट समाजवादी विचारधारा काम नहीं कर रही थी, भारत में श्रमिक आंदोलन एक नए सामाजिक ढाँचे के निर्माण की ओर नहीं बढ़ सका।

आरंभिक औद्योगिक श्रमिक शक्ति का एक बहुत बड़ा वर्ग सबसे गरीब ग्रामीणों का था जिन्हें अकाल की मार ने अपने घरों को छोड़ने के लिए मजबूर कर दिया था। मगर जैसे ही इन लोगों को अपने देहातों में रोजगार मिला ये श्रमिक अपने घरों को लौट आए। अतः आरंभिक वर्षों में श्रमिक एक औद्योगिक सर्वहारा वर्ग नहीं बन सके। वे मूलतः प्रवासी और दैनिक मजदूर थे जिन्होंने अपने देहातों से सांस्कृतिक जुड़ाव जारी रखा था। फिर इस रुझान को भारत में धीमे औद्योगिक विकास ने भी और बल दिया।

बहरहाल इस शताब्दी के शुरू में औद्योगीकरण और नगरीकरण की गति में बड़ी तेजी आई। इससे पूरी स्थिति में बदलाव आने लगा। कारखाने के श्रमिकों व मजदूरों की खेती पर निर्भरता कम होने लगी। खासतौर से कलकत्ता, बम्बई जैसे बड़े नगरों में काम करने वाले श्रमिक स्थायी आजीविका के साधन कृषि और ग्रामीण उद्योगों से बिल्कुल अलग हो गए। यहीं से एक औद्योगिक सर्वहारा के उदय की शुरुआत हुई।

ii) दूसरे विश्व-युद्ध के बाद का काल: दूसरे विश्व युद्ध के समाप्त होते-होते भारत दुनिया की एक बड़ी औद्योगिक शक्ति के रूप में उभरकर सामने आया। इसका प्रभाव यह हुआ कि देश के प्रमुख नगरों में खासी तादाद में औद्योगिक सर्वहारा बना। खासतौर से भारतीय अर्थव्यवस्था के मुख्य क्षेत्रों के औद्योगीकरण में आई भारी तेजी और भूमिहीन मजदूरों की संख्या में काफी बढ़ोतरी व देहाती इलाकों में जातीय और सांप्रदायिक दंगों के कारण देहातों से नगरों की ओर भारी प्रवसन हुआ। इससे एक बहुत बड़ी औद्योगिक श्रम शक्ति का उदय हुआ।

भारत में श्रमिक आंदोलन का विकास देश की औद्योगिक और साथ-साथ राजनैतिक प्रक्रिया को भी प्रतिबिम्बित करता है। शुरुआत कपड़ा उद्योग तक ही सीमित थी, क्योंकि संगठित क्षेत्र में लगने वाला यही सबसे पहला उद्योग था। श्रमिक आंदोलन में इस उद्योग का महत्व इसी बात से देखा जा सकता है कि श्रमिक गतिविधियों और अशांति के स्तर पर ही नहीं बल्कि नेतृत्व के स्तर पर भी यह उद्योग अभी तक सबसे आगे रहा है।

अब अवश्य ही श्रमिक आंदोलन कई उद्योगों तक फैल चुका है। यह सभी विविधताओं सहित औद्योगिक विकास की प्रक्रिया को दिखाता है। संगठित श्रमिक आंदोलन बागानों, खानों, यातायात के साथ-साथ सेवा क्षेत्र में भी आ गया है।

26.4.3 श्रमिक आंदोलनों की विशेषताएँ

भारतीय श्रमिक आँदोलन की कुछ खास विशेषताएँ हैं। आइए, इनमें से कुछ पर यहाँ चर्चा करते हैं :

i) भारतीय ट्रेड यूनियन के कार्यक्षेत्र का आधार संकीर्ण है। इसके दो कारण हैं। पहला कारण तो यह है कि यह आंदोलन अर्थव्यवस्था के संगठित क्षेत्र तक ही सीमित है। दूसरा कारण यह है कि श्रमिक यूनियनें आमतौर पर कारखानों में ही बनी रहती हैं, इसलिए उनका आकार छोटा होता है।

ii) श्रमिक आंदोलन की दूसरी बड़ी खासियत यह है कि यह बम्बई, मद्रास, कलकत्ता, बंगलौर और कानपुर जैसे बड़े नगरों तक ही सीमित है। इसका मुख्य कारण यह है कि भारत में औद्योगिक विकास के क्षेत्रीय पूर्वाग्रहों में निहित हैं।

iii) भारतीय श्रमिक आंदोलन की तीसरी विशेषता यह है कि एक स्पष्ट साम्राज्यवाद-विरोधी रुख होते हुए भी इसमें एक सुस्पष्ट वर्गीय प्रवृत्ति या चेतना की कमी रही है। इसका एक आंशिक कारण राष्ट्रीय आंदोलन का प्रभाव है जिसमें भारतीय श्रमिक आंदोलन पनपा। शक्तिशाली औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध एक संगठित मोर्चा बनाने के लिए इस राष्ट्रीय आंदोलन में समायोजी और उदार राजनीति

पर जोर दिया जाता था। कालांतर में जब उग्र वामपंथ उभरा और उसने आंदोलन के धड़े का नेतृत्व अपने हाथ में लिया तो उसे भी राष्ट्रीय आंदोलन की इन सीमाओं के भीतर ही काम करना पड़ा। फिर भारत में श्रमिक एक खास वेतनभोगी वर्ग नहीं है जैसा पश्चिमी देशों में पाया जाता है। न ही श्रमिक सामाजिक रूप से एक समांग श्रेणी बनाते हैं। उनमें मौजूद जातीय, सामुदायिक और आंचलिक भिन्नता ने वर्गीय संगठन की प्रक्रिया में बाधा पहुंचाई है। इसके अलावा भारतीय मजदूर वर्ग के चरित्र में ग्रामीण मूल्यों का एक महत्वपूर्ण तत्व भी मौजूद है। आज के दिन भी नए नगरीय मूल्यों और पुराने ग्रामीण मूल्यों में द्वंद्व जारी है। इसलिए स्पष्ट ही है कि भारतीय श्रमिक आंदोलन में विशेष वर्गीय चरित्र और वर्गीय संघर्ष की प्रवृत्ति या चेतना की कमी है।

iv) भारतीय श्रमिक आंदोलन की चौथी विशेषता राजनीतिक दलों से इसका निकट जुड़ाव है। यूनियन ढाँचे के सबसे ऊपर कई राष्ट्रीय महासंघ या फेडरेशन हैं, जिनमें से अधिकतर किसी न किसी राजनैतिक दलों से जुड़े होते हैं। 1947 तक अखिल भारतीय स्तर पर सिर्फ एक ही महासंघ था। मगर इसके बाद से सभी बड़े राजनीतिक दलों ने अपनी राष्ट्रीय शाखाएँ बना ली हैं। बड़े अखिल भारतीय श्रमिक संगठनों में मुख्य हैं—इंडियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस (इंटक), हिन्द मजदूर सभा, यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कांग्रेस (यूटक), सेंटर ऑफ इंडियाज ट्रेड यूनियन (सीटू) और भारतीय मजदूर संघ आदि। ये संगठन कांग्रेस (इ), भाकपा, जनता दल, गैर-साम्यवादी वामपंथी, माकपा, और भाजपा से जुड़े हैं। इसकी कुल परिणति कारखानास्तरीय बहु यूनियनवाद और भारतीय श्रमिक आंदोलन के भारी विखंडन प्रक्रिया में हुई है।

v) भारतीय श्रमिक आंदोलन की पाँचवीं विशेषता यह रही है कि इसका स्वतंत्र विकास नहीं हुआ। यह आंदोलन बाहरी ताकतों पर काफी ज्यादा निर्भर रहा है। अक्सर मध्यमवर्गीय पेशेवर राजनेताओं का इसे नेतृत्व मिलता है, जो मुख्यधारा की राजनीतिक दलों के सदस्य होते हैं। आमतौर पर नेतृत्व यूनियन की भीतरी राजनीतिक गतिशीलता से नहीं उभर पाता। इस कारण ऐसे नेतृत्व की श्रमिकों के आम समूह के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं होता और न ही कोई रचनात्मक भीतरी राजनीतिक प्रक्रिया चलती है। फिर यूनियनों की राजसत्ता पर कुछ हद तक निर्भरता ने भी भारतीय श्रमिक आंदोलन की एकता और स्वतंत्रता को बाधा पहुंचाई है।

श्रमिक यूनियनों और राजनीतिक पार्टियों का जुड़ाव भले ही आधारभूत नेतृत्व के विकास में बाधक रहा है, इसे पूरी तरह से थोपा भी नहीं जा सकता। इसका कारण यह है कि जिन यूनियनों के संबंध उस पार्टी से हैं जो केंद्र या राज्य में शासन कर रही हो, वे कुछ लाभ उठाने में सफल रहती हैं। उदाहरणतया, जब तक कांग्रेस (आई) केंद्र में सत्ता में बनी रही इंटक ने शासक दल से अपने संबंध होने के कारण कुछ लाभ उठाए। इसी तरह सीटू से जुड़ी यूनियनें शासक वाम मोर्चे से जुड़ी होने के कारण कुछ लाभ उठाती हैं।

26.4.4 श्रमिक संगठनों की कमजोरियाँ

बहरहाल कुछ महत्वपूर्ण बाधाएँ ऐसी हैं जो संगठित श्रमिकों की ताकत को भीतर ही भीतर कुरेदती हैं। कुछ खास तरह के कानूनी और राजनैतिक कारकों द्वारा किए जाने वाले विघटन के अलावा बढ़ती बेरोज़गारी के कारण आसानी से मिल जाने वाले श्रमिक भी एक समस्या हैं, जो पुराने श्रमिकों की जगह लेने के लिए तैयार रहते हैं। इसके अलावा असंगठित श्रमिकों की मौजूदगी एक मजबूत श्रमिक आंदोलन के उदय में बाधक हैं। इस स्थिति में प्रबंध ने भी यूनियनों में संगठित श्रमिकों पर अपनी निर्भरता को कम करने के लिए एक निश्चित रणनीति बना ली है। उनका एक तरीका तो ठेके पर श्रमिकों को लेना है। दूसरा तरीका यह अपनाया जाता है कि कुछ खास वस्तुओं का उत्पादन बंद कर दिया जाए और इन वस्तुओं के उत्पादन का ठेका असंगठित लघु क्षेत्र को दे दिया जाए। उनकी तीसरी रणनीति ऐसी होती है, जिसके तहत यूनियन प्रबंध कैडर के स्थान पर ज्यादा से ज्यादा स्थायी अभिजात्य श्रमिक रखे जाते हैं। फिर सेवा क्षेत्र में भारी वृद्धि होने से कार्यालयी श्रमिकों की संख्या में भी भारी बढ़त हुई है। इससे उनकी हिस्सेदारी की अवधारणाओं में काफी ज्यादा अंतर आ गया है और दफ्तरी बाबुओं का अलग यूनियनवाद पैदा हो गया है।

भारत में श्रमिक आंदोलन प्रबंधकों द्वारा संघबद्ध श्रमिकों के सिलसिले में जोड़तोड़ की

कारवाई का यथोचित प्रत्युत्तर देने की प्रक्रिया में है। बाहरी व्यावसायिक नेतृत्व से अभी तक ऐसा उत्तर देखने में नहीं आया है, क्योंकि उसकी चिंता श्रमिकों को पैसे का लाभ दिलाने तक ही सीमित रहती है। मगर कार्यस्थान की दुर्दशा को लेकर एक चेतना पैदा होने लगी है, जिससे नए ट्रेड यूनियन रुझान और नेतृत्व निकलेंगे।

इस तरह, ऐसा दिखाई देता है कि भारतीय श्रमिक आंदोलन का एक लंबा इतिहास होते हुए भी एक स्पष्ट श्रमिक वर्गीय विचारधारा और वर्गीय एकता के अभाव में आंदोलन की ताकत प्रबंध की ताकत की बराबरी नहीं कर सकती। श्रमिक आंदोलन सांस्कृतिक व दलीय विचारधाराओं के आधार पर भारी विघटन से ग्रस्त है। इसके अलावा बाहरी व्यावसायिक नेतृत्व में गंभीर कार्यस्थान समस्याओं के प्रति चिंताओं के अभाव और ठीक रास्ते पर श्रमिकों को आंदोलित करने में उसकी विफलता ने आंदोलन को कमज़ोर कर दिया है। भारतीय राजसत्ता ने भी कोई सकारात्मक भूमिका नहीं निभाई है। न तो कोई मजबूत कानूनी समर्थन या आधार इस आंदोलन को मिला है और न ही राज्य की ओर से व्यापारिक हितों और यूनियन की मांगों के बीच मध्यस्थता के लिए कोई कारगर हस्तक्षेप होता है।

बोध प्रश्न 3

i) श्रमिक आंदोलन की परिभाषा चार पंक्तियों में दीजिए ।

.....

.....

.....

.....

ii) भारतीय श्रमिक आंदोलन की चार मुख्य विशेषताएँ बताइए।

क) .....

ख) .....

ग) .....

घ) .....

i) भारत के श्रमिक संगठनों की चार कमजोरियाँ बताइए

क) .....

ख) .....

ग) .....

घ) .....

26.5 सारांश

इस इकाई में हमने अपनी बात भारत में नगरीय श्रमिक वर्ग के उदय पर चर्चा करके की। यहाँ हमने भारत में ब्रिटिश औपनिवेशिक नीति के प्रभाव के बारे में चर्चा की, जिसने परंपरागत ग्रामीण दस्तकारी और कुटीर उद्योगों को नष्ट किया और जिससे ग्रामीण बेकारों के एक तबके ने नगरीय क्षेत्रों की ओर पलायन किया। हमने भारत में नगरीय श्रमिकों के वर्गों के उदय की प्रक्रिया में औद्योगीकरण और नगरीकरण की भूमिका की भी चर्चा की। इस इकाई में हमने आपको नगर के व्यावसायिक ढाँचे में बदलाव और नगरीय श्रमिक वर्ग की विशेषताओं के बारे में भी जानकारी दी। श्रमिक आंदोलन नगरीय श्रमिक वर्ग का एक महत्वपूर्ण पहलू है। हमने आपको भारत में श्रमिक आंदोलन की व्यापक जानकारी देने के लिए यहाँ औद्योगिक श्रमिक आंदोलन के विकास और उसकी विशेषताओं पर भी चर्चा

26.6 शब्दावली

प्राथमिक क्षेत्र: अर्थव्यवस्था के प्राथमिक क्षेत्र में कृषि, पशुपालन, वानिकी, मत्स्य-पालन, शिकार और बागान आते हैं।

द्वितीयक क्षेत्र: अर्थव्यवस्था के द्वितीयक क्षेत्र में खनन व उत्खनन, घरेलू उद्योग, अन्य उद्योग और निर्माण कार्य आते हैं।

तृतीयक क्षेत्र: अर्थव्यवस्था के इस क्षेत्र में व्यापार व वाणिज्य, परिवहन, भंडारण और संचार तथा अन्य सेवाएँ आती हैं।

26.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

सेन, एस. 1979. *वर्किंग क्लास ऑफ इंडिया: हिस्ट्री ऑफ एमरजेंस एंड मूवमेंट*, के.पी. बागची एंड कं., कलकत्ता।

रमास्वामी, इ.ए. एंड रामास्वामी, यू. 1981. *इंडस्ट्री एंड लेबर: एन इंट्रोडक्शन*, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

26.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) अंग्रेजों ने भारत में मुक्त व्यापार नीति शुरू की। भारतीय बाजार ब्रिटिश पूँजीपतियों के लिए खोल दिया गया, जिससे भारत में ब्रिटिश आयात काफी ज्यादा बढ़ा। मगर उन्होंने भारत में आयातित कपड़ा उद्योग पर भारी आयात कर लगाया।

ii) औपनिवेशिक काल में ग्रामीण भारत के परंपरागत उद्योग नष्ट हो गए। इससे ग्रामीण कारीगर और दस्तकार अपने पुश्तैनी धंधों से उखड़ गए। इन श्रमिकों का एक तबका नगरीय क्षेत्रों की ओर चला आया और नगरीय श्रमिक वर्ग की जमात में शामिल हो गया।

बोध प्रश्न 2

i) क

ii) क

iii) घ

बोध प्रश्न 3

i) श्रमिक आंदोलन अपने आर्थिक हितों की साधना के लिए किया जाने वाला संगठित प्रयास है। इसका लक्ष्य श्रमिक वर्ग के लोगों के सामाजिक और आर्थिक हितों की रक्षा करना है।

ii) क) भारतीय श्रमिक आंदोलन के कार्यक्षेत्र का आधार संकीर्ण है।
ख) यह देश के बड़े-बड़े नगरों तक सीमित है।
ग) इसमें संचेतन वर्गीय प्रवृत्ति की कमी है।
घ) श्रम आंदोलन का राजनीतिक पार्टियों से निकट जुड़ाव है।

iii) क) राजनीतिक कारकों द्वारा किया गया विघटन।
ख) बढ़ती बेरोजगारी के कारण आसानी से मिलने वाले श्रमिकों की संख्या में वृद्धि।
ग) असंगठित वर्ग की मौजूदगी।
घ) बाहरी व्यावसायिक नेताओं की मौजूदगी।

इकाई 27 नगरीय वर्ग संरचना-II: मध्यम वर्ग

इकाई की रूपरेखा

27.0 उद्देश्य
27.1 प्रस्तावना
27.2 मध्यम वर्ग
  27.2.1 मध्यम वर्ग के संबंध में मार्क्स, बॉटोमोर और कोल के विचार
  27.2.2 मध्यम वर्ग के संबंध में गोल्डनर और जेटलिन के विचार
  27.2.3 मध्यम वर्ग के संबंध में वार्नर के विचार
  27.2.4 प्रकार्यवादी और द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण
27.3 मध्यम वर्ग का विकास और उसके प्रकार
  27.3.1 भारतीय मध्यम वर्ग के संबंध में बी.बी. मिश्रा के विचार
    27.3.1.1 भारतीय मध्यम वर्ग में सम्मिलित समूह
  27.3.2 मध्यम वर्ग के प्रकार
    27.3.2.1 पुराना मध्यम वर्ग
    27.3.2.2 नया मध्यम वर्ग
27.4 अन्य वर्गों से मध्यम वर्ग का संबंध
27.5 सामाजिक परिवर्तन में मध्यम वर्ग की भूमिका
27.6 सारांश
27.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
27.8 शब्दावली
27.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

27.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप के लिए संभव होगा कि आप:

- मध्यम वर्ग की संकल्पना की व्याख्या कर सकें,
- पुराने मध्यम वर्ग और नए मध्यम वर्ग के बीच अंतर कर सकें,
- अन्य वर्गों के साथ मध्यम वर्ग के संबंध का वर्णन कर सकें, और
- सामाजिक परिवर्तन में मध्यम वर्ग की भूमिका की व्याख्या कर सकें।

27.1 प्रस्तावना

इस इकाई में नगरीय वर्ग संरचना: मध्यम वर्ग के एक अन्य महत्वपूर्ण पहलू पर विचार किया गया है। आधुनिक शहरी औद्योगिक समाज के महत्वपूर्ण लक्षणों में से एक लक्षण है जनसंख्या में मध्यम वर्ग की वृद्धि और विस्तार, उदाहरणार्थ—सफेदपोश कर्मचारी, व्यावसायिक, तकनीशियन, अधिकारी वर्ग, प्रबंधक आदि। वास्तव में, शहरी औद्योगिक वर्ग संरचना का निर्धारण तीन प्रमुख वर्गों में किया गया है:

i) उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर उच्च वर्ग,

ii) श्रमिक शक्ति के आधार पर निम्न वर्ग,

iii) मध्यम वर्ग जो इन दोनों वर्गों के बीच में रखा गया है।

यह निर्धारण या तो शैक्षिक अथवा तकनीकी योग्यता के आधार पर किया गया है या उत्पादन माध्यमों के स्वामित्व तथा श्रमिक शक्ति के आधार पर। मध्यम वर्ग को आय, उपभोग, शक्ति और प्रतिष्ठा के अनुसार बीच में रखा गया है।

इस इकाई में हम आधुनिक नगरीय समाज के आधारभूत लक्षणों में से एक लक्षण के रू में मध्यम वर्ग की व्याख्या करेंगे। इस इकाई के भाग 27.2 में मध्यम वर्ग की संकल्पना विश्लेषण किया गया है। भाग 27.3 में दो प्रकार के मध्यम वर्गों की चर्चा की गई है। भ 27.4 में अन्य वर्गों से मध्यम वर्ग के संबंधों की चर्चा की गई है। अंतिम भाग में सामाजि परिवर्तन में मध्यम वर्ग की भूमिका का वर्णन किया गया है।

27.2 मध्यम वर्ग

आधुनिक समाज में सामाजिक जीवन का वर्गीकरण व्यापार, वाणिज्य, परिवहन, संचार, प्रबंध, विज्ञान और प्रौद्योगिकी के पर्याप्त विकसित पद्धति के आधार पर किया गया है। व्यापार, वाणिज्य, उत्पादन, वितरण, परिवहन, शिक्षा, राज्य प्रबंध और अन्य क्षेत्रों में उद्यमों का प्रशासन और प्रबंध विभिन्न प्रकार के कार्मिकों के द्वारा किया जाता है। शहर क्षेत्रों की आबादी में प्रमुखतया सफेदपोश कर्मचारी, तकनीशियन, पर्यवेक्षक, शिक्षाविद्, इंजीनियर, अधिकारी वर्ग, प्रबंधक, वैज्ञानिक, डॉक्टर, वकील, अन्य व्यवसायों में लगे व्यक्ति, विक्रेता, व्यापारी, दुकानदार आदि शामिल हैं। इन व्यवसायों और पेशों में लगे व्यक्तियों को मध्यम वर्ग माना जाता है।

मध्यम वर्ग का प्रादुर्भाव उन्नत औद्योगिक समाजों के सामाजिक जीवन का विशिष्ट लक्ष है। भारत जैसे विकासशील समाजों की वर्ग संरचना पर भी मध्यम वर्ग का बढ़ता हुआ वर्चस्व देखा गया है। उन्नत और आधुनिक विकासशील समाजों में प्रौद्योगिकीय और आर्थिक विकास के साथ-साथ मध्यम वर्ग की प्रचुरता और प्रधानता देखी गई है।

27.2.1 मध्यम वर्ग के संबंध में मार्क्स, बॉटोमोर और कोल के विचार

मार्क्स ने इस बात पर बल दिया है कि आधुनिक वर्ग संघर्ष में मुख्य पक्ष-पोषक सर्वहारा और पूंजीपति वर्ग है। वह समाज के दोहरे विभाजन की व्यवस्था करते हैं। परंतु मध्यम वर्ग का उद्भव विश्लेषणात्मक और अनुभव-जन्य वास्तविकता के रूप में हुआ है। टी. ब बॉटोमोर ने समाज को चौमुखी विभाजन का उल्लेख किया है। उसके अनुसार उच्च वर्ग (उत्पादन साधनों के मालिक), मध्यम वर्ग (सफेदपोश कर्मचारी और व्यावसायिक), श्रमि वर्ग (औद्योगिक श्रमिक) और कृषक वर्ग (जो मुख्य रूप से अपनी आजीविका के लिए कृषि पर निर्भर रहते हैं) मुख्य हैं।

जी.डी. कोल ने मार्क्स के सिद्धांत का आलोचनात्मक विश्लेषण करने के बाद बताया है कि मार्क्सवादी सिद्धांत में वर्गों और व्यवसायिकों के बीच अंतर नहीं किया गया है। बल्कि उन एक साथ गिनाया गया है। उनके अनुसार मार्क्स के विश्लेषण में मध्यम वर्ग अवशिष्ट श्रेणी है और इस प्रकार मार्क्स ने इस तथ्य की अवहेलना की है कि औद्योगिक पद्धति मध्यम वर्ग के उदय को प्रोत्साहित कर रही है, जिसमें प्रशासक, प्रबंधक, व्यावसायिक आदि शामिल हैं। कोल के अनुसार, आज की वर्ग संरचना में मध्यम वर्ग एक वास्तविकता है।

27.2.2 मध्यम वर्ग के संबंध में गोल्डनर और जेटलिन के विचार

उन्नत औद्योगिक समाज में मध्यम वर्ग एक नया वर्ग है। इस वर्ग के अधिकांश सदस्य तकनीकी बुद्धिजीवी वर्ग के रूप में कार्य करते हैं और उत्पादन प्रणाली में क्रान्ति लाते हैं।

गोल्डनेर के अनुसार, इस नए वर्ग ने उन्नत अर्थव्यवस्था में अपनी अधीनस्थ स्थिति स्वीकार की है, क्योंकि यह उसके वस्तुगत और आदर्श हित के अनुरूप है। इस नए वर्ग को उत्पादन शक्तियों और प्रशासन माध्यमों का तकनीकी ज्ञान होने के कारण उत्पादन प्रणाली पर इसका पहले से ही पर्याप्त नियंत्रण है और इस प्रकार इस शक्ति के आधार पर वह अपने हितों की रक्षा करता है। नया वर्ग अपने ज्ञान और विशेषज्ञता के कारण हमेशा धनी वर्ग पर हावी रहा है जो उद्योगों के स्वामी हैं। इस संदर्भ में मोरिस जेटलिन ने उल्लेख किया है कि स्वामित्व वास्तव में निष्क्रिय हो गया है और नियंत्रण व्यावसायिक प्रबंध के हाथ में चला गया है। उन्होंने यह भी कहा है कि गैर-स्वामित्व प्रबंधक अब धनी पूंजीपतियों का स्थान ले रहे हैं।

27.2.3 मध्यम वर्ग के संबंध में वार्नर के विचार

अभी तक वर्ग को आर्थिक मानदंड के आधार पर माना गया है। निम्नलिखित चरों अर्थात् आय, व्यावसायिक प्रतिष्ठा, शिक्षा, मित्रता, स्वैच्छिक समूहों की सदस्यता मनोरंजन के साधनों आदि के संयोजन ही समाज में मध्यवर्ती स्तर के लोगों के सामाजिक संघटन का आधार बनाता है। इस संदर्भ में वार्नर का अध्ययन महत्वपूर्ण है।

वार्नर ने प्रतिष्ठाजन्य असमानता के आधार पर वर्ग की परिभाषा की हैं। येंकी सिटी (संयुक्त राज्य अमरीका) के अपने अध्ययन में उसने अन्य व्यक्तियों से यह पूछ कर कि समुदाय में उनकी स्थिति क्या है, उनकी प्रतिष्ठा क्या है, आदि आधार पर उनकी वर्ग स्थिति का निर्धारण किया है। उन्होंने येंकी सिटी में छह भिन्न-भिन्न वर्गों की पहचान की है वे निम्नलिखित हैं:

i) **उच्च वर्ग:** इस वर्ग के सदस्य धनी हैं परंतु वे अपनी पारिवारिक पृष्ठभूमि के कारण ही इस वर्ग के सदस्य हैं।

ii) **निम्न उच्च वर्ग:** वे धनी है, परंतु वे अभिजात पृष्ठभूमि से नहीं है बल्कि नव धनाड्य हैं।

iii) **उच्च मध्यम वर्ग:** उच्च मध्यम स्तर के व्यक्ति उच्च आय वाले शिक्षित व्यावसायिक हैं, जैसे डॉक्टर, वकील, व्यापारी आदि।

iv) **निम्न मध्यम वर्ग:** वे मुख्य रूप से सफेदपोश कर्मचारी हैं, जैसे लिपिक स्तर का कर्मचारी, सचिव, बैंक कर्मचारी आदि।

v) **उच्च निम्न वर्ग :** वे शारीरिक कार्य करने वाले कर्मचारी हैं; जैसे कारखानों के श्रमिक आदि।

vi) **निम्न निम्न वर्ग:** वे गरीब हैं और समुदाय के सदस्यों से अलग-थलग हैं।

इस प्रकार वर्ग I और II उच्च स्तर के हैं, वर्ग III और IV मध्य, तथा वर्ग V और VI सामाजिक संरचना के निम्न स्तर के वर्ग हैं। यहाँ बहुत महत्वपूर्ण बात यह है कि मध्यम वर्ग सामुदायिक जीवन में सामाजिक वास्तविकता के रूप में उभरा है।

27.2.4 प्रकार्यवादी और द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण

प्रकार्यवादी और द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण ऐसे दो मुख्य दृष्टिकोण हैं, जिनके द्वारा दो भिन्न-भिन्न तरीकों में मध्यम वर्ग की संकल्पना बनती है। पहले दृष्टिकोण को **क्रम स्थापन** (gradational) कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार, उच्च वर्ग और निम्न वर्ग के बीच में मध्यम वर्ग होता है। मध्यम वर्ग को उच्च वर्ग से नीचे रखा गया है, क्योंकि इसकी आय, प्रतिष्ठा और प्रस्थिति अपेक्षाकृत कम होती है, परंतु निम्न वर्ग की तुलना में अधिक। वर्ग संरचना, सामाजिक आर्थिक प्रस्थिति की सीढ़ी के समान है, जिसको आधार सतह पर निम्न वर्ग है शीर्ष स्तर पर उच्च वर्ग है तथा उनके बीच में मध्यम वर्ग है। कुल मिलाकर, यह दृष्टिकोण वर्ग संघर्ष पर विश्वास नहीं करता है। इसके अलावा, एक अन्य दृष्टिकोण है जो द्वन्द्वात्मक या मार्क्सवादी दृष्टिकोण कहलाता है। इस दृष्टिकोण के अनुसार आधुनिक औद्योगिक समाज में दो प्रमुख वर्ग हैं—**पूंजीपतियों का वर्ग**, जो कारखानों का मालिक है और अधिशेष मूल्य का विनियोजन करता है तथा **श्रमिक वर्ग**, जो कारखानों में काम करता है तथा अधिशेष मूल्य का उत्पादन करता है। इन दो वर्गों के बीच में लगातार विभिन्न व्यावसायिक समूह उत्पन्न हो रहे हैं। जैसे-छोटे विनिर्माता, दुकानदार, छोटे व्यापारी, सफेदपोश कर्मचारी, पर्यवेक्षक, बिक्री कार्मिक, प्रबंधक, तकनीशियन, डॉक्टर, इंजीनियर, अध्यापक, वैज्ञानिक, सरकारी अधिकारी आदि। ये व्यावसायिक समूह मध्यम वर्ग कहलाते हैं। द्वन्द्वात्मक दृष्टिकोण, जिसे मुख्य रूप से काल-मार्क्स द्वारा प्रतिपादित किया गया था, वर्ग संघर्ष पर आधारित है।

बोध प्रश्न 1

i) मध्यम वर्ग की परिभाषा कीजिए।

.....

.....

27.3 मध्यम वर्ग का विकास और उसके प्रकार

इस भाग में हम भारत में मध्यम वर्ग के विकास और मध्यम वर्ग के प्रकारों से संबंधित पहलुओं पर चर्चा करेंगे।

27.3.1 भारतीय मध्यम वर्ग के संबंध में बी.बी. मिश्रा के विचार

बी.बी. मिश्रा के अनुसार, अंग्रेज़ों के आगमन से भी पहले भारत में पूँजीवाद की वृद्धि के लिए अपेक्षित संस्था और मध्यमवर्गीय बुर्जुआ वर्ग के विकास की संभावनाएं विद्यमान थी। परंतु जातिगत संगठन की निश्चलता और अधिकारी तंत्र की निरंकुशता से इस प्रकार के विकास में रुकावट आई। यहाँ समाज के परंपरागत तंत्र में मध्यम वर्ग एक स्तरबद्ध व्यवस्था नहीं बन सका। वे अपनी जाति के अनुसार सुदृढ़ प्रतिष्ठात्मक समूहों में विभाजित रहे।

ब्रिटिश शासन ने भारत में एक नए प्रकार की सरकार तथा नए प्रकार के सामाजिक और आर्थिक संगठन बनाए, जो उनके औपनिवेशिक हितों के अनुकूल थे। ब्रिटिश शासन ने भारत में ऐसा वर्ग बनाने की दृष्टि से नई शिक्षा नीति लागू की, जो प्रशासन में और आर्थिक लेन-देन में उनकी सहायता कर सके। भारत में ब्रिटिश शिक्षा नीति के जनक, मैकाले के शब्दों में "यह ऐसा वर्ग होगा जो रक्त और रंग में भारतीय होगा परंतु रुचि, विचार, आचरण तथा बुद्धि में अंग्रेज।" इस प्रकार भारत में ब्रिटिश आर्थिक और शैक्षिक नीतियों के फलस्वरूप मध्यम वर्ग का विकास हुआ जो नए मूल्यों तथा विचारों के प्रवर्तक न होकर मात्र अनुकरणकर्ताओं के वर्ग के रूप में थे।

27.3.1.1 भारतीय मध्यम वर्ग में सम्मिलित समूह

बी.बी. मिश्रा के अनुसार शैक्षिक और प्रौद्योगिकी विकास की प्रवृत्ति भारत में मध्यम वर्ग की ओर रही है और इस दृष्टि से भारत के औद्योगिक रूप से विकसित शहर हाल ही के वर्षों में अपने पाश्चात्य प्रतिपक्षियों के समान रहे हैं। उनके अनुसार भारतीय मध्यम वर्ग में मुख्य रूप से निम्नलिखित समूह हैं:

i) व्यापारी, आधुनिक व्यापारी फर्मों के सक्रिय मालिक, और एजेंट।

ii) वेतन भोगी कार्यपालक जैसे प्रबंधक, निरीक्षक, पर्यवेक्षक, पर्यवेक्षक, तकनीकी स्टाफ आदि।

iii) व्यापारी संघों के उच्च वेतन भोगी अधिकारी, राजनीतिक समाजसेवी, सांस्कृतिक, शैक्षिक आदि निकाय।

iv) असैनिक कर्मचारी और अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों के कर्मचारी। इनमें वे शामिल नहीं हैं जो सरकार के सचिवों से उच्च पदों पर हैं।

v) व्यावसायिक अर्थात् वकील, डॉक्टर, प्रोफेसर, प्राध्यापक, पत्रकार, कलाकार, धर्माचार्य आदि।

vi) संयुक्त और कृषि संपत्ति, किरायाजीवी वर्ग, राजस्व कृषक (Farmer's of revenue) आदि।

vii) सुस्थापित दुकानदार, संयुक्त पूंजी कंपनियों में नियुक्त प्रबंधक, लेखाकार सहित होटलों के संचालक आदि।

viii) ग्रामीण उद्यमी, भू-सम्पदा के वेतन भोगी प्रबंधक।

ix) विश्वविद्यालय अथवा समान स्तर पर पढ़ने वाले पूर्णकालिक विद्यार्थी।

x) क्लर्क, सहायक और अन्य लिपिकीय कार्य करने वाले कर्मचारी।

xi) उच्च माध्यमिक स्कूलों के अध्यापक, स्थानीय निकायों के अधिकारी और राजनीतिक कार्यकर्त्ता।

ब्रिटिश शासन के अधीन शिक्षा के विस्तार के साथ-साथ भारत में मध्यम वर्ग का उदय भी तेजी से हुआ। ब्रिटिश शासन काल में संयुक्त स्टॉक कंपनियों, आयात निर्यात करने वाले व्यापारी अधिकारी तंत्र, विशेषकर सिविल सेवा, न्यायिक और शैक्षिक सेवा में विस्तार धीरे-धीरे हुआ। इन सभी से मध्यम वर्गों की बढ़ोत्तरी को प्रोत्साहन मिला। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद की अवधि में शिक्षा, शहरीकरण और औद्योगीकरण ने भारत में मध्यम वर्ग की वृद्धि को प्रोत्साहित किया है।

27.3.2 मध्यम वर्ग के प्रकार

मध्यम वर्ग में कई प्रकार के वाणिज्यिक, व्यावसायिक, पेशेवर समूह शामिल हैं। उन्हें विभिन्न श्रेणियों में वर्गीकृत किया जा सकता है। क्रमस्थापन (gradational) दृष्टिकोण में मध्यम वर्ग के सदस्यों की आय, प्रतिष्ठा, शक्ति और सुविधाओं के असमान वितरण को ध्यान में रखा जाता है। मध्यम वर्ग को आगे सामाजिक-आर्थिक स्थिति में अंतर के आधार पर निम्न मध्यम वर्ग, मध्यम वर्ग और उच्च मध्यम वर्ग में वर्गीकृत किया जा सकता है। मध्यम वर्ग को उनके कार्यकलाप के क्षेत्र के अनुसार भी वर्गीकृत किया जा सकता है। ये वर्गीकरण वाणिज्यिक मध्यम वर्ग, औद्योगिक मध्यम वर्ग, वित्तीय मध्यम वर्ग, व्यावसायिक मध्यम वर्ग आदि हो सकते हैं।

27.3.2.1 पुराना मध्यम वर्ग

मध्यम वर्ग का एक और वर्गीकरण भी है, जिसे शहरी वर्ग संरचना को समझने के लिए अधिक महत्वपूर्ण माना गया है। इस वर्गीकरण से शहरी वर्ग संरचना की गतिशीलता को समझने में सहायता मिलती है। इसका उल्लेख वर्ग और वर्ग-संघर्ष संबंधी मार्क्सवादी सिद्धांत के अंतर्गत किया गया है। मध्यम वर्ग को दो श्रेणियों—पुराना मध्यम वर्ग, और नया मध्यम वर्ग, में विभाजित किया गया है।

पुराने मध्यम वर्ग में छोटे विनिर्माता, व्यापारी, दुकानदार, ठेकेदार, दस्तकार, स्वतंत्र व्यवसायी जैसे डॉक्टर, वकील, चार्टर्ड एकाउंटेंट, किसान और खेतिहर शामिल हैं। मध्यम वर्ग की यह श्रेणी न केवल उत्पादन के साधनों की मालिक होती है, बल्कि उनके द्वारा काम भी करती है। इस प्रकार यह वर्ग मालिक के साथ-साथ श्रमिक भी है। पुराना मध्यम वर्ग इस दृष्टि से पुराना है कि यह पूर्व-पूँजीवादी अवधि में स्वयं पूँजीवाद के जन्म से ही उसका प्रवर्तक रहा है। इस तथ्य को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि आधुनिक समय में भी पुराना मध्यम वर्ग नए-नए तरीकों में बढ़ रहा है और विकसित हो रहा है। हम देखते हैं कि शहरीकरण और औद्योगीकरण के विस्तार से छोटे व्यापारियों, दुकानदारों, ठेकेदारों और स्वतंत्र व्यवसायियों का वर्ग तेज़ी से बढ़ रहा है। भारत में शहरी क्षेत्रों के विकास में पुराने मध्यम वर्ग की वृद्धि और विकास सन्निहित है।

27.3.2.2 नया मध्यम वर्ग

आधुनिक समय में पूँजीवादी, समाजवादी और विकासशील समाजों में प्रौद्योगिकीय, वैज्ञानिक और प्रबंधकीय विकास से सम्बद्ध कार्मिकों की कई सामाजिक श्रेणियों का प्रादुर्भाव हुआ है। आधुनिक शहरी औद्योगिक समाज के सामाजिक-आर्थिक जीवन में गैर-शारीरिक श्रम क्षेत्रों (non-manual sector) का व्यापक विस्तार हुआ है। वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकीविद्, प्रबंधक, अधिकारी वर्ग, सफेदपोश कर्मचारी, विभिन्न व्यवसायी और तकनीकी समूह शहरी औद्योगिक समाज के गैरशारीरिक श्रम क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन्हें नया मध्यम वर्ग माना जाता है। इसे नए मध्यम वर्ग के रूप में कहा गया है, क्योंकि हाल ही में उत्पादन पद्धति में वैज्ञानिक और प्रौद्योगिकीय क्रांति से इसका प्रादुर्भाव हुआ है। पुराने मध्यम वर्ग के समूहों की तुलना में नए मध्यम वर्ग की श्रेणियाँ नई हैं।

नए मध्यम वर्ग की ओर उसकी संख्यागत अत्यधिक वृद्धि, खास तौर पर उन्नत औद्योगिक समाजों में वृद्धि के कारण ध्यान आकर्षित हुआ है। नए मध्यम वर्ग की पर्याप्त वृद्धि ने औद्योगिक समाजों की वर्ग संरचना को बदल दिया है। पहले पूँजीवादी समाज की वर्ग संरचना पिरामिड के समान थी, छोटा पूँजीवादी वर्ग, बहुत बड़ा श्रमिक वर्ग और मध्यम आकार का मध्यम वर्ग। परंतु नए मध्यम वर्ग के प्रादुर्भाव और विस्तार से इसमें परिवर्तन आया है। मध्यम वर्ग की वृद्धि उन्नत पूँजीवादी समाजों में श्रमिक वर्ग से अधिक हो गयी है। हाल ही में, नए मध्यम वर्ग के विस्तार से विकासशील समाजों की वर्ग संरचना भी सुस्पष्ट हो गई है। विज्ञान, प्रौद्योगिकी, शिक्षा, प्रबंध और सेवा क्षेत्र में विकास के फलस्वरूप नए मध्यम वर्ग की वृद्धि हुई है। भारत में शिक्षित नए मध्यम वर्ग ने आकार लेना और औद्योगिक विकास की प्रारंभिक अवस्था को प्रभावित करना शुरू किया जैसा कि विकसित समाजों में नहीं हुआ। जहाँ यह पूँजीवादी विकास के पश्चात् की घटना थी।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं में ज्ञान, प्रौद्योगिकी और अनुसंधान की निरंतर बढ़ती हुई मांग एवं उपयोग ने भारत में नए मध्यम वर्ग के विकास को गति प्रदान की है। जोशी ने उल्लेख किया है कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के आर्थिक, राजनैतिक और सामाजिक परिवर्तन में मध्यम वर्ग सबसे बड़ी निर्णायक शक्ति है।

बोध प्रश्न 2

i) पुराने मध्यम वर्ग की परिभाषा दो पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

ii) नए मध्यम वर्ग की परिभाषा दो पंक्तियों में दीजिए।

.....

.....

iii) पुराने मध्यम वर्ग और नए मध्यम वर्ग के व्यावसायगत समूहों के तीन-तीन उदाहरण दीजिए।

....

....

....

27.4 अन्य वर्गों से मध्यम वर्ग का संबंध

मध्यम वर्ग का विस्तार अर्थव्यवस्था के वाणिज्यिक, तकनीकी, पर्यवेक्षी और प्रबंधकीय तत्वों पर निर्भर करता है। इसमें सार्वजनिक सेवाओं और अन्य व्यवसायों की संवृद्धि भी संन्निहित है। एक प्रकार से मध्यम वर्ग देश की अर्थव्यवस्था, राजनीति, शिक्षा और प्रौद्योगिकी के विकास से जुड़ा हुआ है। जैसा कि हम जानते हैं कि शासक वर्ग द्वारा तथा शासक वर्ग और शासित वर्ग के बीच वर्ग संघर्ष द्वारा देश की अर्थव्यवस्था, राजनीति, शिक्षा और प्रौद्योगिकी प्रभावित और निर्धारित होती है। भारतीय शहरों के वर्ग संरचना में मध्यम वर्ग के स्थापन का मूल्यांकन तथा सामाजिक परिवर्तन में इसकी भूमिका का विश्लेषण शासक और शासित के प्रमुख वर्गों से इसके संबंध के परिप्रेक्ष्य में किया जा सकता है।

जैसा कि यह बताया गया है कि भारत के शहरी औद्योगिक सामाजिक जीवन में दो महत्वपूर्ण वर्ग हैं-पूँजीवादियों का वर्ग और श्रमिकों का वर्ग। ये दोनों वर्ग एक-दूसरे के विरोधी हैं। पूँजीवादी वर्ग शासक वर्ग है और श्रमिक वर्ग शासित वर्ग। मध्यम वर्ग इन दोनों वर्गों के बीच में है। यह अवस्थिति अन्य वर्गों से इसके संबंधों को अस्पष्ट बनाती है।

संकल्पनात्मक दृष्टि से मध्यम वर्ग अंशतः पूँजीवादी वर्ग है और अंशतः श्रमिक वर्ग भी है

यह न तो पूर्णतया पूँजीवादी वर्ग है और न ही पूर्णतया श्रमिक वर्ग है। यह अन्य दो वर्गों के समूह के साथ मध्यम वर्ग के बीच पारस्परिक प्रभाव पैदा करता है। मध्यम वर्ग की कुछ श्रेणियाँ, खास तौर पर प्रबंधक, पर्यवेक्षक, सरकारी अधिकारी, उच्च पदासीन वैज्ञानिक, प्रौद्योगिकीविद्, बुद्धिजीवी, अधिकारी, राजनीतिज्ञ शासक वर्ग की भूमिका निभाते हैं। इस प्रकार इन्हें पूँजीवादी वर्ग का विस्तार समझा जाता है। इस तरीके से मध्यम वर्ग, विशेष रूप से उसकी उच्च श्रेणी शासक वर्ग से बहुत निकटता से जुड़ी होती है। यह श्रेणी शहरी औद्योगिक समाज में पूँजीवादी वर्ग के हितों की रक्षा करती है।

कुछ अन्य श्रेणियाँ, खास तौर पर, निम्न श्रेणी-सफेदपोश कर्मचारियों, तकनीशियनों, निचले पदों पर नियुक्त इंजीनियरों, अध्यापकों और क्लर्कों को श्रमिक वर्ग का निकटवर्ती वर्ग कहा जाता है। उन्हें श्रमिक वर्ग, अर्थात् शासित वर्ग का विस्तार समझा जाता है। सरकारी कार्य के यंत्रीकरण और श्रमिक संघवाद के विकास तथा श्रमिक वर्ग की राजनीतिक रुचि के फलस्वरूप धीरे-धीरे इस श्रेणी का सर्वहारा-करण होता जा रहा है।

मध्यम वर्ग का यह दोहरापन इस तथ्य के कारण है कि मध्यम वर्ग के कई उर्ध्वाधर और क्षैतिज विभाजन है। मध्यम वर्ग सजातीय वर्ग नहीं है। आँतरिक श्रेणीबद्ध सोपान इसकी विशेषता है। अन्य वर्गों में मध्यम वर्ग के ये भिन्न-भिन्न स्तरों के संबंध भी भिन्न-भिन्न प्रकार के हैं। इसलिए इसकी कुछ श्रेणियाँ श्रमिक वर्ग के अधिक निकट है और कुछ अन्य पूँजीवादी वर्ग है। इस संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि तीव्र या क्रांतिकारी वर्ग संघर्ष में मध्यम वर्ग या तो शासक वर्ग का पक्ष लेता है या फिर श्रमिक वर्ग का।

भारत में शहरी मध्यम वर्ग के पास एक साम्राज्यवादी विरासत है। भारतीय मध्यम श्रेणी के दो महत्वपूर्ण श्रेणियों-राज्य के अधिकारियों और शिक्षित व्यावसायिकों के ब्रिटिश सरकार से और उनके माध्यम से भारत के शासक वर्गों से विशेष संबंध थे। मध्यम वर्ग के ये घटक का शुरू से ही सत्ता के निकट रहे और इसलिए सम्भ्रान्त वर्ग के अंग बने रहे।

27.5 सामाजिक परिवर्तन में मध्यम वर्ग की भूमिका

मध्यम वर्ग गतिशील औद्योगिक समाज की उपज है। मध्यम वर्ग का उद्भव और विकास समकालीन नगरीय-औद्योगिक सामाजिक जीवन की अर्थव्यवस्था और वर्ग संरचना में परिवर्तन को दर्शाता है। जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, उन्नत पूँजीवादी समाज के सबसे अधिक बुनियादी लक्षणों में से एक लक्षण यह है कि यह बड़े आकार का मध्यम वर्ग है। परंतु मध्यम वर्ग केवल सामाजिक परिवर्तन या समकालीन पूँजीवाद की गतिशीलता का सूचक नहीं है, अपितु यह सामाजिक परिवर्तन लाने में प्रमुख भूमिका भी निभाता है।

सामाजिक परिवर्तन में मध्यम वर्ग की भूमिका स्पष्ट करते समय दो मुद्दे ध्यान में रखे जाने चाहिए। पहला, पुराना मध्यम वर्ग और नए मध्यम वर्ग के बीच अंतर, तथा दूसरा, उस समाज की किस्म, जिसका विश्लेषण किया जा रहा है। सामाजिक परिवर्तन में मध्यम वर्ग की भूमिका संबंधी अध्ययनों की समीक्षा में निम्नलिखित परिणाम मिलते हैं:

i) मध्यम वर्ग आधुनिक समाज में सामाजिक परिवर्तन का सूचक है,

ii) मध्यम वर्ग, आधुनिकीकरण को अभिकर्त्ता के रूप में उस वर्ग से जुड़ता है, जो सामाजिक संरचना में परिवर्तन लाता है, और

iii) मध्यम वर्ग स्थायीकारी शक्ति है। खास तौर पर, बड़ा और विस्तारित मध्यम वर्ग दो प्रतिस्पर्धी वर्गों के बीच उभय-प्रतिरोधी वर्ग के रूप में काम करता है और इसमें मध्यस्थता करता है तथा वर्ग-संघर्ष को शांत करता है।

भिन्न-भिन्न प्रकार के समाजों में और समाज के विभिन्न स्तरों पर मध्यम वर्ग की भिन्न-भिन्न प्रकार की भूमिकाएँ पाई गई हैं। उनके घटक अन्य वर्गों, सम्भ्रान्त वर्गों और जन-साधारण के साथ अपने संबंधों के आधार पर भिन्न-भिन्न भूमिकाएँ अदा करते हैं।

भारत में मध्यम वर्ग–खास तौर पर वकीलों, डॉक्टरों, शिक्षकों और अन्य शिक्षित समूहों ने स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। भारतीय समाज में उदार आचरण का संचार करने में भारतीय मध्यम वर्ग का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। यह प्रेस, प्रचार

माध्यमों, कानून, औषधि, राजनीतिक विचारधारा और सामाजिक सक्रियता के माध्यम से सामाजिक परिवर्तन का अग्रदूत है।

इस समस्या का एक और पहलू भी है। जैसा कि मिश्रा ने उल्लेख किया है, आज भी मध्यम वर्ग के अधिकांश व्यक्ति उच्च जाति के हैं। इसलिए भारत में मध्यम वर्ग आम तौर पर सम्भ्रान्त वर्ग है। यद्यपि हाल ही में, सरकार की संरक्षणात्मक विभेदी नीति के कारण अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों के कुछ व्यक्ति भी मध्यम वर्ग के सदस्य बन गए हैं।

बोध प्रश्न 3

i) निम्नलिखित का मिलान कीजिए:

i) निम्न मध्यम वर्ग	(क) अधिशेष मूल्य का विनियोजक
ii) पूँजीवादी वर्ग	ख) अधिशेष मूल्य का उत्पादनकर्ता
iii) श्रमिक वर्ग	ग) सर्वहारा वर्ग

ii) सामाजिक परिवर्तन में मध्यम वर्ग की भूमिका का वर्णन चार पंक्तियों में कीजिए।

.....

.....

.....

.....

27.6 सारांश

इस इकाई में हमने शहरी वर्ग संरचना के विशिष्ट लक्षण के रूप में मध्यम वर्ग के विभिन्न पहलुओं का अध्ययन किया है। सबसे पहले, मध्यम वर्ग की संकल्पना की व्याख्या की गई है। मध्यम वर्ग वह वर्ग है, जो पूँजीवादी वर्ग और श्रमिक वर्ग के बीच में विद्यमान है। इसके बाद दो प्रकार के मध्यम वर्गों का उल्लेख किया गया हैं अर्थात् पुराना मध्यम वर्ग और नया मध्यम वर्ग। आगे अन्य वर्गों से इसके संबंधों का विवेचन किया गया है। इसके कुछ घटक पूँजीवादी वर्ग के निकट हैं और कुछ श्रमिक वर्ग के निकट है। अंत में, सामाजिक परिवर्तन लाने में मध्यम वर्ग द्वारा अदा की गई भूमिका की चर्चा की गई है। मध्यम वर्ग सामाजिक परिवर्तन का सूचक है।

27.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गोल्डनर, ए.डब्ल्यू., 1979, *दि फ्यूचर ऑफ इंटलैक्चुअल्स एण्ड दि राइज़ ऑफ दि न्यू क्लास*, मैकमिलन, लंदन।

किंग, आर. और रेनार, जे., 1981, *दि मिडिल क्लास*, लांगमैन, लंदन।

मिश्रा, बी. बी., 1978, *दि इंडियन मिडिल क्लासेज़: देयर ग्रोथ इन मॉडर्न टाइम्स*, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली।

27.8 शब्दावली

मध्यम (बुर्जुआ) वर्ग: पूँजीपतियों का वर्ग

पूँजीवाद: उत्पादन की एक औद्योगिक पद्धति जिसमें पूँजीपति उत्पादन साधनों के मालिक होते हैं, श्रमिक लगाते हैं और अधिशेष मूल्य के विनियोजन द्वारा लाभ कमाते हैं।

निम्न मध्यम (बुर्जुआ) वर्ग: परंपरागत मध्यम वर्ग। राजनीतिक रुचि प्राप्त करने की प्रक्रिया भी और श्रमिक वर्ग का व्यवहार।

क्रांतिकारी वर्ग: यह वर्ग जो उत्पादन के पुराने तरीकों को नष्ट करने में तथा ऐसी नई पद्धति बनाने में सक्षम है, जिसपर उसका वर्चस्व है।

शासक वर्ग: आर्थिक रूप से शक्तिशाली वर्ग, जो अपनी आर्थिक स्थिति के कारण सामाजिक जीवन के सभी पहलुओं को अपने प्रभुत्व और नियंत्रण में रखता है।

27.9 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) मध्यम वर्ग ऐसा वर्ग है, जो उत्पादन के साधनों का न तो मालिक है और न ही उनके द्वारा काम करता है, या उत्पादन के साधनों का मालिक है और उनके द्वारा काम भी करता है। यह पूँजीवादी वर्ग जो श्रमिक वर्ग के बीच में है।

बोध प्रश्न 2

i) पुराना मध्यम वर्ग उन छोटे-छोटे विनिर्माताओं, छोटे व्यापारियों, दुकानदारों और स्वतंत्र व्यावसायिकों का वर्ग है जो उत्पादन के मालिक हैं और उनके द्वारा काम भी करते हैं।

ii) नया मध्यम वर्ग उन शिक्षित व्यावसायिकों या तकनीशियनों का वर्ग है, जो न तो उत्पादन का मालिक है और न ही अधिशेष मूल्य का उत्पादन करता है।

बोध प्रश्न 3

1) i) ग
   ii) क
   iii) ख

2) भिन्न-भिन्न प्रकार के समाजों में सामाजिक परिवर्तन में मध्यम वर्ग की भूमिका चौमुखी है। यह क्रांतिरोधी वर्ग है। यह सामाजिक परिवर्तन को दर्शाता है। यह आधुनिकीकरण का अभिकर्त्ता है। अंत में, यह स्थायीकारी बल है और यथापूर्व स्थिति को बनाए रखता है।

इकाई 28 नगरीय वर्ग संरचना-III: उद्यमी वर्ग

इकाई की रूपरेखा

28.0 उद्देश्य
28.1 प्रस्तावना
28.2 उद्यमी: अवधारणाएँ और उपागम
  28.2.1 उद्यमी—एक सृजनशील व्यक्ति
  28.2.2 उद्यम संबंधी कार्य
  28.2.3 उद्यमवृत्ति के अध्ययन के दृष्टिकोण
28.3 भारत में उद्यमवृत्ति के विकास का इतिहास
  28.3.1 भारत में परम्परागत गैर-कृषि उत्पादन
  28.3.2 भारत में उद्यमी वर्ग का उदय
28.4 उद्यमियों का वर्ग-संघटन
28.5 सारांश
28.6 शब्दावली
28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
28.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

28.0 उद्देश्य

इस इकाई में उद्यमी वर्ग का विवेचन किया गया है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आपके लिए संभव होगा कि आप:

- औद्योगिक उत्पादन में उद्यमी वर्ग की भूमिका की चर्चा कर सकें;
- उद्यमी वर्ग की विशेषताओं का विवेचन कर सकें;
- उद्यमवृत्ति के अध्ययन के उपागमों का विश्लेषण कर सकें;
- भारत में उद्यमी वर्ग के उदय की प्रक्रिया का उल्लेख कर सकें; और
- उद्यमियों के वर्ग की विशेषताओं का विश्लेषण कर सकें।

28.1 प्रस्तावना

आप ग्रामीण वर्ग संरचना के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं, जिसका आधार कृषि अर्थव्यवस्था है। विकास के दौरान आर्थिक संरचना में परिवर्तन होता है और औद्योगिक अर्थव्यवस्था धीरे-धीरे कृषि अर्थव्यवस्था का स्थान लेना शुरू करती है। इस प्रकार, औद्योगीकरण आरंभ होता है। इस आर्थिक विकास की प्रक्रिया में परम्परागत सामाजिक संरचना में परिवर्तन होता है।

पिछली इकाइयों में आपने नगरीय वर्ग संरचना में जिन दो वर्गों के बारे में पढ़ा है, वे आर्थिक विकास के परिणामस्वरूप उत्पन्न हुए हैं। उद्यमी वर्ग आर्थिक कार्यकलाप के केन्द्र में होता है और इन कार्यकलापों से आर्थिक विकास होता है। इस इकाई से आपको उद्यमी वर्ग की विशेषताएँ और उद्यमवृत्ति के स्वरूप को समझने में सहायता मिलेगी, जो कारखाने के उत्पादन का निर्धारण करती है तथा जिस पर शहरी औद्योगिक अर्थव्यवस्था निर्भर करती है। इकाई का आरंभ उत्पादन की शहरी औद्योगिक पद्धति में उद्यमियों की भूमिका की चर्चा से किया गया है। इसके बाद, "उद्यमी" शब्द के अर्थ और उद्यमियों की विशेषताओं पर चर्चा की गई है। इस इकाई में उद्यमवृत्ति के अध्ययन के विभिन्न उपागम की भी चर्चा की गई है। अगले भाग में, भारत में उद्यमवृत्ति के विकास के इतिहास का विवेचन किया गया है। आपको भारत में गैर-कृषि वर्गों के आर्थिक कार्यकलाप के परम्परागत स्वरूप और उद्यमी वर्ग के उदय की भी जानकारी मिलेगी। इकाई के अंत में, उद्यमियों के वर्ग संघटन का विश्लेषण करने का प्रयास किया गया है।

28.2 उद्यमी: अवधारणाएँ और उपागम

हम बाज़ार में अपने उपयोग की भिन्न-भिन्न वस्तुएँ खरीदते हैं। इनमें से अधिकाँश वस्तुएँ औद्योगिक उत्पाद होती हैं। वस्तुओं के उत्पादन के लिए पूँजी, श्रमिक और मशीन की जरूरत होती है। परन्तु क्या वे पर्याप्त हैं? नहीं। उत्पादन के ये कारक तब तक अच्छा परिणाम नहीं देंगे जब तक कि उन्हें उचित ढंग से प्रयुक्त न किया गया हो। इस उत्पादनकारी कार्यकलाप के पीछे कारखाने के मालिक का उद्देश्य लाभ कमाना होता है। अधिकतम लाभ कई कारकों, जैसे पूँजीगत उत्पाद, उत्पादों की गुणवत्ता, उत्पादों की माँग और आंतरिक प्रबंध पर निर्भर करता है। इसके लिए उत्पादनकर्त्ता में उद्यमवृत्ति दक्षता होना आवश्यक है। उद्यमी केवल औद्योगिक इकाई का मालिक ही नहीं है, अपितु वह मालिक और प्रबंधक, दोनों है जो उत्पादन के लिए उत्तरदायी है।

उद्यमी एक मानव संसाधन है, जिसकी भूमिका आर्थिक क्षेत्र में, विशेषकर विकासशील देशों में अब अपरिहार्य समझी गई है। हमने आपको पहले ही बताया है कि पूँजी, कच्चा माल, श्रमिक और विपणन सुविधाएँ, जैसे आर्थिक कारक जरूरी हैं। परंतु सफल उत्पादन और परिणामकारी आर्थिक विकास के लिए ये सभी कारक आवश्यक नहीं हैं। इस आधारिक संरचनात्मक स्थितियों से पहले क्या आवश्यक है? वह है—इष्टतम आर्थिक लाभ प्राप्त करने के लिए उनका सर्वोत्तम उपयोग करने की दक्ष बुद्धि।

उद्यमी व्यापार-इकाई के कार्यों को शुरू करता है, उन्हें संगठित करता है, उनका प्रबंध करता है और उन्हें नियंत्रित करता है। इस प्रकार वह शहरी औद्योगिक उत्पादन पद्धति का केन्द्र-बिन्दु है। आइए, अब हम मालूम करें कि उद्यमी कौन है?

28.2.1 उद्यमी—एक सृजनशील व्यक्ति

उद्यमी शब्द का शाब्दिक अर्थ है, "वह व्यक्ति जो व्यापार स्थापित करता है, उसका प्रबंध करता है और उसके जोखिमों को अपनाता है।" फिर भी, मूलत: फ्रांसीसी भाषा में उद्यमी शब्द प्रमुख सैन्य अभियान के लिए प्रयुक्त हुआ है। धीरे-धीरे, यह कई अन्य प्रकार के साहसिक कार्यों के लिए भी प्रयुक्त किया गया है।

रिचर्ड कैंनटिलॉन के अनुसार, "उद्यमी के कार्य का सार अनिश्चितता धारण करना था" और उसने "उद्यमी" का वर्णन ऐसे व्यक्ति के लिए किया जो अनिश्चित कीमतों पर वस्तुओं आदि को खरीदता था और बेचता था। अठारहवीं शताब्दी के अंत में, निकोलस बॉन्डयू ने कृषि काश्तकार को उद्यमी की संज्ञा दी थी और जोखिम उठाना तथा नए परिवर्तन लाना उसकी अनिवार्य विशेषताएँ बताई थीं।

यहाँ यह उल्लेख करना उचित होगा कि अर्थशास्त्र के शास्त्रीय सिद्धाँत ने आर्थिक विकास में उद्यमी के योगदान को शामिल करने के लिए कोई यत्न नहीं किया है। परंतु अमेरिकी अर्थशास्त्रियों ने संयुक्त राज्य अमेरिका में बड़े निगमों के विकास के लिए उद्यमशील प्रतिभा को काफी हद तक उत्तरदायी माना है। फ्रांसिस ए वाकर ने पूँजीपतियों और उद्यमियों के बीच स्पष्ट अंतर किया है और उत्पादन के प्रमुख अभिकर्ता (एजेंट) के रूप में उद्यमियों के योगदान को मान्यता दी है। जोसेफ ए. शम्पीटर ने देश के औद्योगिक विकास के लिए उद्यमी के मुख्य योगदान को स्वीकार किया है। उसके अनुसार, यह नवीन प्रक्रिया थी। उसकी धारणा थी कि उद्यमवृत्ति का मुख्य मानदंड नवीन प्रक्रिया होनी चाहिए। यह उन कार्यों को करने की विशेषताओं को स्पष्ट करता था, जो नवीन प्रक्रिया से पहले से ही किए जा रहे थे। शम्पीटर के अनुसार नया तरीका निर्धारित स्थिति में सृजनशील अथवा नवीनता की प्रतिक्रिया थी।

उद्यमवृत्ति एक जटिल कार्य है। इसलिए समकालीन उद्यमी वर्ग का विश्वास है कि यह स्पष्ट किया जा सकने योग्य कार्य है और उद्यमी शब्द वास्तविक व्यक्ति के लिए निरंतर प्रयोग किए जाने की अपेक्षा आदर्श प्रकार को व्यक्त करता है। इस पृष्ठभूमि को सामने रखकर, आइए, हम आदर्श प्रकार के उद्यमी वर्ग का विश्लेषण करें।

उद्यमी एक प्रवर्तक है, जो नई वस्तुओं का उत्पादन करता है या नए तरीके में वस्तुओं का उत्पादन करता है। उद्यमी एक साहसी व्यक्ति है जो पर्णत: अनिश्चितता की स्थिति में

अपने व्यापारिक कार्य करता है। उद्यमी कभी भी इस बात पर विश्वास नहीं रखता है कि वह सफल होगा या असफल। भले ही, वह लाभ अर्जित कर रहा है या घाटे में चल रहा हो। यह अनिश्चितता उस समय और भी बढ़ जाती है जब अर्थव्यवस्था प्रगति करती है और उद्यमियों के बीच भी प्रतिस्पर्धा बढ़ रही होती है।

सृजनात्मक कार्य के लिए उद्यमी की अभिप्रेरणा आत्म-उपलब्धि के लिए उसकी उत्कट इच्छा-शक्ति पर निर्भर करती है। उद्यमी की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नलिखित हैं:

i) उपलब्धि के लिए अत्यधिक आवश्यकता

ii) अर्जनशीलता

iii) आत्मविश्वास और स्वतंत्र व्यक्तित्व

iv) नम्र और परंपरा-विरोधी व्यक्तित्व

v) उत्साही और जोखिम उठाने की क्षमता (सुविचारित संयत जोखिम लेना)

vi) प्रासंगिकता और व्यावहारिकता

vii) सृजनशील और तकनीकी बुद्धि

viii) अनुकूलनशीलता

ix) प्रबंधकीय कुशलता और नेतृत्व के गुण

x) प्रशासनिक योग्यता

xi) सही निर्णय करने की योग्यता

xii) उच्च कोटि की उपलब्धि के लिए अभिप्रेरणा

xiii) प्रभावित करने की व्यक्तिगत क्षमता

iv) कार्य के लिए दृढ़ प्रतिबद्धता

28.2.2 उद्यम संबंधी कार्य

उद्यमवृत्ति प्रत्येक व्यक्ति के वश की बात नहीं है। यह बहुत जटिल कार्य है। व्यापार के सफल निष्पादन के लिए कल्पनाशील दृष्टि के साथ-साथ गतिशील व्यक्तित्व, नवाचारी बुद्धि और प्रबंधकीय कुशलता आवश्यक है। विनिर्माणकारी उद्यम पूँजी-निवेश और उसपर प्रतिप्राप्ति का सरल अर्थशास्त्र नहीं है। कारखाना शुरू करने की अवस्था से उसके कार्यकरण के बाद की अवस्थाओं तक विनिर्माता के अपने व्यापार के बारे में एक कदम आगे बढ़ने या एक कदम पीछे हटने के प्रत्येक निर्णय के लिए उत्तरदायी होगा। उत्पादन क्या किया जाना है? कहाँ किया जाना है और कैसे किया जाना है? ये सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। इन प्रश्नों के उत्तर से ही उद्यमी अपने उद्यम की सफलता या असफलता निश्चित करता है।

उद्यमी अपने उद्यम को शुरू करने के लिए भिन्न-भिन्न स्रोतों से पूँजी का प्रबंध करता है। न्यूनतम संभव पूँजी लगाकर अधिक से अधिक सफलता किस प्रकार प्राप्त की जा सकती है, यह उद्यमी की दक्षता के स्तर पर निर्भर करता है। इस प्रकार का आगत-निर्गत अनुपात, खास तौर पर विकासशील देशों में, आवश्यकता बन जाती है, जहाँ पूँजी की कमी है। व्यापार संबंधी एक अन्य बहुत ही महत्वपूर्ण मामला है, उत्पादों की बिक्री जिसे उद्यमी द्वारा बुद्धिमतापूर्ण ढंग से निपटाया जाना चाहिए। उसे यह देखना है कि उसके उत्पादों की माँग अधिक से अधिक किस प्रकार हो। सर्वश्रेष्ठ उद्यमी वह है जो न केवल ऐसे माल का उत्पादन करता है जिसकी उपभोक्ताओं को जरूरत है बल्कि वह उपभोक्ताओं में अपने उत्पादन के लिए माँग भी पैदा करता है।

इस प्रकार उद्यमवृत्ति के तीन प्रमुख कार्य हैं: (i) उद्यम के लिए उद्यमी धनराशि और गैर-मानवीय संसाधनों की आपूर्ति करता है, (ii) वह उत्पादनकारी कार्यों का पर्यवेक्षण और उनका समन्वय करता है, और (iii) वह योजना बनाता है तथा उद्यम के संबंध में अंतिम निर्णय लेता है। विकसित अर्थव्यवस्था और आधुनिक निगमों में ये कार्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा किए जाते हैं और प्रबंधकीय कार्य भिन्न-भिन्न विशेषज्ञों को दिए जाते हैं। परंतु विकासशील देशों में जहाँ छोटे या मध्यम आकार के अधिक व्यापारिक प्रतिष्ठान होते हैं, वहाँ ये सभी कार्य उद्यमी द्वारा स्वयं किए जाते हैं। इस प्रकार, उद्यमवृत्ति एक जटिल कार्य है।

28.2.3 उद्यमवृत्ति के अध्ययन के उपागम

जैसा कि आपने पहले देखा है कि उद्यमवृत्ति की अवधारणा बहुत पुरानी नहीं है। यह अध्ययन का सामान्य और लोकप्रिय विषय केवल द्वितीय विश्व युद्ध के बाद हुआ, जब आर्थिक विकास के अध्ययेताओं ने तृतीय विश्व की आर्थिक समस्याओं पर अधिक ध्यान देना शुरू किया। फिर भी, औद्योगीकरण की प्रक्रिया में उद्यमवृत्ति का महत्व केवल उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में महसूस किया गया। मैक्स वेबर और जोसफ शुम्पीटर पहले विद्वान माने जा सकते हैं, जिन्होंने उत्पादनकारी उद्यम में उद्यमी द्वारा ग्रहण किए गए महत्वपूर्ण स्थान की प्रणालीबद्ध तरीके में व्याख्या की। तब से सामाजिक विज्ञान की भिन्न-भिन्न शाखाओं के विद्वान उद्यम संबंधी आपूर्ति के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक आधारों, उद्यमियों की मनोवैज्ञानिक विशेषताओं और व्यापारिक उद्यम में उद्यम संबंधी कार्य जैसे मुद्दों पर ध्यान केन्द्रित कर रहे हैं। मोटे तौर पर, उद्यमवृत्ति अध्ययन के तीन उपागम हैं:

i) समाजशास्त्रीय उपागम,

ii) मनोवैज्ञानिक उपागम, और

iii) राजनीतिक उपागम

i) समाजशास्त्रीय उपागम

उद्यमवृत्ति अध्ययन के लिए समाजशास्त्रीय उपागम में उद्यमवृत्ति के स्वरूप और उसकी वृद्धि के लिए उत्तरदायी सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों पर विचार किया जाता है। इसमें, मुख्य रूप से, इस प्रश्न का उत्तर ढूँढा जाता है "सामाजिक संरचना का एक खंड दूसरे की अपेक्षा अधिक उद्यमी क्यों पैदा करता है?" उदाहरण के मेजी (Meji) जापान में मुख्य रूप से समुराई (Samurai) समुदाय ही ऐसा है, जो उद्यमवृत्ति अपनाता है।

भारतीय उद्यमवृत्ति में शुरू से ही तीन समुदायों—पारसियों, गुजरातियों और मारवाड़ियों का वर्चस्व रहा है। आज भी काफी संख्या में उद्यमी इन्हीं व्यापारी जातियों से हैं। मैक्स वेबर का कथन है कि प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बी ही उद्यमवृत्ति उत्पन्न करने में सहायक हो सकते हैं, न कि कैथोलिक धर्मावलम्बी। वेबर की यह धारणा थी कि हिन्दू धर्म उद्यमवृत्ति के लिए सहायक नहीं है। उसका विश्वास था कि जाति और संयुक्त परिवार प्रथा उद्यमवृत्ति वृद्धि के लिए हानिकारक है। यह देखा गया है कि रूढ़िवादी समाजों में जिनमें व्यक्तियों का मूल्याँकन उनकी आरोपित प्रस्थिति (ascribed status) के आधार पर किया जाता है, न कि वे क्या कर सकते हैं उन समाजों में औद्योगीकरण और आर्थिक संवृद्धि की गुंजाइश कम ही होती है। जो समाज प्रस्थिति की प्राप्ति को महत्व देते हैं वहाँ औद्योगीकरण और आर्थिक वृद्धि की अपेक्षाकृत अधिक गुंजाइश होती है। इस प्रकार के आधुनिक समाजों में लोगों को कोई भी कार्य करने की स्वतंत्रता है और इसलिए वे अधिक से अधिक प्राप्त करने के लिए प्रेरित होते हैं। रूढ़िगत समाजों में लोगों को जन्म द्वारा प्रस्थिति दी जाती है। इसलिए गतिशीलता के लिए प्रेरणा कम होती है। इस प्रकार, समाजशास्त्रीय उपागम की यह मान्यता है कि उद्यमवृत्ति एक सामाजिक वास्तविकता है और इसका स्वरूप तथा वृद्धि विद्यमान सामाजिक संरचना और साँस्कृतिक स्थितियों पर निर्भर करता है।

ii) मनोवैज्ञानिक उपागम

हम पहले ही पढ़ चुके हैं कि उद्यमी का व्यक्तित्व एक खास किस्म का होता है। वह कल्पनाशील व्यक्ति है। उसमें कल्पनाशक्ति और प्रबंधकीय कुशलता होती है। वह नया परिवर्तन ला सकता है। इस प्रकार का व्यक्तित्व उस व्यक्ति में विकसित होता है, जिसमें उपलब्धियों के लिए दृढ़ संकल्प की भावना हो। मनोवैज्ञानिक उपागम के महान व्याख्याता मैकक्लीलैंड (Mcclelland) की यह धारणा है कि उपलब्धि के लिए उद्यमियों में उत्पत्ति (जेनेसिस) और कार्य-निष्पादन की तीव्र प्रेरणा होनी आवश्यक है। उसके अनुसार, उपलब्धि की प्रेरणा समाज में बाल पोषण रीतियों का कार्य है। समाजशास्त्रीय उपागम में हमने कहा है कि वर्तमान सामाजिक संरचना उद्यमवृत्ति और आर्थिक विकास का निर्धारण करती है। मनोवैज्ञानिक उपागम यह पता करने की कोशिश करता है कि समाज के लोगों को यह सामाजिक संरचना किस प्रकार प्रभावित करती है। उद्यम संबंधी प्रतिबद्धता बचत और निवेश की प्रवृत्ति और व्यापार प्रबंध जैसे क्षेत्रों को मनोवैज्ञानिकों ने अपने अध्ययन में शामिल किया है।

iii) राजनीतिक दृष्टिकोण

हमने विशेष रूप से उन उपागमों का अध्ययन किया है, जिनमें उद्यमियों की उत्पत्ति और कार्य-निष्पादन के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक आधारों पर विचार किया गया है। कुछ अन्य अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकला है कि उद्यम की वृद्धि में राजनीतिक कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। यह राजनीतिक उपागम है, जो राज्य और उद्यमवृत्ति के बीच निकटतम संबंध स्थापित करने का प्रयास करता है। सरकार आर्थिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। उद्योगों की त्वरित वृद्धि और इसके फलस्वरूप आर्थिक विकास मुख्य रूप से सरकार की आर्थिक नीतियों और कार्यक्रमों के गुण-दोष पर निर्भर करते हैं। यदि सरकार लोकतांत्रिक है और अपेक्षाकृत स्थिर है तो राजनीतिक परिस्थितियों को आर्थिक विकास के लिए सहायक समझा जा सकता है। ऐसे मामले में लोगों को स्वयं अपना व्यापार शुरू करने की पर्याप्त स्वतंत्रता दी जाती है और उन्हें पर्याप्त वित्तीय तथा आधारिक संरचनात्मक सुविधाएँ दी जाती हैं। उन राज्यों में उद्यमियों के उभरने की संभावना होती है, जो पूँजीमूलक उदारतावाद में विश्वास करते हैं और अपेक्षित ऋण सुविधा, समुचित प्रशिक्षण के अवसर, प्रौद्योगिकीय और वैज्ञानिक जानकारी तथा पर्याप्त प्रोत्साहन की व्यवस्था करते हैं।

उदाहरण के लिए, भारत में उद्यमों की वृद्धि देश के स्वतंत्र होने तक बहुत कम रही है। औपनिवेशिक शासन के दौरान ब्रिटिश सरकार की नीतियाँ ऐसी नहीं थीं, जिनसे उद्यमवृत्ति को प्रोत्साहन मिले। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद इस क्षेत्र में अचानक परिवर्तन हुआ। उद्यमवृत्ति के राजनीतिक अध्ययनों ने दिखाया है कि रूस और फ्रांस में उद्यमवृत्ति की वृद्धि में देरी उन देशों की विद्यमान राजनीतिक परिस्थितियों के कारण हुई है। जापान की उद्यमवृत्ति की वृद्धि बहुत तेजी से हुई है। इसका श्रेय देश की राजनीतिक प्रणाली को दिया जा सकता है, जिसने औद्योगिक और कृषि अर्थव्यवस्था को समुचित ढंग से जोड़ा। इस प्रकार, उद्यमवृत्ति के अध्ययन में राजनीतिक उपागम यह पता करने की प्रयास करता है कि व्यक्तिशः उद्यमियों के आविर्भाव में राजनीतिक प्रणाली कहाँ तक सहायक हुई है।

बोध प्रश्न 1

सही कथन के सामने (√) सही का निशान लगाइए:

i) उद्यमी .....
   - क) केवल पूँजीपति है।
   - ख) नवप्रवर्तक है।
   - ग) सरकारी कर्मचारी है।
   - घ) उपर्युक्त सभी है।

ii) उद्यमी .....
   - क) शीघ्र निर्णय लेता है।
   - ख) अविचारित जोखिम उठाता है।
   - ग) कोई जोखिम नहीं उठाता है।
   - घ) निर्णय करने में बहुत समय लेता है।

iii) उद्यमी में .....
   - क) आत्मविश्वास नहीं होता है।
   - ख) सृजनशील और तकनीकी बुद्धि नहीं होती है।
   - ग) काम के लिए प्रतिबद्धता नहीं होती है।
   - घ) हठधर्मी व्यक्तित्व नहीं होता है।

iv) लगभग पाँच पंक्तियों में उद्यमवृत्ति अध्ययन के समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

28.3 भारत में उद्यमवृत्ति के विकास का इतिहास

भारत में आधुनिक औद्योगिक उत्पादन का इतिहास अपेक्षाकृत बहुत पुराना नहीं है। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम पच्चीस वर्षों में यह थोड़ी मात्रा में शुरू हुआ था और केवल आज़ादी के बाद ही उसे गति मिली। परंतु देश में विनिर्माण की परंपरा की जड़ें इतिहास में बहुत गहरी हैं। देशी कारीगरों द्वारा निर्मित कलात्मक कोटि के हस्तशिल्प ने सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के बीच गौरवशाली स्थान प्राप्त किया था। वाराणसी में रेशम की बुनाई, कश्मीर में ऊनी शाल, राजस्थान में प्रस्तर उत्कीर्णन और जौनपुर के ऊनी कालीन इसके कुछ उदाहरण हैं। विनिर्माण की प्राचीन संस्कृति के बावजूद औद्योगिक उद्यमवृत्ति पहले आरंभ नहीं हो सकी।

उद्यमवृत्ति के देरी से विकास होने के पीछे महत्वपूर्ण कारक औपनिवेशिक शासन था। भारत में ब्रिटिश सरकार की आर्थिक नीतियों का संबंध भारतीयों के कल्याण की अपेक्षा ब्रिटिश हितों की रक्षा करना अधिक था। बल्कि यह माना जाता है कि भारत के परंपरागत उद्योगों के पतन के उत्तरदायी भी वे ही थे। दूसरी ओर, भारतीय सामाजिक संरचना भी उद्यमवृत्ति के स्वतंत्र विकास के लिए बहुत अधिक सहायक नहीं थी। परंतु स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एकीकृत उद्यमवृत्ति विकास कार्यक्रम में सरकार की सक्रिय भागीदारी के कारण सक्षम उद्यमियों का आविर्भाव काफी अधिक हुआ। इस प्रकार, हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि देश में उद्यमवृत्ति का विकास मुख्य रूप से उसकी सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करता है। इस प्रकार, भारतीय उद्यमवृत्ति के उदय के बारे में केवल उसकी व्यापक ऐतिहासिक प्रक्रियाओं और उसकी अर्थव्यवस्था के विकास को ध्यान में रखकर समझा जा सकता है। यहाँ हम परंपरागत गैर-कृषि उत्पादन प्रणाली पर चर्चा शुरू कर सकते हैं।

28.3.1 भारत में परम्परागत गैर-कृषि उत्पादन

यद्यपि भारत में औद्योगिक उत्पादन केवल लगभग एक शताब्दी पहले ही शुरू हुआ था परंतु प्रमाणों से सिद्ध होता है कि देश में गैर-कृषि उत्पादन, यहाँ तक कि मुगलकाल के दौरान संपूर्ण विश्व में श्रेष्ठ कोटि का माना गया था। देशी कारीगरों की दक्षता उच्च कोटि की थी और विनिर्माण उनका मुख्य व्यवसाय था, वे सूती वस्त्र, यातायात के साधन (विशेष रूप से नावों का निर्माण), भवन निर्माण, और धातु तथा प्रस्तर कार्यों में लगे थे। सूती वस्त्र निर्माण प्रमुख उत्पादन कार्य था और यह लगभग देश के प्रत्येक भाग में होता था। ढाका, पटना, बनारस, लाहौर, मुल्तान और इलाहाबाद उत्तम कोटि के वस्त्रों के निर्माण के लिए प्रसिद्ध थे। परंपरागत समृद्धिशाली वर्ग में विलास और ऐश्वर्य की वस्तुओं की माँग रहती थी। इसके फलस्वरूप, चमड़े के सामान, बर्तन, आभूषण और इत्र का उत्पादन हुआ। फिर भी, उत्पादन के लिए प्रयुक्त की जाने वाली प्रौद्योगिकी सस्ती और सरल थी। उत्पादन कार्य में परिवार के ही लोग लगे रहते थे और आपूर्ति भी उन्हीं के गांवों के लोगों तक सीमित थी। केवल थोड़ा-सा बचा हुआ भाग शहरी बाज़ार में भेजा जा सकता था।

i) जाति पर आधारित उत्पादन संगठन

पूर्व-औपनिवेशिक अवधि में विनिर्माण कार्य अनिवार्यतः गाँवों में होता था। यह कृषि से इतना जुड़ा हुआ था कि इन दोनों के बीच विभाजन रेखा खींचना कठिन था। कृषि और विनिर्माण की ये घरेलू इकाइयाँ गाँव को आत्म-निर्भर बनाती थीं। विनिर्माण कार्य कारीगर जातियों द्वारा किया जाता था। ये जातियाँ 'यजमान-संरक्षक' संबंध के परंपरागत बंधनों द्वारा कृषक जातियों पर अपना प्रभुत्व बनाए रखती थीं। बुनकर, कुम्हार, बढ़ई, लोहार जैसी कारीगर जातियाँ और नाई, भड़भूजा, भिश्ती और धोबी जैसी निश्चित व्यवसायों में लगी कुछ अन्य जातियाँ उच्च जाति के लोगों की सेवा किया करती थीं। वे नैतिकतावश इस सेवा के बदले अनिवार्यतः वस्तु रूप में (फसल के समय कृषि उत्पाद और उनकी

अपनी स्वयं की काश्तकारी के लिए कुछ भूमि) और कभी-कभी नकद राशि भी देते थे। यह प्रथा भिन्न-भिन्न जातियों की आर्थिक और औपचारिक पारस्परिक निर्भरता का केन्द्र-बिन्दु रही है। इसने उन्हें प्रभुत्व के और पारस्परिकता के संबंध में बाँधे रखा है। संपूर्ण देश में यह "जजमानी पद्धति" कुछ अंतर के साथ ग्रामीण विनिर्माण संगठन का आधार थी। सत्रहवीं शताब्दी तक इस आर्थिक संगठन में बाज़ार विनिमय ने प्रवेश किया और गाँव के लोगों से कारीगरों के परम्परागत संबंध ने अपनी शक्ति खोनी शुरू की। अठारहवीं शताब्दी के अंत में इनमें से अधिकाँश कारीगर, खास तौर पर बुनकर और अन्य कुशल कारीगर खरीदारों और बिचौलियों के लिए जिनसे उन्हें पेशगी में धन या कच्चा माल मिलता था, माल बनाने लगे।

ii) उत्पादन संगठनों में कारीगरों की नीची प्रस्थिति

यह उल्लेखनीय है कि जाति के आधार पर सामाजिक पद्धति कारीगरों को केवल निचला स्थान प्रदान करती है। इससे उन्हें ऊपर की ओर बढ़ने के लिए बहुत कम अवसर मिलता है। उनकी कार्य-कुशलता के लिए पारिश्रमिक और व्यापारिक लाभ भी बहुत कम मिलता है। यही कारण है कि यूरोप के कारीगरों की तरह भारतीय कारीगर पूँजीवादी नियोक्ताओं के रूप में नहीं उभर सके। उन्हें बचत करने का अवसर ही नहीं मिल सका। ऊपर जिस ग्रामीण विनिर्माण पद्धति की चर्चा की गई है, यह ब्रिटिश शासन के अंत तक बनी रही। जजमानी किस्म के संबंध के पुराने उदाहरण आज भी, खास तौर पर देश के दूरदराज़ के भागों में स्थित गाँवों में देखी जा सकती है।

28.3.2 भारत में उद्यमी वर्ग का उदय

आधुनिक उद्योग की शुरुआत उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य से मानी जा सकती है। उस समय देश में जूट और सूती कपड़े की पहली मिलें स्थापित हुई थीं। बीसवीं शताब्दी के पहले पच्चीस वर्षों तक सूती कपड़ा, जूट और कोयले के उद्योग औद्योगिक क्षेत्रक के मुख्य अंग थे। अंग्रेज़ इनके प्रमुख उद्यमी थे। टाटा आयरन एंड स्टील वर्क्स 1911 में स्थापित किया गया। यह ब्रिटिश उद्यमवृत्ति के अंत की शुरुआत थी। इससे ब्रिटिश उद्यमवृत्ति ने हटना शुरू किया, जिससे देशी उद्यमवृत्ति को उभरने के लिए रास्ता खुला। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के बाद के वर्षों में भारतीय उद्यमियों द्वारा शुरू किए गए उद्योग केवल सूती वस्त्र उद्योग तक सीमित थे। पहला सूती वस्त्र उद्योग पारसी समुदाय के एक सदस्य द्वारा 1854 में स्थापित किया गया था। वह उस समय का एक सफल सूती वस्त्र व्यापारी था। द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान भारत में औद्योगिक विकास तीव्र गति से हुआ। इसका कारण यह था कि समुद्री परिवहन में कमी होने से आयात में भी भारी कमी की गई। माँग की पूर्ति के लिए घरेलू उत्पादन बढ़ाना बहुत जरूरी हो गया। इस पर भी, उद्यमियों का प्रादुर्भाव अपेक्षाकृत कम ही रहा। विद्वानों ने इसका कारण ब्रिटिश नीति या भारतीय सामाजिक संरचना बताया है, जो उद्यमवृत्ति की प्रेरणा उत्पन्न करने में सहायक नहीं हुई। इसके अलावा, कुछ अन्य यथार्थ कारक भी निरोधात्मक भूमिका अदा कर रहे थे। जैसे लोगों की कम क्रय शक्ति के कारण माँग में कमी (क्योंकि उत्पादन के मुकाबले जनसंख्या तेजी से बढ़ रही थी), अकुशल श्रमिक, तकनीकी जानकारी का अभाव, और देशी मशीनरी की कमी आदि। मुख्य रूप से तीन समुदायों अर्थात् पारसियों, गुजरातियों और मारवाड़ियों की पहल से भारतीय उद्यमी वर्ग का आविर्भाव हुआ। व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश करने वाला पहला समुदाय पारसी समुदाय था। पारसी ऐसा समुदाय है, जो हिन्दू जाति व्यवस्था के अंतर्गत नहीं आता है। हमने आपको पहले ही बताया है कि भारत की जाति पर आधारित सामाजिक संरचना केवल सीमित व्यावसायिक गतिशीलता की अनुमति देता है। देश में प्रारंभिक उद्यम विकास का मुख्य लक्षण यह रहा है कि इसने वाणिज्यिक क्षेत्र से विनिर्माण क्षेत्र में प्रवेश किया। पारसी, गुजराती और मारवाड़ी मूलतः व्यापारी थे। गुजराती पहला हिन्दू समुदाय था, जिसने पारसियों के बाद व्यापार के क्षेत्र में प्रवेश किया। वे परम्परागत व्यापारी जातियों के थे। 1911 से 1931 तक औद्योगिक क्षेत्र में पारसियों और गुजरातियों का वर्चस्व बना रहा। इस अवधि के बाद मारवाड़ी समुदाय की उद्यमवृत्ति में असाधारण वृद्धि हुई। मारवाड़ी औद्योगिक उद्यमियों के साहूकार थे। मारवाड़ी औद्योगिक घरानों में बिरला, झुग्गीलाल कमलापति, रुईया, अम्बालाल साराभाई, कस्तूरभाई और कुछ अन्य बहुत महत्वपूर्ण घराने थे।

भारतीय समाज की विशेषता यह है कि यह भिन्न-भिन्न जातियों और समुदायों का मिला-जुला रूप है, उनके अपने-अपने विशिष्ट सामाजिक और व्यावसायिक मानदंड हैं।

इन्होंने देश में विकास की दिशा को प्रभावित किया। यह संभवतः इसलिए हुआ क्योंकि भारतीय उद्यमी वर्ग की संख्या सदा ही परंपरागत व्यापारी वर्ग से कम रही। देश में पर्याप्त व्यावसायिक गतिशीलता आई है। हाल ही के वर्षों में, व्यापार के क्षेत्र में गैर व्यापारी जाति का प्रवेश काफी बढ़ा है। फिर भी, पिछले तीन दशकों में सम्भ्रान्त व्यापारी वर्ग की परंपरागत सामाजिक संरचना में, विशेष रूप से आधुनिक उद्यमवृत्ति में सम्मिलित सामाजिक समूह के संबंध में और देश में उद्यमियों के व्यापार संबंधी कार्यकलाप के स्वरूप में आमूलचूल विचलन हुआ है।

बोध प्रश्न 2

i) लगभग सात पंक्तियों में पूर्व औपनिवेशिक अवधि के विनिर्माण कार्यकलाप से टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) रूढ़िवादी भारत में पूँजीवादी नियोक्ताओं का प्रादुर्भाव न होने के कम से कम तीन कारण दीजिए।

.....

.....

.....

iii) लगभग सात पंक्तियों में भारत में उद्यमी वर्ग के प्रादुर्भाव पर टिप्पणी लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

.....

.....

28.4 उद्यमियों का वर्ग संघटन

उद्यमी वर्ग सामाजिक-आर्थिक सोपानक्रम के उच्च स्तर के होते हैं। वे ऐसे पूँजीवादी हैं, जिनका उत्पादन के साधनों पर पर्याप्त नियंत्रण है। वे औद्योगिक श्रमिकों के नियोक्ता हैं।

भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास से इस वर्ग का अटूट संबंध है और इसे पिछली महत्वपूर्ण विरासत उत्तराधिकार के रूप में मिली है। इसलिए भारतीय पूँजीपतियों के वर्ग के स्वरूप को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हमें भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की महत्वपूर्ण विशेषताओं की जानकारी हो।

अंग्रेजों ने भारत में नई अर्थव्यवस्था लागू की। भारत में उनकी साम्राज्यवादी नीति लागू करने के मुख्य उददेश्यों में से एक उद्देश्य यह था कि भारतीय अर्थव्यवस्था को अपने औपनिवेशिक बाज़ार में परिवर्तित किया जाए। इस नीति का लक्ष्य भारत के प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करना और भारत की देशीय उत्पादनकारी शक्तियों के विकास को रोकना था। इस प्रयास में उन्होंने भारत से कच्चे माल का निर्यात करने और तैयार उत्पादों

यह महत्वपूर्ण है कि अंग्रेज पूँजीपतियों ने अपने औपनिवेशिक आयात और निर्यात व्यापार के अनुकूल सुगठित संपर्क सूत्र विकसित किया। अंग्रेजों ने उन देशी आयातकों और निर्यातकों, दलालों, व्यापारियों, ज़मींदारों और उपभोक्ताओं को शामिल किया जो भारतीय पूँजीपति वर्ग के थे। यह उल्लेखनीय है कि इस अवधि में अंग्रेजों की व्यापारिक पूँजी और देशी उपभोक्ताओं की पूँजी कुछ हाथों में ही सीमित रही। देशी पूँजीपतियों ने इस देश में विदेशी पूँजीपतियों को अपने आर्थिक हितों को सुदृढ़ बनाने में सहायता की। जैसे ही यह नेटवर्क बढ़ा, गाँवों के कारीगरों की दशा कमज़ोर होने लगी और पूँजीपति वर्ग द्वारा इनका दमन और शोषण किया जाने लगा। धीरे-धीरे भारत में व्यापारियों और साहूकारों में से औद्योगिक मध्यम वर्ग विकसित हुआ। परंतु भारतीय मध्यम वर्ग अधिकतर औद्योगिक वर्ग के बदले व्यापार का भागीदार ही बना रहा। एच. वेंकटसुब्बैया ने 1949 में लिखा है कि बड़ा भारतीय मध्यम वर्ग वह वर्ग था, जो औद्योगिक वर्ग के रूप में व्यापारी वर्ग के उभरने की प्रारंभिक अवस्था में भी विद्यमान था। अधिकाँश औद्योगिक घराने व्यापारिक घराने हैं। व्यापार से प्राप्त अधिशेष से नए औद्योगीकरण के लिए पर्याप्त धनराशि मुहैया की जाती थी। दूसरे शब्दों में, उद्योग में पूँजी निर्माण निजी, घरेलू या विदेशी व्यापार में होता रहा। यह प्रक्रिया स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद तक भी जारी रही। उन्हें उद्योग की अपेक्षा व्यापार, परिवहन आदि से अधिक लाभ मिलता रहा।

भारतीय पूँजीपति वर्ग की बुनियादी कमज़ोरी भारत में औपनिवेशिक शासन की समाप्ति पर स्पष्ट रूप में प्रकट हुई। उद्योग के विकास के लिए अपेक्षित उत्पादन के साधनों का पूर्णतः अभाव था। इस्पात और लोहा, कोयला, थोड़े से रसायन आदि के बहुत कम उत्पादन के अलावा भारत में किसी भी वस्तु का उत्पादन नहीं होता था, जिसे उत्पादनकारी उपभोग के लिए दिया जा सके। इस पृष्ठभूमि के आधार पर भारत को अधिकतर विदेशी पूँजी और विदेशी प्रौद्योगिकी पर निर्भर रहना पड़ता था जिसके फलस्वरूप औद्योगिक दृष्टि से विकसित राष्ट्रों से निर्भरता के संबंध बढ़ने लगे। परंतु बड़े भारतीय मध्यम वर्ग आधुनिक प्रौद्योगिकी और पूँजीगत माल उत्पादन करने की अपेक्षा उनका क्रेता बनाना पसंद करते हैं क्योंकि इनके उत्पादन की तुलना में इन्हें खरीदना सस्ता पड़ता था। इसमें देश को बहुत अधिक आर्थिक और राजनीतिक व्यय का भार उठाना होता है। भारतीय पूँजीपतियों ने हमेशा ही विदेशी सहयोग की संकल्पना का स्वागत किया है। यह सत्य है कि भारत औद्योगिक समूहों में बहुराष्ट्रीय उद्यमों का शक्ति सम्पन्न मित्र हैं। और इन औद्योगिक समूहों में सरकार की औद्योगिक नीति संबंधी निर्णयों को प्रभावित करने की क्षमता है।

हाल ही के वर्षों में, भारत के उद्यमी वर्ग के सामाजिक-आर्थिक संघटन में उल्लेखनीय परिवर्तन हुआ है। पहले देश के औद्योगिक क्षेत्र में केवल बड़े मध्यम वर्ग का एकाधिकार था। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत सरकार ने योजनाबद्ध आर्थिक विकास का मार्ग अपनाया। योजनाबद्ध विकास के चार दशकों के बाद भी भारत अभी भी ऐसा देश है जहाँ ग्रामीण और लघु उद्योग की संख्या अधिक हैं। सरकार ने लघु उद्योग और व्यापार के विकास के प्रति अपनी वचनबद्धता दिखाई है। छोटे उद्योगों को प्रोत्साहित करने तथा नया उद्यम वर्ग बनाने के लिए औद्योगिक क्षेत्र स्थापित किए गए हैं। यह नया उद्यमी वर्ग अब उन्नत औज़ार और प्रौद्योगिकी का उपयोग कर रहा है। वे अपने आर्थिक लेन-देन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में अपने संघों के माध्यम से सरकारी सहायता प्राप्त करने के लिए सुसंगठित भी है। यह उल्लेखनीय है कि भारत भी अधिकांश औद्योगिक श्रमिक लघु उद्योग क्षेत्र में लगे हुए हैं और इन क्षेत्रों में कामगार-सहभागिता की प्रवृत्ति बढ़ रही है।

फिर भी, उद्यमी वर्ग के आर्थिक हितों को बड़े मध्यम वर्ग के आर्थिक हितों के विरुद्ध देखा जाना जरूरी नहीं है। भारतीय अर्थव्यवस्था के विकास की महत्वपूर्ण प्रक्रिया के रूप में इसका विश्लेषण किया जाना चाहिए, जहाँ राज्य द्वारा वर्ग हितों को संरक्षण खुले रूप में दिया गया है। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि नया उद्यमी वर्ग पूरी तरह से परंपरागत व्यापारी जातियों से नहीं है। कई प्रौद्योगिकीविद्, शिक्षित युवक, उद्यमी महिलाएँ, चाहे वे किसी भी जातीय पृष्ठभूमि की हों, इस उद्यमी वर्ग के अंग हैं। इसलिए हम श्रमिक वर्ग के आर्थिक हितों की तुलना में उनके आर्थिक हितों का विश्लेषण कर सकते हैं।

बोध प्रश्न 3

सही कथन के सामने सही (√) का निशान लगाइए:

i) भारत में उद्यमी वर्ग प्रतिनिधित्व करता है:

क) सामाजिक-आर्थिक सोपानक्रम के उच्च स्तर का।

ख) सामाजिक-आर्थिक सोपानक्रम के मध्य स्तर का।

ग) सामाजिक-आर्थिक सोपानक्रम के निम्न स्तर का।

घ) उपर्युक्त में से कोई नहीं।

ii) ब्रिटिश आर्थिक नीति का लक्ष्य था:

क) भारतीय अर्थव्यवस्था को औद्योगिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित करना।

ख) भारतीय प्राकृतिक संसाधनों का दोहन करना।

ग) उपर्युक्त (क) और (ख) दोनों सही हैं।

घ) उपर्युक्त में से कोई भी सही नहीं है।

28.5 सारांश

इस भाग में आपने उद्यमी वर्ग के बारे में पढ़ा है। जैसा कि आपने पढ़ा है कि उद्यमी अपने विनिर्माण उद्यम का स्वामी और प्रबंधक, दोनों है। उसमें जोखिम उठाने का साहस है। मोटे तौर पर, उद्यमवृत्ति अध्ययन के तीन उपागम हैं—सामाजिक, मनोवैज्ञानिक और राजनीतिक। हमने इस इकाई में इन दृष्टिकोणों पर चर्चा की है। भारत में औद्योगिक उद्यमवृत्ति उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में शुरू हुई। देश में, शुरू में आम तौर पर उद्यमवृत्ति पर व्यापारी जातियों का वर्चस्व था और खास तौर पर, उनका जो पहले से ही वाणिज्यिक उद्यमों में लगे हुए थे। हमने "भारत में उद्यमी वर्ग का उदय" शीर्षक के भाग में इन सभी पर चर्चा की है। अंत में, हमने भारत में उद्यमी वर्ग के संघटन के बारे में चर्चा की है।

28.6 शब्दावली

स्वनिर्माणकारी: जो बाह्य कारकों के योजनाबद्ध अनुप्रयोग से स्वतः होते हैं।

मानव संसाधन: जो लोगों के गुणों और विशेषताओं से संबंधित हैं।

आधारिक संरचना: उत्पादन के लिए अपेक्षित बुनियादी स्थितियाँ।

कल्पनाशील व्यक्ति: वह व्यक्ति जो कुछ नया करने के लिए अभिप्रेरित हो।

प्रासंगिकता: तर्कों पर आधारित।

अनुकूलनशीलता: परिस्थितियों के अनुकूल समायोजन करने की योग्यता।

आरोपित प्रस्थिति: किस प्रयास के बिना जन्म द्वारा अर्जित प्रस्थिति।

प्राप्त प्रस्थिति: केवल प्रयास के बाद अर्जित प्रस्थिति।

कारीगर: कुशल कामगार, जो खास तौर पर दस्तकारी का काम करता है।

राष्ट्रीय उत्पाद: वर्ष के दौरान देश के कुल उत्पादन का मूल्य।

28.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

किल्बी, पी. 1971, *इंटरप्रीन्योरशिप एण्ड इकॉनोमिक डेवलपमेंट, न्यूयॉर्क*, फ्री प्रेस

सिंघर, एम. 1973, *इंटरप्रीन्योरशिप एण्ड मॉडर्नाइज़ेशन ऑफ ऑक्यूपेशनल कल्चर इन साउथ एशिया*, ड्यूक यूनिवर्सिटी प्रेस।

28.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) (ख)

ii) (क)

iii) (घ)

iv) इस दृष्टिकोण में समाज में उद्यमवृत्ति के स्वरूप और वृद्धि के उत्तरदायी सामाजिक और सांस्कृतिक कारकों पर विचार किया गया है। इसका लक्ष्य इस प्रश्न का उत्तर देना है कि सामाजिक संरचना को अन्य खंडों की अपेक्षा एक खंड अधिक उद्यमियों को क्यों पैदा करता है।

बोध प्रश्न 2

i) भारत के पूर्व औपनिवेशिक अवधि में विनिर्माणकारी कार्यकलाप आंतरिक रूप से कृषि से जुड़े थे। इसलिए बुनाई, मिट्टी के बर्तन बनाने के काम, बढ़ईगिरी, धातुकर्म, आदि जैसे विनिर्माण संबंधी काम कारीगर जातियों के लोग करते थे। वे अपनी सेवाएँ उन उच्च जाति के लोगों को देते थे, जो उन्हें भुगतान वस्तु-रूप में करते थे। यह लेन-देन भिन्न-भिन्न जातियों के पारस्परिक निर्भरता का आधार था, जो उन्हें प्रभुत्व और परस्परता के बंधनों से बांधे रखता था।

ii) महत्वपूर्ण कारण है कि:

   क) जाति पर आधारित सामाजिक पद्धति कारीगरों को समाज में निम्न स्थान प्रदान करती है।

   ख) कारीगरों को ऊपर की ओर बढ़ने में कम अवसर मिलता था।

   ग) उन्हें कम पारिश्रमिक और कम लाभ मिलता था।

iii) भारत में उद्यमी वर्ग का आविर्भाव मुख्य रूप से तीन समुदायों—पारसियों, गुजरातियों और मारवाड़ियों द्वारा हुआ। बड़े व्यापार में सबसे पहले प्रवेश करने वाले पारसी थे। गुजराती पहला हिन्दू समुदाय है, जिन्होंने पारसियों के बाद व्यापार में भाग लिया। 1911 से 1931 तक औद्योगिक क्षेत्र में पारसियों और गुजरातियों का प्रभुत्व रहा। इस अवधि के बाद उद्यमवृत्ति में मारवाड़ी समुदाय की असाधारण वृद्धि हुई।

बोध प्रश्न 3

i) (क)

ii) (ख)

इकाई 29 अभिजन एवं शक्ति की असमानता

इकाई की रूपरेखा

29.0 उद्देश्य
29.1 प्रस्तावना
29.2 अभिजन : अवधारणा एवं संचरण
  29.2.1 अभिजन की अवधारणा
  29.2.2 अभिजन के प्रकार
  29.2.3 अभिजन का संचरण
29.3 भारत में अभिजन
  29.3.1 राजनीतिक अभिजन वर्ग
  29.3.2 उच्च सरकारी अधिकारी अभिजन
  29.3.3 बुद्धिजीवी अभिजन
  29.3.4 व्यापारिक अभिजन
  29.3.5 अभिजन की सामाजिक संरचना
29.4 अभिजन असमानता एवं लोकतंत्र
29.5 सारांश
29.6 शब्दावली
29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

29.0 उद्देश्य

यह इकाई मानव समाज में अभिजन एवं शक्ति की असमानता का विवरण देती है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप:

- अभिजन की अवधारणा एवं इसके संचरण के बारे में जान सकेंगे;
- सामान्य रूप से विकासशील समाज एवं विशेष रूप से भारत के संदर्भ में अभिजन की प्रस्थिति को समझ सकेंगे; और
- असमानता और लोकतंत्र के संबंध में अभिजन की स्थिति का विश्लेषण पर सकेंगे।

29.1 प्रस्तावना

असमानता एक सार्वभौमिक तथ्य है। असमानता का एक स्वरूप आर्थिक हो सकता है जो इस बात में निहित है कि कुछ का उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व होता है तथा दूसरे इससे वंचित होते हैं। असमानता का एक पक्ष सामाजिक भी हो सकता है। सामाजिक असमानता का एक अच्छा उदाहरण भारत की जाति व्यवस्था है। इसके अंतर्गत कुछ जातियाँ उच्च मानी जाती हैं और कुछ अन्य निम्न मानी जाती हैं। राजनीतिक रूप से कुछ लोग अधिक प्रभावशाली होते हैं। कुछ शासक वर्ग के होते हैं, दूसरे शासित वर्ग के। इन असमानताओं का समाज वैज्ञानिकों ने विभिन्न दृष्टिकोणों से विश्लेषण किया है। इस इकाई में असमानता का विश्लेषण मानव समाज में विद्यमान अभिजन के संदर्भों में किया गया है। इसके अंतर्गत सबसे पहले अभिजन की अवधारणा एवं प्रकार की व्याख्या की गई है। इसके बाद इस इकाई में मुख्य अभिजनों जैसे—राजनीतिक अभिजन, उच्च सरकारी अधिकारी, बुद्धिजीवी एवं व्यापारिक अभिजनों की भूमिका एवं स्थिति का विवेचन किया गया है।

29.2 अभिजन : अवधारणा, प्रकार एवं संचरण

अभिजन उपागम (elite approach) का मुख्य सार यह है कि प्रत्येक समाज में जनसंख्या का अल्पसंख्यक अपनी कुछ विशेषताओं के कारण उच्च स्थिति प्राप्त करता है। ये उच्च स्थिति ग्रहण करने वाले ऐसे लोग हैं, जो अपने क्षेत्र जैसें—राजनीति, शासन, शिक्षा तथा व्यापार में विशिष्ट स्थान रखते हैं। यह उपागम वर्ग उपागम का विरोधी है। अभिजन उपागम इस परिकल्पना पर आधारित है कि वर्ग उत्पत्ति या राजनीतिक स्थिति को छोड़कर कुछ ही व्यक्ति शासन करते हैं। वर्ग उपागम इस परिकल्पना पर आधारित है कि अर्थव्यवस्था समाज के ऊपरी ढाँचे को निर्धारित करता है और केवल उत्पादन के साधनों का स्वामी ही शासन करता है जबकि अभिजन उपागम का मानना है कि जिनका उत्पादन के साधनों पर स्वामित्व नहीं है, वह भी अभिजन में सम्मिलित हो सकते हैं। उत्पादन के साधनों का जो स्वामी नहीं है, वह अपनी योग्यता, दक्षता तथा दूसरे विशिष्ट गुणों के कारण अभिजात वर्ग में सम्मिलित हो सकता है। संक्षेप में, अभिजन सिद्धांत इस धारणा पर आधारित है कि शासक, व्यापारी, प्रबंधक, बुद्धिजीवी, श्रम संगठनों के नेता भी शासक अभिजन वर्ग के भाग हो सकते हैं।

अभिजन के अंतर्गत उच्च स्थान धारण करने वाले सत्ताधारी, निर्णय करने वाले एवं निर्णय को लागू करने वाले लोग आते हैं। समाज में उनका उच्च स्थान होता है। समाज का दिशा-निर्धारण वहीं करते हैं। कुछ लोग अभिजन को प्रकृति से दूसरों पर आश्रित, विशेषाधिकार प्राप्त, पृथक तथा शोषण करने वाला समझते हैं। दूसरे अभिजन को गुणवान, उत्तमता और नेतृत्व का प्रतीक तथा आगे चलने वाले वर्ग के रूप में देखते हैं।

29.2.1 अभिजन की अवधारणा

वास्तविक अर्थों में एलिट (अभिजन) एक फ्रेंच शब्द है जिसे अंग्रेजी भाषा में प्रयोग किया गया। पंद्रहवीं सदी से ही जर्मन भाषा में भी अभिजन शब्द का प्रयोग किया गया है। पंद्रहवीं शताब्दी में फ्रॉयसार्न ने इस शब्द को "सर्वश्रेष्ठों में सर्वश्रेष्ठ" के लिए प्रयोग किया। अंग्रेजी भाषा में लार्ड बाइरन ने सर्वप्रथम इस शब्द का प्रयोग अपनी काव्य रचना, "डॉन जुआन" में किया था।

"अभिजन" शब्द का प्रयोग विकसित एवं विकासशील देशों में समान रूप में होता है। सर्वश्रेष्ठता, सम्मान एवं शक्ति इसके तीन मुख्य विचार हैं जो, सामान्यतः इसके साथ संबंधित हैं। आर. विल्सकिल्सन ने अभिजन की व्याख्या का एक विशिष्ट समूह के रूप में की है। जिनका अपने समुदाय में उच्च स्थान होता है तथा ये लोग हर समूह भावना, सामान्य प्रकृति एवं शैली से एक-दूसरे से जुड़े होते हैं। यहाँ पर हम अभिजन को सामान्य रूप से एक अल्पसंख्यक समूह या समाज के अंतर्गत व्यक्तियों के वर्ग के रूप में परिभाषित कर सकते हैं। कुछ अर्थों में जिनको सर्वश्रेष्ठ के रूप में सामाजिक रूप से मान्यता प्राप्त होती है जो समूह समाज के कुछ या पूरे भाग को प्रभावित या नियंत्रित करता है, उसे अभिजात की संज्ञा दी जाती है। अधिक वर्ग में वे अल्पसंख्यक लोग हैं जो अपनी श्रेष्ठता के कारण शेष समाज से अलग समझे जाते हैं।

अभिजन अध्ययन का मुख्य उद्देश्य समुदाय में शक्ति की संरचना का विश्लेषण करना है। यह मुख्य रूप से समाज में राजनीतिक सत्ता के वितरण के प्रश्न से संबंधित है। पैरेटो ने अपनी पुस्तक 'माइन्ड एंड सोसाइटी' में बताया है कि व्यक्ति जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में सम्मान एवं स्थिति के मामलों में भिन्न होता है। उदाहरण के लिए, एक वकील जिसको अपने कार्य में उच्च सम्मान मिलता है। एक या दो परिवार ऐसे भी हैं जो व्यापार एवं उद्योग में सबसे धनी हैं। इसी तरह विद्वत्ता के क्षेत्र में कुछ व्यक्ति उच्च स्तर पर हैं। पैरेटो इन उच्च स्थान प्राप्त व्यक्तियों या समूहों को समाज के अभिजन से संबोधित करता है। अभिजन की अवधारणा का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक समाज दो वर्ग के व्यक्तियों या समूहों में विभाजित है—शासक वर्ग एवं जनता। शासक अभिजन वह वर्ग है जिसके पास शक्ति होती है और साधारण जनता वह है जिसके पास राजनीतिक शक्ति नहीं होती है। मेस्का के अनुसार, अभिजन एक संगठित अल्पसंख्यकों का समूह है जो असंगठित बहुमत पर शासन करता है। मेस्का ने अपनी पुस्तक 'द रूलिंग क्लास' में इसी विचार का विस्तार इस बात पर जोर देकर किया है कि प्रत्येक समाज में दो वर्ग होते हैं—एक वर्ग शासन करता है,

दूसरा शासित होता है। प्रथम वर्ग, सदैव ही संख्या में कम होता है। राजनीतिक कार्यों को सम्पादित करता है, सत्ता पर एकाधिकार स्थापित करता है और इस शक्ति का लाभ उठाता है। दूसरा वर्ग, सामाजिक संरचना में अधिक होता है, लेकिन निर्देशित एवं नियंत्रित होता है। इस तरह अभिजन व्यक्तियों का एक समूह है जो उच्च पदों पर आसीन होते हैं, समाज द्वारा श्रेष्ठ समझे जाते हैं तथा विशेषाधिकार प्राप्त एवं विशिष्ट होते हैं तथा वे संपूर्ण समाज के लिए मानक तैयार करते हैं। अभिजन तुलनात्मक रूप से कम, संगठित समूह हैं, जो वैधानिक या अवैधानिक रूप से दूसरे समूहों पर अधिकार का प्रयोग करते हैं। वे वास्तविक निर्णय निर्धारक हैं। उनको उच्च राजनीतिक सत्ता एवं प्राधिकार प्राप्त हैं। इस तरह अभिजात वर्ग की धारणा समाज से सत्ता की संरचना का विश्लेषण करने में सहायता प्रदान करती है।

29.2.2 अभिजनों के प्रकार

अभिजनों को दो प्रकार से विभाजित किया जाता है जैसे—रणनीति संबंधी (strategic) एवं खंड संबंधी (segmental) अभिजन अपने परस्पर शाखाओं में विभाजित होते हैं जैसे—सांस्कृतिक अभिजन, आर्थिक अभिजन, सामाजिक अभिजन आदि। रणनीति संबंधी अभिजन वह समूह है, जिसके निर्णय एवं क्रिया समाज के बहुत से सदस्यों के लिए निर्धारित परिणाम होते हैं। रणनीति संबंधी अभिजन एक छोटा समूह होता है, सी. राइट मेल्स के शब्दों में, जिसे "शक्ति अभिजन" (power elite) कहा जाता है। शक्ति अभिजन से तात्पर्य उस राजनीतिक, आर्थिक एवं युद्ध संबंधी उच्च समूहों से है जो एक-दूसरे से मेले हुए खंडों के क्लिष्ट श्रेणी (intricate set) के रूप में कम से कम राष्ट्रीय स्तर के निर्णयों में भाग लेते हैं। सी. राइट मिल्स ने लिखा है कि अमेरिकी समाज में सेना का अध्यक्ष, मुख्य सेना अधिकारी एवं राजनीतिक नेता शक्ति अभिजन के केंद्र-बिंदु हैं। वे एक संगठित समूह का निर्माण करते हैं। उनकी एक प्रकार की सामाजिक पृष्ठभूमि है। जैसे—वे उच्च या उच्च मध्य वर्गीय वर्ग से संबंधित हैं। उनका जीवन अवसर एवं जीवन शैली एक ही जैसे हैं। उनका एक दूसरे से घनिष्ठ संबंध होता है। इन अभिजनों के बीच पारिवारिक संबंध होते हैं।

सेना का अध्यक्ष व्यापार या राजनीतिक व्यवस्था की तरफ बहुत जल्दी बढ़ते हैं। यह शक्ति अभिजन समस्त महत्वपूर्ण मुद्दों को निश्चित करता है एवं जनता को चापलूसी, धोखे और मनोरंजन के द्वारा नियंत्रित करता है। रणनीति संबंधी अभिजन समाज के बहुत से सदस्यों पर अपनी सत्ता का प्रयोग करते हैं जबकि शक्ति अभिजन राष्ट्र के लिए निर्णय निर्धारक होते हैं। उदाहरण के लिए, अमेरिका भारत में हथियारों की आपूर्ति करेगा या आणविक हथियारों के उत्पादन में कटौती करेगा। यह सब निर्णय अमेरिका के शक्ति अभिजन द्वारा लिए जाते हैं। शक्ति अभिजन को शासक अभिजन एवं गैर-शासक अभिजन में विभाजित किया जा सकता है। शक्ति अभिजन से तात्पर्य उन लोगों से है जो देश का शासन प्रत्यक्ष रूप से करते हैं। मंत्री, संसद सदस्य सक्रिय स्थानीय प्रतिनिधि, उच्च स्तरीय सरकारी अधिकारी, सचिवालयों के सदस्य एवं शासन करने वाले दलों के नेता शासक अभिजन के उदाहरण हैं। गैर-शासक अभिजन वह है जो शासक अभिजन को प्रभावित करने योग्य होते हैं। राष्ट्रीय नेताओं के विभिन्न वर्ग जिसमें विरोधी दलों के नेता, ट्रेड यूनियन नेता, व्यापारिक नेता, बड़ी कंपनियों के निदेशक एवं बुद्धिजीवी आदि गैर-शासक अभिजन के उदाहरण हैं।

बॉटोमोर ने अपनी पुस्तक "एलिट एंड सोसाइटी" में अभिजन के पाँच आदर्श-प्रकार को बताया है। (i) वंशानुगत अभिजन, (ii) मध्य वर्गीय वर्ग, (iii) क्रांतिकारी बुद्धिजीवी वर्ग, (iv) औपनिवेशिक प्रशासक, एवं (v) विकासशील समाजों के राष्ट्रवादी नेता। आइए, इस प्रारूप को भारतीय समाज के संदर्भ में दिग्दर्शन करें।

अंग्रेजों ने भारत में 1947 से पहले औपनिवेशिक प्रशासकों के एक वर्ग का निर्माण किया। रियासतों के राजा भारत में वंशानुगत अभिजन थे। राजाओं एवं महाराजाओं को हटा दिया गया क्योंकि लोकतांत्रिक भारत में उनकी भूमिका समीचीन नहीं है। ब्रिटिश राज के दौरान उन्होंने यथास्थिति को स्थापित करने में बहुत ही रुचि दिखाई। सामाजिक तथा आर्थिक परिवर्तन लाने में कम रुचि दिखाई। औपनिवेशिक प्रशासकों ने एक प्रभावशाली शासन की स्थापना की। आधुनिक शिक्षा की नींव डाली। आधुनिक बैंकिंग एवं वाणिज्य का विकास किया। यातायात और संचार के आधुनिक साधनों का प्रयोग किया। लेकिन वे

औपनिवेशिक शक्ति के हित की रक्षा अधिक करना चाहते थे। इस कारण भारत में औद्योगीकरण न हो सका।

भारत में स्वतंत्रता आंदोलन के प्रथम चरण में क्रांतिकारी बुद्धिजीवी वर्ग था लेकिन आज बुद्धिजीवियों एवं राजनीतिक नेताओं के मध्य एक बड़ी खाई है। इस तरह इन अभिजनों की स्वायत्तता सीमित है, उनका महत्व इस बात में है कि वे शासक अभिजन की शक्तियों पर नियंत्रण स्थापित कर सकते हैं।

29.2.3 अभिजन वर्ग का संचरण

अभिजन एक परिवर्तनशील सामाजिक वर्ग है। अभिजन में उतार-चढ़ाव आता रहता है। पैरेटो इस तथ्य को अभिजन का संचरण करते हैं। इसका तात्पर्य शासक एवं शासित अभिजन के मध्य व्यक्तिगत संचरण की प्रक्रिया से है जिसमें एक अभिजन दूसरे अभिजन का स्थान ले लेता है। यह कहा गया है कि "इतिहास कुलीन तंत्रों की कब्र है।" शासक चाहे राजा हो या निर्वाचित प्रतिनिधि या सेना का शासक, आते-जाते रहते हैं। सन् 1947 तक ब्रिटिश ताज ने भारत पर शासन किया। स्वतंत्रता से भारतीय राजनीतिक नेता भारत में शासक अभिजन बन गए। शासक अभिजन के विभिन्न समूहों में संचरण हो सकता है। उदाहरण के लिए, एक उच्च स्तरीय अधिकारी राजनीतिक अभिजन की स्थिति प्राप्त कर सकता है। इसके विपरीत अभिजनों एवं शेष जनसंख्या के मध्य संचरण हो सकता है जो निम्न दो रूपों में से कोई भी एक रूप ग्रहण कर सकता है:

i) निम्न स्तर के व्यक्ति, अभिजन में सम्मिलित हो सकते हैं, या

ii) निम्न स्तर के व्यक्ति नए अभिजनों का निर्माण कर सकते हैं जिनका पूर्व अभिजनों के साथ शक्ति के लिए संघर्ष चलता रहता है।

भारत में हरिजन अभिजनों का उदय नए अभिजनों के उदय का सबसे अच्छा उदाहरण है। कुछ महिलाएँ भी एक नए अभिजन के रूप में उभरी हैं। क्षेत्रीय राजनीतिक दलों के नेता भी स्वतंत्र भारत में उभरते हुए अभिजनों के दूसरे उदाहरण हैं।

पैरेटो अभिजन के संचरण को मनोवैज्ञानिक तत्वों के द्वारा विश्लेषित करते हैं। मनोवैज्ञानिक तत्वों को मस्तिष्क की अवस्था विचारों की भावनाओं तथा भावुकता में परिवर्तन के द्वारा बताया गया है। मेस्का ने अभिजनों के संचरण की सामाजिक व्याख्या प्रस्तुत की है। वह इस संचरण को सामाजिक स्थिति में परिवर्तन के संदर्भ में प्रस्तुत करता है। उसका मानना है कि अभिजनों का उतार-चढ़ाव समाज में विकसित नई रुचि एवं आदर्शों का परिणाम है। साथ ही साथ, नई समस्याओं के उदय का भी सूचक है। उदाहरण के लिए, यदि समाज में धन का नया स्रोत जन्म लेता है तो स्वतः शासक वर्गों के अंदर परिवर्तन आने लगता है। रोजेन्थल, जिसके विचार भारतीय अनुभव पर आधारित हैं, ने अनुभव किया कि ब्राह्मण एवं जाटव की भागीदारी में वृद्धि हुई है और आगरा नगरपालिका की राजनीति एवं पूना में बनियों की भागीदारी में ह्रास हुआ है। ब्राह्मणों के सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व को गैर ब्राह्मणों के, विशेष रूप से मराठों के राजनीतिक और सरकार से सदियों से आश्रित होने के बाद बृहत् स्तर पर प्रवेश ने तोड़ दिया है। जबकि बहुत से बौद्धिक एवं कुछ आर्थिक साधन ब्राह्मण के ही हाथों में हैं। मराठों को वर्तमान समय में राज्य में उच्च स्थान मिला है।

बोध प्रश्न 1

i) अभिजन की तीन पंक्तियों में परिभाषा लिखिए।

.....

.....

.....

ii) रणनीति से संबंधित अभिजन कौन से हैं? इनके विषय में तीन पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

iii) अभिजन के संचरण से आपका क्या तात्पर्य है? इसके बारे में चार पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

29.3 भारत में अभिजन वर्ग

भारत में अभिजन के विषय में टी.बी. बॉटोमोर ने बताया है कि राजनीतिक नेता और उच्च सरकारी पदाधिकारी भारतीय समाज में निश्चित रूप से महत्वपूर्ण हैं। उनके अनुसार दूसरे समूह जैसे बुद्धिजीवी भी अभिजन के रूप में ध्यान देने योग्य हैं।

29.3.1 राजनीतिक अभिजन वर्ग

राजनीतिक अभिजन ने समाज में अपने को सबसे शक्तिशाली बनाने में महत्वपूर्ण कदम उठाया है। विशेष रूप से राजनीतिक अभिजन राष्ट्रीय स्तर पर शक्ति के कुलीनतंत्रीय विचार की तरफ बढ़ा है जिसके कारण राष्ट्रीय स्तर पर सत्ता कुछ राजनीतिक अभिजनों के हाथों में सीमित हो गई है। राजनीतिक अभिजन ने अपने मध्य तथा जनता के बीच घनिष्ठ संबंध को दिखाया है। वे मुख्य नीति निर्धारक हैं। एन.के. सिधी का मानना है कि नौकरशाह नहीं बल्कि राजनीतिक नेता भारत में वास्तविक शासक अभिजन हैं। अपनी अंतिम निर्णय निर्धारण शक्ति के कारण वे बहुत से पार संवैधानिक शक्तियों को विवेकाधीन शक्तियों के रूप में प्रयोग करते हैं। कैबिनेट मंत्री को मुख्य नीतियों के निर्माण की शक्ति प्राप्त है और इसका अनुपालन नौकरशाही के द्वारा होता है।

29.3.2 उच्च सरकारी पदाधिकारी अभिजन

अब हम दूसरे सामाजिक समूह, उच्च सरकारी पदाधिकारियों को लेते हैं। जिसे मैक्स वेबर आधुनिक समाज का बढ़ता हुआ शक्तिशाली अभिजन मानते हैं। वेबर के अनुसार–सत्ता में सम्मिलित नौकरशाह के साथ आधुनिक राज्य राजनीतिक संगठनों के सभी साधनों को नियंत्रित करेगा।

वेबर का विश्वास है कि सामान्य स्थिति में पूर्ण विकसित नौकरशाही की शक्ति स्थिति सदैव ही प्रबल होती है। "राजनीतिक स्वामी" प्रशिक्षित पदाधिकारी जो प्रशासन की व्यवस्था में दक्ष है, उनके सामने अपने को नौसिखिया समझता है।

i) राजनीतिक एवं प्रशासकीय अभिजन के मध्य अंतःसंबंध

यहाँ शक्ति पृथक्करण एवं राजनीतिक नेताओं एवं उच्च पदाधिकारियों के मध्य कार्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। शक्ति पृथक्करण के पीछे यह भावना थी कि यह देश के सामाजिक-आर्थिक विकास में वृद्धि करेगा। शांति कोठारी एवं रामाश्रय रॉय ने अपनी पुस्तक–'रिलेशन्स बिटवीन पोलिटिशियन्स एंड एडमिनिसट्रेटर्स एट द डिस्ट्रेक्ट लेवल'' में लिखा है कि सिद्धांत एवं व्यवहार में काफी अंतर है। उन्होंने लिखा है कि राजनीतिक नेता शासकों से प्रायः अनुचित माँग करते हैं और अपनी माँगों को पूरा करवाने के लिए प्रशासकों पर विभिन्न प्रकार के दबाव डालते हैं। जब वे इस माँग को पूरा करवाने में असमर्थ होते हैं तो उनके विरुद्ध जवाबी कार्यवाही के द्वारा अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हैं। प्रशासकों एवं राजनीतिक नेताओं के मध्य में तनाव एवं संघर्ष की स्थिति की संभावना बनी रहती है। यह स्थिति केवल भिन्न मान्यताओं की प्रतिबद्धता के कारण ही नहीं होती बल्कि भूमिका अवधारणा में स्थिति में विशिष्ट पक्षपात के कारण भी होती है। वे एक दूसरे को पारस्परिक रूप से स्वीकार नहीं करते। दूसरे मूर्धन्य इतिहासकार, बी.बी. मिश्रा ने अपनी पुस्तक–"द ब्यूरोक्रेसी इन इंडिया" में लिखा है कि–"स्थापित नियमों के ढाँचे के अंतर्गत कार्य करना शायद स्वार्थी एवं अपरिपक्व राजनीतिज्ञों के समझ के बाहर की बात है। वे विधि की अपेक्षा विवेक से शासन करने के लिए पैदा हुए हैं।"

दो अभिजन समूह राजनीतिक नेता एवं उच्च सरकारी पदाधिकारी—भारत में शासक अभिजन का निर्माण करते हैं। आर्थिक विकास एवं सामाजिक परिवर्तनों के संदर्भ में नौकरशाह अपने दृष्टिकोण एवं व्यवहार में **तार्किक लोग** समझे जाते हैं। एक ओर उनका संबंध राजनीतिक अभिजन वर्ग के साथ होता है तो दूसरी ओर बुद्धिजीवियों के साथ।

29.3.3 बुद्धिजीवी अभिजन

टी.बी.बॉटोमोर ने लिखा है कि समस्त "शिक्षित" समाज में बुद्धिजीवी विज्ञान, प्रविधि एवं आर्थिक व्यवस्था में दक्ष रूप में या वक्ता के रूप में, लोकतांत्रिक शासन में सामाजिक सिद्धांत एवं विचार के निर्माण और अभिव्यक्ति के लिए उत्तरदायी होते हैं। उनकी भूमिका महत्वपूर्ण होती है। वे आधुनिक समाज में अत्यधिक प्रभावशाली होते हैं। विकासशील समाज के संदर्भ में उनकी भूमिका को आधुनिक विज्ञान एवं प्रविधि के दक्ष के रूप में विशिष्ट स्थान मिला है। यहाँ तक बौद्धिक नेता के रूप में वे मौलिक आंदोलन को सामाजिक परिवर्तन के लिए प्रेरित कर सकते हैं। आइए, इन समूहों का विस्तारपूर्वक विश्लेषण करें।

बुद्धिजीवी वर्ग सामान्यतः अभिजन का एक छोटा समूह है जो प्रत्यक्ष रूप से विचारों के निर्माण, प्रसारण एवं आलोचना में योगदान देते हैं। इनमें, लेखक, कलाकार, वैज्ञानिक, दर्शनशास्त्री, धार्मिक विचारक, सामाजिक सिद्धांतकार, राजनीतिक टिप्पणीकार, अध्यापक एवं पत्रकार सम्मिलित हैं। बुद्धिजीवी वर्ग अधिकतर सभी समाजों में पाए जाते हैं। प्राचीन चीन में विद्वान लोगों ने सेनाधिकारी से मुलाकात करके इस प्रकार के शासन करने वाले समूह का निर्माण किया। विकसित समाज में विशेष रूप से फ्रांस में बुद्धिजीवियों ने समाज के आलोचक के रूप में अपने को स्थापित किया। बुद्धिजीवियों को किसी भी सामाजिक समूह से बहुत अधिक तटस्थ तथा उनके समाज को तुलनात्मक रूप से पूर्ण एवं वस्तुनिष्ठ विचार देने में समर्थ समझा जाता है। सामान्य सामाजिक हितों के लिए स्वतंत्र रूप से कार्य करने योग्य समझा जाता है। फ्रांस के बुद्धिजीवियों का सामाजिक सम्मान अधिक है। राजनीतिक जीवन के व्यावहारिक एवं प्रशासकीय पहलुओं से वे कम संबंधित हैं एवं अपने समाज के बहुत अधिक कटु आलोचक हैं।

एडवर्ड शिल ने 'एलिट्स इन साउथ एशिया' में लिखा है कि भारत में बुद्धिजीवी वर्ग जनता के नेता के रूप में कार्य करता है और उनमें से एक के रूप में कभी कार्य नहीं करता। नेता, गुरु तथा हर विवेक का प्रतीक है जिसके बोले हुए शब्द को अंतिम समझा जाता है। वह आशा करता है कि जनता उसका पालन करेगी। यहाँ तक कि यदि वह उसको समझती भी न हो तो भी समस्त समस्याओं के लिए उसके पास परामर्श के लिए आए। बुद्धिजीवी वर्ग दूसरे समूहों के अभिजनों के साथ संबंध के भाव विकसित नहीं कर पाए, जिन्होंने भारतीय राजनीति, अर्थव्यवस्था एवं संस्कृति पर शासन किया। अखिलेश्वर झा ने अपने लेख—"इंटेलेच्युअल्स एट द क्रास रोड' में लिखा है कि भारत में बुद्धिजीवियों को सलाहकार एवं परामर्शदाता के रूप में केंद्रीय सरकारी कार्यालयों की तरफ आकर्षित होना चाहिए। यह तभी संभव है जब बुद्धिजीवी दिल्ली में रहे। राजनीतिक सत्ता की दहलीज के निकट हो तथा विभिन्न स्तरों पर शासकों के साथ उसका मैत्रीपूर्ण संबंध हो।

भारत में बुद्धिजीवियों को किसी भी प्रकार के आलोचक के रूप में नहीं पहचाना जा सकता। वे न तो निर्माणकर्ता हैं और न ही भारत में किसी भी सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक या सांस्कृतिक आंदोलन के सक्रिय समर्थक हैं। सामान्य रूप में वे अपने को सक्रिय राजनीति से अलग रखते हैं। अध्ययनों से यह निष्कर्ष निकलता है कि दूसरे समाजों की तरह भारत में भी बुद्धिजीवियों ने अब तक शासक अभिजन का निर्माण नहीं किया। वे अब परंपरागत सामाजिक संस्थाओं से संबंधित आधारभूत मुद्दों के बारे में वाद-विवाद नहीं करते, जो कभी-कभी सामाजिक विकास में बाधा उत्पन्न करते हैं। वे वर्तमान समाज में पहले की अपेक्षा कम मौलिक हैं। भारत में बुद्धिजीवियों के बीच विचार एवं कार्य की एकता की कमी है। वे सामाजिक-आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन के अच्छे संगठन के बारे में नए विचार एवं चिंतन प्रस्तुत करने में असमर्थ हैं। वर्ग की तरफ झुकाव के संबंध में नए बुद्धिजीवी वर्ग में असमानता नहीं है। आई. पी.देसाई ने अपने कार्य—टुवर्डस ए सोशिआलोजी ऑफ कल्चर इन इंडिया में लिखा है कि भारत के नए बुद्धिजीवी पश्चिम से प्रभावित भारतोन्मुख सिद्धांत की रचना है। उन्होंने लिखा है कि नए भारतीय बुद्धिजीवियों के एक भाग में पश्चिमीकरण का झूठा भाव है। उनको तो शक्ति एवं सम्मान प्राप्त है

लेकिन अपने दृढ़ परंपरागत विश्वासों एवं सामाजिक-राजनीतिक विचार में विशिष्ट, योगदान देने की अयोग्यता के कारण वे वास्तविक शैक्षिक प्रभाव से नगण्य हैं।

29.3.4 व्यापारिक अभिजन

टी.बी. बॉटोमोर ने अपनी पुस्तक एलिट्स एवं सोसाइटी में लिखा है कि प्रबंधकों का वर्ग एक नए अभिजन के रूप में उभरना चाहता है। भारत के प्रसंग में व्यापारिक अभिजन की स्थिति इसके विपरीत राजनीतिक एवं नौकरशाह अभिजन के विषय में अंतर्राष्ट्रीय वित्त निगम के उपाध्यक्ष सर विलियम रीरी (Ryrie) ने बड़े ही स्पष्ट रूप से बताया है। उनका कहना है कि भारत में सर्वाधिक रचनात्मक उद्योगपति, सर्वाधिक गतिशील व्यापारिक नेता एवं विश्व का सबसे बुद्धिमान वित्तीय मस्तिष्क है। व्यापारिक अभिजन भारत ने शासक अभिजन का एक हिस्सा बनने में सफल नहीं हो सका। यह स्थिति पश्चिम से बड़ी ही भिन्न है जहाँ बुर्जुआ वर्ग एक शक्तिशाली समूह के रूप में विकसित हुआ है। भारत में इसकी असफलता के कारण इस प्रकार हैं: वे संख्या में कम हैं एवं आर्थिक रूप से कमजोर हैं। राजनीतिक नेताओं ने भी मिश्रित अर्थव्यवस्था के रूप में सार्वजनिक उद्योगों को बढ़ावा देकर उनकी शक्ति को कम किया है। आर्थिक योजना के द्वारा आर्थिक परिवर्तन लाने की प्रक्रिया ने भी व्यापारिक समूह की शक्तियों को सीमित किया है।

29.3.5 अभिजन की सामाजिक संरचना

भारत में अभिजन की सामाजिक संरचना पर किए गए अध्ययनों से पता चलता है कि वर्तमान वर्षों में इसमें काफी परिवर्तन आया है फिर भी उच्च वर्ग की दूसरों के ऊपर शक्ति बनी हुई है। संवैधानिक ग्राम पंचायतों की शुरुआत से ग्रामीण क्षेत्रों में शक्ति विभाजन में महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। देश के बहुत से भागों में निम्न जातियों को भी महत्वपूर्ण सत्ता की स्थिति प्राप्त है। राज्य स्तर पर, यद्यपि उच्च जातियों का विधान सभाओं में बहुत अधिक प्रतिनिधित्व है लेकिन पिछड़ी जातियों में विशेष रूप से जाटवों, यादवों एवं कुर्मियों ने भी सत्ता की स्थिति प्राप्त करने में अत्यधिक सफलता दिखाई है। अनुसूचित जातियों के बीच, चमार जाति को विभिन्न राज्यों की राजनीति में बहुत सफलता मिली है। सरकारी सेवाओं और चुनावी प्रतिनिधित्व दोनों में आरक्षण ने अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों को उच्च सरकारी पदाधिकारी एवं राजनीतिक नेता बनने में सफलता प्रदान की है। सरकार के द्वारा विशेष सुविधा प्रदान किए जाने के परिणामस्वरूप, कुछ हरिजनों में उर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता आई है।

सच्चिदानन्द उनको "हरिजन अभिजन" के नाम से पुकारते हैं। ये अभिजन कुछ शिक्षित हरिजन सामाजिक कार्यकर्त्ता हो गए और दूसरे राजनीतिक नेताओं के रूप में उभरे और विधान सभाओं और राष्ट्रीय संसद में प्रवेश किया। सच्चिदानन्द ने बिहार में हरिजन अभिजन की भूमिका पर अध्ययन किया और पाया कि कुछ अपवादों को छोड़कर, बहुत से मामलों में अभिजन का बहुमत किसी भी प्रकार से अपने समुदाय की समस्याओं से जुड़े हुए नहीं हैं। वे समाज के नीचे स्तर में जीवनयापन करने वाले अपने ही सदस्यों को ऊपर उठाने के लिए रुचि नहीं लेते। इस तरह के अभिजन या तो अपनी स्थिति मजबूत करने में लगे हैं या इसको और उठाने का प्रयास कर रहे हैं। यही स्थिति भारत में जनजाति अभिजन की भी है।

बोध प्रश्न 2

i) भारत में शासक अभिजन कौन से हैं? पाँच पंक्तियों में उत्तर दें।

.....

.....

.....

.....

.....

ii) सही उत्तर पर (✓) का निशान लगाइए–

क) भारत में शासक अभिजन का एक हिस्सा बनने में सफल हुआ है।

ख) भारत में शासक अभिजन का एक हिस्सा बनने में सफल नहीं हुआ है।

ग) भारत के कुछ राज्यों में शासक अभिजन का एक हिस्सा बनने में सफल हुआ है।

घ) सभी सही है।

29.4 अभिजन, असमानता एवं लोकतंत्र

मार्क्स ने दृढ़तापूर्वक स्वीकार किया है कि असमानता का सिद्धांत निजी संपत्ति की संस्था में निहित है जिसमें उनके मालिकों द्वारा संपत्ति के साधनों के स्वामियों के बीच विभाजन है। इनका कहना है कि निजी संपत्ति की समाप्ति समानता को जन्म देगी। जबकि बॉटोमोर का कहना है कि मार्क्स ने समाज में उत्पन्न निश्चित स्थितियों के अंतर्गत नई सामाजिक श्रेष्ठताओं एवं नए शासक वर्ग के उदय को ध्यान में नहीं रखा है। उन्होंने रूसी समाज का उदाहरण दिया है, जहाँ सर्वहारा वर्ग की तानाशाही को आधुनिक साम्यवादियों द्वारा बड़े ही मंगल भाषा में सर्वहारा वर्ग की शक्ति कहा जाता है, ने दल की तानाशाही का स्थान ले लिया है। रेमंड आरन (1950) यह स्वीकार करते हैं कि सिद्धांत में विभिन्न प्रकार की वर्ग रहित समाज संभव है। वह परामर्श देते हैं कि सत्ता के एकाधिकार को व्यक्तियों के समूह के हाथों में देने से बचने के लिए यह आवश्यक है कि सत्ता के बहुत से केंद्रों को स्थापित किया जाए या दूसरे शब्दों में समानता सत्ता के विकेंद्रीकरण की प्रक्रिया द्वारा ही संभव है। देखने से यह प्रतीत होता है कि अभिजन की अवधारणा लोकतंत्र के विरुद्ध है। लोकतंत्र का तात्पर्य है जनता की सरकार, जनता के लिए और जनता के द्वारा बनाई गई सरकार। लेकिन व्यवहार में प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा चलाई गई सरकार असंभव है। यह जनता के चुने हुए प्रतिनिधि हैं जो राजनीतिक क्षेत्र में निर्णय निर्धारण शक्ति का प्रयोग करते हैं। वर्तमान प्रवृत्तियों से पता चलता है कि कुलीनतंत्रीय प्रवृत्तियों अर्थात् जनता का एक छोटा-सा वर्ग अभिजन का निर्माण करता है। इस प्रवृत्ति को 'कुछ के हाथों राजनीतिक शक्तियों का केंद्रीकरण' के नाम से जाना जाता है। इसको वर्तमान राजनीतिक प्रवृत्तियों का पर्यवेक्षण करके समझा जा सकता है। भारत में अधिकतर राजनीतिक निर्णय सत्ताधारी राजनीतिक दलों के नेताओं द्वारा लिए जाते हैं। मुख्य रूप से कैबिनेट मंत्रियों द्वारा ही दिल्ली में महत्वपूर्ण निर्णय लिए जाते हैं।

अभिजन की अवधारणा लोकतंत्र एवं समाजवाद की अवधारणा की आलोचना के रूप में उभरी। अभिजन का सिद्धांत के अनुसार संगठित अल्पसंख्यक वास्तविक निर्णय लेता है जिसका मुख्य उद्देश्य लोकप्रिय संप्रभुत्ता की भ्रांति का खंडन करना था। लोकतंत्र में सरकार निश्चित रूप से जनता की है। यह जनता के लिए भी हो सकती है लेकिन जनता के द्वारा प्रत्यक्ष रूप से शासित नहीं होती बल्कि शासक वर्ग के द्वारा चलाई जाती है। अभिजन का सिद्धांत समाजवादियों के काल्पनिक विधिक का भी खंडन करता है जिसके अनुसार वर्गहीन, समानता पर आधारित समाज उस वर्ग संघर्ष का अनिवार्य परिणाम है जो समस्त पूर्व इतिहास हुए हैं।

अभिजनवादी मार्क्स के सिद्धांत से एक महत्वपूर्ण मामले में भिन्न है। अभिजनवादी का मानना है कि इतिहास की निर्णायक शक्ति राजनीति है जबकि मार्क्स इस बात पर जोर देता है कि इतिहास की निर्णायक शक्ति अर्थव्यवस्था है। दूसरे शब्दों में, अर्थव्यवस्था राजनीति को निश्चित करती है। अभिजनवादी राजनीति की स्वतंत्रता पर बल देता है और उनका कहना है कि राजनीति अर्थव्यवस्था को निर्देशित कर सकती है।

बोध प्रश्न 3

सही उत्तर पर (✓) का निशान लगाएं :

i) वर्तमान प्रवृत्तियों से पता चलता है कि भारत में लोकतंत्र के कार्यान्वयन में--

क) कुछ लोगों के हाथों में राजनीतिक सत्ता केंद्रीभूत होती है।

ख) सत्ता केंद्रीभूत नहीं होती।

ग) देश के उत्तरी भाग में सत्ता केंद्रीभूत होती है, दक्षिणी भाग में सत्ता का विकेंद्रीकरण होता है।

घ) सभी सही हैं।

ii) मार्क्सवादियों से अभिजनवादी किस प्रकार भिन्न हैं? उत्तर छह पंक्तियों में लिखिए।

.....

.....

.....

.....

.....

29.5 सारांश

इस इकाई में हमने मानव समाज में प्रचलित असमानता का विश्लेषण करने के लिए अभिजन की अवधारणा का परीक्षण किया है। शुरू में हमने अभिजन की अवधारणा, प्रकार एवं परिभ्रमण के विचार का विवेचन किया है। हमने राजनीतिक अभिजन, उच्च सरकारी पदाधिकारियों, बुद्धिजीवियों एवं व्यापारिक अभिजनों की भूमिका एवं स्थिति को भारत के विशेष संदर्भ में बताया है। अभिजन की सामाजिक संरचना का भी वर्णन किया गया है। अंत में, हमने अभिजन की अवधारणा को अंतः संबंधित कारकों संदर्भ जैसे असमानता एवं लोकतंत्र के संदर्भ में विवेचन किया है।

29.6 शब्दावली

वर्ग: व्यक्तियों का ऐसा समूह जिनकी विशेषताएँ एक जैसी होती हैं। ये विशेषताएँ आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक हो सकती हैं।

कुलीनतंत्र : कुछ लोगों का शासन।

शक्ति : दूसरों को प्रभावित या नियंत्रित करने की क्षमता।

29.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बॉटोमोर टी.बी. 1975 : *सोश्योलॉजी एज ए सोशल क्रिटिसिज्म* लंदन : जार्ज एलेन एंड अनवीन लिमिटेड।

सच्चिदानंद, एस. 1977 : *द हरिजन एलिट्स* : फरीदाबाद थामसन प्रेस (इंडिया) लिमिटेड।

29.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

i) अभिजन व्यक्तियों का एक अल्पसंख्यक वर्ग है जिसको कुछ अर्थों में सामाजिक रूप से सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है जो समाज के कुछ या पूरे भाग को प्रभावित या नियंत्रित करता है।

ii) रणनीति संबंधी अभिजन वह वर्ग है जिसके फैसले, निर्णय एवं क्रिया समाज के बहत से सदस्यों के लिए निर्धारित परिणाम होते हैं।

iii) अभिजन एक परिवर्तनशील सामाजिक वर्ग है। अभिजन में उतार-चढ़ाव आता रहता है उतार-चढ़ाव की इस प्रक्रिया को पैरेटो ने अभिजन का संचरण कहा है। यह उस प्रक्रिया को भी दर्शाता है जिसमें एक अभिजन दूसरे का स्थान लेता है।

बोध प्रश्न 2

i) राजनीतिक नेता अपने अंतिम निर्णय निर्धारण शक्ति के कारण भारत में वास्तविक शासक अभिजन बने हुए हैं। देश के महत्वपूर्ण मामलों में निर्णायक फैसले लेते हैं।

ii) ख

बोध प्रश्न 3

i) क

ii) अभिजन वादियों के अनुसार इतिहास की निर्णायक शक्ति राजनीति है। जबकि मार्क्सवादियों का कहना है कि इतिहास की निर्णायक शक्ति अर्थव्यवस्था है। अभिजात वर्गवादी राजनीति की स्वतंत्रता पर बल देते हैं और उनका मानना है कि राजनीति अर्थव्यवस्था को निर्देशित करती है।

Notes

Notes

खंड
7

शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन

इकाई 30

सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा 5

इकाई 31

वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता 16

इकाई 32

सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन 25

खंड परिचय : शिक्षा, सामाजिक गतिशीलता और सामाजिक परिवर्तन

इस खंड में निम्न तीन इकाइयां हैं:
(i) सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा, (ii) वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता, तथा (iii) सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन। आधुनिक विश्व में सामाजिक प्रस्थिति के निर्धारण में शिक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। हालांकि, किसी की शिक्षा तक पहुंच, सामाजिक पृष्ठभूमि और, विशेषतया जाति एवं वर्ग स्थिति पर निर्भर करती है। एक बार शिक्षित होने के बाद, किसी के लिए भी अपनी पसंद का व्यवसाय चुनना संभव होता है। किसी भी व्यक्ति की आय एवं जीवनशैली उस व्यक्ति की शिक्षा एवं व्यवसाय द्वारा प्रभावित होती है। इस प्रकार, व्यवसाय, आय तथा जीवनशैली से शिक्षा अंतर्सम्बन्धित होती हैं। यह किसी भी व्यक्ति की सामाजिक पृष्ठभूमि पर निर्भर करती है तथा इसके बाद उस व्यक्ति की सामाजिक प्रस्थिति उसकी शिक्षा पर निर्धारित करती है। केवल शिक्षा के स्तर द्वारा ही सामाजिक प्रस्थिति निर्धारित नहीं होती। इकाई 30 में, हमने शिक्षा की भूमिका को ऐतिहासिक रूप से तथ जाति, व्यवसाय एवं आय के संदर्भ में विवेचित किया है।

इकाई 31, सामाजिक परिवर्तन तथा गतिशीलता में वर्ग की भूमिका पर केंद्रित है। किसी व्यक्ति अथवा समूह द्वारा नियन्त्रित की गई शक्ति एवं सम्पत्ति के कारण अन्य व्यक्ति एवं समूह आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से निम्न स्थिति में रहते हैं, इसी सन्दर्भ में वर्ग का विश्लेषण किया गया है। विभिन्न अवसरों व संसाधनों तक व्यक्ति की पहुंच, उस व्यक्ति की वर्ग संरचना में स्थिति द्वारा निर्धारित होती है। वस्तुतः वर्ग स्थिति स्वयं एक संसाधन बन जाती है।

हम वर्ग को अमीर एवं गरीब, भूमिपति तथा काश्तकार, पूंजीपति तथा श्रमजीवी के मध्य सामाजिक सम्बन्धों के संदर्भ में समझ सकते हैं। इनके मध्य अंतःक्रिया वर्ग सम्बन्धों के विश्लेषण की कुंजी होती है। वर्ग संरचना को शिक्षा, व्यवसाय, आय, मकान की श्रेणी आदि जैसी कुछ विशेषताओं (अथवा इनके गठजोड़) के सन्दर्भ में भी समझा जा सकता है। इसी पद्धति के आधार पर हम किसी भी विशिष्ट समाज को उच्च, मध्यम व निम्नवर्ग के रूप में समझ सकते हैं। इन पक्षों में अर्थात्, विशेषताओं तथा सामाजिक सम्बन्धों में परिवर्तन, वर्ग एवं सामाजिक गतिशीलता के मध्य सम्बन्ध की व्याख्या करता है। इस इकाई में हमने इन्हीं दो आयामों की विस्तृत चर्चा की है तथा सामाजिक गतिशीलता की इकाइयों एवं स्तरों तथा इनकी कठोरता व लचीलेपन पर विशेष प्रकाश डाला है। ग्रामीण एवं नगरीय, दोनों ही संदर्भों में, वर्ग एवं सामाजिक गतिशीलता के मध्य सम्बन्ध स्थापित किया गया है।

अंततः, इकाई 32 में, हमने जाति, वर्ग तथा शक्ति को व्यवस्थाओं तथा सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक, आर्थिक व शक्ति आयामों के रूप में सामान्य रूप से विवेचित किया है। इनमें से किसी भी एक द्वारा निर्धारण में आवश्यकता से अधिक भूमिका निभाना व्यवस्था की कठोरता बताता है जबकि सामाजिक रचना के हिस्से के रूप से अधिक आधारों की भूमिका लचीलापन बताता है। जाति, वर्ग एवं शक्ति के मध्य साम्य या असाम्य के प्रतिमानों को समझने पर, हमें भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन एवं गतिशीलता की गतिकी का स्पष्ट चित्र देखने को मिलता है।

भारतीय समाज में, सामाजिक परिवर्तन को मोटे तौर पर, प्राचीन, मध्ययुगीन, अंग्रेजी व स्वातंत्र्योत्तर काल के ऐतिहासिक आयामों के संदर्भ में समझा जा सकता है। भारतीय समाज के सम्पूर्ण इतिहास में, वर्ग व जाति अभिन्न रहे हैं, जिसमें वर्ग व जाति एक दूसरे से मिले हुए हैं। भारतीय समाज कभी भी स्थैतिक नहीं रहा है, यद्यपि सामाजिक परिवर्तन कुछ धीमा व असमान रहा है। वृहत् एवं लघु स्तरों पर संरचनात्मक व सांस्कृतिक परिवर्तन घटित होते रहे हैं। हमने इन परिवर्तनों की, संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, बुर्जुआईकरण, सर्वहाराईकरण, सामाजिक आंदोलनों व प्रवास जैसी अनेक प्रक्रियाओं के सन्दर्भ में, चर्चा की है। असंख्य बाधाओं के बावजूद, भारतीय समाज में सामाजिक परिवर्तन होते रहे हैं, जैसे-जैसे जाति, धर्म, संयुक्त परिवार जैसी अन्य संस्थाएं काफी कमजोर हो गई हैं और इस कारण प्रस्थिति-निर्धारण हेतु नये मानदण्डों एवं मल्यों के लिए मार्ग प्रशस्त हो गया है।

इकाई 30 सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा

इकाई की रूपरेखा

30.0 उद्देश्य
30.1 प्रस्तावना
30.2 ऐतिहासिक आयाम
  30.2.1 प्राचीन और मध्य काल
  30.2.2 आधुनिक काल
30.3 जाति और शिक्षा
  30.3.1 उपनिवेश काल
  30.3.2 स्वातंत्र्योत्तर काल
30.4 व्यवसाय और शिक्षा
  30.4.1 उपनिवेश काल
  30.4.2 स्वातंत्र्योत्तर काल
30.5 आय और शिक्षा
  30.5.1 उपनिवेश काल
  30.5.2 स्वातंत्र्योत्तर काल
30.6 शिक्षा, गतिशीलता और सामाजिक बदलाव
30.7 सारांश
30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें
30.9 शब्दावली
30.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

30.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद, आपको इस योग्य होना चाहिए कि आप:

- सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के संबंध को समझ सकें,
- इस समस्या के ऐतिहासिक आयाम को समझ सकें, और
- सामाजिक स्तरीकरण के विभिन्न तथ्यों, जैसे जाति, व्यवसाय और आय के अन्तर्गत आधुनिक भारत में शिक्षा के सम्बन्ध में चर्चा कर सकें।

30.1 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में पाया जाता है। इसका अर्थ होता है प्रासंगिक तौर पर स्थिर सामाजिक स्तरों में समाज का विभाजन। सामाजिक स्तरों को सामाजिक अस्तित्व, समाज के मूल्यों और नियमों के आधार पर ऊंची-नीची श्रेणी में रखा जाता है। कोई विशेष स्तर समाज के दूसरे स्तरों की तुलना में ऊंचा या नीचा, विशेष सुविधा प्राप्त या ऐसी सुविधाओं से वंचित, शासक या शासित हो सकता है। इस तरह, सामाजिक स्तरीकरण समाज के विभिन्न स्तरों के बीच संगठित असमानता के क्रमबद्ध रूप में नियमित होने की स्थिति है।

सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था का नजदीकी संबंध समाज की शिक्षा व्यवस्था से होता है। समाज के विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों की क्षमता बहुत हद तक इस बात पर निर्भर करती है कि सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में उनकी स्थिति क्या है, अर्थात् सामाजिक स्तरीकरण की श्रेणीबद्ध व्यवस्था में वर्ग, स्थिति, व्यवसाय और आय के सन्दर्भ में उनकी क्या स्थिति है। इसके अलावा, सामाजिक स्थिति का मूल्यांकन आंशिक तौर पर व्यक्ति की शैक्षिक उपलब्धियों के आधार पर होता है। शिक्षा का प्रभाव व्यवसाय के चुनाव, आय की मात्रा और जीवन-शैली या रहन-सहन के ढंग पर पड़ता है। इसलिए, सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के बीच अंतरक्रिया होती है।

भारत में, सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के अध्ययन के तहत् विभिन्न स्तरों के व्यक्तियों के शिक्षित होने

की क्षमता के सामाजिक निर्धारक तत्वों के मसले पर गौर किया जाता है। इन अध्ययनों से पता चलता है कि विभिन्न सामाजिक स्तरों की शैक्षिक स्थिति पर जाति, व्यवसाय और आय के क्षेत्रों में विद्यमान असमानता और अंतरों का बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है। शुरुआती अध्ययनों में शिक्षा को सामाजिक बदलाव का एक बहुत महत्वपूर्ण साधन माना गया था। लेकिन बाद के अध्ययनों से यह संकेत मिलता है कि समाज को आकार देने या बनाने में शिक्षा की भूमिका बहुत सीमित है। वास्तव में, यह कहा जा सकता है कि शिक्षा विद्यमान असमानताओं को व्यक्त और उनकी पुष्टि करने का काम अधिक करती है और उन्हें बदलने का काम कम।

इस इकाई में सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा पर चर्चा करने के लिए हम ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से शुरुआत करेंगे जिसमें प्राचीन, मध्य और आधुनिक कालों को लिया जायेगा। फिर, हम भारत में सामाजिक स्तरीकरण के सबसे विशिष्ट लक्षण, अर्थात् जाति और शिक्षा पर गौर करेंगे। उसके बाद विभिन्न सामाजिक स्तरों के व्यवसाय और उनकी शैक्षिक स्थिति के संबंध पर विचार करेंगे। इसके बाद आय और शिक्षा के संबंध की चर्चा की जाएगी। इस पूरी चर्चा को दो कालों, अर्थात् उपनिवेश (Colonial) काल और स्वातंत्र्योत्तर (आजादी के बाद का) काल से बांटा गया है। अंत में, हम शिक्षा, गतिशीलता और सामाजिक बदलाव के बारे में अध्ययन करेंगे।

30.2 ऐतिहासिक आयाम

पारंपरिक समाजों में शिक्षा एक अलग और विशिष्ट ज्ञान वाली सामाजिक संस्था के रूप में विद्यमान नहीं थी। युवा लोग अपनी जिन्दगी के सबक सामाजिक समूह की प्रतिदिन की गतिविधियों में सीखते थे। ज्ञान और हुनर आमतौर पर अपने बड़ों की नकल करके अनौपचारिक तौर पर हासिल किये जाते थे। लेकिन, तुलनात्मक तौर पर अधिक जटिल पूर्व-औद्योगिक और औद्योगिक समाजों में विशिष्ट शैक्षिक (विशेषीकृत) संस्थाओं का विकास हुआ। इसके अलावा, शिक्षा व्यवस्था में समाज के अंतरों और असमानताओं वाले संगठन की झलक मिलती थी।

30.2.1 प्राचीन और मध्य काल

भारत में, ऋग्वेद के काल (1500–1000 ई.पू.) का समाज आदिम, अर्ध-खानाबदोश और व्यापक तौर पर समानता वाला था और उसमें कोई स्तरीकरण नहीं था। (इस तरह के समाजों पर ई. एस. ओ.-04 के खंड 32 की इकाई 6 में विस्तार से चर्चा की गई है) इस काल की शैक्षिक उपलब्धि ऋग्वेद में संकलित है। जहां तक इस महान ग्रंथ की ऋचाओं का सवाल है, समाज के किसी भी वर्ग पर किसी तरह का बंधन नहीं था। स्त्रियां भी धार्मिक और बौद्धिक कार्यों में हिस्सा लेती थी। लेकिन, धीरे-धीरे, भारतीय समाज और भी अधिक भिन्नताओं वाला और जटिल होता गया। व्यवसाय में भिन्नताएं और विशेषज्ञता आने के साथ-साथ, समाज वर्ण या जाति के आधार पर संगठित हो गया। हरेक सामाजिक समूह एक विशेष व्यवसाय का विशेषज्ञ हो गया। व्यवसाय विरासती हो गये और इस तरह विभिन्न स्थिर सामाजिक स्तर बन गये और उन्हें जातियों के तौर पर मान्यता मिली। इस व्यवस्था को सजातीय विवाह और खान-पान की पाबंदी से और मजबूती मिली। सामाजिक श्रेणीबद्धता से ब्राह्मणों को सबसे ऊँची श्रेणी में रखा गया। उनके बाद क्रमशः क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों का स्थान रहा, सबसे नीचे अछूतों को रखा गया। सामाजिक स्तरीकरण की इस चतुर्थवर्ण योजना में प्रत्येक जाति-समूह–अर्थात् वर्ण में विभिन्न उप-जातियों को मान्यता मिली।

समाज की वर्ण-जाति योजना या व्यवस्था में, ब्राह्मण शिक्षा और पुरोहिती के विशेषज्ञ थे। शिक्षा टौलों और पाठशालाओं में दी जाती थी। सभी द्विज (दो बार जन्म लेने वाली) जातियों को शिक्षा पाने का अधिकार था। लेकिन शूद्र, अछूत और स्त्रियों पर यह पाबंदी थी कि वे बौद्धिक ज्ञान की शिक्षा नहीं ले सकते। विभिन्न कलाओं और दस्तकारियों की शिक्षा व्यक्ति को पीढ़ी-दर-पीढ़ी अपने परिवार और जाति में मिलती थी। इसके अलावा, ऊँची जातियों ने अपनी शिक्षा का माध्यम संस्कृत को बनाया। नीची जातियों को पाली और प्राकृति जैसी अन्य भाषाओं में संवाद करना होता था। इस तरह, व्यापक तौर पर प्राचीन भारतीयों की दो शिक्षा धाराएं थी, एक तो विशेष अधिकार प्राप्त जातियों और वर्गों के लिए और दूसरी विशेष अधिकारों से वंचित जनसाधारण के लिए।

मध्य काल में भी हमें भारत में एक समांतर शिक्षा व्यवस्था देखने को मिलती है। हिंदुओं की शिक्षा-धाराएं (इस काल में) पहले जैसी ही रहीं। मुसलमानों ने इस्लाम का ज्ञान देने के लिए मकतबा और मदरसा जैसी अपनी अलग-अलग शिक्षा संस्थाएं स्थापित कर लीं। फारसी को शासक वर्ग के लिए शिक्षा के माध्यम के

तौर पर अपनाया गया। यह दरबारी भाषा थी, इसलिए शासकों की तरफ से इसे कहीं अधिक बढ़ावा मिला। इसके अलावा, कई और भाषाएं भी विकसित हुई जो विशेष अधिकारों से वंचित जातियों और वर्गों के लिए पारंपरिक कलाओं और दस्तकारियों का हुनर देने और संवाद करने का माध्यम बनीं।

30.2.2 आधुनिक काल

अंग्रेजों ने भारत में एक नयी शिक्षा व्यवस्था की शुरुआत की। औपचारिक शिक्षा की पारंपरिक व्यवस्था व्यापक तौर पर धार्मिक और सामाजिक पाबंदियों वाली थी। लेकिन औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था आधुनिक और धर्मनिरपेक्ष और सभी जाति, प्रजाति, संप्रदाय और लिंग के लिए थी। औपनिवेशिक शासकों को भारत में रोजमर्रा के प्रशासन, आर्थिक शोषण और राजनीतिक प्रभुत्व के लिए लोगों के एक नये वर्ग की आवश्यकता थी। यह उनके लिए फायदे की बात थी कि वे प्रशासन के निचले स्तरों में भर्ती के लिए भारत के मूल निवासियों को प्रशिक्षित करें। इसलिए उन्होंने नये स्कूल, कालेज और विश्वविद्यालयों की स्थापना की जिनका काम अंग्रेजी राज के लिए वफादार पढ़े-लिखे भारतीय तैयार करना था। कुछ व्यक्तियों, धार्मिक मिशनरियों, जाति और धार्मिक संस्थाओं ने भी आधुनिक पद्धति की शिक्षा को बढ़ावा दिया। अंग्रेजी शासकों ने व्यवसाय के जो नये अवसर बनाये उनका इन आधुनिक शिक्षा संस्थाओं से निकले लोगों ने हैसियत, पैसा और ताकत पाने के लिए खूब दोहन किया।

बहरहाल, भारत में औपनिवेशिक राज के दौरान औपचारिक शिक्षा की एक समांतर व्यवस्था भी उभरी। भारतीय राजकुमारों, सरदारों और जागीरदारों के बेटों के लिए शिक्षा की श्रेष्ठ सुविधाओं वाले अंग्रेजी माध्यम के अलग स्कूल और कालेज खोले गये ताकि वे अंग्रेजी राज के वफादार समर्थक बनें। मसलन, राजकुमार कालेज (1868), मेयो कालेज (1873) डाली कालेज (1898), जागीरदारस कौलेज (1923), लारेंस स्कूल (1847), लवडेल (1858), सदूल स्कूल (1893) और सिंधिया स्कूल (1857)। विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के लिए जो अन्य प्रतिष्ठित तथाकथित पब्लिक स्कूल खोले गये उनके नाम हैं — दून स्कूल (1935), मार्डन स्कूल (1925), बिड़ला पब्लिक स्कूल (1944) और यादवेंद्र पब्लिक स्कूल (1948)। ये तथाकथित पब्लिक स्कूल केवल औपचारिक तौर पर सब के लिए खुले थे। आजादी के बाद, भारत सरकार ने औद्योगीकरण और कृषि क्षेत्र को बढ़ावे के जरिये देश के तेज विकास का लक्ष्य बनाया। समाज के सबसे पिछड़े वर्ग अर्थात् अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों, की भलाई के लिए विशेष कदम उठाये गये। शिक्षा संस्थाओं में उनके लिए आरक्षण लागू किया और फीस माफी और वजिफों की व्यवस्था की गयी।

आजादी के बाद से शिक्षा के क्षेत्र में काफी प्रगति हुई है। साक्षरता की दर 1957 में 17 प्रतिशत से बढ़कर 1981 में 36 प्रतिशत हो गयी। शिक्षा के सभी स्तरों की शिक्षा संस्थाओं की गिनती में बढ़ोत्तरी हुई है। लेकिन कुल मिलाकर स्थिति इतनी सुखद नहीं है। निरक्षरों की कुल संख्या इन वर्षों में बढ़ी है। विश्व के निरक्षरों की आधी संख्या भारत में पायी जाती है। लड़कियां शिक्षा के क्षेत्र में अब भी लड़कों से पिछड़ी हैं। ग्रामीण लोग शिक्षा के सभी स्तरों पर शहरियों से बहुत पीछे हैं।

इसके अलावा, समांतर और असमान शिक्षा व्यवस्था आजादी के बाद भी बरकरार है। विशेष अधिकार प्राप्त, अमीर और शक्तिशाली वर्ग के बच्चे बढ़िया साज-सामान वाले सशुल्क, अंग्रेजी माध्यम स्कूलों में पढ़ते हैं, जिससे वे ऊँची सामाजिक प्रस्थिति, शक्ति और बेहतर आय वाली बेहतर नौकरियां हासिल कर लेने में समर्थ होते हैं। वास्तव में, अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों की संख्या में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। इधर कुछ वर्षों से ऐसे स्कूल ग्रामीण क्षेत्रों में भी खोले जा रहे हैं जहां वे इस समाज के उन धनी वर्गों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं जो आकर्षक नौकरी के अवसरों के फायदों को समझ गये हैं। इसके अलावा, सरकार ने पब्लिक स्कूलों की प्रणाली पर स्कूल खोलकर समांतर शिक्षा व्यवस्था को मजबूत कर दिया है, ऐसे कुछ स्कूल हैं — सैनिक स्कूल, केंद्रीय विद्यालय और हाल में खुले नवोदय विद्यालय।

इन तथाकथित पब्लिक स्कूलों और सरकारी कुलीन स्कूलों से निकले विद्यार्थी कुलीन महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों और इंडियन इंस्टीच्यूट ऑफ टेकनोलाजी, इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेंट और मेडीकल कालेजों जैसी चोटी की संस्थाओं में भर्ती का सबसे बड़ा हिस्सा हथिया लेते हैं। इसके अलावा, विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के अयोग्य बच्चों को हजारों और लाखों की कैपिटेशन शुल्क को देकर इंजीनियरिंग, मेडीसन और प्रबंधन की निजी संस्थानों में दाखिला मिल जाता है। लेकिन गरीब और पिछड़े वर्गों के बच्चे घटिया साज-सामान वाले सरकारी प्रबंध के स्कूलों में क्षेत्रीय भाषाओं के माध्यम से पढ़ते हैं। इन स्कूलों से निकले अधिकतर विद्यार्थी/ऊँची कक्षाओं में जाते-जाते पढ़ना छोड़ देते हैं जो पढ़ाई पूरी कर लेते हैं, उन्हें कम आय और नीची हैसियत की नौकरियां मिलती हैं। शिक्षा आयोग (1964-66) ने सही टिप्पणी दी है:

फिर स्वयं शिक्षा में पृथक्करण होता है — अल्पसंख्यक निजी सशुल्क, बेहतर स्कूल तो ऊँचे वर्गों की आवश्यकताओं को पूरा करते हैं और अधिकांश संस्था में मुफ्त, सरकारी प्रबंध वाले लेकिन घटिया स्कूलों का उपयोग बाकी करते हैं। इससे भी खराब बात यह है कि यह पृथक्करण बढ़ रहा है और जनसाधारण के बीच की खाई को और चौड़ा कर रहा है।

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर पर (√) निशान लगाएं:

1) प्राचीन भारत में इनमें से किन पर बौद्धिक ग्रंथ पढ़ने की पाबंदी थी?
   क) ब्राह्मण और क्षत्रिय
   ख) वैश्य और शूद्र
   ग) शूद्र, अछूत और स्त्रियां
2) औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था
   क) पारंपरिक, धार्मिक और सिद्धांतवादी थी
   ख) आधुनिक, धर्मनिरपेक्ष और मुक्त थी
   ग) आदिम, सामाजिक प्रतिबंध वाली और मूल्य-आधारित थी
3) भारत में औपचारिक शिक्षा की समांतर व्यवस्था का विकास कब हुआ?
   क) प्राचीन काल में
   ख) मध्य काल में
   ग) उपनिवेश काल में

30.3 जाति और शिक्षा

भारत में जाति व्यवस्था की सामाजिक संस्था बहुत पुरानी है। सामाजिक जीवन के एक बड़े क्षेत्र पर अब भी इसका प्रभाव है, हालांकि आधुनिक काल में इसकी कुल पकड़ ढीली हुई है। जाति व्यवस्था के श्रेणीबद्ध, असमानतावादी और रूढ़ ढांचे के प्रतिबिम्ब को शिक्षा के क्षेत्र में देखा जा सकता है। पारंपरिक अवस्था में ब्राह्मण ग्रंथों ने शूद्र और अछूत जैसे निचले वर्गों के संस्कृत के अध्ययन पर पाबंदी लगायी हुई थी। इस तरह, उनके लिए शिक्षा देने वाले टोलों, पाठशालाओं और मंदिरों के दरवाजे बंद थे। निचली जातियों को अपनी आजीविका कमाने के लिए अपने पारंपरिक व्यवसायों को ही अपनाना पड़ता था और ऊँची, धनी और विशेष अधिकार प्राप्त जातियों की सेवा करनी पड़ती थी। अंतर्जातीय विवाह और अंतर्जाती खान-पान पर अब भी काफी हद तक पाबंदी है। पारंपरिक अवस्था में जातियों के बंटवारे और नीची जातियों की निम्न सामाजिक और कर्मकांडी स्थिति ने उनके लिए नकारात्मक मनोवैज्ञानिक परिणाम बनाये।

30.3.1 उपनिवेश काल

भारत में अंग्रेजी राज के दौरान शिक्षा को सभी के लिए मुक्त रखा गया था, चाहे उनकी जाति, पंथ, धर्म, प्रजाति या लिंग कोई भी हो। लेकिन यह मुक्तता मुख्य तौर पर सैद्धांतिक थी। ऊँची जातियों के पास बेहतर आर्थिक स्थिति और ज्ञान की परंपरा थी। इसलिए नौकरी के नये अवसरों को वे हथिया लेते थे। नीची जाति के लोग शिक्षा के सभी स्तरों पर काफी पीछे थे। इसलिए, उन्हें व्यवसाय के नये अवसरों के उचित लाभ नहीं मिल पाते थे। जाति पर आधारित स्तरीकरण का प्रभाव भारत में औपनिवेशिक राज के दौरान की शिक्षा पर स्पष्ट दिखायी देती है। समाज में विभिन्न जातियों के बीच शिक्षा का अत्यधिक असमान वितरण था।

हमें यह देखने को मिलता है कि जाति की श्रेणीबद्धता में सबसे ऊँची श्रेणी पर रखे जाने के कारण ब्राह्मणों का सभी स्तरों पर शिक्षा के लिए दाखिलों में सामान्य से अधिक प्रतिनिधित्व है। हालांकि 1881 में बम्बई प्रेसीडेंसी की कुल आबादी में उनका प्रतिशत छह था, फिर भी छात्रों के दाखिले में उनका अनुपात प्रारंभिक या प्रायमरी स्तर पर लगभग 37 प्रतिशत, हाई और मिडिल स्कूल स्तर पर 51 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 66 प्रतिशत था। दूसरी ओर, "अन्य सभी" की श्रेणी में रखे गये खेतिहर, दस्तकार और निचली जातियों के छात्रों का अनुपात प्राइमरी, सेकेंडरी और कालेज स्तरों पर क्रमशः 35, 16 और 6 प्रतिशत था। यह देखते हुए कि प्रेसीडेंसी की कुल आबादी में उनका प्रतिशत 75 था, शिक्षा के सभी स्तरों पर उनका प्रतिनिधित्व बहुत ही कम है। इसके अलावा, नीचे से ऊँचे स्तर की शिक्षा की ओर बढ़ते हुए भी उनके अनुपात में भारी गिरावट मिलती है। क्षत्रिय, मुंशी और व्यावसायिक जातियों के छात्रों का अनुपात इन दो चरम समूहों के बीच रहता है।

अनिल सील ने दूसरी प्रेसीडेंसियों में भी ऐसी ही शैक्षिक स्थिति देखी है। बंगाल प्रेसीडेंसी में, कुल हिंदू आबादी के केवल लगभग 10 प्रतिशत वाले ब्राह्मण और कायस्थों ने (1881 की जनगणना के अनुसार) 1883-84 में कालेज, हाई स्कूल और निम्न प्राइमरी स्कूल के स्तरों पर 84.7, 73.4 और 34.5 प्रतिशत सीटें हथिया रखे थे। मद्रास प्रेसीडेंसी में, ब्राह्मणों छात्रों का प्रतिशत कालेजों में 74.6, सेकेंडरी स्कूलों में 45.5 और प्राइमरी स्कूल स्तर पर 14.4 था। लेकिन शूद्र जाति के छात्रों का प्रतिशत कालेज स्तर पर 21.7 सेकेंडरी स्कूल के स्तर पर 45.8 और प्राइमरी स्कूल के स्तर पर 68.4 था। वैश्य जाति के छात्रों के कालेज, सकेंडरी स्कूल और प्राइमरी स्कूल के स्तरों पर क्रमशः अनुपात 3.2, 5.6 और 10 प्रतिशत था।

30.3.2 स्वातंत्र्योत्तर काल

भारत में आबादी के बाद विकास का जो मार्ग अपनाया गया उसने जाति व्यवस्था और शिक्षा के संबंध को कमजोर किया है। पिछड़े वर्ग के उत्थान के लिए जो विशेष उपाय किए गए हैं उन्होंने इन्हें इस योग्य बना दिया है कि वे शिक्षा के बढ़ते अवसरों का कुछ लाभ उठा सकें। फिर भी, व्यक्ति की शैक्षिक उपलब्धियों पर जाति का अब भी काफी प्रभाव पड़ता है। शिक्षा आयोग (1964-68) के आकलन के अनुसार :

> भारतीय समाज श्रेणीबद्ध, स्तरीकृत और ऊर्ध्वाधर गतिशीलता में अक्षम है। विभिन्न वर्गों विशेष तौर पर धनी और निर्धन, के बीच सामाजिक दूरी काफी अधिक है, और भी अधिक होती जा रही है ··· और यह तस्वीर और भी पेचीदा हो जाती है जाति के कारण, जो एक अलोकतांत्रिक संस्था है जो अब भी शक्तिशाली है और जिसने लगता है अपना प्रभाव क्षेत्र संविधान की ही लोकतांत्रिक प्रक्रिया के तहत बढ़ा लिया है।

शिक्षा के सभी स्तरों तक विभिन्न जाति स्तरों की पहुंच असमान है। ऊँची जातियां कुल आबादी में अनुपात में कम होते हुए भी सामान्य शिक्षा में दाखिलों का एक बड़ा हिस्सा हथिया लेती है, और तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा में तो ऐसा और भी ज्यादा होता है। अध्यापन के व्यवसाय में ऊँची जातियों का वर्चस्व है। चुनिंदा राज्यों के अपने अध्ययन में, अनिल भट्ट ने देखा कि सभी स्तरों पर शिक्षा तक पहुंच के मामले में विभिन्न जाति स्तरों के बीच भारी असमानता व्याप्त है। मिडिल स्कूल के स्तर पर हरिजनों (अनुसूचित जातियों), मध्यम जातियों और ऊँची जातियों का अनुपात 5, 8 और 18 प्रतिशत है।

बड़ौदा के कालेजों और विश्वविद्यालयों के अपने अध्ययन में, बी.वी. शाह को ऊँची जातियों के छात्रों की बहुलता देखने को मिली। उन्होंने पाया कि ब्राह्मण, बनिया और पाटीदारों समेत ऊँची जातियों ने इंजीनियरिंग और डाक्टरी जैसी उच्च शिक्षा के क्षेत्रों में कुल स्थानों में से 88 प्रतिशत हथिया रखे थे। मध्यम और नीची जातियों का अनुपात क्रमशः 5 और 6 प्रतिशत था। अनुसूचित जातियों की हालत और भी बदतर थी इसके अतिरिक्त इलाहाबाद के छात्रों के अपने अध्ययन में जे. डी. बोना ने पाया कि ब्राह्मणों ने 42 प्रतिशत स्थान हथिया रखे थे, और उनके बाद कायस्थों और क्षत्रियों की संख्या थी। कुल मिलाकर उनके पास कुल 81 प्रतिशत स्थान थे। पुणे और अलीगढ़ के कालेज स्तर के छात्रों के अध्ययन में ऊँची जातियों के छात्रों का ही बोलबाला देखने को मिलता है।

सरकार द्वारा कई कल्याणकारी उपाय किए जाने के बाद भी पिछड़ी जातियां शिक्षा के क्षेत्र में ऊँची जातियों से पीछे ही बनी हुई हैं। तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा जैसी उच्च शिक्षा के क्षेत्र में भी यही हालत है। भारत के 13 राज्यों के अनुसूचित जाति के छात्रों के अध्ययन में, सुमा चिटनिस ने देखा कि जहां तक पंजीकरण या दाखिले का सवाल है, अनुसूचित जातियों के छात्र हर स्तर पर सामान्य छात्रों से पिछड़े हुए थे। वे प्राइमरी स्तर पर 7 राज्यों में, मध्यम स्तर पर 9 राज्यों में, हाई स्कूल स्तर पर 10 राज्यों में और विश्वविद्यालय स्तर पर 12 राज्यों में पीछे थे। इसके अलावा, यह भी देखा गया कि जैसे-जैसे शिक्षा का स्तर बढ़ता गया, वैसे-वैसे उनके दाखिले का अनुपात कम होता गया। चिटनिस ने यह भी पाया कि मुम्बई में अनुसूचित जातियों के छात्रों के दाखिले अधिकतर कम प्रतिष्ठित, गैर-कुलीन और गुणात्मक तौर पर घटिया संस्थाओं में हुए।

इसके अलावा, यह भी देखा गया है कि अध्यापन के व्यवसाय में नीची जातियों का प्रतिनिधित्व बहुत कम है। 8 राज्यों से इकट्ठा किए गए आंकड़ों पर आधारित अखिल भारतीय रपट के अनुसार ऊँची जातियां पुरुष और महिला प्राइमरी अध्यापकों में सबसे बड़े जाति समूह के रूप में सामने आती है। यह रपट 1966-67 में एम. एस. गोरे, आई. पी. देसाई और चिटनिस ने तैयार की थी। ऊँची जातियों के पुरुष अध्यापकों का प्रतिशत 55 और 85 के बीच था। ऊँची जातियों की महिला अध्यापकों का प्रतिशत 70 और 95 के बीच था। माध्यमिक स्तर पर, प्राइमरी स्तर की तुलना में पुरुष और महिला अध्यापकों के

प्रतिशत में बढ़ोत्तरी पायी गयी। दूसरी ओर, माध्यमिक स्तर पर अनुसूचित जातियों और अन्य पिछड़ी जातियों के अध्यापकों के प्रतिशत में गिरावट पायी गयी। राजस्थान विश्वविद्यालय के अध्यापकों के अपने अध्ययन में योगेन्द्र सिंह ने पाया कि इस व्यवसाय में ऊँची जातियों का बोलबाला था। ऊँची जातियों के अध्यापकों का प्रतिशत 80 से भी ऊपर था। केवल 0.4 प्रतिशत अध्यापक नीची जातियों के थे।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तर पर (√) निशान लगाएं:

1) उपनिवेश काल में ऊँची जातियों को बेहतर शिक्षा क्यों मिली?
   क) क्योंकि वे कर्मकांड की दृष्टि से अन्य जातियों से श्रेष्ठ थे।
   ख) क्योंकि वे नस्ल में पिछड़े वर्गों से श्रेष्ठ थे।
   ग) क्योंकि वे जाति की श्रेणीबद्धता और संपत्ति सहित सभी मामलों में बेहतर स्थिति में थे।
2) शिक्षा के प्रसार से होने वाले फायदों के जरिये पिछड़े वर्ग के उत्थान के उपाय किस काल में अपनाए गये?
   क) मध्य काल
   ख) उपनिवेश काल
   ग) आजादी के बाद
3) निम्न में से किसने इलाहाबाद के छात्रों का अध्ययन किया?
   क) ए. आर. देसाई
   ख) एस. सी. दुबे
   ग) एम. एस. गोरे
   घ) जे. डी. बोना

30.4 व्यवसाय और शिक्षा

भारत में अंग्रेजी राज के दौरान व्यवसाय के ढांचे में एक बड़ा बदलाव हुआ। जाति के आधार पर निर्धारित पारंपरिक व्यवसाय औपनिवेशिक प्रशासन के लिए उपयुक्त नहीं थे। अंग्रेज शासकों को प्रशासन के निचले स्तरों पर काम करने के लिए कम लागत वाले स्वदेशी (भारतीय) चाहिए थे।

30.4.1 उपनिवेश काल

प्रशासन की नयी आवश्यकताओं ने एक नयी शिक्षा व्यवस्था को जन्म दिया जिसे अंग्रेजों के लिए वफादार नौकर पैदा करने के अनुकूल बनाया गया। ज्ञान की परंपरा रखने वाले ऊँची जाति और वर्ग के लोगों ने नयी शिक्षा हासिल की और उन्हें नयी नौकरियां मिल गयी। नये व्यावसायिक स्तरों का विकास हुआ, विशेष तौर पर, निजी व्यवसाय और वाणिज्य, व्यापार और उद्यम और सरकार के अधर अधिशासी स्तर के काम और मुख्य तौर पर इन्हीं व्यावसायिक स्तरों और बड़े जागीरदारों के बच्चे (छात्रों) ने नयी शिक्षा के अवसरों को हथियाया। आबादी के बहुसंख्यक मजदूर और किसान अपने सामाजिक-आर्थिक पिछड़ेपन के कारण पीछे छूट गये।

विभिन्न औपनिवेशिक प्रेसीडेंसियों से उपलब्ध आंकड़ों से पता चलता है कि शिक्षा तक पहुँच के मामले में नये व्यावसायिक स्तरों के व्यक्तियों और समाज के पिछड़े वर्ग के बीच बड़ी खाई थी। बम्बई प्रेसीडेंसी में कुल स्थानों में से 30 प्रतिशत स्थान, 1877-78 में, सरकारी नौकरी वाली पृष्ठभूमि के छात्रों ने घेरे। जिन छात्रों के माता-पिता निजी क्लर्क, व्यवसाय, पुरोहित और वाणिज्य की पृष्ठभूमि वाले थे उनका 44 प्रतिशत स्थानों पर कब्जा था। खेतिहर और पारंपरिक कलाओं और दस्तकारियों वाली पृष्ठभूमि के व्यक्तियों को केवल 27 प्रतिशत के आस-पास स्थान मिले जबकि कुल आबादी में उनका प्रतिशत लगभग 80 था। किसानों और मजदूरों का प्रतिनिधित्व इतना कम था कि वे एक अलग वर्ग के रूप में उल्लेख किये जाने के काबिल भी नहीं थे।

इसके अलावा, मद्रास प्रेसीडेंसी में काश्तकारों के हिस्से में स्कूलों और कालेजों के सबसे अधिक स्थान थे। 1883-84 में, माध्यमिक स्कूलों और कालेजों में कुल दाखिलों में उनका प्रतिशत क्रमशः 30 और 38 था। माध्यमिक स्कूलों और कालेजों में अधिकारी स्तर के माता-पिता वाले छात्र क्रमशः 18 और 29 प्रतिशत थे छोटे स्तर के कर्मचारियों और व्यापारियों के बच्चे माध्यमिक स्कूलों में 31 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 19 प्रतिशत थे। इस मामले में भी आबादी में बहुत संख्या वाले किसानों और मजदूरों का उल्लेख एक अल

वर्ग के रूप में नहीं हुआ है। यह भी देखा गया है कि काश्तकारों और अधिकारियों जैसे विशेष अधिकार प्राप्त व्यावसायिक वर्गों से आने वाले छात्रों का अनुपात स्कूल से कालेज स्तर तक बढ़ता गया। लेकिन तुलनात्मक तौर पर निम्न व्यावसायिक वर्गों के छात्रों के अनुपात में गिरावट आयी।

30.4.2 स्वातंत्र्योत्तर काल

आजादी के बाद शिक्षा के प्रसार के फायदे अधिकतर सेवाओं, व्यवसायों, व्यापार और जमींदार वर्ग के लोगों ने लिये। तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा के क्षेत्र में स्थिति और भी अन्यायपूर्ण और असमानतावादी हैं। सेवाओं, व्यवसायों और व्यापारिक स्तरों के लोगों का इस क्षेत्र पर एकाधिकार है।

सेवा (नौकरी) और व्यावसायिक स्तरों के व्यक्तियों ने भारतीय प्रौद्योगिक संस्थान (इंडियन इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नोलॉजी), रीजनल इंजीनियरिंग कालेज, दूसरे इंजीनियरिंग कालेजों और मेडिकल कालेजों में, 1965 में कुल स्थानों में से क्रमशः 68, 48, 43 और 50 स्थान हथियाये। व्यापारिक पृष्ठभूमि के छात्रों का प्रतिशत कुल 19 था। आबादी की बड़ी संख्या वाले खेतिहर और अन्य वर्गों के छात्रों के हिस्से में केवल 28 प्रतिशत स्थान ही आये। किसानों और मजदूरों का तो एक अलग वर्ग के रूप में उल्लेख भी नहीं मिलता।

कुछ चुनिंदा जातियों के अपने अध्ययन में, गोरे, देसाई और चिटनिस ने पाया कि ग्रामीण व्यवसायों, शहरी अधिशासी वर्ग के व्यवसायों, छोटे व्यापार धंधों और मजदूर वर्ग से आने वाले पुरुष छात्रों का प्रतिशत व्यावसायिक कालेजों में क्रमशः 25, 49, 15 और 5 था। इसके अलावा, डी. बोना के इलाहाबाद विश्वविद्यालय के अध्ययन में यह देखने को मिलता है कि सेवाओं और व्यवसायों, व्यापार-धंधों, खेती और अन्य व्यावसायिक स्तरों के छात्रों का प्रतिशत क्रमशः 42, 13 और 33 था।

इसके अलावा, यह देखा गया कि उच्च स्तर वाले सशुल्क पब्लिक स्कूल केवल व्यापार, सेवाओं, व्यवसायों और बड़े काश्तकारों के विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के लिए हैं। 1951-52 में, यह पाया गया कि दून स्कूल में सेवाओं, वाणिज्य और उद्योग, और जमींदारों के स्तरों के छात्रों का अनुपात क्रमशः 46.8, 35.0 और 18.2 था। दूसरे स्तरों का एक भी छात्र नहीं था। इसके अलावा, एलेक्रेड डिसूजा ने पांच प्रतिशत स्कूलों — ब्लू वैली, लेक व्यू, रिक्साइड, पाइनग्रोव और ग्रीन हिल — का अध्ययन किया। उनके निष्कर्षों से पता चलता है कि इन स्कूलों पर ऊँचे व्यवसायों, सेवाओं और व्यापारिक स्तरों से आये व्यक्तियों का एकाधिकार है। इन पांच पब्लिक स्कूलों में ऊँचे व्यवसायों और सेवाओं की पृष्ठभूमि वाले छात्रों ने 70.56 प्रतिशत स्थान घेरे हैं जबकि व्यापार (जिसमें बागान भी शामिल है) की पृष्ठभूमि वाले छात्रों का अनुपात 16.67 प्रतिशत है। धनी किसानों के बच्चों के पास केवल 5.41 स्थान है। लेकिन आबादी की बहुल संख्या वाले किसानों और मजदूरों की कुलीन पब्लिक तक कोई पहुंच नहीं है।

बोध प्रश्न 3

सही उत्तर पर (√) निशान लगाइये।

1) अंग्रेजों ने भारत में नयी शिक्षा व्यवस्था लागू की।
   क) क्योंकि भारतीय समाज के प्रति उनका रवैया उदारवादी था।
   ख) प्रमुख तौर पर अपनी प्रशासनिक आवश्यकताओं के कारण।
   ग) अपने स्वभाव के कारण।
2) रिक्त स्थानों को भरिये :
   क) 1877-78 के दौरान बम्बई प्रेसीडेंसी में सरकारी नौकरी की पृष्ठभूमि वाले छात्रों ने कुल स्थानों में से ..... प्रतिशत स्थान घेरे हुए थे। (30, 20, 40)।
   ख) मद्रास प्रेसीडेंसी में, काश्तकारों के छात्रों के पास स्कूलों और कालेजों में स्थानों का ..... हिस्सा था। (सबसे बड़ा/सबसे छोटा)
3) क्या यह कहना सही है कि आजादी के बाद शिक्षा के प्रसार के फ़ायदे अधिकतर सेवाओं, व्यवसायों, व्यापार और जमींदारों को मिले हैं? (हां/नहीं)

30.5 आय और शिक्षा

विभिन्न सामाजिक स्तरों की आय के स्तर का उनकी शैक्षिक उपलब्धियों पर प्रभाव पड़ता है। शिक्षा तक पहुँच ऊँची आय वाले स्तरों के लिए अधिक और नीची आय वाले स्तरों के लिए कम है। मध्यम वर्ग के स्तर इनके बीच स्थित होते हैं। प्रारंभिक से उच्च शिक्षा की ओर बढ़ते हुए, उच्च आय स्तरों के छात्रों का

अनुपात में बढ़ोत्तरी होती जाती है। इसके विपरीत, निम्न स्तरों के छात्रों का अनुपात प्रारंभिक से उच्च शिक्षा की ओर जाते हुए, घटता जाता है। इसका कारण मुख्य तौर पर गरीबी के कारण इस स्तर के छात्रों का पढ़ाई छोड़ देना है। इसके अलावा, शिक्षा के उपलब्ध अवसरों की सबसे बड़ी संख्या मध्यम वर्गों के हाथ लगते हैं। इसका कारण यह है कि आबादी में उनका अनुपात काफी अधिक होता है और वे बच्चों के लिए शिक्षा का प्रबंध करने की स्थिति में होते हैं।

समाज के धनी वर्ग के छात्र बेहतर स्कूलों और कालेजों में शिक्षा पाते हैं। इसके फलस्वरूप, उन्हें बेहतर वेतन वाली नौकरियां और व्यवसाय मिल जाते हैं, जिसके बूते पर वे अपने बच्चों को बेहतर स्कूल-कालेजों में पढ़ा लेते हैं। इसके विपरीत, गरीब लोग अपने बच्चों को केवल घटिया शिक्षा संस्थाओं में ही दाखिल करा पाते हैं। कम पढ़े-लिखे लोग कम वेतन वाली नौकरियों और व्यवसायों में जाते हैं। इसलिए वे अपने बच्चों को भी घटिया स्कूलों में पढ़ा पाते हैं। यह आय और शिक्षा का कुचक्र है जिसमें गरीब तो गरीब ही रहता है और अमीर लोग अमीर ही बने रहते हैं। यह आम प्रवृत्ति है। फिर भी, अपवाद इस क्षेत्र में भी मिलते हैं। गरीब सामाजिक स्तरों के कुछ व्यक्ति अपनी बेहतर शैक्षिक उपलब्धियों के बल पर अमीर स्तरों में प्रवेश पा लेते हैं जिससे वे बेहतर आय कमा लेते हैं और अपने बच्चों को बेहतर शिक्षा दिलाने की स्थिति में आ पाते हैं।

30.5.1 उपनिवेश काल

उपनिवेश काल के दौरान विभिन्न आय स्तरों के लोगों की शिक्षा तक पहुंच असमान थी। 1883-84 के दौरान बंगाल में विभिन्न आय स्तरों के लोगों की शिक्षा तक पहुंच अत्यधिक असमान थी। उच्च आय स्तरों (5000 रु. और उससे अधिक की वार्षिक आय वालों) का शिक्षा में प्रतिनिधित्व सामान्य से अधिक था जबकि निम्न आय स्तरों (200 रु. तक की वार्षिक आय वालों) का प्रतिनिधित्व कुल आबादी में उनके अनुपात को देखते हुए बहुत ही कम था। आबादी का एक बहुत छोटा हिस्सा घेरने वाले उच्च आय के लोगों के हिस्से में, कालेज स्तर पर, 13 प्रतिशत स्थान थे। उनका अनुपात निम्न प्राइमरी स्तर में 0.3 प्रतिशत से हाई स्कूल स्तर पर 7 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 13 प्रतिशत तक क्रमशः बढ़ता गया था। लेकिन निम्न आय वर्ग के छात्रों की संख्या में भारी गिरावट आयी थी, जबकि आबादी में उनकी संख्या सबसे अधिक थी। उनका अनुपात निम्न प्राइमरी स्तर में 88 प्रतिशत से हाई स्कूल स्तर पर 26 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 9 प्रतिशत तक घटता गया। मध्यम आय वर्ग के (200 रु. से 5000 रु. तक की वार्षिक आय वालों) के छात्रों के मामलों में निम्न प्राइमरी स्तर में 12 प्रतिशत, हाई स्कूल स्तर पर 67 प्रतिशत और कालेज स्तर पर 78 प्रतिशत के क्रम से बढ़ोत्तरी हुई।

इस तरह, हम देखते हैं कि निम्न प्राइमरी से कालेज स्तर तक उच्च आय स्तरों के छात्रों के अनुपात में 43 गुना बढ़ोत्तरी हुई। लेकिन निम्न आय स्तरों के मामले में 10 गुना गिरावट आयी। इसके अलावा, यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि सेकेंडरी स्तर और उससे ऊपर की शिक्षा सुविधाओं का मुख्य रूप से उपभोग मध्यम आय स्तरों ने किया।

30.5.2 स्वातंत्र्योत्तर काल

आजादी के बाद भी, यह देखा गया है कि शिक्षा की प्रगति के लाभों का वितरण समाज के विभिन्न आय स्तरों के बीच समान नहीं हुआ है। उच्च आय स्तरों को सबसे अधिक लाभ मिला है। आबादी में उनका अनुपात कम होते हुए भी उन्होंने शिक्षा के उपलब्ध अवसरों के एक काफी बड़े हिस्से का उपयोग किया है। आबादी में एक बड़े अनुपात में उपस्थित मध्यम आय स्तरों ने विशेष तौर पर उच्चतर शिक्षा में, सबसे अधिक स्थान हथियाये हैं। निम्न आय स्तरों की आबादी उच्च और मध्यम आय स्तरों की अपेक्षा अधिक है। शिक्षा के प्रारंभिक स्तर पर उनका अनुपात दूसरे स्तरों की तुलना में कहीं अधिक है। लेकिन शिक्षा का स्तर बढ़ने के साथ-साथ उनका अनुपात घटता जाता है और उच्च शिक्षा के क्षेत्र में घटकर सबसे कम हो जाता है। उनका प्रतिनिधित्व तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा में उच्च आय स्तरों की तुलना में बहुत ही कम है। इसके अलावा, गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले हमारे समाज के निम्नतम वर्ग की, आजादी के चालीस वर्ष बाद भी, औपचारिक शिक्षा तक कोई पहुंच नहीं है, जबकि आबादी में उनका प्रतिशत लगभग 40 है। यह इस तथ्य से पता चलता है कि 1981 की जनगणना में कुल आबादी के 64 प्रतिशत लोग निरक्षर पाये गये।

गुजरात के बड़ौदा जिले के हाई स्कूल के छात्रों के अध्ययन में बी.जी. देसाई ने पाया कि माध्यमिक शिक्षा तक विभिन्न आय स्तरों की पहुंच असमान थी। इस अध्ययन के अनुसार 18 प्रतिशत छात्र बहुत अच्छी

और अच्छी आय पृष्ठभूमि से थे, 19 प्रतिशत औसत आय स्तर से और 63 प्रतिशत छात्र साधारण और गरीब आय समूहों के थे।

लेकिन उच्चतर शिक्षा पर जाकर स्थिति बदल जाती है। शिक्षा आयोग की रपट (1964-66) में यह देखने को मिलता है कि भारतीय प्रौद्योगिक संस्थान (आई आई टी) में जो कि सबसे महत्वाकांक्षी संस्थाओं में से एक है, उच्च आय स्तरों (रु. 500 प्रतिमास से ऊपर) के छात्रों की संख्या सबसे अधिक थी। इन संस्थानों में उन्होंने 59 प्रतिशत स्थान घेरे हुए थे। लेकिन निम्न आय स्तरों (रु. 150 से कम प्रतिमास) के छात्रों को केवल 7 प्रतिशत स्थान मिले हैं। मध्यम आय स्तरों को, जिनमें उच्च मध्यम और निम्न मध्यम दोनों स्तर आ जाते हैं। (रु. 151 से 500 प्रतिमास आय वाले), इन संस्थानों में कुल 35 प्रतिशत स्थान मिले। जहां तक मेडिकल कालेजों का संबंध है उच्च, मध्यम और निम्न आय स्तरों के हिस्से में क्रमशः 26, 43 और 31 प्रतिशत स्थान आते हैं। क्षेत्रीय इंजीनियरिंग कालेजों और अन्य इंजीनियरिंग कालेजों में उनके हिस्से औसतन क्रमशः 15, 25, और 36 प्रतिशत स्थान आते हैं।

इसके अलावा, व्यावसायिक प्रतीमान की तरह, पब्लिक स्कूल के छात्रों के अभिभावकों की मासिक आय से भी यह बात सामने आती है कि स्कूल सामाजिक तौर पर एक विशिष्ट समूह के लिए है। उन तक केवल उन सामाजिक समूहों की पहुंच है जो स्तरीकरण व्यवस्था में शीर्ष स्थानों पर हैं। पब्लिक स्कूलों के अपने अध्ययन में डिसूजा ने पाया कि केवल 3 प्रतिशत छात्रों के अभिभावकों की मासिक आय एक हजार रुपये और उससे कम थी। 39 प्रतिशत छात्रों के अभिभावकों की मासिक आय रु. 1001 से 2000 तक, 50 प्रतिशत छात्रों के अभिभावकों की 2001 और 4000 के बीच और 5 प्रतिशत की रु. 4001 से 5000 तक थी। पब्लिक स्कूलों में पढ़ाई के लिए सरकार आर्थिक रूप से पिछड़े वर्ग के छात्रों को योग्यता के आधार पर कुछ वजीफे भी देती है। फिर भी, 1980 के दशक में भी, पब्लिक स्कूलों में छात्रों का अनुपात लगभग वही देखा गया।

बोध प्रश्न 4

1) क्या यह कहना सही है कि भारत के संदर्भ में विभिन्न सामाजिक स्तरों की आय का उनकी शैक्षिक उपलब्धि पर प्रभाव पड़ता है? (हां/नहीं)
2) समाज के धनी वर्ग के छात्रों को बेहतर नौकरियां और व्यवसाय मिल जाते हैं क्योंकि:
   क) उनकी पढ़ाई-लिखाई बेहतर स्कूलों-कालेजों में होती है।
   ख) वे अधिक बुद्धिमान होते हैं।
   ग) वे अधिक पढ़ाई करते हैं।
3) क्या यह सही है कि आजादी के बाद शिक्षा की प्रगति के लाभों का वितरण समाज के विभिन्न आय स्तरों के बीच समान रूप से हुआ है? (हां/नहीं)

30.6 शिक्षा, गतिशीलता और सामाजिक बदलाव

उपर्युक्त विवरण से सामाजिक स्तरीकरण और शिक्षा के संबंध के केवल एक पहलू पर रोशनी पड़ती है। इससे यह धारणा बन सकती है कि आधुनिक शिक्षा का लाभ केवल उन लोगों को मिलता है जो सामाजिक, आर्थिक रूप से अच्छी स्थिति में हैं और जो विभिन्न आधुनिक व्यवसायों के क्षेत्र में हैं। विवरण का दूसरा पहलू कहता है कि औपचारिक शिक्षा के लाभ कमोवेश हरेक को मिलते हैं, चाहे उनकी जाति, व्यवसाय और आर्थिक पृष्ठभूमि कुछ भी हो।

पारंपरिक भारतीय समाज में शिक्षा संस्थाओं पर निश्चित रूप से ऊँची जातियों/वर्गों के लोगों का एकाधिकार था। इसमें कोई शक नहीं कि शिक्षा के अवसरों का बड़ा हिस्सा प्रभुत्वशाली तबकों के लोग हथिया लेते थे, लेकिन बहुधा पिछड़े समुदाय के लोगों ने भी शिक्षा संस्थाओं का लाभ उठाया है। इसके प्रमाण में एकलव्य और कर्ण के पौराणिक चरित्रों का उदाहरण दिया जा सकता है।

भारत में औपनिवेशिक राज़ के पदार्पण के साथ पारंपरिक शिक्षा व्यवस्था की जगह अंग्रेजी ढंग की औपचारिक शिक्षा ने ले ली। नयी शिक्षा व्यवस्था धर्मनिरपेक्ष और कहीं अधिक मुक्त थी। अब, स्कूलों और कालेजों में दाखिला लेने में किसी भी समुदाय पर कोई पाबंदी नहीं थी। यह एक बिल्कुल अलग मामला है कि औपनिवेशिक शिक्षा व्यवस्था भी हमारे समाज के विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग के लिए कहीं अधिक लाभकारी साबित हुई। लेकिन तथ्य अब भी यही है कि अनगिनत लड़कियों अनगिनत जन जातियों और

दूसरे पिछड़े वर्गों के लोगों के पास औपचारिक शिक्षा की विभिन्न संस्थाओं में दाखिला लेने का विकल्प था। अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जनजातियों जैसे कमजोर वर्गों के उत्थान के लिए अनेक सुविधाएं हैं। उनके लिए फीस माफी और वजीफे की व्यवस्था है। उनके लिए विभिन्न शैक्षिक संस्थाओं में दाखिले लेने के लिए आयु सीमा और अंक प्रतिशत में भी छूट की व्यवस्था है। उचित आवास के लिए उनके लिए कई स्थानों पर अलग छात्रावास बनाये गये हैं।

शिक्षा व्यवस्था में वदलावों का ऊपर जो संक्षेप में विवरण दिया गया है उनके परिणामस्वरूप व्यापक तौर पर सामाजिक वदलाव और गतिशीलता की स्थिति वनी है। आजाद भारत में हमारे समाज के परंपरा से पिछड़े वर्गों ने अपनी जीवन दशाओं में काफी सुधार किया है। वे अपेक्षित स्तर तक तो नहीं उठ पाये हैं, फिर भी जीवन के हर क्षेत्र में उनकी प्रभावशाली उपस्थिति है। विशेष तौर पर राजनीति के क्षेत्र में अन्य पिछड़ी जातियां एक जबरदस्त शक्ति के रूप में उभरी हैं। इस प्रक्रिया में उनके पढ़े लिखे नेताओं ने सबसे बड़े प्रेरक के रूप में काम किया है।

30.7 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण सभी समाजों में समान है। यह शिक्षा व्यवस्था को बहुत हद तक प्रभावित करता है। विभिन्न सामाजिक स्तरों का शिक्षित होने की क्षमता पर सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक प्रस्थिति और वर्ग स्थिति जैसे अनेक आयामों का प्रभाव पड़ता है।

हमने देखा कि व्यावसायिक भेद और विशेषज्ञता के विकास के साथ, सामाजिक स्तरीकरण की वर्ग-जाति व्यवस्था में वैदिक काल के उत्तरार्द्ध से और उसके बाद स्थिरता आयी। ब्राह्मणों ने वैदिक अध्ययन और पुरोहिती में विशेषज्ञता हासिल की। दूसरी द्विज जातियों को भी टोलों और पाठशालाओं में पढ़ने की अनुमति थी। लेकिन शूद्रों, स्त्रियों और अछूतों के धार्मिक ग्रन्थों को पढ़ने पर पाबंदी थी। निम्न जातियों को अपनी जाति के पारंपरिक व्यवसायों को ही अपनाना पड़ता था। विशेष अधिकार प्राप्त जातियों और वर्गों के लोग संस्कृत के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करते थे। लेकिन विशेष अधिकारों से वंचित लोगों के लिए संवाद का माध्यम प्राकृत या पाली भाषा थी। इस तरह की दोहरी और समांतर शिक्षा व्यवस्था भारत में हिंदुओं के बीच मध्यकाल के दौरान बनी रही। इसके अलावा, मुसलमानों ने भी इस्लाम की शिक्षा के लिए अपने मकतबे और मदरसे बना लिये। फारसी को दरबारी भाषा और शिक्षा माध्यम के रूप में भी अपनाया गया। लेकिन आबादी के बहुसंख्यक विशेष अधिकारों से वंचित वर्ग–जिसमें किसान, दस्तकार और मजदूर आते थे–विभिन्न क्षेत्रीय भाषाओं में ही पारंपरिक हुनर सीखते थे।

भारत में औपनिवेशिक राज के दौरान एक आधुनिक शिक्षा व्यवस्था के विकास के बारे में भी हमने चर्चा की। प्राइमरी से विश्वविद्यालय स्तर की शिक्षा देने वाली संस्थाओं को सभी के लिये मुक्त रखा गया, चाहे उनकी जाति, धर्म, प्रजाति या लिंग कुछ भी हो। लेकिन, फिर भी, नयी शिक्षा व्यवस्था के लाभ मुख्य तौर पर ऊंची जातियों और वर्गों ने ही हथियाये। इसके अलावा, अंग्रेजी काल के दौरान एक समांतर शिक्षा व्यवस्था व्याप्त रही। अच्छे साज-समान वाले, अंग्रेजी माध्यम के तथाकथित पब्लिक स्कूल विशेष अधिकार प्राप्त जातियों और वर्गों की आवश्यकताओं को पूरा करते थे। लेकिन विशेष अधिकारों से वंचित लोगों के बच्चों को घटिया स्कूलों और कालेजों में जाना होता था। इसके अलावा, इस समांतर शिक्षा व्यवस्था को, आजादी के बाद, सरकार ने, सैनिक स्कूल, केंद्रीय विद्यालय और हाल में नवोदय विद्यालय खोल कर और भी मजबूत कर दिया है। ये स्कूल निजी प्रबंध वाले पब्लिक स्कूलों की तर्ज पर बनाये गये हैं।

अनेक अध्ययनों की मदद से हमने देखा कि शिक्षा तक पहुंच के मामले में, विशेष तौर पर तकनीकी और व्यावसायिक शिक्षा जैसी उच्च स्तर की शिक्षा में, विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच काफी असमानता है। ऊंची जाति, व्यवसाय और आय स्तरों के लोगों को शिक्षा के सबसे अधिक लाभ मिले हैं। लेकिन निम्न स्तरों को बहुत कम लाभ मिले हैं, जबकि अनुसूचित जातियों और अनुसूचित जन जातियों के लिए मुफ्त सुविधाएं दी गयी हैं। इस तरह, हम देखते हैं कि शिक्षा के क्षेत्र में विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच बहुत असमानता है। जाति, व्यवसाय और आय के संदर्भों में संरचित सामाजिक असमानता का प्रतिबिम्ब शिक्षा के क्षेत्र में देखने को मिलता है।

30.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

अल्टेकर, ए.एस., 1965, 'एजुकेशन इन एंशियेंट इंडिया', वाराणसी : नंद किशोर।

भाटिया, एस.सी. 1982. *"एजूकेशन एण्ड सोशियो-कल्चरल डिसएडवांटेज"*. दिल्ली: जैरेजस पब्लिशर्स।

डिसूजा, अलेक्ड. 1974. *"इंडियन पब्लिक स्कूल्स–ए सोशियोलाजिकल स्टडी"*. नई दिल्ली : स्टर्लिंग पब्लिशर्स।

गोरे, एम. एस., देसाई, आई. पी. और चिटनिस, एस. (संपा). 1975. *"पेपर्स इन द सोशियोलाजी ऑफ एजूकेशन इन इंडिया"*. नई दिल्ली : एन. सी. ई. आर. टी.।

30.9 शब्दावली

समांतर शिक्षा व्यवस्था : ऐसी शिक्षा व्यवस्था जिसमें अधिकार प्राप्त वर्ग के लिये बढ़िया साज़-समान वाली, श्रेष्ठ शिक्षा होती है और विशेष अधिकारों से वंचित वर्गों के लिये घटिया शिक्षा।

सामाजिक स्तरीकरण : इसका अर्थ है समाज का विभिन्न सामाजिक स्तरों में बांटा जाना। सामाजिक अस्तित्व और सामाजिक मूल्यों नियमों में उनकी स्थिति को देखकर ऊंचा या नीचा स्थान दिया जाता है। एक विशेष सामाजिक स्तर दूसरे सामाजिक स्तरों की तुलना में श्रेष्ठ या नीच विशेष अधिकार प्राप्त या उनसे वंचित, प्रभुत्वशाली या प्रभुत्व के अधीन हो सकता है। इस तरह, सामाजिक स्तरीकरण में विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच संरचित असमानता का व्यवस्थित नियमन शामिल होता है।

30.10 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ग
2) ख
3) ग

बोध प्रश्न 2

1) ग
2) ग
3) घ

बोध प्रश्न 3

1) ख
2) (क) 30 (ख) सबसे बड़ा
3) हां

बोध प्रश्न 4

1) हां
2) क
3) नहीं

इकाई 31 वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता

इकाई की रूपरेखा

31.0 उद्देश्य
31.1 प्रस्तावना
31.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
  31.2.1 पारंपरिक भारत
  31.2.2 उपनिवेश काल
31.3 खेतिहर वर्ग और सामाजिक गतिशीलता
  31.3.1 भूमि सुधार और वर्गीय ढांचे में बदलाव
  31.3.2 हरित क्रांति का प्रभाव
31.4 शहरी वर्ग और सामाजिक गतिशीलता
  31.4.1 सामाजिक वर्ग
  31.4.2 सामाजिक गतिशीलता
31.5 सारांश
31.6 शब्दावली
31.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
31.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

31.0 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आपको इस योग्य होना चाहिए कि आप:

- वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता के संबंध को समझ सकें,
- संक्षेप में, इस मामले की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को जान सकें, और
- विस्तार से, आजादी के बाद भारत में इसकी स्थिति पर चर्चा कर सकें।

31.1 प्रस्तावना

एक साधारण, खानाबदोश और आदिम समाज से विकसित और जटिल स्वरूप के समाज में विकास की प्रक्रिया के दौरान मानव समाज ने विभिन्न सामाजिक वर्गों में समाज के विभाजन को देखा है। सामाजिक वर्गों का विकास स्थिर और सुस्पष्ट सामाजिक स्तरों के रूप में हुआ है। विभिन्न वर्गों के बीच का संबंध बराबरी का नहीं है। सामाजिक वर्गों की धन, राजनीति शक्ति और प्रस्थिति जैसे सामाजिक संसाधनों तक पहुंच असमान है। समाज विभिन्न सामाजिक वर्गों के बीच संघर्ष और सहयोग की प्रक्रिया से होकर निकल है। समाज में वर्ग संघर्षों और उत्पादन के तरीके में बदलावों के फलस्वरूप वर्गीय स्तरीकरण में मौलिक बदलाव देखे गये हैं।

वर्ग के अध्ययन के प्रति दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोण हैं, गुणात्मक (attributional) और अंतरक्रियात्मक (interactional):

1) गुणात्मक दृष्टिकोण में, व्यक्ति या परिवार के आय, व्यवसाय और शिक्षा जैसे गुणों के आधार पर उच्च, मध्यम और निम्न वर्गों में प्रस्थितियों की श्रेणियां बनाने पर जोर दिया जाता है।
2) "अंतरक्रियात्मक" दृष्टिकोण में मुख्य ध्यान उत्पादन के साधनों के साथ संबंध जैसे मसलों में विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच संबंध पर दिया जाता है।

फिर भी, वर्ग पर आधारित विभाजनों वाले समाज का पूरी तौर पर सामाजिक स्तरीकरण की बंद व्यवस्था होना आवश्यक नहीं है। इसमें वर्ग की सीमाओं के आर-पार व्यक्तियों, परिवारों या सामाजिक समूहों के लिए गतिशीलता की गुंजाइश होती है। वर्गीय श्रेणीबद्धता में सामाजिक गतिशीलता "ऊर्ध्वाधर" (खड़ी) य "समस्तर" (पड़ी) स्थिति में हो सकती है (इस विषय पर विस्तार से चर्चा ई.एस.ओ.-04 के खंड 3 की इकाई 10 में की गयी है)।

ऊर्ध्वाधर सामाजिक गतिशीलता दो प्रकार की होती है — अर्थात् उर्ध्वगामी (निम्न से उच्च वर्ग की ओर),

और अधोगामी (उच्च से निम्न वर्ग की ओर)। समस्तर सामाजिक गतिशीलता एक ही वर्ग में एक विशेष स्थिति से दूसरी सामाजिक स्थिति की ओर जाने की अवस्था होती है। इसलिए सामाजिक गतिशीलता की प्रकृति अन्तरवर्गीय, वर्ग के विभिन्न समूहों के बीच भी होती है और अंतःवर्गीय भी (अर्थात् एक ही वर्ग के विभिन्न समूहों के बीच भी)।

फिर भी, इस विषय को और अच्छे ढंग से समझने के लिये, हमने इस इकाई को विभिन्न अनुच्छेदों में बांटा है। शुरुआत हम पारंपरिक वर्गीय स्तरीकरण और सामाजिक गतिशीलता की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि से कर रहे हैं। फिर हम खेतिहर और शहरी पृष्ठभूमि में आजादी के बाद की स्थिति पर ध्यान केंद्रित करेंगे।

31.2 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय समाज का इतिहास युगों पुराना है। ग्रामीण, शहरी और आदिवासी बस्तियाँ इस देश में युगों से रही हैं, हालांकि उनके बीच अंतरक्रिया विभिन्न अंशों में रही है। विभिन्न सामाजिक वर्गों का इस देश में उदय, विकास और पतन हुआ है।

31.2.1 पारंपरिक भारत

अंग्रेजी राज से पूर्व का पारंपरिक भारतीय समाज कृषि प्रधान था। सामान्य से अधिक कृषि उत्पादन के फलस्वरूप कसबों और शहरों, व्यापार और वाणिज्य का विकास हुआ और राज्य शक्ति का उदय हुआ और उसकी स्थिति मजबूत हुई (इस प्रक्रिया पर ई.एस.ओ.-04 के खंड 2 की इकाई 6 में विस्तार से चर्चा की गयी है)। इन विकासों के साथ एक वर्गीय स्तरीकरण वाले समाज का भी विकास हुआ। पारंपरिक वर्गीय श्रेणियों में राजा, सामंती सरदार, पुरोहित, सौदागर, किसान, दस्तकार, मजदूर और गुलाम आते थे।

इन वर्गीय श्रेणियों को दो बड़े वर्गों में रखा जा सकता है, अर्थात् विशेष अधिकार प्राप्त शोषक वर्ग और विशेष अधिकारों से वंचित शोषित वर्ग। विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग में आने वालों राजा, सामंती, सरदार पुरोहित और अमीर सौदागर ऐश की जिंदगी जीते थे लेकिन उत्पादक श्रम में हिस्सा नहीं लेते थे। दूसरी ओर, आम वर्ग के किसान, मजदूर, दस्तकार, कारीगर और गुलाम कड़ी मेहनत करके भी दयनीय जिंदगी बिताते थे। वास्तव में, आबादी की बड़ी संख्या वाले आम अवाम को अल्पसंख्यक शासक वर्ग की आवश्यकताओं और आनंद के साधन जुटाने होते थे।

पारंपरिक व्यवस्था के तहत, सामाजिक गतिशीलता तीन स्तरों पर संभव थी, अर्थात् व्यक्ति, परिवार और समूह के स्तरों पर। गतिशीलता के दो महत्वपूर्ण स्रोत थेः (1) राजनीतिक व्यवस्था की, विशेष तौर पर निचले स्तरों पर, अनिश्चितता, और (2) सीमान्त-भूमि का उपलब्ध होना जिसे जुतवाया जा सकता था। संचार के आधुनिक साधनों के न होने और पिछड़ी प्रौद्योगिकी के कारण, शासक वर्ग अपने अधिकार देश के दूर-दराज क्षेत्रों और प्रांतों में अपने मातहतों को दे देते थे। इससे होता यह था कि शासक को कर या नजराना देने वाले स्थानीय सरदार राजनीतिक अस्थिरता के दौर में अपनी स्वायत्तता का ऐलान कर देते थे, और राजनीतिक अस्थिरता के ये दौर अक्सर ही आते रहते थे।

इसके अलावा, जूतने लायक भूमि आसानी से उपलब्ध होने के कारण भी सामाजिक गतिशीलता सुलभ हुई। भारतीय शासकों ने सरदारों और पुरोहितों को जुताई के विस्तार के लिये भूमि दान की। इससे इन सरदारों और पुरोहितों की सामाजिक प्रस्थिति बढ़ी। इससे किसानों, मजदूरों, कारीगरों और दस्तकारों को भी ये अवसर मिले कि वे एक स्थान से दूसरे स्थान को जा सकें। स्थानिक गतिशीलता (अर्थात् एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने) की इस गुंजाइश ने आम आदमी पर शासकों की ज्यादतियों पर रोक लगाने का काम किया। स्थानिक गतिशीलता से परिवारों को भी ये अवसर मिले कि वे नये क्षेत्रों में खेती का काम अपनाकर किसान वर्ग में प्रवेश करें। इस तरह, सामाजिक गतिशीलता पारंपरिक वर्गीय स्तरीकरण वाले समाज में संभव थी । लेकिन यह बहुत सीमित थी।

31.2.2 उपनिवेश काल

उपनिवेश काल के दौरान भारत के समाज, राज्यतंत्र और उसकी अर्थव्यवस्था में दूरगामी बदलाव हुए। देश में एक अंग्रेजी राज के तहत पूंजीवादी अर्थव्यवस्था और नयी प्रौद्योगिकी लागू हुई और आधुनिक प्रशासनिक-सैनिक संगठन और एक अकेली सर्वोच्च राजनीतिक शक्ति का उदय देखने को मिला। सामाजिक गतिशीलता के नये मार्ग व्यापार, वाणिज्य, उद्योग, शिक्षा और सेवाओं के क्षेत्र में खुले। इसके फलस्वरूप

समाज के ढ़ांचे में एक बुनियादी बदलाव आया। भारतीय समाज, धीरे-धीरे और रुक कर ही सही, पूंजीवादी विकास की राह पर चल पड़ा। यह बदलाव की स्थायी प्रक्रिया हो गयी।

औपनिवेशिक शासकों की नयी नीति के कारण खेतिहर वर्ग के ढांचे में एक महत्वपूर्ण बदलाव आया। अंग्रेजों ने देश के विभिन्न भागों में तीन तरह की मालगुजारी का बंदोवस्त किया—जमींदारी व्यवस्था, रैयतवाड़ी व्यवस्था और महलवाड़ी व्यवस्था। इन तीनों व्यवस्थाओं के फलस्वरूप गांवों में कमोवेश एक ही तरह का वर्गीय ढांचा बना। मुख्य खेतिहर वर्गों में जमींदार, काश्तकार, और खेतिहर मजदूर आते थे। जमींदार कर वसूलने वाले और भूमि के न जोतने वाले स्वामी थे जो भूमि के किराये का एक अंश औपनिवेशिक शासकों को देते थे। काश्तकार भूमि के असली जोतदार होते थे जिनके पास भूमि की काश्तकारी की अवधि के बारे में भी कोई निश्चितता नहीं थी। अंतिम बात, देश के अधिकांश भागों में खेतिहर मजदूरों की प्रस्थिति बंधुआ और वंशानुगत मजदूरों की थी।

कृषि के क्षेत्र में पूंजीवाद के धीरे-धीरे घुस जाने की प्रक्रिया ने किसानों की और भी दुर्दशा कर दी। मालगुजारी के भुगतान, जमीन और आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन के खरीदने-बेचने में धन के और अधिक इस्तेमाल होने से जजमानी की पारंपरिक व्यवस्था का टूटना शुरू हो गया।

उपनिवेश काल के दौरान स्वदेशी ग्रामीण उद्योग और शहरी दस्तकारी के नष्ट हो जाने से इन लोगों को अपनी रोजी-रोटी कमाने के लिये खेती के क्षेत्र में जाना पड़ा जिससे वहां भीड़-भाड़ बढ़ गयी। यह अधोगामी सामाजिक गतिशीलता की एक और मिसाल है।

नयी मालगुजारी की नीति का एक और अहम परिणाम पुराने जमींदारों की अधोगामी (नीचे की ओर) सामाजिक गतिशीलता और नयी जमींदारी के उदय के रूप में सामने आया। इस तरह की जमींदारी आमतौर पर कसबों में रहने वाले सौदागरों और दूसरे पैसे वाले वर्गों को बेची जाती थी। इसके अलावा, किसानों और राज्य के बीच किराया वसूलने वाले गैर-जोतदार बिचौलियों की एक लंबी कड़ी बन गयी क्योंकि जमींदारों का भूस्वामियों ने मालगुजारी वसूलने का पट्टा दूसरों के नाम कर दिया।

इसके अलावा, आधुनिक मशीन-आधारित उद्योग के उदय और विकास ने अखिल भारतीय चरित्र के दो नये सामाजिक वर्गों को जन्म दिया–शहरी, औद्योगिक क्षेत्रों में औद्योगिक मजदूर वर्ग या सर्वहारा और पूंजीवादी या बुर्जुआ (मध्यम वर्ग)।

यहां इस बात पर ध्यान देना होगा कि भारतीय बुर्जआ की जड़ें व्यापार और वाणिज्य में थीं और औद्योगिक सर्वहारा किसानों, खेतिहर मजदूरों, कारीगरों और दस्तकारों की पृष्ठभूमि से आये। वे शहरी और देहाती दोनों पृष्ठभूमियों से थे। इसलिये, हमें इस संदर्भ में व्यवसाय और स्थान के संबंध में सामाजिक गतिशीलता देखने को मिलती है।

उपनिवेश काल के दौरान दो और सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। व्यापारियों और दुकानदारों का लघु-मध्यम (पेटी बुर्जुआ) वर्ग आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था से बंधा था। इसके अलावा, एक नयी (ऊंची बौद्धिक किस्म के) शिक्षा व्यवस्था और नौकरी के नये अवसर बनने के कारण नौकरशाही व्यवसायों और दूसरे अधिशासी स्तर के व्यवस्थाओं में लगे एक आधुनिक मध्यम वर्ग का उदय हुआ, ये दो व्यापक वर्गों–उच्च और निम्न स्तर में बंटे।

यह देखा गया है कि पारंपरिक वर्गों और नये वर्गों के बीच परस्पर व्यापन प्रवृत्ति काफी रही है। पारंपरिक वर्गीय श्रेणीबद्धता में बदलाव के साथ वर्गीय श्रेणीबद्धता की प्रकृति में भी बदलाव आया। अर्थव्यवस्था, प्रशासन और ऊंचे बौद्धिक किस्म के व्यवसायों में बने नये अवसरों के कारण समस्तर धरातल पर पुरानी से नयी वर्गीय श्रेणीबद्धता की ओर सामाजिक गतिशीलता सुलभ हो गयी। पारंपरिक विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग आधुनिक विशेष अधिकार प्राप्त वर्ग बन गया और पारंपरिक विशेष अधिकार वंचित वर्ग नये लेकिन नीची प्रस्थिति के कम पैसों वाले व्यवसायों में लग गया। एम.एन. श्रीनिवास के अनुसार "नये अवसरों का लाभ, कम से कम उच्च स्तर पर, आमतौर पर ऊंची जातियों ने लिया, जिसके फलस्वरूप पारंपरिक और नये कुलीनों के बीच कोई फरक नहीं रहा"। योगेन्द्र सिंह के अनुसार, अंग्रेजों को सफलता मिली तो केवल "भारत में वर्ग संचरण की प्रकृति बदलने में, इसका सामाजिक आधार बदलने में नहीं। जो मध्यम वर्ग उभर कर सामने आया उसने भर्ती या नियुक्ति और सामाजिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में पहले के वर्गीय ढांचे के साथ संरचनात्मक निरंतरता को बनाये रखा।" फिर भी, समाज के पारंपरिक रूप से वंचित वर्ग के कुछ व्यक्तियों और व्यक्ति समूहों में ऊर्ध्वगामी गतिशीलता बहुत कम स्तर पर बनी।

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर पर (√) निशान लगायें :

1) वर्ग के प्रति अंतरक्रियात्मक दृष्टिकोण में किस पर जोर दिया जाता है?
   क) व्यक्तियों या परिवारों के गुण
   ख) उत्पादन के साधनों के साथ संबंध
   ग) जातिगत हैसियत
   घ) इन सभी

2) पारंपरिक विशेष अधिकार प्राप्त और शोषक वर्ग में शामिल थे—
   क) राजा और सामंती सरदार
   ख) धनी व्यापारी और सौदागर
   ग) पुरोहित
   घ) ये सभी

3) अंग्रेजों ने भारत में कौन से मालगुजारी बंदोबस्त लागू किये?
   क) जमींदारी व्यवस्था
   ख) महलवाड़ी व्यवस्था
   ग) रैयतवाड़ी व्यवस्था
   घ) ये सभी

4) आधुनिक भारत में औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप जिन नये प्रमुख सामाजिक वर्गों का उदय हुआ, वे हैं—
   क) किसान और भूस्वामी
   ख) जमींदार और पट्टेदार
   ग) बुर्जुआ और सर्वहारा
   घ) इनमें से कोई भी

31.3 खेतिहर वर्ग और सामाजिक गतिशीलता

अंग्रेजी औपनिवेशिक राज से भारत को आजादी दिलाने के संग्राम में विभिन्न सामाजिक वर्गों ने योगदान दिया। किसानों ने अपने वर्ग शत्रु को पहचाना। उन्होने अपने दो शोषकों–विदेशी शासकों और स्थानीय जमींदारों और महाजनों के खिलाफ संघर्ष किया। किसानों और खेतिहर मजदूरों का संघर्ष देहातों के अर्ध-सामंती और पूंजीवादी शोषण और दमन का खात्मा करने के लिये आजादी के बाद भी चलता रहा।

31.3.1 भूमि सुधार और वर्गीय ढांचे में बदलाव

किसानों के संघर्ष से प्रेरणा लेकर, भारत में आजादी के बाद भूमि सुधार के कई उपाय किये गये। भूमि सुधार लोगों का जीवन स्तर सुधारने की दृष्टि से सामंती कृषि ढांचे को तोड़ने, कृषि उत्पादनों में बढ़ोत्तरी करने और कृषि को गतिशील बनाने के लिये आवश्यक थे।

भूमि सुधार का पहला उपाय था–जमींदारी व्यवस्था का उन्मूलन, जिसका लक्ष्य असली जोतदार न होकर केवल मालगुजारी की वसूली में लगे होने वाले जमींदारों और अन्यों के बिचौलियों हितों को खत्म करके किसानों को राज्य के साथ सीधे संबंध में लाना था। दूसरे, काश्तकारी सुधार के उपायों का उद्देश्य मालगुजारी की दर को कम करना, काश्तकारी की सुरक्षा किसानों के हित में करना और काश्तकारों के लिये मालिकाना अधिकार हासिल करने को सुगम बनाना। तीसरे, खेती योग्य अतिरिक्त भूमि को बड़े भूस्वामियों या जमींदारों से लेकर उन्हें भूमिहीन खेतिहर मजदूरों और सीमान्त (मार्जिनल) किसानों में बांटने के उद्देश्य से पारिवारिक काश्तकारी पर सीमा बांध दी गयी। लेकिन व्यक्तिगत खेती के लिये भूमि को अपने पास ही रखने के प्रावधान का इस्तेमाल कर देहाती जमींदारों और दूसरे बिचौलियों ने किसानों की जमीन हथिया ली। इसके परिणामस्वरूप काश्तकारों, विशेष तौर पर छोटे काश्तकारों, की बेदखली हो गयी। लेकिन, फिर भी, शहरी भूस्वामियों की अनुपस्थित ज़मींदारी बहुत हद तक कम हो गयी है और किसानों के एक वर्ग ने भूमि का स्वामित्व ले लिया है।

जमीन का बंटवारा करके और उन्हें पारिवारिक सदस्यों रिश्तेदारों और मित्रों के नाम स्थानांतरित करके या अतिरिक्त भूमि को बेच कर जमींदार, काश्तकारी पर लगी सीमा संबंधी नियमों से बच निकले हैं। इसका

नतीजा हुआ कि जमींदारों और धनी किसानों के हाथों में जमीन के संकेंद्रित होने पर अधिक असर नहीं पड़ा है। आजादी के 25 वर्षों के बाद भारतीय गांवों में जो वर्गीय ढांचा उभरकर सामने आया, उसका व्यापक अखिल भारतीय स्थिति का चित्र ए.आर. देसाई ने पेश किया है। यह इस प्रकार है:

1) पंद्रह एकड़ या उससे अधिक भूमि और कुल भूमि के 50% का स्वामित्व रखने वाले धनी किसानों और जमींदारों के वर्ग कुल आवादी में 7% हैं।
2) पांच और 15 एकड़ के बीच भूमि और कुल आबादी में भूमि के 30% के मालिक मध्यम किसानों का प्रतिशत कुल आवादी का 19 है।
3) घाटे की खेती करने वाले, एक से पांच एकड़ के बीच और कुल भूमि के 17 प्रतिशत के मालिक गरीब किसानों का ग्रामीण आबादी में प्रतिशत 30 है।
4) बिना भूमि वाले या एक एकड़ से कम के और कुल भूमि के दो प्रतिशत के मालिक, खेतिहर मजदूरों का कुल आवादी में प्रतिशत 44 है।

डेनियल थॉर्नर ने तीन प्रमुख खेतिहर वर्गों की शिनाख्त की है। वह उन्हें क्रमशः मालिक, किसान और मजदूर कहते हैं। मालिक से उनका आशय उस परिवार से है जिनकी खेतिहर आय का स्रोत प्रमुख रूप से (आवश्यक नहीं कि यह एक मात्र स्रोत हो) जमीन में श्रेष्ठ स्वामित्व अधिकारों में होता है, जो किराये के रूप में होते हैं। इस वर्ग के लोग मजदूरों को किराये पर लेकर उनसे अपनी निगरानी में खेती करवाते हैं और खुद अपने हाथों से खेतों में काम नहीं करते। किसान या काम करने वाले किसान छोटे भूस्वामी या काश्तकार कहलाते हैं। जिनकी निश्चित सुरक्षा विभिन्न अंशों में होती है, और मालिक की अपेक्षा उनके जमीन के अधिकार निम्न श्रेणी के होते हैं। वे अधिकतर अपने ही श्रम पर निर्भर करते हैं और अपनी जमीनों से ही गुजारा चलाते हैं। मजदूर वे होते हैं जो दिहाड़ी या मेहनताने के रूप में अपनी रोजी-रोटी कमाते हैं, यह मेहनताना रुपयों-पैसों की या और किसी सूरत में भी हो सकती है। इस श्रेणी में लावनी करने (फसल काटने वाले) और स्वेच्छा से काश्तकार बने निचली श्रेणी के लोग आते हैं।

योगेंद्र सिंह के अनुसार स्वतंत्रता संग्राम के दौरान या आजादी के बाद की भूमि सुधार की विचारधारा और भूमि सुधारों के लिये किये गये वास्तविक उपायों में काफी अंतर है। धनी मध्यम स्तर के किसानों का एक नया वर्ग बन गया है। धनी और निर्धन किसानों के बीच आर्थिक असमानताओं में बढ़ोत्तरी हुई है। खेतिहर वर्गीय संरचना में इन अंतर्विरोधों के परिणामस्वरूप भारत के गाँवों में तनाव बढ़े हैं। अंतिम बात, ग्रामीण समुदाय में बदलाव की प्रक्रिया में बूर्जुआकरण (embourgeolsement) और सर्वहाराकरण (proletarianisation) की स्थिति साथ-साथ शामिल है।

सर्वहाराकरण और बूर्जुआकरण की अवधारणा का उपयोग खेतिहर वर्गीय स्तरीकरण में सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया को बताने के लिये किया गया है। सर्वहाराकरण से आशय उच्च वर्गों से निम्न वर्गों की ओर अधोगामी सामाजिक गतिशीलता से है। इसकी मिसाल छोटे और मार्जिनल किसानों में बार-बार देखी गयी है जो गरीबी के कारण अपनी जमीन वेच देते हैं और भूमिहीन खेतिहर सर्वहारा की कोटि में आ जाते है। इसके अलावा, भूतपूर्व जमींदारों के कुछ परिवारों के हाथ से भी उनकी जमीन जाती रही और वे शारीरिक श्रम करने लग गये। इस तथ्य को के.एल. शर्मा ने राजस्थान के छह गांवों के अपने अध्ययन में रेखांकित किया है।

बूर्जुआकरण से आशय सामाजिक गतिशीलता की उर्ध्वागामी प्रक्रिया से है जिसमें निम्न वर्ग के लोग अपनी वर्ग प्रस्थिति को बेहतर करके उच्च वर्ग में आ जाते हैं। इस प्रक्रिया को सर्वहाराकरण की प्रक्रिया का विलोम या उल्टा माना जा सकता है। इस प्रक्रिया में, निम्न वर्ग के व्यक्ति या परिवार आर्थिक प्रस्थिति, सामाजिक प्रतिष्ठा और शक्ति के स्तर में ऊंचे उठ जाते हैं और उच्च वर्ग में प्रवेश कर जाते हैं।

31.3.2 हरित क्रांति का प्रभाव

खेतिहर सामाजिक-आर्थिक विकास की एक वहुत महत्वपूर्ण प्रक्रिया इस शताब्दी की छठवाँ दशक के मध्य में शुरू हुई, जिसे "हरित क्रांति" के नाम से जाना जाता है। यह आधुनिक काल में लागू की गयी प्रौद्योगिक बदलाव की प्रक्रिया की प्रतीक है। इस प्रक्रिया में, खेती में उच्च उत्पादकता वाले (एच वाई वी) बीजों, रासायनिक खादों, काफी पानी और ट्रैक्टरों, थ्रैसरों, हार्वेस्टरों, ट्यूववैलों जैसे खेती के आधुनिक यांत्रिक उपकरणों के इस्तेमाल पर जोर दिया जाता है। भारत में कृषि के विकास की इस नीति के साथ-साथ सरकार की ओर से ग्रामीण विकास के और कार्यक्रमों को शामिल किया गया है, और किसानों को वित्तीय सहायता देने के उद्देश्य से सहकारी समितियों और ग्रामीण बैंकों की स्थापना की गयी है। इस सबके परिणामस्वरूप फसल का घनत्व और उत्पादकता में काफी बढ़ोत्तरी हुई है।

हरित क्रांति की नीति का लक्ष्य प्रौद्योगिक बदलावों के जरिये कृषि उत्पादन को बढ़ाना था, जबकि भूमि

सुधार के उपायों का उद्देश्य उन्हीं लक्ष्यों को कृषि क्षेत्र में समानतावादी आधार पर संरचनात्मक बदलाव लाकर प्राप्त करना था। इसलिये, इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि हरित क्रांति के लाभ मुख्य तौर पर जमींदारों और धनी किसानों व बड़े भूस्वामियों के हाथ लगे।

इस शताब्दी के सातवें दशक में, डेनियल थॉर्नर ने शहरी आधार के "सज्जन किसानों" का देहातों में कुछ हरित क्रांति के क्षेत्रों की ओर भागने की स्थिति को रेखांकित किया है। इस तरह के किसानों में व्यापारी, व्यावसायिक लोग, सेवानिवृत्त सैनिक अधिकारी और सरकारी अधिकारी शामिल थे जिन्होंने जमीन खरीद कर कृषि उत्पादनों में पैसा लगाया। वास्तव में, इन "प्रगतिशील किसानों" की यह पूरी कार्यवाही एक सामंतवादी रियासत से कम और व्यापारिक उद्यम से ज्यादा मेल खाती थी।

खेतिहर संबंधों के अध्ययनों से यह बात सामने आयी है कि हरित क्रांति वाले क्षेत्रों में खेती के बहुत लाभदायक होने के कारण बड़े जमींदारों ने काश्तकारों को बेदखल करके और बटाईदारी खत्म करके जमीन को अपने लिये रख लिया। इसके फलस्वरूप कास्तकारों की भूमिहीन सर्वहारा वर्ग की ओर अधोगामी गतिशीलता की स्थिति बनी। अपनी कम और घाटे की जमीन और गरीबी के कारण ये किसान कृषि की महंगी आधुनिक लागत को वहन नहीं कर सकते। इसलिये, वे जमीन को पट्टे पर देकर खुद दिहाड़ी पर मजदूरी करना अधिक पसंद करते हैं। इसका परिणाम यह हुआ कि बड़े जमींदारों के पास वास्तविक नियंत्रण या कब्जे वाली जमीन की मात्रा बढ़ी है। खुद खेती करने वाले मध्यम किसानों को भी हरित क्रांति का अधिक लाभ नहीं मिला है क्योंकि उन्हें फसल के तुरंत बाद अपना अनाज बेचना पड़ता है जब कीमतें कम होती हैं। लेकिन बड़े जमींदार अनाज की जमाखोरी करते हैं और उसे बाद में तब बेचते हैं जब कीमतें बढ़ जाती हैं, और इस तरह अधिक मुनाफा कमाते हैं।

तमिलनाडु के अध्ययन में कैथलीन गफ ने देखा कि मुख्य तौर पर खेतिहर मजदूर वाले अर्ध-सर्वहारा पूंजीवादी विकास के साथ और भी सर्वहारा हो गये थे। उनका अपने उपकरणों, पट्टे की भूमि, वित्तीय सहायता वाले भू-भागों, सामान्य जमीनों, कारखानों, या रोजी-रोटी की दूसरे माध्यमों पर कम कब्जा रह गया था। उनमें से कुछ कम काश्तकार, बंधुआ मजदूर या दस्तकार थे जो गांव के प्रभुत्वशाली वर्ग की सेवा करते थे। कई और खेतिहर मजदूर थे जो कम से कम आंशिक तौर पर नकद दिहाड़ी पर निर्भर करते थे।

उत्सा पटनायक ने विभिन्न खेतिहर वर्गों की शिनाख्त की है। ये हैं जमींदार और मजदूर और धनी मध्यम और निर्धन किसान। जमींदार से भिन्न, एक धनी किसान खेती में कुछ शारीरिक श्रम भी कर लेता है। मध्यम किसान मुख्य तौर पर स्वरोजगार वाले होते हैं; जो परिवार के श्रम का सदुपयोग करते हैं। निर्धन किसान अपने आपको किराये पर उठाने पर बहुत अधिक निर्भर करते हैं क्योंकि उनके पास रोजी-रोटी कमाने लायक अत्याधिक भूमि नहीं होती।

बोध प्रश्न 2

सही उत्तर पर निशान (√) लगायें।

1) खेतिहर वर्ग को मालिक, किसान और मजदूर वर्ग में किसने बांटा?
   - क) कैथलीन गफ
   - ख) उत्सा पटनायक
   - ग) ए.आर. देसाई
   - घ) डैनियल थॉर्नर

2) सर्वहाराकरण ..... की प्रक्रिया है।
   - क) ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता
   - ख) समस्तर सामाजिक गतिशीलता
   - ग) स्थानिक सामाजिक गतिशीलता
   - घ) अधोगामी सामाजिक गतिशीलता

3) हरित क्रांति ..... का नाम है।
   - क) रूस में होने वाली क्रांति
   - ख) फ्रांस में होने वाली क्रांति
   - ग) भारत में कृषि उत्पादन के विकास के लिये बनी नीति
   - घ) चीन में होने वाली क्रांति

31.4 शहरी वर्ग और सामाजिक गतिशीलता

भारत में शहरी केंद्र युगों से रहे हैं। अब, देश की लगभग एक चौथाई आबादी कस्बों और शहरों में रहती है। शहरी लोग अधिकतर औद्योगिक और सेवा के क्षेत्र में काम करते हैं, जबकि देहाती क्षेत्रों के लोग अधिकतर कृषि और संबंधित क्षेत्रों में हैं। आजादी के बाद भारत सरकार ने जो औद्योगिक नीति बनायी उसका लक्ष्य तेज औद्योगीकरण के जरिये देश का आर्थिक विकास करना है। "मिश्रित अर्थव्यवस्था" की इस नीति में एक ऐसे ढांचे की व्यवस्था है जिसके तहत सामाजिक-आर्थिक विकास के काम को अंजाम देन है।

31.4.1 सामाजिक वर्ग

आजादी के बाद देश में औद्योगीकरण और शहरीकरण की गति में तेजी आने के साथ, यहां तीन मुख्य शहरी सामाजिक वर्गों-पूंजीवादी या बूर्जुआ, मजदूर वर्ग या सर्वहारा और मध्यम वर्ग की संख्या और प्रभाव में बढ़ोत्तरी देखने को मिली है।

पूंजीवादी वर्ग देश का सबसे शक्तिशाली वर्ग है। उनके पास औद्योगिक व्यापारिक और वित्तीय उद्यमों का स्वामित्व और/या नियंत्रण है। पूंजीवादियों का एकमात्र ध्येय निजी मुनाफे को अधिक से अधिक करना है, जो पूंजीवाद का बुनियादी सिद्धांत है। वे मजदूरों को उनके द्वारा बनाये गये सामानों या उनकी सेवाओं की तुलना में कहीं कम पैसे देकर उनका शोषण करते हैं। जमींदारों और धनी किसानों के साथ सांठ-गांठ करके वे अपने हितों के लिये व साधनों की गरज से राज्य की मशीनरी पर कब्जा जमा लेते हैं। वे अपने मुनाफे बढ़ाने के लिये राजनीति, नौकरशाही और व्यावसायिक स्तरों के प्रभुत्वशाली लोगों के साथ घनिष्ठ सहयोग और संपर्क साधकर प्रौद्योगिक जानकारी और पूंजी निवेश हासिल कर लेते हैं, जिससे राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था और जीवन में उनका प्रभुत्व और मजबूत हो जाता है।

शहरी मजदूर वर्ग में संगठित और असंगठित दोनों क्षेत्रों के दिहाड़ी मजदूर आते हैं। इस वर्ग में स्वतः नियोजित मजदूर जैसे खोमचे वाले, फेरीवाले, रेहड़ी वाले और रिक्शा वाले आदि भी आते हैं। इस वर्ग के बहुत ही कम लोग संगठित क्षेत्र में काम करते हैं। जो जैसे-तैसे अपना गुजारा कर लेते हैं। लेकिन शहरी सर्वहारा की एक बहुत बड़ी संख्या असंगठित क्षेत्र में काम कर रही है। शहरी मजदूर वर्ग गरीब, अशक्त और वर्णीय आधार पर अत्यधिक असंगठित है।

मध्यम वर्ग की स्थिति में आजादी के बाद बेहतरी आयी है। वे उत्पादन की प्रक्रिया से सीधे-सीधे नहीं जुड़े हैं। वे नौकरशाही, अध्यापन, पत्रकारिता, डाक्टरी और कई अन्य सेवाओं में लगे हैं वे उद्योगों में क्लर्की, निरीक्षण और अधिशासी स्थितियों में भी लगे हैं। मध्यम वर्ग के कुलीन वर्ग के लोग संख्या में बहुत कम हैं और उनकी जीवन दशा बेहतर है।

31.4.2 सामाजिक गतिशीलता

बढ़ते शहरीकरण, उद्योगीकरण और आधुनिकीकरण के कारण समस्तर और उर्ध्वाधर दोनों प्रकार की गतिशीलता संभव हुई है। रोजगार के नये अवसर और रास्ते खोल कर व्यवसाय के क्षेत्र में जो विविधता बनी उसने इस प्रक्रिया को सुगम कर दिया है। व्यक्तियों की सामाजिक गतिशीलता एक से दूसरी पीढ़ी के बीच अधिक है, एक ही पीढ़ी के व्यक्तियों के बीच कम। छोटे सामाजिक समूह और समुदाय भी वर्ग की सीमाओं के पार गतिशीलता पाने में समर्थ हुए हैं। जाति, समुदाय, गांव, पड़ोस, परिवार, धर्म और क्षेत्र के विशिष्ट बंधनों ने सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है। फिर भी, कुल मिलाकर सामाजिक गतिशीलता की दर बहुत कम रही है। पारंपरिक रूप से अच्छी स्थिति वाले वर्गों ने नये वर्गीय ढांचे में बेहतर स्थान प्राप्त कर लिये हैं। लेकिन पारंपरिक रूप से प्रतिकूल परिस्थिति में रहने वाले लोग आज भी निम्न स्थितियों में जीवन व्यतीत कर रहें हैं।

उद्योगपतियों (पूंजीपतियों) की पृष्ठभूमि का आकलन करने से पता चलता है कि देश के विभिन्न क्षेत्रों में कुछ विशेष जातियों और समुदायों का प्रभुत्व है। पूंजीवादी वर्ग के लोग अधिकतर ऊंची जातियों के हैं। कलकत्ता में मारवाड़ियों का प्रभुत्व है तो, पश्चिम में गुजराती बनियों का, दक्षिण में चेतियारों का, और उत्तर में अग्रवालों और अन्य बनिया समुदायों का। लेकिन कुछ उदाहरण ऐसे भी मिल जाते हैं जिनमें कुछ कारीगर और दस्तकार समुदायों ने उद्योग में कामयाबी हासिल की और उन्होंने ऊपर की ओर (ऊर्ध्वगामी) गतिशीलता बनायी। सतीश सबरवाल ने पंजाब में रामगरीया कारीगरों के उद्योगपति बन जाने के तथ्य को रेखांकित किया है। आगरा में, ओ.पी. लिंच ने पाया कि नीची जाति के जाटवों ने जूता बनाने का उद्योग

अपना लिया। लेकिन कारीगर और दस्तकार लोग अधिकतर लघु स्तर के क्षेत्र में मिलते हैं। किसी विशेष समुदाय के कुछेक व्यक्ति या परिवार ही सबसे ऊंचे वर्ग में पहुंच पाये हैं। इसके अलावा, यह देखा गया है कि कुछ भू-स्वामी जातियां भी उद्योग के क्षेत्र में आ रही है। इस कोटि में हावड़ा के महिष्य उद्योगपति, गुजरात के पटेदार, और आंध्र और तमिलनाडु के रेड्डी और नायडू आते हैं। कुछ ऊंची जातियों और समुदाय, जैसे ब्राह्मण और सीरियन ईसाई, भी हाल के वर्षों में उद्योग के क्षेत्र में आ रहे हैं। मजदूर वर्ग में मुख्य तौर पर शहरी और देहाती क्षेत्र में इसके अपने ही वर्ग के लोग आते हैं। हम देखते हैं कि मध्यम वर्ग के निचले स्तरों के कुछ व्यक्ति सर्वहारा वर्ग में आ गये। मजदूर वर्ग के कुछ व्यक्ति भी मध्यम वर्ग में चले जाते हैं। लेकिन सर्वहारा और बूर्जुआ वर्गों के बीच व्यक्तियों या परिवारों या समूहों की उर्ध्वाधर गतिशीलता बहुत ही कम देखने में आती है।

अंत में, हमें इस तथ्य पर ध्यान देना होगा कि देहाती लोगों के शहरों में जाने की जो स्थिति बनी उसमें वर्गीय हैसियत या स्थान के संदर्भ में बहुत अधिक समानता पायी जाती है (अर्थात् ग्रामीण जिस प्रस्थिति से निकलकर शहर में आते हैं, लगभग वैसी ही प्रस्थिति वाले काम वे शहर में करते हैं)। जमींदारों और धनी किसानों के परिवारों के अधिकतर लोग शहरी क्षेत्रों के मध्यम वर्गीय व्यवसायों में प्रवेश कर जाते हैं। उनमें से कुछ शहरी पूंजीवादी उद्यमियों में भी शामिल हो जाते हैं। लेकिन भूमिहीन खेतिहर मजदूरों, मार्जिनल और छोटे किसानों की पृष्ठभूमि में आये लोग शहरी मजदूर वर्ग में शामिल होते हैं। वास्तव में, देहाती और शहरी दोनों क्षेत्रों में वर्ग की सीमाओं के पार सामाजिक गतिशीलता बहुत कम अंश में है।

बोध प्रश्न 3

1) आजादी के बाद उद्योगीकरण के साथ किन तीन मुख्य शहरी वर्गों की संख्या और प्रभाव में बढ़ोत्तरी हुई है?
2) पूंजीवादी ..... है।
   क) उत्पादन के साधनों के मालिक
   ख) समाज के कमजोर वर्ग के लोग
   ग) संपत्ति के गैर-मालिक
3) मध्यम वर्ग ..... है।
   क) उत्पादन के साधनों की प्रक्रिया में सीधे शामिल नहीं
   ख) उत्पादन की प्रक्रिया में सीधे शामिल
   ग) भारत में नहीं पाया जाता
4) सर्वहारा वर्ग ..... का नाम है।
   क) मजदूर वर्ग
   ख) पूंजीवादी
   ग) सौदागरों

31.5 सारांश

इस इकाई में हमने देखा कि मानव समाज के ढांचे ने एक आदिम और सरल रूप से एक विकसित और जटिल रूप में विकास किया है। इस प्रक्रिया में समाज का विभिन्न वर्गों में स्तरीकरण हुआ है। मानव जाति के इतिहास में विभिन्न सामाजिक वर्गों का उदय, विकास और पतन हुआ है। सामाजिक वर्गों की संपत्ति और शक्ति जैसे सामाजिक संसाधनों तक पहुंच में अंतर है।

वर्ग के निर्माण की अवधारणा को लेकर दो महत्वपूर्ण दृष्टिकोण है। "गुणात्मक" दृष्टिकोण में जोर आय, व्यवसाय और शिक्षा जैसे व्यक्तिगत या पारिवारिक गुणों के आधार पर उच्च, मध्यम या निम्न हैसियतें बनाने पर दिया जाता है। लेकिन, "अंतरक्रियात्मक" दृष्टिकोण में विभिन्न सामाजिक स्तरों के बीच संबंध जैसे, उत्पादन के साधनों से संबंध पर ध्यान दिया जाता है। इसके अलावा, हमने इस तथ्य को समझा कि वर्गीय स्तरीकरण पूरी तौर पर रूढ़ और बंद या अवरुद्ध नहीं रहा। व्यक्तियों, परिवारों छोटे समुदायों में सामाजिक गतिशीलता समस्तर और ऊर्ध्वाधर दोनों स्तरों पर हुई है। लेकिन, हमारे देश में सामाजिक गतिशीलता की दर बहुत सीमित रही है।

31.6 शब्दावली

बूर्जुआकरण : बूर्जुआकरण ऊर्ध्वगामी सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया है। उदाहरण के तौर पर, जब

मजदूर वर्ग या मध्यम किसानों के व्यक्ति या परिवार काफी जमीन खरीद कर खेती के लिये दिहाड़ी मजदूरों को लगा लेते हैं तो, इस प्रक्रिया को बूर्जुआकरण कहा जाता है।

सामाजिक स्तरीकरण : एक सरल और आदिम रूप से विकसित और जटिल रूप में विकास की प्रक्रिया के दौरान मानव समाज विभिन्न वर्गों में विभाजित हुआ जिनकी संपत्ति और शक्ति जैसे सामाजिक संसाधनों तक पहुंच में अंतर था। वर्ग की दो महत्वपूर्ण धारणाएं हैं —"अन्तरक्रियात्मक" और "गुणात्मक" दृष्टिकोण, जिनके विषय में हम इस इकाई में विस्तार से पढ़ चुके हैं।

हरित क्रांति : हरित क्रांति से आशय भारत में इस शताब्दी के छटवाँ दशक में अपनायी गयी कृषि विकास की नीति से है, जिसमें कृषि के आधुनिक यांत्रिक उपकरणों, रासायनिक खादों, काफी पानी और उच्च उत्पादकता वाले बीजों के इस्तेमाल पर जोर था।

सर्वहाराकरण : सर्वहाराकरण अधोगामी सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया है। जमींदारों द्वारा बेदखल कर दिया जाने पर किसानों की जमीन जाती रहती है, या वे स्वयं अपनी जमीन बेच कर खेतिहर दिहाड़ी मजदूरों के वर्ग में आ मिलते हैं यही सर्वहाराकरण की प्रक्रिया है।

बूर्जुआ : बूर्जुआ और सर्वहारा पूंजीवादी समाज के दो प्रमुख वर्ग हैं। बूर्जुआ को पूंजीवादी वर्ग भी कहा जाता है। इस वर्ग के पास संपत्ति, पूंजी या, उद्योग जैसे उत्पादन के साधनों का स्वामित्व और नियंत्रण होता है। पूंजीवादी वर्ग का मुख्य ध्येय सर्वहारा का शोषण करके अपने निजी मुनाफे को अधिक से अधिक करना होता है। वे उत्पादक श्रम में हिस्सा नहीं लेते, वे राज्य की मशीनरी पर नियंत्रण रखते हैं। वे शासक वर्ग के लोग होते हैं।

सर्वहारा : मजदूर वर्ग को सर्वहारा के नाम से जाना जाता है। इस वर्ग के पास उत्पादन के साधनों का स्वामित्व या नियंत्रण नहीं होता। मजदूर उत्पादक श्रम करके अपनी आजीविका कमाते हैं। वे आम तौर पर गरीब और शक्तिहीन होते हैं। वे पूंजीवादी वर्ग के शोषण और दमन के शिकार होते हैं। वे समाज के सबसे निचले स्तरों के लोग होते हैं।

31.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेते, आंद्रे. 1984 (1974). *स्टडीज इन ऐग्रेरियन सोशल स्ट्रक्चर* दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

डिसूजा, अल्फ्रेड (संपा.). 1983. *दि इंडियन सिटी* नई दिल्ली : मनोहर।

देसाई, ए. आर. (संपा). 1987. *रूरल सोशियोलॉजी इन इंडिया* मुम्बई : पॉपुलर प्रकाशन।

मिश्र, बी.बी. 1983 (1961). *दि इंडियन मिडिल क्लास* दिल्ली : ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

थॉर्नर, डैनियल. 1981 (1956). *दि ऐग्रेरियन प्रॉस्पेक्ट इन इंडिया* नई दिल्ली : अलाईड पब्लिशर्स प्रा. लि.।

31.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) ख
2) घ
3) घ
4) ग

बोध प्रश्न 2

1) घ
2) घ
3) ग

बोध प्रश्न 3

1) पूंजीवाद वर्ग या बूर्जुआ, मजदूर वर्ग या सर्वहारा, और मध्यम वर्ग।
2) क
3) क
4) क

इकाई 32 सामाजिक स्तरीकरण और सामाजिक परिवर्तन

इकाई की रूपरेखा

12.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 नियम एवं प्रक्रियाएं
32.2.1 जाति-वर्ग स्तरीकरण
32.2.2 परिवर्तन की प्रक्रियाएं
.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि
32.3.1 पारम्परिक अवस्था
32.3.2 औपनिवेशिक काल
.4 स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक परिवर्तन
32.4.1 परिवर्तन के क.
32.4.2 ग्रामीण सामाजिक स्तरीकरण एवं परिवर्तन
32.4.3 नगरीय सामाजिक स्तरीकरण एवं परिवर्तन
.5 सारांश
.6 शब्दावली
..7 कुछ उपयोगी पुस्तकें
1.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

32.0 उद्देश्य

इस इकाई के अध्ययन के बाद, आपके द्वारा संभव होगा :

- सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन की अवधारणाओं, नियमों (Principles) तथा प्रक्रियाओं (Processes) की विस्तृत जानकारी,
- अंग्रेजी शासन से पूर्व के भारत में सामाजिक स्तरीकरण एवं परिवर्तन के प्रतिमान को समझना,
- स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक स्तरीकरण के प्रतिमान तथा सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया की विस्तृत व्याख्या, तथा
- इस विषय पर सम्पूर्ण जानकारी व समझ होना।

32.1 प्रस्तावना

सामाजिक स्तरीकरण का तात्पर्य समाज का विभिन्न सामाजिक स्तरों में विभाजन है। समाज में विभिन्न स्तरों का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्ति के विभिन्न समूह, धन, सामाजिक प्रस्थिति एवं राजनैतिक शक्ति से सम्बन्धित संरचित असमानताओं की एक व्यवस्था बनाते हैं। हम सामाजिक स्तरों के मध्य आर्थिक असमानता देखते हैं, जैसे कि भूमि, कारखानों, वित्तीय संस्थाओं व वाणिज्यिक उद्यमों पर स्वामित्व व नियंत्रण आदि के मामले में। समृद्ध आर्थिक स्थिति को उच्च सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त होती है तथा राजनैतिक संस्थाओं पर नियंत्रण एवं प्रभाव होता है। जबकि निम्न सामाजिक स्तरों को सामाजिक प्रस्थिति व राजनैतिक प्रभाव भी निम्न प्राप्त होता है। इस प्रकार, विभिन्न सामाजिक स्तर सामाजिक रूप से ऊंच-नीच के क्रम विन्यास में रखे जाते हैं, जिसके कारण सम्पत्ति, प्रस्थिति एवं राजनैतिक शक्ति तक उनकी पहुंच भी विभेदीकृत होती है।

समृद्ध एवं वंचित स्तरों के मध्य संघर्ष के कारण समाज में क्रांतिकारी ऐतिहासिक प्रयोग हुए हैं, ताकि संरचित सामाजिक असमानताओं का अंत किया जा सके तथा बीसवीं शताब्दी में एक समतावादी समाज व्यवस्था स्थापित की जा सके, जैसा कि सोवियत संघ, चीन एवं क्यूबा में हुआ। सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन को समझने के लिये इस इकाई को अनेक भागों में विभाजित किया गया है। सर्वप्रथम हम क्रमशः सामाजिक स्तरीकरण व सामाजिक परिवर्तन के नियमों व प्रक्रियाओं की विवेचना करेंगे। तदुपरांत हम पारम्परिक तथा औपनिवेशिक (colonial) भारत में सामाजिक स्तरीकरण व परिवर्तन पर

संक्षिप्त चर्चा करेंगे ताकि इस विषय की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि बता सकें। अंततः स्वतंत्रता के बाद से परिवर्तन के कारकों और सामाजिक स्तरीकरण व परिवर्तन के ग्रामीण व नगरीय आयामों का विस्तार से अध्ययन करेंगे।

32.2 नियम एवं प्रक्रियाएं

सामाजिक स्तरीकरण एवं सामाजिक परिवर्तन की किसी भी प्रकार की समझ हेतु इसके नियमों व प्रक्रियाओ को समझना अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

32.2.1 जाति-वर्ग स्तरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में दो महत्वपूर्ण नियम अथवा प्रारूप प्रयुक्त किये गये हैं। ये सामाजिक स्तरीकरण के जाति प्रारूप व वर्ग प्रारूप हैं। मोटे तौर पर, जाति के आधार पर स्तरीकृत समाज को बंद, स्थिर, जन्म पर आधारित (ascriptive) कर्मकाण्डीय व ग्रामीण विशेषताओं वाला माना जाता है। जबकि वर्ग के आधार पर स्तरीकृत समाज को ऊच्च-दर की सामाजिक गतिशीलता वाला खुला, अर्जितोन्मुख (achievement oriented), धर्मनिरपेक्ष व नगरीय माना जाता है। अतः, सामाजिक स्तरीकरण के जाति व वर्ग प्रारूपों को परस्पर विपरीत माना जाता है।

जातिगत स्तरीकरण को पारम्परिक भारतीय समाज की विशेषता माना जाता है (इसके बारे में, ई.एस.ओ.–04 के खंड 4 व 5 में विस्तृत चर्चा की जा चुकी है)। धूर्ये ने पारम्परिक जाति व्यवस्था की छः प्रमुख विशेषताएं बताई हैं :

(i) समाज का खंडात्मक (segmental) विभाजन,
(ii) समूहों का क्रमविन्यास (hierarchy),
(iii) खानपान व सामाजिक संसर्ग (Social intercurse) पर निषेध,
(iv) विभिन्न सामाजिक समुदायों की नागरिक व धार्मिक निर्योग्यताएं तथा सुविधाएं,
(v) व्यवसायों के अप्रतिबंधित चयन का अभाव, तथा
(vi) विवाह पर निषेध

इसके अतिरिक्त उन्होंने, अंतःर्विवाह (endogamy) को जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषता माना। परन्तु हट्टन ने जाति व्यवस्था में कर्मकांडीय प्रस्थिति को प्रमुख माना। श्रीनिवास के अनुसार, जाति व्यवस्था में स्वायत्त समुदाय परस्पर ऊंच-नीच के क्रमविन्यास में बंधे हुये हैं। ड्यूमां जाति व्यवस्था की मूल विशेषता कर्मकांडीय श्रेणीबद्धता (hierarchy) को मानते हैं जो कि उनके अनुसार शुद्ध व अशुद्ध (purity-pollution)की धार्मिक विचारधारा (हिन्दू विचारधारा) से उपजा है। उनके अनुसार, कर्मकांडीय क्रमविन्यास सर्वग्राही है, जिसमें सब कुछ समाया हुआ है। इसके अन्तर्गत आर्थिक व राजनैतिक सम्बन्ध शामिल हैं।

वृहत् स्तर (अखिल भारतीय स्तर) पर, जातिगत श्रेणीबद्धता वर्ण के संदर्भ में अभिव्यक्त होता है। वर्ण एक वृहत् कैटेगरी (संवर्ग) है। समाज, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र नामक चार वर्णों में विभक्त है। अछूतों की पांचवीं संवर्ग समाज की वर्ण व्यवस्था से बाहर रखी गयी है तथा इसे जातिगत वंशानुक्रम में निम्न स्तर का माना गया है। ब्राह्मणों को कर्मकांडीय श्रेणीबद्धता में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है।

हालांकि, व्यवहार में, जाति क्षेत्रीय व्यवस्था के रूप में कार्य करती है। जाति का नाम, एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में, बदल जाता है। विवाह एवं व्यावसायिक समांगता अथवा सामाजिक अंतरक्रिया के माध्यम से जातियों की अखिल भारतीय सम्पर्क व्यवस्था नहीं है। परन्तु क्षेत्रीय या उपक्षेत्रीय स्तर पर, इनकी कुछ समान विशेषताएं हैं।

जाति की सदस्यता प्रदत्त (ascriptive) होती है। यह केवल जन्म पर आधारित होती है, अतः यह बंद होती है। किसी भी व्यक्ति को अपनी जाति में ही विवाह करने की अनुमति होती है। पारम्परिक रूप से, ब्राह्मण पुजारी थे। क्षत्रिय शासक थे। वैश्य व्यापार व कृषि करते थे तथा शूद्र इन तीनों द्विज जातियों की सेवा करते थे। यद्यपि अछूत अन्य लोगों की सेवा करते थे, उन्हें इस वर्ग क्रमविन्यास से बाहर रखा गया था। विभिन्न जातियों के लिये विभेदीकृत दण्ड व्यवस्था प्रचलित थी। अंतर्जातीय भोजन सम्बन्धी व्यवहार निषिद्ध था। विभिन्न जातियों के मध्य सामाजिक व्यवहार पर निषेध थे। तथापि, पूरी व्यवस्था को एक अन्तरनिर्भर, अप्रतियोगी, परस्पर विरोधहीन जातियों के क्रमविन्यास की व्यवस्था माना जाता था। इस व्यवस्था के सुचारू रूप से चलने के लिये, शासक, ग्राम पंचायत तथा जाति पंचायत उत्तरदायी थे।

इसके अतिरिक्त बेते ने जाति की खंडात्मक प्रकृति पर जोर दिया है। कोई भी जाति समूहों की एक विस्तृत शृंखला में विभाजित एवं उपविभाजित है। बेते तमिलनाडु का उदाहरण देते हैं। तमिल समाज, सर्वप्रथम, ब्राह्मण, अब्राह्मण तथा अस्पृश्य या आदि-द्रविड़ के संवर्गों में विभक्त है। इसके बाद, ब्राह्मण समर्थ, श्री वैष्णव, पंचगकर्णम्, आदि में उपविभाजित हैं। समर्थ में भी वदम, बृहचरणम्, अष्टशाग्रम् आदि के उपविभाजन हैं। वदम भी बड़ादेश वदम व छोटादेश वदम में उपविभक्त हैं। इस प्रकार, कोई भी व्यक्ति, समूहों की एक शृंखला से जुड़ा होता है, परन्तु प्रत्येक समूह के लिये वही एक शब्द "जाति" प्रयुक्त होता है।

वर्ग पर आधारित समाज का विभाजन सामाजिक स्तरीकरण का एक अन्य महत्वपूर्ण सिद्धांत माना जाता है। वर्ग की अवधारणा पर विद्वान एकमत नहीं हैं। मार्क्स के अनुसार वर्ग ऐतिहासिक प्रघटना है। ये समाज में, श्रम विभाजन तथा निजी सम्पत्ति की संस्था के विकास के साथ-साथ विकसित हुई है। समाज में उत्पादन के साधनों के स्वामित्व के आधार पर दो मूलभूत वर्ग होते हैं, मालिक व गैर मालिक। इन साधनों के मालिक गैर-मालिकों के श्रम का शोषण, उत्पीड़न करते हैं तथा उसे हड़प लेते हैं। इन वर्गों के मध्य हितों का टकराव, वर्ग संघर्ष का कारण बनता है, जो कि इतिहास की प्रमुख वाहक शक्ति होता है।

लेनिन ने वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा को विशिष्ट शब्दों में परिभाषित किया है। उसके अनुसार वर्ग "व्यक्तियों के वृहत् समूह हैं जो कि ऐतिहासिक रूप से निर्धारित सामाजिक उत्पादन में उनके स्थान के आधार पर, उत्पादन के साधनों के साथ उनके सम्बन्धों (जो कि प्रायः नियत व कानून द्वारा निरूपित होते हैं) श्रम के सामाजिक संगठन में उनकी भूमिका के तथा इसके फलस्वरूप, उन आयामों के आधार पर परस्पर भिन्न होते हैं, जिनके द्वारा सामाजिक सम्पदा का बंटवारा होता है तथा उनको प्राप्त करने के तरीके निर्धारित होते हैं।"

सामाजिक स्तरीकरण पर अपने निरूपण में वैबर ने समाज में शक्ति वितरण पर जोर दिया। उनके अनुसार, शक्ति के तीन आधार होते हैं। आर्थिक, सामाजिक व राजनैतिक। उसके अनुसार ये तीनों आधार एक दूसरे से स्वतंत्र होते हैं, चाहे वे वास्तविक सामाजिक जीवन में परस्पर सम्बन्धित हों। इसके अतिरिक्त, डेहेरनडॉर्फ के अनुसार, सत्ता का असमान वितरण सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता है।

पारसंस, डेविस तथा मूर सामाजिक स्तरीकरण को सामाजिक इकाइयों के मध्य सामाजिक प्रस्थितियों अथवा रैंक (क्रम) भिन्नताओं की क्रम विन्यासी व्यवस्था के रूप में देखते हैं। उनकी यह मान्यता है कि समाज के सुचारू रूप से प्रकार्यरत रहने के लिये अनिवार्य है कि समाज में अधिकारों व सुविधाओं के सन्दर्भ में विभेदीकृत सामाजिक स्थितियों तथा विभेदीकृत पुरस्कार हों। उनका यह भी विचार है कि इस प्रकार की व्यवस्था समाज की प्रमुख मूल्य व्यवस्था द्वारा समर्थित व पोषित होती है। वर्ग स्तरीकरण पर एक अन्य योगदान वारनर ने दिया है। उसके अनुसार :

> वर्ग से तात्पर्य व्यक्तियों का दो अथवा दो से अधिक क्रम अथवा व्यवस्था (order) से है, जिनको सामाजिक रूप से उच्च अथवा निम्न माना जाता है और तदनुसार, समुदाय के सदस्य उन्हें ऊंचा या नीचा स्थान देते हैं।

वस्तुतः वारनर द्वारा दिये वर्ग वो प्रस्थिति समूह हैं, जो कि समाज के सदस्यों के व्यक्तिपरक विश्वासों और अभिमत पर आधारित हैं।

वर्ग एवं स्तरीकरण की उपरोक्त सभी अवधारणाओं से पता चलता है कि इस सम्बन्ध में दो उपागम (Approach) उभरे हैं, गुणधर्म वाले (Attributional) तथा अंतरक्रियात्मक (Interactional)। सामाजिक स्तरीकरण का अंतरक्रियात्मक उपागम विभिन्न वर्गों के मध्य सम्बन्धों पर बल देता है। उदाहरण के लिये, उत्पादन के साधनों के साथ (मालिक व गैर मालिक) सम्बन्ध, श्रम के सामाजिक संगठन में भूमिका (उत्पादक श्रम, अनुत्पादक श्रम, या अश्रम), सामाजिक सम्पदा में हिस्सा तथा इसे प्राप्त करने के तरीके। हालांकि, गुणधर्म वाले उपागम में प्रस्थितियों का उच्च, मध्यम या निम्न संवर्गों में क्रम विन्यासित कर दिया जाता है। यह किसी भी व्यक्ति अथवा परिवार की प्रस्थिति के आय, व्यवसाय, शिक्षा जैसी (विशेषताओं) गुणों के समूह के आधार पर किया जाता है। समाज में सामाजिक स्तरीकरण के संदर्भ में व्यक्तिपरक-स्व-मूल्यांकन अथवा अन्य व्यक्तियों के अभिमत को प्राप्त किया जाता है।

इसके अतिरिक्त, यह भी देखा गया है कि भारतीय संदर्भ में जाति व वर्ग को पृथक करना दुष्कर है। जाति में वर्ग के तत्व होते हैं तथा वर्ग में जाति के सांस्कृतिक लक्षण विद्यमान रहते हैं। अतः, विश्लेषण के स्तर पर भी स्तरीकरण की ये दो व्यवस्थाएं आसानी से अलग-अलेग नहीं की जा सकतीं। भारत में वर्ग, अभी ही

अस्तित्व में नहीं आये हैं। ये लगभग ईसा से 600 वर्ष पूर्व से अस्तित्व में रहे हैं। भारत में वर्ग एवं जाति परस्पर व्याप्त हैं। ये दोनों सावयवी रूप से एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, अतः इनमें किसी भी प्रकार का विभेद पद्धतिशास्त्रीय हैं। प्रोफेसर के. एल. शर्मा के अनुसार :

> भारत में वर्ग आर्थिक सम्बन्धों की एक व्यवस्था मात्र नहीं है, तथा जाति कर्मकांडीय व धार्मिक कृत्यों की व्यवस्था मात्र नहीं है ... वर्ग-जाति व्यवस्था में पाये जाते हैं, अतः वर्ग व्यवस्था की अपनी एक संस्कृति है, तथा जाति व्यवस्था का अपना एक अर्थशास्त्र है।

32.2.2 परिवर्तन की प्रक्रियाएं

भारतीय समाज के बारे में जैसी मान्यता है वैसी बिल्कुल बंद एवं स्थिर प्रकृति का भारतीय समाज कभी नहीं रहा है। यह एक आदिम, सरल तथा मोटे तौर पर समतावादी संरचना से एक जटिल, वर्ग-जाति में विभक्त असमतावादी व्यवस्था में परिवर्तित हुआ है।

अब इसका उद्देश्य विकसित समतावादी धर्मनिरपेक्ष, प्रजातान्त्रिक तथा समाजवादी समाज स्थापित करने का है। भारत में सामाजिक परिवर्तन का एक समेकित उपागम का निरूपण करते हुये योगेन्द्र सिंह के विचार में सांस्कृतिक संरचना तथा सामाजिक संरचना के दोनों ही स्तरों पर परिवर्तन बाह्यजनित (Heterogenetic) तथा अन्तजनित (Orthogenetic) कारकों के कारण हुये हैं। वस्तुतः, भारतीय समाज में सामाजिक गतिशीलता तथा क्रमिक संरचनात्मक रूपान्तरण की प्रक्रियाएं भिन्न-भिन्न गति से कार्यशील रही है।

सांस्कृतिक क्षेत्र में परिवर्तन की प्रक्रियाओं को संस्कृतिकरण (Sanskritisation), पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण (Modernisation), धर्म-परिवर्तन तथा सांस्कृतिक पुनर्जागरण (Cultural Renaissance) की अवधारणाओं के रूप में निरूपित की गई है। सामाजिक गतिशीलता की पारम्परिक प्रक्रिया का विवरण देने के लिये श्रीनिवास ने संस्कृतिकरण नामक अवधारणा का प्रयोग किया है। उनके अनुसार "संस्कृतिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें निम्न हिन्दू जाति, जनजाति अथवा अन्य समूह अपनी कर्मकाण्ड, विचारधारा तथा जीवनशैली को प्रायः किसी उच्च जाति के द्विज जाति के अनुरूप परिवर्तित करते हैं। सामान्यतया इन परिवर्तनों के बाद इस जाति अथवा समुदाय द्वारा जातिगत श्रेणीबद्धता में उच्च स्थिति का दावा किया जाता है और यह उच्च स्थिति के स्थानीय समुदाय में पारम्परिक रूप से प्राप्त इस जाति की स्थिति से ऊंची होती है।"

इसके, अतिरिक्त, श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण की परिभाषा देते हुये बताया कि "पश्चिमीकरण की भारतीय समाज एवं संस्कृति में 150 वर्षों के अंग्रेजी शासन के परिणामस्वरूप आये परिवर्तन हैं और इस अवधारणा (पश्चिमीकरण) में प्रौद्योगिकी, संस्थायें, विचारधारा तथा मल्यों आदि विभिन्न स्तरों पर आये परिवर्तन शामिल हैं।"

इसके अलावा हम जानते हैं कि भारत में हिन्दू, इस्लाम तथा अन्य धार्मिक परम्परायें साथ-साथ अस्तित्व में रही हैं। भारत में हिन्दू व मुस्लिम परम्परायें दोनों में सामंजस्य व सौहार्दपूर्ण ढंग से श्रेणीबद्धता, समग्रवाद (holism), निरन्तरता तथा पारलौकिकता के सिद्धांतों के आधार पर कार्यशील रही है। अतः आधुनिकीकरण का तात्पर्य एक मानसिक मानदण्डात्मक (Psychicnormative) चुनौती है, जिसका अर्थ श्रेणीबद्धता से समानता, समग्रवाद से व्यक्तिवाद, निरन्तरता से परिवर्तन, पारलौकिकता से ईहलौकिक तार्किकता तथा धर्मनिरपेक्ष में परिवर्तन से है। भारतीय समाज में व्यक्तियों द्वारा एक धर्म से दूसरे धर्म में धर्म-परिवर्तन किये गये हैं। विशेषतः जाति व्यवस्था की कठोरता तथा अन्य बातों से बचने के लिये हिन्दू धर्म से इस्लाम ईसाई धर्म में धर्म-परिवर्तन हुये हैं। इसके अतिरिक्त हमारे लम्बे इतिहास में सामाजिक, धार्मिक सुधार आंदोलनों की भी अनेक लहरें आई।

भारतीय समाज की सामाजिक संरचना में परिवर्तन आये हैं। यद्यपि उनकी दर धीमी रही है। लघु स्तर पर ये भूमिका-विभेदीकरण (Role-differentiation), नये विधानीकरण तथा प्रवास की प्रक्रियायें कार्यशील हैं और समाज में वृहत् स्तर पर राजनैतिक उन्नयन, अभिजन का संचरण, प्रशासन तंत्रीकरण (bureaucratisation), नगरीकरण, तथा औद्योगिकीकरण इन सभी ने भारत में सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था को प्रभावित किया है। भारतीय इतिहास में प्राचीन सामाजिक स्तर के क्षरण व विलुप्तिकरण के साथ-साथ नये सामाजिक स्तर के उद्भव और वृद्धि को देखा गया है।

बोध प्रश्न 1

सही उत्तर पर निशान लगायें :

1) जाति व्यवस्था की प्रमुख विशेषताएं क्या हैं?

ब) शुद्धता एवं अशुद्धता
स) खण्डात्मक विभाजन एवं जाति विशिष्ठ व्यवसाय
द) उपरोक्त सभी

2) वर्ग की मार्क्सवादी अवधारणा निम्न में से किस पर आधारित है?
अ) सत्ता का वितरण
ब) राजनैतिक सत्ता
स) सामाजिक प्रस्थिति
द) उत्पादन के साधनों से सम्बन्ध

3) किसी भी जाति में सदस्यता का निर्धारण किस आधार पर होता है?
अ) जन्म
ब) आर्थिक स्थिति
स) राजनैतिक प्रस्थिति
द) उपरोक्त में से कोई नहीं।

32.3 ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सैद्धांतिक स्तर पर जाति व वर्ग को सामाजिक स्तरीकरण की दो विशिष्ठ नियमों के रूप में विवेचित किया गया है। परन्तु हम जानते हैं कि इनको भारतीय समाज में वर्तमान स्थिति में परस्पर भिन्न तथा परस्पर विरोधी नहीं माना जा सकता। न तो वर्ग सिर्फ आर्थिक होता है न ही जाति की प्रकृति मात्र कर्मकाण्डीय है।

32.3.1 पारम्परिक अवस्था

अंग्रेजी शासन से पूर्व के समाज में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों म जाति एवं वर्ग में बहुत उच्च स्तर का साम्य था। उच्च जातियों एवं वर्गों की सामाजिक, आर्थिक प्रभुत्ता को हमारी प्रभुत्वशील धार्मिक व्यवस्था और सबल बनती थी। श्रम का सामाजिक विभाजन जाति एवं वर्ग पर आधारित था। ब्राह्मण पुजारी का कार्य करते थे तथा उन्हें सर्वोच्च कर्मकाण्डीय प्रस्थिति प्राप्त थी तथा इसके साथ-साथ करों से मुक्ति जैसी अनेक विशिष्ठ सुविधायें प्राप्त थीं। कर्मकाण्डीय श्रेणीबद्धता में क्षत्रियों का स्थान दूसरा था। सामान्यतया वैश्य व्यापार एवं वाणिज्य करते थे। उन्हें समाज की वर्ण व्यवस्था में तीसरा स्थान प्राप्त था। शूद्र, किसान, कारीगर, दस्तकार एवं श्रमिक थे, जो उच्च जातियों की सेवा करते थे। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यों को सामाजिक श्रेणीबद्धता में निम्नतम स्थान प्राप्त था।

मुस्लिम और ईसाई जैसे गैर हिन्दू समुदाय भी स्तरीकृत थे। यद्यपि उनमें जाति व्यवस्था शास्त्रों के अनुरूप मान्यता प्राप्त नहीं थी, परन्तु समाज में जाति व्यवस्था के प्रचलन से वे अप्रभावित नहीं रहे पाये। इसके अतिरिक्त हिन्दुओं की भाँति वे सुविधा प्राप्त तथा वंचित वर्गों में विभक्त थे। सम्राट एवं राजा, पुजारी, जमींदार एवं जागीरदार जैसे सामन्तवादी भूपति तथा खट, मुकद्दम चौधरी, देशमुख तथा पाटिल जैसे स्थानीय मुखिया सुविधा-प्राप्त शासक वर्ग में आते थे। वंचित एवं शासित सामान्यजन के अन्तर्गत किसान, कारीगर, दस्तकार, खेतिहर मजदूर तथा अन्य सेवक जातियां शामिल थी। कोसाम्बी के अनुसार प्राचीन भारत में जाति व्यवस्था वर्ग संरचना का प्रतिनिधित्व करता था। ईरफान हबीब ने भी यह पाया कि मध्य युगीन मुगल शासन में कृषि उत्पादन के लिये स्थाई श्रम शक्ति सृजित करने के लिये अपरिवर्तनीय रूप से जाति व्यवस्था ने कार्य किया।

तथापि भारत में सामाजिक स्तरीकरण की पारम्परिक व्यवस्था पूर्ण रूप से बन्द एवं कठोर नहीं थी, स्तरों के मध्य स्तर के भीतर प्रस्थिति की गतिशीलता तो थी, परन्तु बहुत सीमित स्तर पर थी। सिद्धांततः जाति व्यवस्था प्रस्थिति की गतिशीलता को अनुमति नहीं देती थी। परन्तु व्यवहार में गतिशीलता घटित हुई और इसके लिये अनेक तरीके उपलब्ध थे जैसे कि सम्पदा की प्राप्ति, राजनैतिक शक्ति की प्राप्ति, सुदूर स्थानों पर जाकर साधु बन जाना आदि। निम्न जाति एवं वर्ग प्रस्थिति के कुछ परिवारों अथवा समूहों द्वारा कुछ समय के अन्तराल पर अपनी आर्थिक एवं राजनैतिक प्रस्थिति में सुधार तथा संस्कृतिकरण एवं अपने विश्वदर्शन और जीवनशैली में उच्चतर सामाजिक प्रस्थिति प्राप्त करना सम्भव हुआ। निम्न जाति के अनेक व्यक्तियों द्वारा संसार को त्यागकर समाज के सभी स्तरों से श्रद्धा प्राप्त करना सम्भव था, परन्तु सभी स्तरों पर अर्थात् वैयक्तिक, पारिवारिक एवं समूहों के स्तरों पर सामाजिक गतिशीलता की मात्रा बहुत कम थी। इसके अतिरिक्त अस्पृश्यों के लिये उच्चतर सामाजिक गतिशीलता लगभग असम्भव थी। मनु संहिता के अनुसार

इनके द्वारा सम्पत्ति का अर्जन असहनीय माना जाता था।

ईसा से 6 शताब्दी पूर्व बौद्ध धर्म, जैन धर्म, लौकायत भौतिकवाद तथा अन्य धार्मिक सम्प्रदायों की वृद्धि ने ब्राह्मणवादी श्रेष्ठता को चुनौती दी तथा उसका विरोध किया। बुद्ध ने भगवान पर बात करने से इन्कार कर दिया। बुद्ध की सामाजिक श्रेणीबद्धता की संघ व्यवस्था में ब्राह्मण के स्थान पर क्षत्रिय को सर्वोच्च स्थान दिया गया। बौद्ध एवं जैन धर्म ने बलि एवं कर्मकांडीय ब्राह्मणवाद का कड़ा विरोध किया तथा अंहिसा पर विशेष बल दिया। इसके अतिरिक्त कबीर, नानक, तुकाराम तथा चैतन्य जैसे सन्त कवियों द्वारा चलाये गये मध्ययुगीन भक्ति आंदोलन के अनुसार ईश्वर के समक्ष सभी समान हैं। सगुण और निर्गुण भक्ति मार्ग सभी जातियों, सम्प्रदायों के व्यक्तियों और स्त्री व पुरुषों के लिए खुला था।

32.3.2 औपनिवेशिक काल

भारत में अंग्रेजी औपनिवेशिक शासन 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में प्रारम्भ हुआ तथा 20वीं शताब्दी के मध्य में अन्त हुआ। इस काल के दौरान, औपनिवेशिक शासकों ने भारत को पूर्ण रूप से अपने अधीनस्थ कर लिया ताकि ब्रिटेन में पूंजीवाद के विकास के माध्यम से वे अपने हितों का पोषण कर सकें। उन्होंने ऐसे अनेक कदम उठाये जिसके कारण नये स्तर गठित हुए। सामाजिक गतिशीलता के नये अवसर खुले तथा भारत में सामाजिक संघर्ष के नये स्वरूप उभर कर आये।

नई भूमि राजस्व नीति की शुरुआत के कारण जमीन बाजार में बिकने लगी और नगद फसलों के उत्पादन को प्रोत्साहन मिला, जिसके कारण कृषक संरचना में परिवर्तन आये। कृषक वर्ग में ज़मीनदार (भूमिपति) साहूकार, खातेदार तथा कारीगर और खेतिहर मजदूर थे। ज़मीनदार भूमि के गैर कृषक मालिक थे तथा कर एकत्रित करते थे।

आधुनिक मशीनों पर आधारित उद्योगों के विकास ने नगरीय क्षेत्रों में नये वर्गों को जन्म दिया, जैसे कि, बूर्जुआ अथवा पूंजीपति वर्ग एवं सर्वहारा अथवा श्रमिक वर्ग। पूंजीपति वर्ग के पास उद्योग, व्यापार एवं वाणिज्य का स्वामित्व व नियंत्रण था। सर्वहारा वर्ग का पूंजीवादी उद्यमों पर किसी प्रकार का स्वामित्व या नियंत्रण नहीं था। इसके अतिरिक्त, प्रशासन तंत्र, व्यवसाय एवं व्यापार जैसे नये क्षेत्रों में कार्यरत मध्यम वर्ग का विस्तार हुआ।

पारम्परिक उद्योगों के ह्रास एवं विनाश के कारण शहरी दस्तकार गाँवों में प्रवास करने तथा आजीविका कमाने के लिये कृषि करने अथवा कृषक मजदूरी करने के लिये बाध्य हुए। इसके अतिरिक्त, नई नौकरियों के अवसर बढ़ने तथा नई शिक्षा व्यवस्था के विकास के कारण, कुछ हद तक निम्न जातियों के व्यक्तियों के लिए भी सामाजिक गतिशीलता के नये अवसर प्राप्त हुए।

कुछ निम्न जातियों ने सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने के लिए संस्कृतिकरण की प्रक्रिया अपनाई। अंग्रेजों द्वारा की गई जनगणना ने भी उच्च जाति वाली प्रस्थिति का दावा करने का अवसर दिया। इस दिशा में निम्न जातियों के अनेक जाति संघों द्वारा, विशेषतः बीसवीं शती के प्रारम्भ में संगठित प्रयास किये गये। निम्न जातियों ने उच्च जातियों के विशेषतः ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य जैसी स्थानीय प्रभुत्वशील जातियों के कुर्मकांडों, विचारधाराओं, खान-पान तथा जीवनशैली का अनुकरण करके उच्च प्रस्थिति का दावा किया। परन्तु उच्च जातियों में गतिशीलता पश्चिमीकरण के माध्यम से अर्जित की गई, जिसके अन्तर्गत भारत में अंग्रेजी शासकों द्वारा उन्नयन किये गये सांस्कृतिक, वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिक मूल्यों एवं भूमिकाओं की स्वीकृति थी। यहां, यह बात उल्लेखनीय है कि पश्चिमीकरण एक नगरीय तथा उच्च मध्यमवर्गीय अथवा उच्च जातीय प्रघटना थी, जबकि संस्कृतिकरण में क्षेत्रीय स्तरीय और कभी-कभी ग्रामीण स्तरीय निम्न जातियों की गतिशीलता निहित थी। धार्मिक मिशनरियों के सक्रिय प्रयासों के कारण कुछ लोगों ने, विशेषतया जनजातियों ने ईसाई धर्म अपना लिया।

इन सभी उच्चोन्मुख (Upward) व पतनोन्मुख (Downward) गतिशीलता के बावजूद जाति व वर्ग में एक सशक्त सम्बन्ध रहा। शिक्षित मध्यम वर्ग मुख्यतया ब्राह्मण, कायस्थ व क्षत्रियों जैसी जातियों में विकसित हुए जिनमें साहित्यिक परम्पराएं पहले से विद्यमान थी। मेहनतकश व अर्द्ध कुशल श्रमिकों में अधिकांश शूद्र जातियों के किसान व कारीगर शामिल हुए। नगरीय क्षेत्रों में अस्पृश्य दलितों ने निम्नतम व सर्वाधिक अकुशल नौकरियां की। खानों व बागानों के श्रमिक अधिकांशतः जनजातियों के थे। व्यापारी व साहूकार, वैश्य जाति के होते थे। इस स्तर से धीरे-धीरे एक औद्योगिक व राष्ट्रीय बूर्जुआ वर्ग उभरा जो कि अंग्रेजों के सहयोग से उद्योग, व्यापार एवं वित्त का स्वामित्व एवं नियंत्रण करने लगे। ग्रामीण सामंतवादी वर्गों अर्थात् जिनमें राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहर, वेल्लला, नायर, नम्बुदिरी, देशमुख आदि आते थे, वो सामन्त से भूमिपति

बने। भूमिधारी किसान तथा खातेदार सामान्यतया शूद्र थे, और ये सब भूतपूर्व किसान जातियों तथा कारीगर जातियों के थे। अस्पृश्य श्रमिक अभी भी सामाजिक श्रेणीबद्धता में निम्नतम स्थान पर थे।

यद्यपि, अंग्रेजों के शासनकाल में गतिशीलता की कुछ सम्भावना उपलब्ध कराई गई, परन्तु व्यवस्था अत्यधिक शोषक व उत्पीड़क थी। इसके कारण सामंतवाद-विरोधी तथा उपनिवेशवाद-विरोधी प्रकृति के अनेक संघर्षों ने जन्म लिया। सामंतवाद-विरोधी किसान आंदोलनों को किसान सभाओं द्वारा आरंभ किया गया, जिन्हें देश की वामपंथी शक्तियों का समर्थन प्राप्त था। इन किसान आंदोलनों का केंद्रीय मुद्दा *जमींदारी* की समाप्ति था। बंगाल के तेभागा किसान आंदोलन व तेलंगाना विद्रोह में ग्रामीण निर्धनों के बहुत बड़े भाग शामिल थे। जनजाति के लोगों ने भी सामंतवादी व औपनिवेशिक शोषण के विरुद्ध बहादुरी से संघर्ष किया। प्रचलित व्यवस्था में शोषण, उत्पीड़न एवं अधीनीकरण के विरुद्ध संघर्ष में अस्पृश्य जातियों का नेतृत्व डा. बी. आर. अम्बेडकर ने किया।

बोध प्रश्न 2

निम्न कथनों का उत्तर **हाँ** या **ना** में दीजिए—

1) क्या यह कथन सही है कि अंग्रेजों से पूर्व के काल में ब्राह्मण व्यापार करते थे?
2) क्या यह बात सही है कि अंग्रेजों से पूर्व के काल में शूद्रों को जातिगत श्रेणीबद्धता में सर्वोच्च स्थान प्राप्त था?
3) क्या सामाजिक स्तरीकरण की पारम्परिक व्यवस्था पूर्ण रूप से बंद थी?
4) क्या सामाजिक गतिशीलता की प्रक्रिया के रूप में संस्कृतिकरण में उच्च जातियों के कर्मकाण्डों का अनुकरण किया जाता है?

32.4 स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक परिवर्तन

अंग्रेजों औपनिवेशिक शासन की जकड़ से स्वतंत्रता पाने के लिए समाज के अनेक वर्गों ने स्वतंत्रता संग्राम में भाग लिया। इस संग्राम के दौरान एक नये भारत की छवि का निर्माण हुआ और वो था **श्रेणीबद्ध,** असमतावादी, अर्द्धसामंतवादी व औपनिवेशिक भारतीय समाज को उपनिवेशवाद-विरोधी, साम्राज्यवाद-विरोधी, आधुनिक एवं समतावादी समाज में परिवर्तित करना।

32.4.1 परिवर्तन के कारक

स्वतंत्र भारत में सामाजिक परिवर्तन हेतु प्रयास दो स्तरों पर किये गये हैं — ऊपर से राज्य प्रायोजित नीतियाँ एवं कार्यक्रम तथा नीचे से जन प्रेरित सक्रियकरण व आंदोलन। भारत का संविधान, सरकारी प्रयासों के लिए मूलभूत निर्देश तय करता है। संविधान का संकल्प है कि भारत को एक समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, प्रजातान्त्रिक गणतन्त्र बनाया जाये तथा इसके सभी नागरिकों, के लिए सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय, अभिव्यक्ति एवं विचारों की स्वतंत्रता तथा प्रस्थिति व अवसरों की समानता प्रदान की जाये।

भारत के सामाजिक-आर्थिक तथा राजनैतिक आधुनिकीकरण हेतु सरकार द्वारा अनेक प्रयास प्रारम्भ किये गये हैं। सार्वभौमिक वयस्क मताधिकार प्रदान किया गया है। देश के सर्वांगीण नियोजित विकास के लिए पंचवर्षीय योजनाएँ प्रारंभ की गई हैं। तीव्र औद्योगिकीकरण के लिए अनेक वृहत् एवं मध्यम स्तरीय उद्योग स्थापित किये गये हैं। भूमि सुधार के कदम उठाये गये हैं, जिसमें जमींदारी व्यवस्था की समाप्ति, खातेदारी सुधार, भूमि के स्वामित्व का सीमा निर्धारण, अतिरिक्त भूमि का भूमिहीनों में वितरण, खेतिहर मज़दूरों के वेतन में वृद्धि तथा बंधुआ मज़दूरी की समाप्ति शामिल हैं। 1960 के दशक के मध्य में, हरित क्रांति प्रारम्भ की गई। सामाजिक परिवर्तन हेतु स्वयंसेवी प्रयासों को भी सरकार ने समर्थन दिया है।

इसके अतिरिक्त, समाज के पिछड़े वर्गों, विशेषतया अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित जनजातियों की दशा सुधारने के लिए सरकार ने अनेक विशेष कदम उठाये हैं। आरक्षण की नीति अपनाई गई, जिसके अन्तर्गत अनुसूचित जातियों व अनुसूचित जनजातियों के लिए लोकसभा व विधानसभा, सरकारी नौकरी तथा शैक्षणिक संस्थाओं में प्रवेश के लिए आरक्षण का प्रावधान है। समाज के इस भाग की आवश्यकताओं का, ग्रामीण एवं जनजातीय विकास कार्यक्रमों के द्वारा विशेष ध्यान रखा गया है।

इसके अतिरिक्त, इस अत्यधिक असमतावादी सामाजिक व्यवस्था के परिवर्तन के लिए नीचे से जनता द्वारा प्रयास किये गये हैं। असंतुष्ट व क्षुब्ध किसान व श्रमिक अपने जीवन की दशाओं को बदलने के लिए

सक्रियकृत हो गये हैं। भूमि सुधार प्रयासों की असफलता ने वंचित ग्रामीण जनता को 1960 के दशक में भूमि मुक्ति आंदोलन के लिए प्रेरित किया।

32.4.2 ग्रामीण सामाजिक स्तरीकरण एवं परिवर्तन

स्वतंत्रता के पश्चात् भारत में सामाजिक स्तरीकरण के विश्लेषण में ग्रामीण व नगरीय क्षेत्रों में सामाजिक गतिशीलता एवं सामाजिक परिवर्तन की संरचना व प्रक्रियाओं का अध्ययन करना पड़ेगा।

जातिगत स्तरीकरण में, स्वतंत्र्योत्तर काल में परिवर्तन हुए हैं। जाति व्यवस्था ने सामंजस्यकारक परिवर्तनों व व्यवस्थापन के माध्यम से इसके लचीलेपन का प्रमाण दिया है। जाति ने वैवाहिक, खान-पान (Commensal) सम्बन्धी तथा धार्मिक कर्मकांडों के क्षेत्र में, विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में पारम्परिक मूलभूत प्रकार्यों को निभाया है। अंतर्जातीय सह-भोजन गाँवों में आम प्रघटना नहीं है। विवाह एवं मृत्यु जैसे विशेष अवसरों पर किसी भी परिवार द्वारा विभिन्न जातियों के लोगों को आमन्त्रित किया जाता है। परन्तु, खाने के लिए उच्च, मध्यम एवं निम्न जातियों को अलग-अलग पंक्तियों में बिठाया जाता है। उच्च जाति के लोग निम्न जाति के घरों पर कच्चा भोजन नहीं करते। जातियों का पारम्परिक धार्मिक कर्मकाण्डीय श्रेणीबद्धता अभी भी प्रचलित है।

यद्यपि भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता प्रथा को प्रतिबंधित कर दिया है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों में यह प्रथा बहुत ही कम घटी है। गाँवों में, अधिकांश लोग आज भी अपने जातिगत व्यवसाय करते हैं। यह हमें बहुत कम ही देखने को मिलेगा कि उच्च जाति का हिन्दू ऐसा व्यवसाय करे जिससे उसकी प्रस्थिति नीची हो। शिक्षा में, उच्च जातियां मध्यम जातियों से बहुत आगे हैं। शिक्षा में, निम्न जातियां विशेषतया अनुसूचित जातियां व अनुसूचित जनजातियां अत्यधिक पिछड़ी हुई हैं।

निम्न जातियों के कुछ व्यक्ति व परिवार आर्थिक, राजनैतिक एवं शैक्षणिक क्षेत्रों में बेहतर स्थितियां अर्जित कर अपनी सामाजिक प्रस्थिति सुधारने में सफल हुए हैं। इन लोगों में उच्च जातियों की जीवनशैली अपनाने की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। परन्तु स्वतंत्रता के पश्चात् जातियों की गतिशीलता के प्रतिमान में सामान्यतया परिवर्तन आया है, जिसमें आर्थिक व राजनैतिक संसाधनों को पाने के लिए ये संस्कृतिकरण-पश्चिमीकरण से लेकर बढ़ते राजनीतिकरण व सामाजिक सक्रियकरण तक में लिप्त हैं। जाति के नेताओं ने सामूहिक प्रस्थिति गतिशीलता अर्जित करने के लिए अपनी जाति के लोगों को जातिसंघ, जातिगत गुट तथा दबाव समूह के गठन के माध्यम से राजनैतिक व सांस्कृतिक रूप से सक्रियकृत किया है। पिछड़े वर्गों का आंदोलन इस प्रघटना का स्पष्ट उदाहरण है। अंतर्जातीय प्रतिस्पर्द्धा के अतिरिक्त, क्षेत्रीय स्तर पर राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने के लिए जातियों के मध्य सहयोग व समझौते हो रहे हैं। इस सबका ग्रामीण स्तर की राजनीति पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इन जैसे नये क्षेत्रों में जाति के प्रभावशील होने के बावजूद, आज भी यह पारम्परिक अर्थ में, गांवों में एक सक्रिय शक्ति है तथा परिवर्तन बहुत कम हुए हैं व अधिकांश सीमांत परिवर्तन ही रहे हैं।

इसके अतिरिक्त, भारतीय समाज जातिगत स्तरीकरण के साथ-साथ वर्ग के आधार पर भी स्तरीकृत रहा है। ग्रामीण बंगाल में प्रमुखतया जमींदार, जोतदार (रयोत तथा बड़े खातेदार), बरगदार (बटाईदार) एवं खेत मजदूर तथा व्यापारी एवं कारीगर हैं। तमिलनाडु में ग्रामीण जनसंख्या को मीरासदार या कामचीकार (भूमिपति), पायकारी (खातेदार), कामगार एवं कारीगर तथा आदिमाई एवं पडियाल (जो कि बंधुआ मजदूर एवं खेतिहर दास थे) में समूहबद्ध किया जा सकता है। बिहार में, हमें अशरफ (भूमिपति), बकार (ग्रामीण दुकानदार) पचानिया (कारीगर), जोतिया (लघु किसान) तथा निम्न जाति भूमिहीन श्रमिकों का वर्ग देखने को मिलता है। फिर भी, सामान्यतया तीन वृहत् कृषक वर्गों को देखा जा सकता है — (i) भूमिपति एवं धनी किसान (ii) मध्यम स्तरीय किसान, तथा (iii) निर्धन किसान एवं भूमिहीन कृषक मजदूर।

स्वतंत्र्योत्तर काल में, कृषि के क्षेत्र में, भूमि सुधारों एवं "हरित क्रांति" के फलस्वरूप सर्वहाराईकरण (Proletarianisation), बूर्जुआईकरण (Bourgeoisification) एवं किसान विभेदीकरण (Peasant differentiation) की प्रक्रियाएं देखने को मिली हैं। भूमिपति एवं धनी किसानों ने अपने पूर्व खातेदारों को भूमि से बेदखल कर दिया तथा जमीन पर स्वयं खेती कराने लगे हैं, जिसके कारण ये भूतपूर्व खातेदार भूमिहीन खेतिहर मजदूर बनकर रह गये हैं। कुछ भूमिपति परिवारों की प्रस्थिति भी घटी है। इसके अतिरिक्त, कुछ मध्यम जातियों के बड़े खातेदार अपनी कृषि भूमि को बढ़ाकर अपनी परिस्थिति सुधारने में सफल हुए हैं। इन लोगों ने कृषि की नई प्रौद्योगिकी अपनाई है तथा समृद्धि हासिल की है। एक प्रकार से इन लोगों का बूर्जुआईकरण हुआ है। हरित क्रांति के फलस्वरूप कृषक समुदाय में विभेदीकरण हुआ है।

दक्षिण भारत में तंजौर जिले के श्रीपुरम् गांव के अपने अध्ययन में आंद्रे बेते ने बताया है कि गांव की

पारम्परिक व्यवस्था में वर्ग व्यवस्था तथा शक्ति का वितरण दोनों बहुत अधिक सीमा तक जाति के अन्तर्गत ही था। 1940 तक गांव में वर्ग व जाति में प्रस्थिति साम्य बहुत ऊँची दर का था। पारम्परिक श्रीपुरम् गांव में 24% ब्राह्मण, 49% कारीगर तथा सेवक जातियों व 27% अस्पृश्य आदि-द्रविड़ों पर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रभुता रखते थे। इन ब्राह्मणों के पास अधिकांश गांव की जमीन थी, ये गांव के मामले में भारी प्रभाव रखते थे। इन्हें अनेक कर्मकांडीय एवं नागरिक सुविधाएँ प्राप्त थी तथा उच्चस्तरीय सरकारी सत्ता के साथ प्रशासन पर एकाधिकार रखते थे। परन्तु देश में स्वतंत्रता के पश्चात् राजनैतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों में अनेक परिवर्तनों के कारण इनकी राजनैतिक व आर्थिक प्रस्थिति कमज़ोर हो गई। बेते के अनुसार, कुछ भूमि ब्राह्मण मिरासदारों के हाथ से निकलकर गैर-ब्राह्मण जातियों के पास चली गई है। फिर भी, आज भी गांव में अधिकांश भूमि ब्राह्मणों के हाथ में है। इसके अतिरिक्त अब गांव में सामूहिक गतिविधियों को संगठित करने में गैर-ब्राह्मणों की महत्वपूर्ण भूमिका है। इन लोगों ने ग्राम पंचायत का नियंत्रण ब्राह्मणों से छीनकर अपने हाथ में ले लिया है। राजनैतिक दल की सदस्यता, सरकारी अधिकारियों से सम्पर्क व उनसे मिले संरक्षण ने राजनैतिक जीवन में जाति के अलावा महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

4 राज्यों से सकलित तथ्यों पर आधारित अपने अध्ययन के आधार पर अनिल भट्ट ने पाया कि सामाजिक स्तरीकरण के सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक आयाम अब प्रदत्त जाति आयाम से अधिकाधिक विभेदीकृत हो रहे हैं। उनके अनुसार अब सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक प्रस्थिति जाति प्रस्थिति से महत्वपूर्ण तरीके से जुड़ी हुई नहीं है, उनके निष्कर्षों के अनुसार यद्यपि ब्राह्मणों को कर्मकांडीय श्रेणीबद्धता में उच्चतम स्थिति प्राप्त है। सामाजिक, आर्थिक श्रेणीबद्धता में उन्हें दूसरी स्थिति प्राप्त है तथा गांव के मामले में प्रभाव के क्षेत्र में उनकी स्थिति चौथी है, फिर भी जाति के श्रेणीबद्धता में चौथे स्थान पर स्थिति मध्यम जातियों, तीसरे स्थिति की सामाजिक, आर्थिक प्रस्थिति वाली है और गांव के मामले में प्रभाव के क्षेत्र में उन्हें सर्वोच्च स्थिति प्राप्त है। हरिजनों को आज भी सभी क्षेत्र में निम्नतम स्थिति प्राप्त है।

इसके अतिरिक्त अपने विसीपारा अध्ययन में बेली ने यह पाया कि उड़ीसा में बोड जाति जो कि निम्न जाति है, उसमें उच्चोन्मुख गतिशीलता हुई है। नशाबन्दी नीति के परिणामस्वरूप बोड जाति के लोगों ने धन कमाया। उच्च जाति के लोगों से भूमि खरीदी और इस प्रकार गांव में योद्धा जाति के स्तर के समकक्ष आ गये। इस प्रक्रिया ने प्रस्थिति की पारम्परिक समीकरण को तोड़ दिया। इसके अतिरिक्त अनेक अध्ययनों में आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में जाति के भीतर विभेदीकरण की प्रक्रिया को देखा गया है। एक विशिष्ट जाति के कुछ व्यक्ति एवं परिवार आर्थिक एवं राजनैतिक क्रमविन्यास में ऊपर चढ़े हैं तो कुछ नीचे उतरे हैं और इस प्रकार जाति के भीतर विभेदीकरण हो गया है।

32.4.3 नगरीय सामाजिक स्तरीकरण एवं परिवर्तन

भारत में नगरीय क्षेत्रों में रहने वाली जनसंख्या का अनुपात धीरे-धीरे बढ़ रहा है। अब वे कुल जनसंख्या का एक चौथाई भाग है। गांवों तथा नगरीय औद्योगिक केन्द्रों के मध्य, ग्रामीण नगरीय प्रवास की प्रक्रिया के माध्यम से एक गहरा अन्तःसम्बन्ध है। नगरीय समाज भी जाति एवं वर्ग के आधार पर स्तरीकृत है, परन्तु ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में विशेषतः सार्वजनिक जीवन में नगरीय क्षेत्रों में जाति की पकड़ कमजोर है।

आधुनिक अर्थव्यवस्था के विकास ने निम्न जाति के लोगों में विशेषतः नगरीय क्षेत्रों के अनुसूचित जाति को उच्चोन्मुख सामाजिक गतिशीलता के अवसर प्रदान किये हैं। ये लोग अब उद्योग धन्धों, व्यवसायों तथा सेवाओं में प्रविष्ट हो गये हैं और इस प्रकार काफी हद तक इन्होंने अपनी आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक प्रस्थिति सुधार ली है। इन लोगों ने आधुनिक शिक्षा भी ग्रहण की है, जो सामाजिक गतिशीलता प्राप्त करने में इनकी सहायता करती है। ओ.एम. लिन्च ने आगरा की जाटव जाति का अध्ययन किया जो कि पारम्परिक रूप से अशुद्ध चमड़े के कार्य में व्यवसायरत थे। जैसे-जैसे आधुनिक चमड़ा उद्योग विकसित हुआ, कुछ जाटव उद्यमी बन गये और उन्होंने अपनी जाति के लोगों को नौकरियां प्रदान की। उनकी आर्थिक प्रस्थिति काफी महत्वपूर्ण ढंग से सुधरी। इसके अतिरिक्त इन लोगों ने सामाजिक गतिशीलता अर्जित करने के लिए सर्वप्रथम संस्कृतिकरण (Sanskritisation) और बाद में राजनैतिकरण (Politicisation) अपनाया। पंजाब में पारम्परिक रूप से बढ़ई का काम करने वाले रामगढियों के अध्ययन में सवरवाल ने पाया कि उनमें से कुछ उद्यमी कार्य करने लग गये हैं और धीरे-धीरे उच्च जातियों के सामाजिक व्यवस्था में प्रवेश कर गये हैं।

तथापि निम्न जातियों के भूमि समुदायों, जिनमें अनुसूचित जातियां भी शामिल हैं, की उच्चोन्मुख गतिशीलता काफी सीमित रही है। ये लोग प्रायः निम्न प्रस्थिति और निम्न आय वाले व्यवसाय में कार्यरत हैं जैसे कि फैक्ट्रियों में अकुशल एवं अर्द्ध कुशल, श्रमिकों के रूप में भवन निर्माण एवं कार्य में, जूते पालिस करने, गन्दगी हटाने तथा असंगठित क्षेत्र में भी कार्य करने, नौकरियों में निम्न स्थानों में कार्यरत हैं।

भारतीय गांवों की तरह नगरीय क्षेत्रों में भा जाति के भीतर असमानता की प्रघटना देखी जाती है। एक ही जाति और समुदाय के लोग आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में असमान है। समान जाति की प्रस्थिति होते हुए भी लोग धनी एवं निर्धन, शिक्षित एवं अशिक्षित अधिकारी एवं हाथ के मजदूर, साहब तथा आम आदमी की श्रेणियों में विभक्त है।

नगरीय क्षेत्रों में व्यक्तियों, परिवारों एवं लघु सामाजिक समूहों की सामाजिक गतिशीलता हुई है। बढ़ते व्यावसायिक व्यापारीकरण की प्रक्रिया ने इस प्रक्रिया को बढ़ावा दिया है। जाति, समुदाय, गांव, पड़ौसी, धर्म तथा क्षेत्र के बंधनों ने भी इसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। तथापि सामान्यतया सामाजिक गतिशीलता की दर बहुत नीची रही है। पारम्परिक रूप से सुविधा प्राप्त जातियां एवं वर्गों ने नई नगरीय वर्ग संरचना में बेहतर स्थितियां हासिल कर ली है और पारम्परिक रूप से सुविधाओं से वंचित जातियां एवं वर्गों की प्रस्थिति अभी भी निम्न बनी हुई है। नगरीय भारत में यह एक प्रमुख प्रवृत्ति है।

अन्ततः, यह बात ध्यान रखने योग्य है कि ग्रामीण क्षेत्रों की तुलना में नगरीय क्षेत्रों में व्यवसाय, आय तथा शिक्षा द्वारा व्यापारिक, सामाजिक गतिशीलता की सम्भावनाओं को बहुत बढ़ा देती है। अतः नगरीय क्षेत्रों में जातिगत श्रेणीबद्धता तथा अन्य सामाजिक-आर्थिक श्रेणीबद्धता में असमानता देखने को मिलती है।

बोध प्रश्न 3

सही उत्तर पर निशान लगाइये।

1) भारत में भूमि सुधार के अनेक कदम जैसे जमींदारी की समाप्ति, भूमि की अधिकतम सीमा तथा हरित क्रान्ति किस काल में अपनाई गई?
   अ) प्राचीन भारत
   ब) मध्य युगीन भारत
   स) औपनिवेशिक काल
   द) स्वातंत्र्योत्तर काल
2) आधुनिक भारत में तीन प्रमुख कृषक वर्ग कौन से हैं?
   अ) (i) भूमिपति एवं धनी किसान
      (ii) मध्यम किसान एवं भूमिहीन खेतिहर मजदूर
      (iii) निर्धन किसान तथा भूमिहीन खेतिहर मजदूर
   ब) (i) राजा
      (ii) सामन्तवादी भूमिपति
      (iii) व्यापारी
   स) (i) व्यापारी
      (ii) उद्योगपति, तथा
      (iii) व्यावसायिक वर्ग
3) दक्षिण भारत में तनजोर के श्रीपुरम गांव में अध्ययन किसने किया है?
   अ) ए.आर. देसाई
   ब) योगेन्द्र सिंह
   स) आन्द्रे बेते

32.5 सारांश

सामाजिक स्तरीकरण समाज के विभिन्न सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में विभिन्न सामाजिक स्तरों के मध्य संरचनात्मक असमानताओं की व्यवस्था है। इस प्रकार के सामाजिक स्तर एक सामाजिक श्रेणीबद्धता के रूप में व्यवस्थित होते हैं तथा समाज में प्रभुताशील मूल्य व्यवस्था द्वारा समर्थित होते हैं।

भारत में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में सामान्यतया दो नियमों का प्रयोग किया गया है। पहला— जाति प्रारूप तथा दूसरा वर्ग प्रारूप। जिस पर हमने प्रारम्भ में आपका ध्यान केन्द्रित किया। आदर्श रूप में ये दोनों परस्पर विरोधी प्रारूप माने जाते हैं। जैसा कि हमने देखा जाति स्तरीकरण की विशेषता बन्द, स्थिर, प्रदत्त, कर्मकाण्डीय एवं ग्रामीण व्यवस्था है; जबकि वर्ग स्तरीकरण को खुला, अर्जन-उन्मुख (Achievement Oriented), धर्म-निरपेक्ष एवं नगरीय माना जाता हैं। जाति स्तरीकरण को पारम्परिक भारतीय समाज का एक विशिष्ट लक्षण माना जाता है। जिसमें कि समाज का खण्डात्मक विभाजन होता है और श्रेणीबद्धता, अन्तर्विवाह, सहभोज के साथ-साथ सामाजिक व्यवहार पर निषेध, वंशानुगत व्यवसाय,

तथा जाति सम्बद्ध सुविधायें और निर्योग्यतायें होती हैं। इसके अतिरिक्त हमने यह भी अध्ययन किया है कि किस प्रकार वर्ग को मार्क्स, लेनिन, वेबर, डेहरन डोर्फ, पारसन्स तथा वारनर जैसे विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग तरीके से परिभाषित किया है। तथापि इन परिभाषाओं में वर्ग के प्रति दो उपागम स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं। ये अन्तर्कियात्मक और गुणधर्म वाले उपागम हैं। अन्तर्कियात्मक उपागम में सामाजिक स्तरीकरण को विभिन्न सामाजिक स्तूतों के उत्पादन के साधन और श्रम के सामाजिक संगठन में भूमिका के साथ सम्बन्धों के सन्दर्भ में देखे गये हैं, जबकि गुणधर्म वाले उपागम में सामाजिक स्तरीकरण को अवधारणा कुछ विशेषताओं के समूह के आधार पर बनाई गई है, जिसमें सम्पदा, आय तथा शिक्षा आदि आते हैं। भारत के मामले में जाति एवं वर्ग सदियों से अन्तःसम्बन्धित पाये गये हैं।

भारतीय समाज उतना स्थिर नहीं है, जितना की माना गया है। सामाजिक गतिशीलता और क्रमिक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया आन्तरिक एवं बाह्य कारकों के कारण कार्यशील रही है और इनके बारे में हमने क्या चर्चा की है? सांस्कृतिक क्षेत्र में गतिशीलता और परिवर्तन की प्रक्रिया संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण, आधुनिकीकरण, धर्म परिवर्तन एवं सांस्कृतिक पुनर्जागरण के रूप में देखा गया है। सामाजिक संरचना, के क्षेत्र में, ये भूमिका विभेदीकरण, नव वैधानिकरण, प्रवास, राजनैतिक उन्नयन, अभिजन वर्ग का संचरण, प्रशासनतंत्रीकरण तथा औद्योगिकीकरण के रूप में देखा गया है। इन प्रक्रियाओं के परिणामस्वरूप भारत में सामाजिक स्तरीकरण की व्यवस्था में परिवर्तन दिखाई दिये हैं।

तदुपरान्त हमने देखा कि ग्रामीण क्षेत्रों में अनेक स्तरों पर जाति व्यवस्था कमजोर पड़ रही है। परन्तु अन्तर्विवाह जैसे अभ्यन्तर क्षेत्र में यह अभी भी सशक्त है। आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्रों में उच्च जातियों की सर्वोच्च स्थिति को मध्यम जातियां चुनौतियां दे रही हैं। प्रभुताशील ग्रामीण वर्गों में भूमिपति, धनी किसान, धनी व्यवसायी एवं व्यापारी आते हैं। ये लोग निर्धन किसानों और भूमिहीन खेतिहर मजदूरों का शोषण एवं उत्पीड़न करते हैं। जिन्होंने कि कुछ समय से अनेक क्षेत्रों में विरोध और संघर्ष करना प्रारम्भ कर दिया है। नगरीय क्षेत्रों में, बुर्जुआ तथा मध्यम वर्ग के ऊपरी हिस्से इसके प्रभुत्वशील भाग हैं। सर्वहारा वर्ग तथा निम्न मध्यम वर्ग आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से वंचित होता है। श्रमिकों के आंदोलन की प्रकृति इतनी क्रान्तिकारी नहीं रही है, क्योंकि यह राजनैतिक उद्देश्यों की बजाय आर्थिक उद्देश्यों से अधिक सम्बन्धित रहा है।

सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में सर्वहाराईकरण, बुर्जुआईकरण, कृषक विभेदीकरण, राजनीतिकरण आदि शामिल हैं। बढ़ती व्यावसायिक व्यापकीकरण और राजनीतिकरण ने सामाजिक गतिशीलता के अवसर प्रदान किये हैं। अंततः इस इकाई में हम देखते हैं कि किस प्रकार सामाजिक परिवर्तन एवं गतिशीलता की प्रक्रिया ने प्रस्थिति की पारम्परिक समीकरण में किस प्रकार परिवर्तन किया है। हाल ही में सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रस्थिति में विभेदीकरण बढ़ता हुआ नजर आया है। जाति के भीतर भी विभेदीकरण की प्रक्रिया को प्रोत्साहन मिला है। तथापि जाति एवं वर्ग के अन्तःसम्बन्ध आज भी बहुत सशक्त हैं।

32.6 शब्दावली

सामाजिक स्तरीकरण के जाति एवं वर्ग प्रारूप : आदर्श रूप में सामाजिक स्तरीकरण के जाति एवं वर्ग प्रारूप परस्पर विरोधी माने जाते हैं। जाति स्तरीकरण की विशेषता बंद, स्थिर, प्रदत्त, कर्मकाण्डीय एवं ग्रामीण प्रकृति मानी जाती है। जबकि वर्ग स्तरीकरण को खुला, अर्जनोन्मुख, धर्म-निरपेक्ष एवं नगरीय माना जाता है। तथापि हमें यह तथ्य ध्यान में रखना चाहिए कि भारतीय समाज में जाति एवं वर्ग सदियों से घनिष्ठ रूप से परस्पर अन्तःसम्बन्धित रहे हैं।

संस्कृतिकरण, पश्चिमीकरण एवं आधुनिकीकरण : संस्कृतिकरण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसमें कि निम्न हिन्दू जाति अथवा जनजाति अथवा अन्य समूह किसी उच्च और बहुदा द्विज जाति के अनुरूप अपनी प्रथाओं कर्मकाण्डीय विचारधारा और जीवनशैली को परिवर्तित करते हैं। श्रीनिवास ने पश्चिमीकरण को परिभाषित करते हुए बताया कि भारतीय समाज और संस्कृति में अंग्रेजों के 150 वर्षों के शासन के फलस्वरूप आये परिवर्तन हैं और पश्चिमीकरण की अवधारणा में प्रौद्योगिकी, संस्थायें, विचारधारा और मूल्यों जैसे विभिन्न स्तरों पर आये परिवर्तन शामिल होते हैं। आधुनिकीकरण में समानता, तर्कवाद एवं धर्मनिरपेक्षता की ओर हुए परिवर्तन माने जाते हैं।

प्रस्थिति का संयुक्तिकरण (Summation) और विभेदीकरण : प्रस्थिति का संयुक्तिकरण सामाजिक (जाति), आर्थिक और राजनैतिक प्रस्थिति का संयुक्तिकरण का योग है। यहां प्रमुख मान्यता यह है कि जातिगत प्रस्थिति किसी भी व्यक्ति की सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक प्रस्थिति को निर्धारित करती है और ये

सभी प्रस्थितियां जातिगत प्रस्थिति मे निहित होती हैं। जबकि प्रस्थिति के विभेदीकरण का तात्पर्य यहां पर सामाजिक (जाति), आर्थिक और राजनैतिक प्रस्थिति में असाम्यता और विभेद है।

32.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

बेते, आंद्रे, 1971 (1965). *कास्ट, क्लास एण्ड पॉवर*. बर्कले: यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफॉर्निया प्रेस।

वोस, पी.के. 1984. *इंडियाज पाथ ऑफ डवलपमेंट*. बम्बई: पॉपुलर प्रकाशन।

धनागरे, डी.एन. 1983. *पीजेन्ट मूवमेंट इन इंडिया*. दिल्ली ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।

ओगवेढ़त, गेल. 1982. *लैंड, कास्ट एंड पॉलिटिक्स इन इंडियन स्टेट्स*. दिल्ली यूनिवर्सिटी ऑफ दिल्ली।

श्रीनिवास, एम.एन. 1980 *सोशियल चेंज इन मॉडर्न इंडिया*. नई दिल्ली: ओरियंट लॉगमैन लिमिटेड।

32.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) द
2) द
3) अ

बोध प्रश्न 2

1) नहीं
2) नहीं
3) नहीं
4) हां

बोध प्रश्न 3

1) द
2) अ
3) स